उ[illegible] [illegible]म न्यायालय निर्णय पत्रिका

विधि साहित्य प्रकाशन

प्रधान संपादक
जगत नारायण

फरवरी, 1985
[पृष्ठ 351—858]
(33)—(55) मुद्दे

संपादक
पूरन सिंह कर्नवाल

[1985] 1 उम० नि० प०

अद्यतन निर्णय पाठकों तक यथा शीघ्र पहुंचाने के उद्देश्य से इस अंक में 14 [illegible]म्बर, 84 से 14 दिसम्बर, 84 तक की अवधि के दौरान उच्चतम न्यायालय द्वारा सुनाए गए सभी प्रकाशनीय निर्ण[illegible] सम्मिलित किए गए हैं। भविष्य में [illegible] यही प्रकाशन क्रम बनाए रखा जा[illegible]गा।

—संपादक

वि[illegible] साहित्य प्रकाशन
विधि और न्याय मंत्रालय (विधायी विभाग) भारत सरकार

निर्णय-सूची

[1985] 1 उम० नि० प०

पिछले अंक भेजने की शीघ्र व्यवस्था की जा रही है।

विषय-सूची

[1985] 1 उम० नि० प०

पृष्ठ संख्या

पिछले अंक भेजने की शीघ्र व्यवस्था की जा रही है।

विषय-सूची

[1985] 1 उम० नि० प०

पृष्ठ संख्या

कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम, 1948 (1948 का 34)

—धारा 2(9) मजदूरी पर नियमित रूप से काम करने वाले फर्म के भागीदार को निरीक्षक द्वारा कर्मचारी मानकर फर्म को अभिदाय के लिए दायी बनाना—फर्म द्वारा भागीदार को कर्मचारी मानने को चुनौती दिया जाना—फर्म का भागीदार कर्मचारी नहीं है—भागीदारों को अपवर्जित करने पर यदि फर्म के कर्मचारियों की संख्या 20 से कम है तो फर्म उक्त अधिनियम के अधीन अभिदाय के लिए दायी नहीं है।

प्रादेशिक निदेशक, कर्मचारी राज्य बीमा निगम, त्रिचूर बनाम **रामानुज सैच इण्डस्ट्रीज** 444

कानूनों का निर्वचन

—न्यायालयों के निर्णय का अर्थान्वयन कानूनों के रूप में नहीं किया जा सकता—किसी कानून के शब्दों, वाक्यांशों तथा उपबन्धों का निर्वचन करने हेतु न्यायाधीशों के लिए यह आवश्यक हो सकता है कि वे विस्तृत रूप से विचार-विमर्श करें किन्तु यह विचार-विमर्श स्पष्टीकरण करने से संबन्धित होता है न कि परिभाषित करने से—न्यायाधीश कानूनों का निर्वचन करते हैं—उनके शब्दों का निर्वचन कानूनों के रूप में नहीं किया जा सकता।

अमरनाथ ओम प्रकाश (मैसर्स) और अन्य बनाम **पंजाब राज्य और अन्य** 377

कोयला खान (राष्ट्रीयकरण) अधिनियम, 1973 (1973 का 26)

—धारा 2(ज)—'खान' की परिभाषा में सम्मिलित आस्तियां—प्रत्यर्थी की खानों और अन्य अस्तियों का राष्ट्रीयकरण किए जाने के परिणामस्वरूप सरकार में निहित होना—राष्ट्रीयकरण के समय प्रत्यर्थी की स्टाफ कार का प्रयोग खानों से भिन्न प्रयोजनों के लिए किया जाना—मात्र इसलिए कि स्टाफ कार का प्रयोग अन्य क्रियाकलापों के लिए किया जा रहा था स्टाफ कार को प्रत्यर्थी की आस्तियों के वर्ग से बाहर नहीं करता क्योंकि विभिन्न प्रयोगों के लिए आस्तियों का पश्चात्वर्ती प्रयोग वस्तुतः मामले के लिए सुसंगत नहीं है—अतः स्टाफ

Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

ने अपने विरुद्ध कब्जे का आदेश इस आधार पर पारित न किए जाने का धारा 14(2) के अधीन फायदा उठा लिया है कि उसने धारा 15 के अधीन पारित आदेश का पालन कर दिया था—अतः धारा 14 (2) का परन्तुक लागू नहीं हो सकता ।

—धारा 2(ट), धारा 6, उपधारा (1)(क)(2)(ख), उपधारा (1)(ख)(2)(ख) उपधारा (1)(क) (2)(ख), और धारा 7(1)—मानक किराया—प्रश्नगत परिसर का उप-पट्टे पर दी गई भूमि पर निर्मित होना—उप-पट्टा इस शर्त पर दिया जाना कि पट्टाधृत हित पट्टाकर्ता के अनुमोदन के बिना अन्तरणीय नहीं होगा और अन्तरण सहकारी आवास सोसाइटी के सदस्य को ही किया जा सकता है, निर्धारितियों द्वारा निर्माण की युक्तियुक्त लागत और निर्माण प्रारम्भ की तारीख को उस परिसर में समाविष्ट भूमि के बाज़ार मूल्य की सकल रकम के बारे में दस्तावेज़ी साक्ष्य पेश न किया जाना—निर्धारण प्राधिकारी विधि के अनुसार अवधारणीय मानक किराया परिसर के निर्माण की लागत और भूमि का बाजार मूल्य काल्पनिक विक्रय के आधार पर स्वयं प्राक्कलित करके नियत कर सकते हैं

दिल्ली नगर निगम अधिनियम, 1957 (1957 का अधिनियम सं॰ 66)

—धारा 2(47) 116 और 120 [सपठित दिल्ली रेन्ट कण्ट्रोल ऐक्ट, 1958, धारा 2(ट), धारा 6, उपधारा (1)(क)(2)(ख), उपधारा (1)(ख)(2)(ख) उपधारा (2)(क)(2)(ख) और धारा 7(1)]—रेट-मूल्य अवधारण—प्रश्नगत निवासीय परिसर भागतः मालिक के अधिभोग में और भागतः किरायेदारी में होना—यदि परिसर की सुभिन्न और पृथक् इकाइयां अधिभोग के लिए आशयित हैं तो प्रत्येक इकाई को काल्पनिक किरायेदारी माना जाएगा और ऐसी इकाई की बाबत काल्पनिक किरायेदार से युक्तियुक्त रूप से प्रत्याशित किराये की कुल राशि उस परिसर का रेट

मूल्य होगी—किन्तु ऐसा प्रत्याशित किराया उपरोक्त रीति से निकाले गए मानक किराये से अधिक नहीं हो सकता।

बलबीर सिंह (डा०) बनाम दिल्ली नगर निगम और अन्य 764

—धारा 2(47) 116 और 120 [सपठित दिल्ली रेंट कण्ट्रोल ऐक्ट, 1958—धारा 2(ट) धारा 6, उपधारा (1)(क) (2)(ख), उपधारा (1)(ख)(2)(ख), उपधारा (2)(क) तथा (2)(ख), और धारा 7(1)]—रेट-मूल्य अवधारण—परिसरों का निर्माण विभिन्न प्रक्रमों में किया जाना—प्रथम प्रक्रम पर कर-निर्धारण की दशा में निर्धारण प्राधिकारियों को सबसे पहले उक्त धारा 6 के अनुसार परिसर का ऐसा मानक किराया अवधारित करना होगा और जिसकी मकान-मालिक परिसर को काल्पनिक किरायेदार को उठाए जाने पर युक्तियुक्त रूप से प्रत्याशा कर सकता है और ऐसा किराया ही उस परिसर का रेट-मूल्य होगा—किन्तु बाद में मकान-मालिक के अधिभोगाधीन परिसर में विस्तार होने पर रेट-मूल्य धारा 6 के अनुसार अवधारित किया जाएगा, किराये पर उठाये गए परिसर में अभिवृद्धि की दशा में, मानक किराया धारा 7 के अनुसार बढ़ जाएगा और यही बढ़ा हुआ किराया मानक किराया होगा तथा बाद में अभिवृद्धि अधिभोग की एक सुभिन्न और पृथक् इकाई होने की दशा में, परिसर का रेट-मूल्य भागतः मकान-मालिक के अधिभोगाधीन और भागतः किराये पर दिए गए परिसर की दशा में निकाला जाएगा।

बलबीर सिंह (डा०) और अन्य बनाम दिल्ली नगर निगम **और अन्य** 764

—धारा 2(47), 116 तथा 120 [सपठित दिल्ली रेंट कंट्रोल ऐक्ट (दिल्ली किराया नियंत्रण अधिनियम), 1958, की धारा 2(ट), धारा 6, उपधारा (1)(क)(2)(ख), उपधारा (1)(ख)(2)(ख), उपधारा (2)(क) तथा (2)(ख) और धारा 7 (1)]—रेट-मूल्य अवधारण—प्रश्नगत निवासीय परिसर पर स्वयं मकान-मालिक का अधिभोग होना—प्रश्नगत भवनों का निर्माण 2 जून, 1944 के बाद किया जाना—ऐसे परिसर का रेट-मूल्य वह वार्षिक किराया होगा जिस पर मकान-मालिक उसे काल्पनिक किरायेदार को किराये पर उठाए जाने की युक्तियुक्त रूप से प्रत्याशा कर सकता है और ऐसा वार्षिक किराया किसी भी दशा में विधि के अनुसार अवधारित

विधानमण्डल ने एक ऐसी प्रक्रिया विरचित की है जिसके द्वारा उस दोष को समाप्त किया जा सकता है जो कि अतिरिक्त उद्ग्रहण द्वारा मार्केट समिति को यह अनुज्ञा देते हुए किया गया है कि वह एतत्-पश्चात् ठीक उन्हीं व्यक्तियों के लिए जिनके फायदे के लिए विपणन विधान अधिनियमित किया गया था, प्रयुक्त की जाने वाली रकम को अपने पास रख सके।

महाराष्ट्र रिकग्निशन आफ ट्रेड यूनियन्स एण्ड प्रिवेन्शन आफ अनफेयर लेबर प्रैक्टिसेज ऐक्ट, 1971

—धारा 6 और 28 तथा अनुसूची 2 [सपठित औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947—धारा 2(ड), 23, 26 और 22(2)]—प्रत्यर्थी द्वारा तालाबंदी की जानी—अपीलार्थी द्वारा तालाबंदी को चुनौती दी जानी—अनुचित श्रम व्यवहार का प्रश्न उठाकर औद्योगिक क्रियाकलाप बंद किया जाना—औद्योगिक न्यायालय को यह सुनिश्चित करना चाहिए कि तालाबंदी युक्ति के रूप में लागू की गई है या बहाने के रूप में और सद्भाविक है या नहीं।

महाराष्ट्र वेकेंट लैंड्स (प्रोहिबिशन आफ अनअथाराइज्ड आकुपेशन एण्ड समरी इविक्शन) ऐक्ट, 1975 (1975 का 66)

—धारा 2(च)(ख), 3 और 4 [सपठित 1976 और 1977 वाले संशोधन अधिनियम एवं महाराष्ट्र वेकेंट लैंड्स (प्रोहिबिशन आफ अनअथराइज्ड ओकुपेशन एण्ड समरी इविक्शन) (सर्विस आफ नोटिस) रूल्स, 1979 का नियम 3(2) तथा संविधान का अनुच्छेद 14]—विधिमान्यता—अधिनियम के अधीन सक्षम प्राधिकारी को यह घोषित करने का विवेकाधिकार प्रदत्त किया जाना कि वह ऐसे विवेकाधिकार को नियंत्रित करने विषयक कोई भी मार्गदर्शक सिद्धांत अधिकथित किए बिना ऐसी भूमियों में से जिन पर अप्राधिकृत संरचनाएं हैं, कुछ को रिक्त भूमि घोषित कर सकेगा और उसी स्थिति

वाली कुछ भूमियों को ऐसी घोषणा की परिधि से बहार कर सकेगा—ऐसा उपबन्ध मनमाना है और सक्षम प्राधिकारी को प्रदत्त विवेकाधिकार के मनमाने प्रयोग के विरुद्ध किसी भी रक्षोपाय के अभाव में वह अविधिमान्य और असांविधानिक है।

लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951 (1951 का 43)

—धारा 123(3) और 100(1)(ख)—निर्वाचन में धर्म के नाम में अपील (दुहाई) किए जाने के भ्रष्ट आचरण का स्वरूप—यह बात धर्म के नाम में अपील (दुहाई) नहीं होगी यदि किसी अभ्यर्थी को यह कह कर निर्वाचन में खड़ा किया जाता है कि "उसके पक्ष में इसलिए मत दो" क्योंकि वह एक अच्छा सिख या मुसलमान या क्रिस्चियन है, किन्तु यह बात धर्म के नाम में अपील (दुहाई) किए जाने का भ्रष्ट आचरण होगी यदि यह प्रचारित किया जाता है कि उस अभ्यर्थी के पक्ष में मत न देना सिख या क्रिस्चियन या हिन्दू धर्म के विरुद्ध होगा या उसके विरोधी के पक्ष में मत देना किसी धर्म विशेष के विरुद्ध होगा।

—धारा 123 (3) और 100 (1) (ख)—भ्रष्ट आचरण तथा निर्वाचन को शून्य घोषित करने के आधार—निर्वाचन में धर्म के नाम में अपील (दुहाई) द्वारा मत संयाचना का भ्रष्ट आचरण किया जाना—निर्वाचन अभ्यर्थी का नाम श्री अकाल तख्त द्वारा प्रायोजित किया जाना और उसके पक्ष में मत देने के लिए श्री अकाल तख्त द्वारा हुकुमनामे जैसा पत्र जारी किया जाना—अकाली समाचार पत्रों और अकाली नेताओं द्वारा सिख पंथ के नाम में मत देने के लिए अपील किया जाना—अभ्यर्थी या उसके निर्वाचन अभिकर्ता द्वारा या उनकी सम्मति से किसी अन्य व्यक्ति द्वारा किसी व्यक्ति के धर्म, मूलवंश, जाति या समुदाय आदि के आधार पर मत देने या देने से विरत रहने की एकमात्र अपील भी भ्रष्ट आचरण है जिसके आधार पर प्रश्नगत निर्वाचन शून्य हो गया है।

वैस्ट बंगाल प्रेमिसेज टेनेन्सी ऐक्ट, 1956

—धारा 13(1)—विधि में परिवर्तन का फायदा—बेदखली और बकाया किराए के एक वाद में अपील—अपील लम्बित रहने के दौरान प्रस्तुत अधिनियम में परिवर्तन करके इसका विस्तार प्रश्नगत सम्पत्ति तक किया जाना—मकान-मालिक द्वारा किराएदार पर तामील की गई बेदखली की सूचना का एक मास से कम की सूचना होना—प्रथम अपील लम्बित रहते हुए किराएदार द्वारा उक्तधारा 13(1) का सहारा लिया जाना—विचारण न्यायालय की डिक्री के विरुद्ध फाइल की गई अपील वाद के क्रम में होती है और अपीली डिक्री ही अन्तिम तथा प्रभावी होती है—अत: किराएदार उक्त धारा 13(1) का सहारा ले सकता है।

लक्ष्मी नारायण गुई और अन्य बनाम निरंजन मोदक 550

—धारा 13(1)—व्याप्ति—बेदखली और बकाया किराए का वाद अधिनियम के प्रश्नगत स्थान विस्तारित किए जाने से बहुत पहले संस्थित किया जाना—किराएदार-प्रत्यर्थी द्वारा उक्त धारा 13 (1) का सहारा लिया जाना—धारा 13 (1) के अनुसार न्यायालय कुछ कानूनी अपवादों को छोड़कर कब्जे का कोई आदेश या डिक्री नहीं दे सकता—किराएदार धारा 13(1) का संरक्षण पाने का हकदार है, भले ही वाद अधिनियम के प्रवृत्त होने से बहुत पहले संस्थित किया गया हो।

लक्ष्मी नारायण गुई और अन्य बनाम निरंजन मोदक 550

शिक्षु अधिनियम, 1961 (1961 का 52)

—धारा 22 (2) (सपठित विद्युत इंजीनियरिंग के डिप्लोमा प्राप्त शिक्षुओं के शिक्षुता—नियुक्तिपत्र का पैरा 2)—शिक्षुता प्रशिक्षण समाप्ति के बाद रोजगार—नियोजक द्वारा रोजगार दिए जाने का लिखित आश्वासन दिया जाना—पंजाब राज्य विद्युत बोर्ड द्वारा ऐसे शिक्षुओं को नियोजन (रोजगार) न दिया जाना—सम्बद्ध उपबन्धों का उद्देश्य विद्यमान रिक्तियों की सीमा तक यह गारन्टी देना है कि शिक्षुता प्रशिक्षण की सफलतापूर्ण समाप्ति पर ऐसे शिक्षुओं को नियोजन रहित नहीं रहने दिया जाएगा।

नरेन्द्र कुमार और अन्य बनाम पंजाब राज्य और अन्य 491

संविधान, 1950

—अनुच्छेद 14—समान संरक्षण खण्ड—[सपठित तमिलनाडु बिल्डिंग्स (लीज़ एंड रेंट कन्ट्रोल) ऐक्ट, 1960 (1960 का तमिलनाडु अधिनियम सं० 18) की धारा 29]—कतिपय भवनों के किसी वर्ग के पक्ष में छूट अनुदत्त किया जाना—ऐसे मामले में यह अपेक्षित है कि वर्गीकरण वैवेकिक आधारों पर आधृत होना चाहिए—चूंकि धारा 29 की उद्देशिका में पर्याप्त मार्गदर्शन किए गए हैं, इसलिए इसे मार्ग-विहीन समर्थनरहित और विभेदात्मक नहीं कहा जा सकता और इस रूप में इससे अनुच्छेद 14 का अतिक्रमण नहीं होता।

एस० कंदास्वामी चेट्टियार बनाम तमिलनाडु राज्य और एक अन्य 741

—अनुच्छेद 14—[सपठित तमिलनाडु बिल्डिंग्स (लीज़ एण्ड रेंट कंट्रोल) ऐक्ट, 1960 की धारा 29 और उसके अधीन निकाली गई अधिसूचना]—युक्तियुक्त वर्गीकरण—राज्य द्वारा धारा 29 के अधीन अधिसूचना निकाल कर सहकारी सोसाइटियों के सभी भवनों को अधिनियम के सभी उपबन्धों के प्रवर्त्तन से छूट दी जानी--किराएदारों द्वारा यह आक्षेप किया जाना कि राज्य के अन्य मकान-मालिकों को अधिनियम के उपबंधों का लागू किया जाना और सहकारी सोसाइटियों को उनके प्रवर्तन से छूट दी जानी विभेदकारी है और उससे संविधान के अनुच्छेद 14 का अतिक्रमण होता है—वस्तुतः जिस अन्तर के आधार पर राज्य सरकार द्वारा वर्गीकरण किया गया है, उसका उस उद्देश्य से युक्तियुक्त संबंध है, जिससे सहकारी सोसाइटियों को अधिनियम के उपबन्धों के प्रवर्तन से छूट दी गई है—अतः अधिसूचना विभेदकारी नहीं है और उससे अनुच्छेद 14 का अतिक्रमण नहीं होता।

एस० एस० महेन्द्र एण्ड कंपनी (मैसर्स) और अन्य बनाम तमिलनाडु राज्य और अन्य 813

—अनुच्छेद 14 तथा संविधान से लुप्त किए जाने से पूर्व 19(1) (च) और 31(1) और (2) [सपठित महाराष्ट्र वेकेंट लैंड्स (प्रोहिबिशन ऑफ अनअथराइज़्ड ओकुपेशन एण्ड समरी इविक्शन) ऐक्ट, 1975 की धारा 2(च)(ख) और 1979 के नियम]—वर्गीकरण—रिक्त भूमियों पर अप्राधिकृत

प्राधिकरणों के कर्मचारी सभी मामलों में सरकार के अधीन लाभ का पद धारण नहीं करते ।

—अनुच्छेद 136—उच्चतम न्यायालय की अधिकारिता—मकान-मालिक द्वारा अपने किराएदारों के विरुद्ध बेदखली अर्जियां—निचले तीनों न्यायालयों द्वारा एक समान निर्णय दिया जाना—विचारण न्यायालय द्वारा मकान-मालिक की आवश्यकता से सम्बन्धित तात्विक दस्तावेजी साक्ष्य का वस्तुपरक और ध्यानपूर्वक मूल्यांकन न किया जाना—अपील न्यायालय द्वारा प्रत्यर्थी की ओर से ऐसा आधार लेना जो स्वयं प्रत्यर्थी का पक्षकथन नहीं था—उच्च न्यायालय द्वारा पुनरीक्षण आवेदन में पहली बार उत्पन्न परिस्थितियों पर विचार न किया जाना—ऐसी स्थिति में उच्चतम न्यायालय अनुच्छेद 136 के अधीन हस्तक्षेप कर सकता है, भले ही निचले तीनों न्यायालयों द्वारा एक समान मत व्यक्त किया गया हो ।

—अनुच्छेद 226 [सपठित दिल्ली विशेष पुलिस स्थापन अधिनियम, 1946 (1946 का 25) की धारा 6] केन्द्रीय जांच ब्यूरो द्वारा जांच कराने की न्यायालय की शक्ति तथा इस सम्बन्ध में राज्य सरकार की सम्मति—उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति को दो बालकों के पता लगाने के बारे में स्थानीय पुलिस की अकर्मण्यता के बारे में शिकायत किया जाना—शिकायत को रिट पिटीशन मानकर कार्यवाही किया जाना—राज्य सरकार की सम्मति के बिना न्यायालय द्वारा केन्द्रीय जांच ब्यूरो को जांच करने का निदेश दिया जाना—परिस्थितियों और अभिलेख पर सामग्री से यदि यह अनुमान लगाया जा सके कि किसी विशेष मामले में कानूनी अभिकरण ने प्रभावी ढंग से कार्य नहीं किया है या न्यायालय का यह समाधान हो गया है कि कानूनी अभिकरण सही और निष्पक्ष रूप से अन्वेषण के अपने कर्त्तव्य का निर्वहन नहीं कर सकेगा तो केवल उसी दशा में प्रक्रिया को अनुपूरित किया जा सकता है अन्यथा नहीं ।

सीमाशुल्क अधिनियम, 1962 (1962 का 52)

—धारा 12 [सपठित सीमाशुल्क टैरिफ अधिनियम, 1975 की धारा 2 और प्रथम अनुसूची के शीर्ष सं० 48.01, उप-शीर्ष सं० (2)]आयातित अखबारी कागज पर आयात शुल्क अधिरोपित किया जाना तथा वित्त अधिनियम,1981 के अधीन आनुषंगिक शुल्क का उद्ग्रहण किया जाना—आनुषंगिक शुल्क के उद्ग्रहण को अविधिमान्य होने के आधार पर चुनौती दिया जाना—सरकार समाचार पत्र उद्योग पर कर अधिरोपित कर सकती है। यह बात अवश्य है कि न्यायालयों के द्वारा उसका पुनर्विलोकन किया जा सकता है।

—धारा 25—अखबारी कागज पर छूट वापस लेकर आनुषंगिक शुल्क उद्गृहीत करते हुए अधिसूचना जारी किया जाना—सरकार द्वारा अधिसूचना के बारे में यह दलील दिया जाना कि उसे चुनौती नहीं दी जा सकती—सरकार द्वारा जारी की गई अधिसूचना संविधान के अनुच्छेद 13(2)(क) के अधीन विधि है और यदि यह किसी मूल अधिकार का अतिक्रमण करती है तो उसे न्यायालय द्वारा अभिखंडित किया जा सकता है।

उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका
तुलनात्मक सारणी
फरवरी, 1985

क्रम सं०	निर्णय तथा दिनांक	ए० आई० आर०	एस० सी० आर०	एस० सी० सी०
1	2	3	4	5
1.	अशोक कुमार भट्टाचार्य **बनाम** अजय विश्वास और अन्य (15.11.84)	—	—	—
2.	जनरल लेबर यूनियन (लाल झण्डा) मुम्बई **बनाम** बी० वी० चव्हाण और अन्य (16.11.84)	—	—	—

1	2	3	4	5
3.	अमरनाथ ओम प्रकाश (मैसर्स) और अन्य **बनाम** पंजाब राज्य और अन्य (19.11.84)	—	—	—
4.	हरशरण वर्मा **बनाम** चरण सिंह और अन्य (19 11.84)	—	—	—
5.	सत्यनारायण सिंह **बनाम** इलाहाबाद उच्च न्यायालय और अन्य (27.11.84)	—	—	—
6.	वैरायटी एम्पोरियम (मैसर्स) **बनाम** वी० आर० एम० मोहम्मद इब्राहीम नैना (27.11.84)	—	—	—
7.	प्रादेशिक निदेशक, कर्मचारी राज्य बीमा निगम, त्रिचुर **बनाम** रामानुज मैच इंडस्ट्रीज (27.11.84)	—	—	—

Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

1	2	3	4	5
8.	महाराष्ट्र राज्य **बनाम** श्रीमती कमल सुकुमार दुर्गुले और अन्य (28.11.84)	1985 जनवरी, 129	—	—
9.	नरेन्द्र कुमार और अन्य **बनाम** पंजाब राज्य और अन्य (29.11.84)	—	—	—
10.	हरचरण सिंह (सरदार) **बनाम** सज्जन सिंह (सरदार) और अन्य (29.11.84)	—	—	—
11.	सहायक कलक्टर, केन्द्रीय उत्पाद शुल्क, चंदन नगर, पश्चिमी बंगाल **बनाम** डनलप इंडिया लिमिटेड और अन्य (30.11.84)	—	—	—
12.	लक्ष्मी नारायण गुई और अन्य **बनाम** निरंजन मोदक (3.12.84)	1985 जनवरी, 111	—	—
13.	भारत संघ और अन्य **बनाम** यूनाइटेड कोलियरीज लिमिटेड और अन्य (3.12.84)	—	—	—

1	2	3	4	5
14.	पश्चिमी बंगाल राज्य **बनाम** सुधीर डे और एक अन्य (3.12.84)	—	—	—
15.	आयकर आयुक्त, आन्ध्र प्रदेश **बनाम** एम० चन्द्र शेखर (4.12.84)	1985 जनवरी, 114	—	—
16.	पश्चिमी बंगाल राज्य और अन्य **बनाम** संपत लाल और अन्य (4.12.84)	—	—	—
17.	दिल्ली नगर निगम **बनाम** मैसर्स न्यू क्वालिटी स्वीट हाउस और अन्य (5.12.84)	—	—	—
18.	इंडियन एक्सप्रेस न्यूज़पेपर्स (मुम्बई) प्राइवेट लिमिटेड और अन्य **बनाम** भारत संघ और अन्य (6.12.84)	—	—	—

Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

1	2	3	4	5
19.	गोवा सैम्पलिंग एम्पलाईज एसोसिएशन **बनाम** मैसर्स जनरल सुपरिण्टेन्डेन्स कंपनी आफ इंडिया प्राइवेट लिमिटेड और अन्य (11.12.84)	—	—	—
20.	एस० कंदस्वामी चेट्टियार **बनाम** तमिलनाडु राज्य और एक अन्य (12.12.84)	—	—	—
21.	बलवीर सिंह (डा०) और अन्य **बनाम** दिल्ली नगर निगम और अन्य (12.12.84)	—	—	—
22.	एस० एम० महेन्द्र एण्ड कम्पनी (मैसर्स) और अन्य **बनाम** तमिलनाडु राज्य और अन्य (12.12.84)	—	—	—

Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

1	2	3	4	5
23.	कर्मकार, हिन्दुस्तान स्टील लिमिटेड और एक अन्य **बनाम** हिन्दुस्तान स्टील लिमिटेड और अन्य (12.12.84)	—	—	—
24.	जगन्नाथ **बनाम** राम किशन दास और एक अन्य (12.12.84)	—	—	—

Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

उच्चतम न्यायालय के निर्णयों (प्रकाशनीय और अप्रकाशनीय) के महत्वपूर्ण मुद्दे*

3 नवम्बर, 1984 को समाप्त सप्ताह

*उच्चतम न्यायालय की अनुज्ञा से प्रकाशित।

निर्णय-सूची

संविधान, 1950 :

302. अनुच्छेद 136—उच्चतम न्यायालय कब साक्ष्य का पुनर्मूल्यांकन कर सकता है ?

अभिनिर्धारित—सामान्यतया अनुच्छेद 136 के अधीन फाइल किए गए पिटीशन में उच्चतम न्यायालय साक्ष्य का पुनर्मूल्यांकन नहीं करेगा। यह निर्बन्धन स्वयं अधिरोपित है और कोई अधिकारिता सम्बन्धी वर्जन नहीं है किंतु ऐसे मामले में, जिसमें घोर अन्याय किया गया है, यदि साक्ष्य पर दृष्टिपात नहीं किया गया तो स्वयं अधिरोपित निर्बन्धन का अनुसरण करके उस पर ध्यान न देना न्यायालय के लिए उचित नहीं होगा।

खिल्ली राम बनाम राजस्थान राज्य : दाण्डिक अपील सं० 50/76 जिसका विनिश्चय 30.10.1984 को किया गया।
न्या० देसाई और रंगनाथ मिश्र।

303. अनुच्छेद 136—उच्चतम न्यायालय कब साक्ष्य के पुनर्मूल्यांकन पर निकाले गए उच्च न्यायालय के निष्कर्षों में हस्तक्षेप करेगा ?

अभिनिर्धारित—सामान्यतया साक्ष्य के मूल्यांकन पर उच्च न्यायालय द्वारा निकाले गए निष्कर्ष में विशेष रूप से तब जबकि वह मौखिक है उच्चतम न्यायालय द्वारा हस्तक्षेप नहीं किया जाएगा, किन्तु जहां न्यायालय का यह समाधान हो जाए कि किसी मामले में गलत दृष्टिकोण अपनाने से उसके समक्ष वाले पक्षकारों में से एक के साथ अन्याय किया गया है तो मात्र भूल सुधार करना और पक्षकार के प्रति न्याय करना ही उच्चतम न्यायालय की शक्ति के अंतर्गत नहीं होगा बल्कि ऐसा करने के लिए वह बाध्य होगा।

सुरेन्द्र सिंह बनाम हरदयाल सिंह : सिविल अपील सं० 463/82 जिसका विनिश्चय 29.10.84 को किया गया।

न्या० भगवती, बालकृष्ण एराडी और रंगनाथ मिश्र।

304. अनुच्छेद 141—पूर्वोदाहरण—पूर्वोदाहरण का अनुसरण करने की आवश्यकता दोहराई गई ?

अभिनिर्धारित—उच्चतम न्यायालय का खण्ड न्यायपीठ वृहत्तर न्यायपीठ के विनिश्चय से एवं समन्वित न्यायपीठों के विनिश्चय से भी आबद्ध है। पूर्वोदाहरण विधि को पूर्वानुमेय बनाते हैं और इस प्रकार उसे कम अधिक

अभिनिश्चेय बनाते हैं। पूर्वोदाहरण एक अभिन्न आधारशिला है; जिसके आधार पर यह विनिश्चय क्रिया जाता है कि विधि क्या है और अलग-अलग मामलों में वह किस प्रकार लागू होती है। यह उसे कम से कम कुछ निश्चितता प्रदान करती है. जिस पर व्यक्ति अपने कार्यों के आचरण में एवं कानूनी नियमों के क्रमिक विकास के आधार के रूप में निर्भर कर सकते हैं।

(मद सं० 303 भी देखिए)

सुरेन्द्र सिंह बनाम हरदयाल सिंह : सिविल अपील सं० 463/84 जिसका विनिश्चय 29.10.1984 को किया गया।
न्या० भगवती, बालकृष्ण एराडी और रंगनाथ मिश्र।

305. अनुच्छेद 141—इतरोक्ति—इससे क्या इंगित होता हैं ?

अभिनिर्धारित—विधि में न्यायाधीश कृत परिवर्तन विरले ही अधिकृत रिपोर्ट से बाहर आता है। इतरोक्ति रूपी नभ की गड़गड़ाहट अनिश्चित मौसम की चेतावनी देती है। अनिश्चित मौसम स्वयं अनिश्चितता पैदा करता है किन्तु वह अनिवार्यतः परिवर्तन की स्वीकृति से पहले आता है।

[टिप्पण : **चेन्ना रेड्डी वाले मामले से** (40 ई० एल० आर० 390) समर्थन लेते हुए काउन्सेल ने **मोहन सिंह वाले मामले** (1964) 5 एस० सी० आर० 12] पर पुनः विचार के लिए सुझाव दिया। इस दलील को अस्वीकार करते हुए न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया कि वह पांच न्यायाधीशों के विनिश्चय से आबद्ध है।
(मद सं० 303 भी देखिए)

सुरेन्द्र सिंह बनाम **हरदयाल सिंह** : सिविल अपील सं० 463/84 जिसका विनिश्चय 29.10.84 को किया गया।

न्या० भगवती, बालकृष्ण एराडी और रंगनाथ मिश्र।

सीमा-शुल्क अधिनियम, 1962 :

306. स्टेनलैस इस्पात का आयात रियायती शुल्क-दर पर अनुज्ञात किया जाना—ऐसे इस्पात से बनी वस्तुएं औद्योगिक इकाईयों को उनके उपयोग के लिए बेची जानी—क्या अस्पताल और नर्सिंग-होम औद्योगिक इकाईयां हैं ?

अभिनिर्धारित—सांविधानिक उपबंधों के विश्लेषण से, जिसमें "उद्योग" शब्द आया हुआ है, यह दिखाई पड़ता है कि उद्योग से साधारणतः विनिर्माण या उत्पादन की प्रक्रिया अभिप्रेत है। जिस अधिसूचना के अधीन छूट की मांग की गई है, उसमें 'उद्योग' शब्द से केवल वह स्थान अभिप्रेत है, जहां माल के विनिर्माण या उत्पादन की प्रक्रिया की जाती है और उसमें अस्पताल, डिस्पेंसरी या नर्सिंग-होम सम्मिलित नहीं हो सकते। "उद्योग" शब्द में साधारणतः इतना व्यापक अर्थ नहीं है जितना इसका औद्योगिक विवाद अधिनियम में किया गया है। अतः इसका प्रयोग अधिसूचना में आए इस शब्द के निर्वचन के लिए नहीं किया जा सकता, जिसके द्वारा सीमा-शुल्क अधिनियम, 1962 के अधीन सीमा-शुल्क से छूट दी गई थी।

एम० एस० कंपनी प्राइवेट लिमिटेड बनाम **भारत संघ**: सिविल अपील सं० 3744/84 जिसका विनिश्चय 31.10.1984 को किया गया।

(मद सं० 307 भी देखिए)

न्या० वेंकटरामय्या और आर० बी० मिश्र।

निर्वचन :

307. अधिनियम में शब्दों की परिभाषा न दी जानी—**क्या उस शब्द को किसी दूसरे अधिनियम में दिया गया अर्थ, ऐसी स्थिति में, प्रयुक्त किया जा सकता है ?**

अभिनिर्धारित—किसी दस्तावेज में किसी परिभाषा की अनुपस्थिति में कानून या कानूनी लिखत में आए शब्द का अर्थान्वयन करते समय उसे वही अर्थ देना चाहिए, जो उसे आम बोलचाल में दिया जाता है या उस अर्थ में समझा जाना चाहिए जिसमें उसका कानून या कानूनी लिखत की विषय-वस्तु से परिचित लोग समझते हैं। किसी शब्द का निर्वचन किसी दूसरे कानून में उसकी परिभाषा के अनुसार करना खतरनाक होता है, विशेष रूप से तब जबकि वह कानून किसी सजातीय विषय के बारे में नहीं है। प्रस्तुत मामले में आयात किए गए इस्पात पर संदय सीमा-शुल्क पर छूट इस शर्त पर दी गई थी कि उस इस्पात से बना माल औद्योगिक इकाईयों को बेचा जाएगा। आयातकर्ता ने वह माल अस्पताल को बेच दिया और यह दावा किया कि अस्पताल एक उद्योग है, जैसा कि औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947 में परिभाषित है।

एम० एस० कम्पनी प्राइवेट लिमिटेड बनाम **भारत संघ** : सिविल अपील सं० 3744/84 जिसका विनिश्चय 31.10.1984 को किया गया ।

(मद संख्या 306 भी देखिए)

न्या० वेंकटरामय्या और आर० बी० मिश्र ।

खाद्य अपमिश्रण निवारण अधिनियम, 1954 :

308. भैंस के दूध में पाई गई चिकनाई (5%) की अपेक्षा आइसक्रीम में चिकनाई का उच्चतर प्रतिशत (10%) विहित किया जाना—क्या यह विधि की दृष्टि में दोषपूर्ण है ?

अभिनिर्धारित—आइसक्रीम में दूध की चिकनाई की उच्चतर मात्रा अनेक तरीकों से प्राप्त की जा सकती है : दूध इतना गर्म किया जाए कि पानी की मात्रा कम हो जाए और चिकनाई की मात्रा बढ़ जाए। एक दूसरा तरीका यह है कि आइसक्रीम बनाने से पहले दूध में अलग से अधिक प्रतिशत की चिकनाई वाली क्रीम मिला दी जाए । प्रस्तुत मामले में बेची गई आइसक्रीम अधिनियम की धारा 2(1क) और (ड) के अर्थ में अपमिश्रित थी । इस धारा में विहित है कि खाद्य वस्तु अपमिश्रित समझी जाएगी यदि उस वस्तु की क्वालिटी या शुद्धता विहित मानक से नीचे है । किन्तु जो उसे स्वास्थ्य के लिए हानिकर नहीं बनाती ।

महाराष्ट्र राज्य बनाम **बाबूराव रावजी महरूलकर** : दाण्डिक अपील सं० 460/84 जिसका विनिश्चय 26.10.1984 को किया गया ।
न्या० चिन्नप्पा रेड्डी, ए० पी० सेन और वेंकटरामय्या ।

भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम, 1947 :

309. धारा 5(1) (घ) और(2)—जाल बिछाया जाना—नोटों पर पाउडर न लगाया जाना—प्रतिरक्षापक्ष का कथन अधिसंभाव्य पाया जाना—अभियुक्त को उच्चतम न्यायालय द्वारा साक्ष्य के पुनर्मूल्यांकन पर पर दोषमुक्त कर दिया गया ?

अभिनिर्धारित—प्रस्तुत मामले में विचारण न्यायालय और उच्च न्यायालय ने कुछ महत्वपूर्ण बातों को अनदेखा कर दिया। पांच साक्षी

पक्षद्रोही ही नहीं है बल्कि उन्होंने ऐसे तथ्य सामने रखे हैं, जिनसे प्रतिरक्षा पक्ष का समर्थन होता है। अभियोजन पक्ष की कहानी सामान्य मानव-आचरण के बिलकुल विपरीत थी। ज्येष्ठ भ्रष्टाचार निवारण अधिकारी यह नहीं जानता था कि अभियुक्त को नोट देने से पहले उन पर पाउडर लगाया जाना चाहिए। साक्ष्य के सम्पूर्ण मूल्यांकन से पता चलता है कि अभियोजन-पक्ष की कहानी झूठी थी और प्रतिरक्षा-पक्ष का कथन अधिक संभाव्य कथन था।

खिल्ली राम बनाम राजस्थान राज्य : दाण्डिक अपील सं० 50/76 जिसका विनिश्चय 30.10.1984 को किया गया।

(मद सं० 302 भी देखिए)

न्या० देसाई और रंगनाथ मिश्र।

किराया नियंत्रण :

310. दिल्ली किराया नियंत्रण अधिनियम, 1958—धारा 14क(1)—जब मकान-मालिक (सरकारी सेवक) धारा 14क(1) के अधीन आवेदन फाइल करता है तो क्या तब भी उसे सरकारी आवास का अधिभोग करते रहना चाहिए ?

अभिनिर्धारित—अपने द्वारा किराए पर दिए गए निवासीय आवास का कब्जा प्रोद्धृत करने की बाबत मकान-मालिक (सरकारी सेवक), जिसे सरकारी आवास आबंटित किया गया है और जो सरकारी आदेश के अनुसरण में उस आवास को खाली करने के लिए अपेक्षित था, धारा 14क(1) के अधीन आवेदन फाइल करते समय ऐसे आवास में रहने के लिए कृतज्ञ नहीं किया जा सकता। उसे सरकारी आवास खाली करना चाहिए और किसी स्थान पर किराए पर स्थान लेकर या होस्टल या होटल में तथा इसी प्रकार के अन्य स्थान पर रहना चाहिए।

नारायण खम्मन बनाम प्रद्युम्न कुमार जैन : सिविल अपील सं० 626/82 जिसका विनिश्चय 19.10.1984 को किया गया।

(मद सं० 311 और 312 भी देखिए)

न्या० देसाई और मदान।

311. धारा 14क(1)—सरकारी सेवक के पास दिल्ली में दो मकान होना—सरकारी आदेश के अनुसरण में उनमें से एक में रहना—क्या वह

दूसरे मकान में किराएदार की बेदखली के लिए इस धारा के अधीन आवेदन फाइल कर सकता है ?

अभिनिर्धारित—धारा 14क(1) के परन्तुक के अनुसार यदि सरकारी आवास के आबंटिती के स्वामित्वाधीन दिल्ली में दो या अधिक रहने के मकान हैं, जो उसने किराए पर दे रखें हैं, तो उनमें से वह एक से अधिक मकान का कब्जा प्रत्युद्धृत नहीं कर सकता, उसे उनमें से एक का चुनाव करना होगा और उस मकान की बाबत उसे इस धारा के अधीन आवेदन फाइल करना होगा।

नारायण खम्मन बनाम **प्रद्युम्न कुमार जैन** : सिविल अपील सं० 626/84 जिसका विनिश्चय 19.10.1984 को किया गया।

(मद सं० 310 और 312 भी देखिए)

न्या० देसाई और मदान।

312. धारा 14क(1)—सरकारी सेवक दिल्ली में दो मकानों का स्वामी होना—उसके अधिभोगाधीन आवास उसके निवास के लिए युक्तियुक्त रूप से उपयुक्त न होना—क्या वह धारा 14क(1) के अधीन आवेदन फाइल कर सकता है ?

अभिनिर्धारित—यदि किसी सरकारी सेवक के अधिभोगाधीन परिसर उसके आवास के लिए युक्तियुक्त रूप से उचित नहीं है तो मकान-मालिक धारा 14क(1) के अधीन आवेदन फाइल नहीं कर सकता। उसे अधिनियम की धारा 14 की उपधारा (1) के परन्तुक के खण्ड (ङ) में विनिर्दिष्ट आधार पर आवेदन फाइल करना चाहिए।

नारायण खम्मन बनाम **प्रद्युम्न कुमार जैन** : सिविल अपील सं० 626/84 जिसका विनिश्चय 19.10.1984 को किया गया।
न्या० देसाई और मदान।

लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951 :

313. निर्वाचन अर्जी में भ्रष्ट आचरण का अभिकथन कैसे सिद्ध किया जाए —क्या सिविल मुकदमे की भांति संभाव्यताओं के अनुमान के आधार पर या दाण्डिक विचारणों की भांति युक्तियुक्त संदेह से परे सबूत के आधार पर ?

अभिनिर्धारित—धारा 116-ग से यह स्पष्ट हो जाता है कि उच्चतम न्यायालय में अपील सिविल अपील के रूप में मानी जाएगी और इसमें प्रयुक्त की जाने वाली अधिकारिता उतनी ही विस्तृत होती है जितनी उस अपील के मामले में जो उच्च न्यायालय की आरम्भिक सिविल अधिकारिता के प्रयोग में निपटाए गए मामले के विरुद्ध फाइल की जाती है। उच्चतम न्यायालय ने अनेक विनिश्चयों में यह बराबर स्वीकार किया है कि भ्रष्ट आचरण के आरोप दाण्डिक आरोपों के समकक्ष माने 'जाएंगे तथा उनका सबूत सिविल कार्यवाही की भांति संभाव्यताओं के अनुमान पर नहीं होगा बल्कि दाण्डिक विचारणों की भान्ति युक्तियुक्त संदेह से परे सबूत के आधार पर होगा।

[डा० एम० चेन्ना रेड्डी वाला मामला (40 ई० एल० आर० 390) इस मुद्दे पर न्यायिक विचारधारा के प्रतिकूल हो जाता है। मोहन सिंह वाले मामले (1964) 5 एस० सी० आर० 12 का अनुसरण किया गया]।

सुरेन्द्र सिंह बनाम **हरदयाल सिंह** : सिविल अपील सं० 463/84 जिसका विनिश्चय 29.10.1984 को किया गया।

न्या० भगवती, बालकृष्ण एराडी और रंगनाथ मिश्र।

314. धारा 116क(1)—निर्वाचन अर्जी—प्रकृति—तथ्य संबंधी निष्कर्ष—क्या उच्चतम न्यायालय हस्तक्षेप कर सकता है?

अभिनिर्धारित—धारा 116क(1) से यह स्पष्ट इंगित होता है कि निर्वाचन के मामले में उच्चतम न्यायालय में अपील का निपटारा उसी अधिकारिता के प्रयोग में किया जाएगा, जिसका प्रयोग उच्च न्यायालय के मूल निर्णय के विरुद्ध फाइल की गई अपील में किया जाता है। विषय की इस दृष्टि से कोई कानूनी या दीर्घकालीन प्रयोग द्वारा उच्चतम न्यायालय द्वारा विकसित कोई ऐसा नियम वास्तव में नहीं हो सकता कि न्यायालय विचारण के प्रक्रम पर निकाले गए तथ्य संबंधी निष्कर्ष में हस्तक्षेप नहीं करेगा।

(मद सं० 313 भी देखिए)

315. धारा 123 (2)—मतों के लिए प्रचार-प्रसार—क्या जनसाधारण की व्यथाओं का निवारण करना भ्रष्ट आचरण की कोटि में आता है?

अभिनिर्धारित—किसी निर्वाचन का अभ्यर्थी मतों के लिए प्रचार-प्रसार करने के लिए हकदार है। वह अपने निर्वाचन क्षेत्र में खुशहाली लाने के लिए हकदार है। जनसाधारण की व्यथाओं को दूर करना अनपकारी है और इसे अभ्यर्थी के प्रतिकूल नहीं माना जा सकता। किन्तु जबकि निर्वाचन क्षेत्र को खुशहाल करना सर्वाधिक महत्वपूर्ण है, फिर भी उसे विधि द्वारा स्थापित सीमा का अतिलंघन नहीं करना चाहिए जिससे निर्वाचन प्रक्रिया भ्रष्ट हो जाए।

(देखिए मद सं० 313)

316. धारा 123(2)—निर्वाचन सभा में विघ्न डालना—क्या धारा 123(2) के अधीन भ्रष्ट आचरण है ?

अभिनिर्धारित—निर्वाचन सभा में विघ्न डालना अधिनियम की धारा 123(2) के अन्तर्गत नहीं आता बल्कि यह स्पष्टतः ऐसा निर्वाचन अपराध है, जिसका उल्लेख अधिनियम की धारा 127 में किया गया है (निर्वाचन सभा में विघ्न)।

(देखिए मद सं० 313)

317. धारा 123 (2)—भ्रष्ट आचरण—असम्यक् असर—किस प्रकार का सबूत अपेक्षित है ?

अभिनिर्धारित—यह सुस्थिर है कि भ्रष्ट आचरण का आरोप विश्वासप्रद साक्ष्य द्वारा सिद्ध करना होगा न कि मात्र संभाव्यताओं के अनुमान द्वारा और सबूत की रीति वही होनी चाहिए जोकि दाण्डिक मामले में होती है। जब किसी निर्वाचन अर्जी में असम्यक् असर का अभिकथन किया जाए तो यह दर्शित किया जाना चाहिए कि वह स्वयं अभ्यर्थी द्वारा या उसके अभिकर्ता के माध्यम से या उसकी सम्मति से या उसके निर्वाचन अभिकर्ता की सम्मति से किसी अन्य व्यक्ति द्वारा किया गया हो। प्रस्तुत मामले में साक्ष्य के पूर्वानुमान से यह सिद्ध होता है कि मतदाताओं को अपीलार्थी की उपस्थिति में धमकी दी गई थी और उन पर हमला किया गया था और इसके प्रतिकूल अपीलार्थी का साक्ष्य केवल एक प्रत्याख्यान था। निर्वाचन ठीक ही अपास्त किया गया।

राम शरण यादव बनाम ठाकुर मुनेश्वर नाथ सिंह : सिविल अपील सं० 892/80 जिसका विनिश्चय 30.10.1984 को किया गया। न्या० एस० मुर्तजा फजल अली और सब्यसाची मुखर्जी।

17 नवम्बर, 1984 को समाप्त सप्ताह

निर्णय-सूची

अधिवक्ता अधिनियम :

318. धारा 35(3)—वृत्तिक अवचार—दण्ड की पर्याप्तता—क्या उच्चतम न्यायालय इसे बढ़ा सकता है ?

अभिनिर्धारित—अधिवक्ता ने कूटकृत दस्तावेज में भाग लेकर कपट करना सुकर बनाया। उसने ऐसी रीति से कार्य किया जो विधिक वृत्ति के सदस्य के लिए अशोभनीय था। उच्चतम न्यायालय को यह विनिर्दिष्ट शक्ति दी गई है कि भारतीय विधिक परिषद् के विनिश्चय से व्यथित व्यक्ति द्वारा की गई अपील में यह न्यायालय ऐसा आदेश पारित कर सकेगा, जिसके अन्तर्गत प्रशासन समिति द्वारा दिए गए भिन्न-भिन्न दण्ड का आदेश भी शामिल है, जैसा कि वह ठीक समझे। (दण्ड को बढ़ाकर पांच वर्ष विधि व्यवसाय करने से निलम्बित कर दिया गया)।

वीरभद्र राव बनाम टेक चंद : सिविल अपील सं० 1019/78 जिसका विनिश्चय 18.10.1984 को किया गया।
न्या० देसाई, बालकृष्ण एराडी और खालिद।

सिविल सेवा :

319. अस्थायी कर्मचारी की सेवा समाप्ति—अनुचित और मनमाने व्यवहार का अभिकथन—सक्षम प्राधिकारी द्वारा यह दिखाया जाना कि शक्ति का प्रयोग ईमानदारी से और सद्भाविक रूप सें किया गया ?

अभिनिर्धारित—यह सुस्थिर है कि सरकारी सेवक के सम्बन्ध में सरकार को संविधान के अनुच्छेद 14 और 16 की अपेक्षाओं के अनुरूप कार्य करना चाहिए। राज्य द्वारा उस शक्ति के मनमाने प्रयोग से उन सांविधानिक प्रत्याभूतियों का अतिक्रमण होता है क्योंकि समता की और विभेद से संरक्षण की प्रत्याभूति में मूलभूत विवक्षा यह है कि सबके साथ निष्पक्ष और न्यायसंगत व्यवहार किया जाना चाहिए, चाहे व्यष्टिक रूप से अथवा वर्ग के रूप में संयुक्ततः। जब कोई सरकारी सेवक प्रथमदृष्टया न्यायालय का यह समाधान कर देता है कि उसकी सेवाओं के पर्यवसान आदेश से अनुच्छेद 14 और 16 का उल्लंघन होता है तो सक्षम प्राधिकारी को यह दर्शित करने का भार उठाना होगा कि सेवाओं को समाप्त करने की शक्ति का प्रयोग ईमानदारी से और विधिमान्य विचारणाओं के आधार पर सद्भाविक रूप से, निष्पक्ष रूप से और बिना किसी विभेद के किया गया है।

नैपाल सिंह बनाम उत्तर प्रदेश राज्य : सिविल अपील सं० 621,75 जिसका विनिश्चय 9.11.1984 को किया गया।

न्या० पाठक, मदान और ठक्कर।

320. इस आरोप पर जांच की गई कि अस्थायी सरकारी सेवक ने नियमों के विपरीत दूसरा विवाह कर लिया है—अधिकारिता के अभाव में जांच बन्द कर दी गई—बाद में कोई जांच नहीं की गई और तदुपरान्त सेवा-समाप्ति—सेवा समाप्त करने से संबंधित आदेश का औचित्य ?

अभिनिर्धारित—जब किसी सरकारी सेवक के विरुद्ध अवचार के अभिकथन लगाए जाएं और वह ऐसा मामला हो, जिसमें अनुच्छेद 311(2) के उपबंध लागू होते हों तो सक्षम प्राधिकारी यह मत नहीं अपना सकता कि इस खण्ड द्वारा अनुध्यात जांच करना एक परेशानी या न्यूसेंस होगी और इसलिए वह उस उपबंध के आज्ञापक आदेश से बचने के लिए और एक प्रथमदृष्टया अनपकारी पर्यवसान आदेश के छद्म वेश का सहारा लेने के लिए हकदार है। जहां यह उपबन्ध लागू होता है, वहां अनुच्छेद 311(2) के सांविधानिक उपबन्ध को सीमित करने के किसी प्रयास को न्यायालय बिल्कुल भी पसन्द नहीं करेगा। प्रस्तुत मामले में जांच बन्द करने के बाद सक्षम प्राधिकारी ने अस्थायी सरकारी सेवक के विरुद्ध कोई बात प्रकट किए बिना उसकी सेवाएं इस आधार पर समाप्त कर दीं कि वह जहां भी जाता है, समस्याएं खड़ी कर देता है।

(देखिए मद सं० 319)

321. अनुपयुक्तता के आधारों पर सेवा-समाप्ति—सेवाएं समाप्त करने से पहले सक्षम प्राधिकारी का कर्तव्य ?

अभिनिर्धारित—जहां अस्थायी नियुक्ति पर सरकारी सेवक की सेवाएं इस आधार पर समाप्त कर दी जाएं कि वह भ्रष्टाचार के कारण इतना बदनाम हो गया है कि उसे सेवा में रखना अनुपयुक्त है, वहां भ्रष्ट आचरण के कारण बदनाम अभिकथन मात्र से अधिक किसी बात पर आधारित होना चाहिए कि राज्य को, और इस काम के लिए किसी कानूनी नियोजक को उपयुक्तता के आधार पर किसी की सेवा समाप्त करते समय अत्यन्त ध्यानपूर्वक यह देखना होगा कि उसका आदेश ऐसी सुनिश्चित सामग्री पर

आधारित हो जिसे वस्तुपरक दृष्टि से जांचा-परखा जा सके और वह उस आधार से सुसंगत हो, जिस पर सेवा समाप्त की गई है।

(देखिए मद सं० 319 और 320)

संविधान, 1950 :

322. अनुच्छेद 58(2) और 102(1)(क)—दोनों अनुच्छेदों में अंतर—लाभ के पद का धारक—क्या नगरपालिका का लेखापाल संसद् के सदस्य के निर्वाचन के लिए खड़ा हो सकता है ?

अभिनिर्धारित—अनुच्छेद 58(2) और 102(1)(क) में बिल्कुल साफ अंतर है : जबकि राष्ट्रपति के निर्वाचन की दशा में यदि वह अभ्यर्थी केन्द्रीय सरकार या राज्य सरकार के नियंत्रणाधीन स्थानीय या किसी अन्य प्राधिकरण में लाभ का पद धारण करता है तो भी वह निर्रहित हो जाता है किन्तु जब कोई अभ्यर्थी संसद् के सदस्य के लिए निर्वाचन लड़ता है तो वह निर्रहित नहीं होता। इससे प्रकट होता है कि संसद सदस्य के निर्वाचन के लिए पात्रता की दशा में किसी स्थानीय प्राधिकरण में लाभ का पद धारण करना निरर्हता की कोटि में नहीं आता, चाहे वह प्राधिकरण सरकार के नियंत्रण में हो। अतः नगरपालिका में काम करने वाला लेखापाल संसद् के निर्वाचन लड़ने के लिए खड़ा हो सकता है।

अशोक कुमार भट्टाचार्य बनाम अजय बिश्वास : सिविल अपील सं० 1724/82 जिसका विनिश्चय 15.11.1984 को किया गया।

न्या० एस० मुर्तजा फजल अली, वरदराजन और सब्यसाची मुखर्जी।

323. अनुच्छेद 141—तीन न्यायाधीशों का खण्ड न्यायापीठ—क्या वह दो न्यायाधीशों के खण्ड न्यायपीठ के निर्णय को उलट सकता है ?

अभिनिर्धारित—उच्चतम न्यायालय की बैठक सुविधा की खातिर दो या तीन न्यायाधीशों के खण्ड न्यायपीठों में की जाती है। तीन न्यायाधीशों के खण्ड न्यायपीठ के लिए दो न्यायाधीशों के खण्ड न्यायपीठ के विनिश्चय को उलटना उपयुक्त नहीं हो सकता, किन्तु यदि संविधान न्यायपीठ ऐसा करता है तो ऐसा किया जा सकता है।

जावेद अहमद अब्दुल हमीद पवाला बनाम महाराष्ट्र राज्य : रिट पिटीशन (दाण्डिक) सं० 972/84 जिसका विनिश्चय 9.11.1984 को किया गया।

(मद सं० 326 भी देखिए)

न्या० चिन्नप्पा रेड्डी और वेंकटरामय्या।

324. अनुच्छेद 226—न्यायाधीशों के पक्षों में मौखिक आवेदन—कोई लिखित आवेदन फाइल न किया जाना—आदेश पारित किया जाना—आदेश में न तो तथ्य न विधि प्रश्न का और न ही कारणों का दिया जाना—औचित्य ?

अभिनिर्धारित :—ऐसी प्रक्रिया अनुज्ञात करने से, जिसके द्वारा मौखिक आवेदन किया जा सके और अभिकथनों के प्रथमदृष्टया सबूत के रूप में शपथ पर किए गए शपथ-पत्रों के बिना कोई लिखित पिटीशन किए बिना तथा न्यायालय के समक्ष कोई अभिलेख प्रस्तुत किए बिना अंतरिम आदेश प्राप्त कर लिए जाएं, न्यायालय की प्रक्रिया का अत्यधिक दुरुपयोग हो सकता है। यदि कोई मामला इतना तात्कालिक है कि लिखित आवेदन के लिए आग्रह नहीं किया जा सकता तो भी न्यायाधीश को कम से कम इतना कष्ट उठाना चाहिए और ध्यान रखना चाहिए कि वह अपने आदेश में अपने सामने वर्णित तथ्यों को तथा प्रस्तुत किए गए निवेदनों को लेखबद्ध करे। यह अनिवार्य है कि अभिलेख समकालीन हों अन्यथा न्यायालय अभिलेख न्यायालय नहीं रहेगा।

समरियस ट्रेडिंग कंपनी बनाम **सेमुअल :** सिविल अपील सं० 4416/84 जिसका विनिश्चय 9.11.1984 को किया गया।

(मद सं० 329 भी देखिए)।

न्या० चिन्नप्पा रेड्डी, ए० पी० सेन और वेंकटरामय्या।

साक्ष्य अधिनियम, 1872 :

न्यायकेत्तर संस्वीकृतियां—**क्या** इन पर तब तक निर्भर नहीं किया जा सकता जब तक कि इन्हें विश्वसनीय साक्ष्य द्वारा संपुष्ट न कर दिया जाए ?

अभिनिर्धारित :—न्यायिकेत्तर संस्वीकृति एक निःशक्त साक्ष्य माना जाता है किन्तु विधि या प्रज्ञा का ऐसा कोई सिद्धांत नहीं है कि इनके अनुसार तब तक कारंवाई नहीं की जा सकती जब तक संपुष्टि न की जाए या न कर दी गई हो। यदि ऐसे साक्षी से जो निष्पक्ष प्रतीत होता है और जिसके संबंध में ऐसा कुछ पता नहीं चलता कि वह अभियुक्त पर झूठा आरोप लगाने में

कोई हेतु रखता है, साक्ष्य दिलवाया जाए तो यदि उस साक्षी द्वारा बोले गए शब्द स्पष्ट और असंदिग्धार्थी हैं कि अभियुक्त अपराध का कर्ता है और अभियुक्त ऐसी कोई बात न छोड़े जो उसके प्रतिकूल प्रयुक्त की जा सके तो उस साक्षी के साक्ष्य को विश्वसनीयता की कसौटी पर कड़ाई से कसने पर न्यायिकेत्तर संस्वीकृतियां स्वीकार की जा सकती हैं और दोषसिद्धि का आधार बन सकती हैं।

उत्तर प्रदेश राज्य बनाम अन्थनी एम० के० : दाण्डिक अपील सं० एन० के० 19/76 जिसका विनिश्चय 6.11.1984 को किया गया। (अप्रकाशनीय)

न्या० देसाई और रंगनाथ मिश्र।

दण्ड संहिता :

326. मृत्यु दण्डादेश के निष्पादन में दो वर्ष से अधिक का विलम्ब—क्या इतना विलम्ब अनुच्छेद 21 का सहारा लेने के लिए और मृत्यु दण्डादेश को अभिखण्डित करने की मांग करने के लिए अभियुक्त व्यक्ति को हकदार बनाने के लिए पर्याप्त है ?

अभिनिर्धारित—निर्देशित विचारण और पुष्टि के मामलों में उच्च न्यायालय तेजी से कार्यवाही करते हैं और दो या तीन मास से अधिक कभी भी लम्बित नहीं रखते। विलम्ब उच्चतम न्यायालय में ही होता है। आजीवन कारावास और मृत्यु के ऐसे मामलों में तेजी से कार्यवाही करने की प्रक्रिया अपनाने में न्यायालय की असमर्थता न्याय और निष्पक्ष न्याय की आवाज बन्द करने के लिए कोई औचित्य नहीं हो सकता। प्रस्तुत मामले में संपूर्ण परिस्थितियों को एक साथ देखने से पिटीशनर संविधान के अनुच्छेद 21 का संरक्षण प्राप्त करने के लिए हकदार है। (दण्ड घटाकर आजीवन कारावास में बदल दिया गया)।

जावेद अहमद अब्दुल हमीद पावला बनाम महाराष्ट्र राज्य : रिट पिटीशन (दाण्डिक) सं० 972/84 जिसका विनिश्चय 9.11.1984 को किया गया।

(मद सं० 323 भी देखिए)

न्या० चिन्नप्पा रेड्डी और वेंकटरामय्या।

327. मृत्यु दण्डादेश—आजीवन कारावास में कब बदला जा सकता है ?

अभिनिर्धारित —इस मामले में अभियुक्त के पास अपनी बीमार पत्नी के इलाज के लिए धन नहीं था। एकदम हताश होकर उसने अपनी पत्नी और बच्चों के प्राण लेकर उससे बचने का मार्ग ढूंढ़ा। यह परिस्थिति इस बात की द्योतक है कि हालांकि अपराध घृणित है, फिर भी न्यायालय मृत्यु दण्डादेश नहीं देगा। (दण्डादेश घटाकर आजीवन कारावास में बदल दिया गया)।

(मद सं० 325 देखिए)

प्रक्रिया :

328. सूचना में वर्णित और वास्तव में किराए पर दिए गए आवास में सारवान अंतर—वाद फाइल किया जाना—बाद में वादपत्र में संशोधन—क्या ऐसा संशोधन वाद संस्थित करने के समय से माना जाएगा ?

अभिनिर्धारित —सूचना और वाद-पत्र दो सुभिन्न विषय हैं, जिनका प्रयोजन भिन्न-भिन्न है और जो दो अलग-अलग समय से सम्बद्ध हैं, वे दो भिन्न स्थानों पर लागू होते हैं और उनका संबंध केवल उतना है कि एक दूसरे को कायम रखने की शर्त है। वाद-पत्र में किया गया पश्चात्वर्ती संशोधन वाद संस्थित करने के समय से नहीं माना जाएगा। मांग की सूचना वाद संस्थित करने से स्वतंत्र कार्य है।

चिमनलाल बनाम **मिश्रीलाल :** सिविल अपील सं० 3356/79 जिसका विनिश्चय 12.11.1984 को किया गया।

न्या० पाठक, मदान और ठक्कर।

329. न्यायालय में मामलों की लोक सुनवाई—महत्व ?

अभिनिर्धारित —लोक सुनवाई न्यायालय के उत्कृष्ट गुणों में से है और इस देश के न्यायालय जनसाधारण न्याय करने के लिए अपेक्षित हैं, अन्यथा यह खतरा रहता है कि हो सकता है न्याय किया ही न जाए। न्यायालय नागरिक स्वाधीनताओं के संरक्षक हैं, अतः उन्हें अपने द्वारा अति-क्रमण से दुगुना सतर्क रहना चाहिए। यह नीति का विषय नहीं है बल्कि विधि का विषय है कि किसी मुकदमे की सुनवाई असीमित वर्ग के मामलों

के सिवाए लोक सुनवाई होनी चाहिए। कक्षों में न्यायालय की बैठक तभी की जा सकती है जब दोनों पक्षों का प्रतिनिधित्व हो और बैठकें खुले तौर पर की जाएं जिससे कि जनसाधारण के सदस्य भी कक्ष में जा सकें। प्रस्तुत मामले में एकल न्यायाधीश ने अपने कक्ष में किए गए मौखिक आवेदन पर तथ्यों का, विधि-प्रश्न का और अंतरिम आदेश देने के कारणों का उल्लेख किए बिना आदेश पारित कर दिया। दूसरे मौके पर विरोधी पक्षकार को बैठक की सूचना भी नहीं दी गई।

(देखिए मद सं० 324)

वृत्तिक कालेजों में प्रवेश

330. चिकित्सा कालेज — अभ्यर्थियों का चयन—नामों की सिफारिश करने में मुख्य मंत्री द्वारा शक्ति का गलत प्रयोग—चयन का आधार प्रकट न किया जाना—सूची अभिखण्डित की गई।

अभिनिर्धारित —पदाधिकारियों द्वारा फाइल किए गए प्रतिशपथ-पत्रों से प्रकट होता है कि विशिष्ट व्यक्तियों की सिफारिशों के साथ आवेदन समय-समय पर मुख्य मंत्री को मिले और उन्होंने चिकित्सा कालेजों में प्रवेश के लिए अनन्तिम सूची से भिन्न 10 व्यक्तियों के नामों की सिफारिश की। किसी भी प्रतिशपथ-पत्र में इस बात का उल्लेख नहीं किया गया कि मुख्य मंत्री ने चयन किस आधार पर किया है। मुख्य मन्त्री ने शक्ति का घोर दुरुपयोग किया है। उनके द्वारा सिफारिश की गई सूची अभिखण्डित की जाती है।

सुरेन्द्र कुमार बनाम बिहार राज्य : दाण्डिक रिट पिटीशन सं० 15329/84 जिसका विनिश्चय 9.11.1984 को किया गया।

न्या० चिन्नप्पा रेड्डी, ए० पी० सेन और वेंकटरामय्या।

किराया नियंत्रण :

331. मध्य प्रदेश आवास नियंत्रण अधिनियम, 1961—धारा 12 (1) (क) —विधिमान्य सूचना क्या है—सूचना में वर्णित आवास और वास्तव में किराए पर दिए गए आवास में सारवान अंतर—क्या सूचना विधिमान्य सूचना है ?

अभिनिर्धारित —धारा 12(1)(क) में निर्दिष्ट सूचना ऐसी सूचना होनी चाहिए, जिसमें किराएदार को वास्तव में किराए पर दिए गए आवास की बाबत किराए की मांग की गई हो और बकाया किराएदार से कानूनी

तौर पर वसूलनीय हो। यदि सूचना में वर्णित आवास में और वास्तव में किराए पर दिए गए आवास में सारवान अंतर है और यदि उसे किराए पर दिए गए आवास के रूप में कारगर ढंग से नहीं पहचाना जा सकता है तो सूचना विधिमान्य नहीं होगी। जब तक कि उचित मांग न की जाए, तब तक उसके अननुपालन की कोई शिकायत नहीं की जा सकती और परिणामस्वरूप, इस आधार पर कोई बेदखली वाद फाइल नहीं किया जा सकता।

चिमनलाल बनाम **मिश्रीलाल** : सिविल अपील सं० 3356/79 जिसका निनिश्चय 12.11.1984 को किया गया।

(मद सं० 328 भी देखिए)

न्या० पाठक, मदान और ठक्कर।

लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951 :

332. मतों की पुनर्गणना—पुनर्गणना के लिए और निर्वाचन को अपास्त करने के लिए तथा निर्वाचन अर्जीदार को निर्वाचित अभ्यर्थी घोषित करने के लिए प्रार्थना—सफल अभ्यर्थी द्वारा अर्जीदार के खिलाफ आवेदन फाइल न किया जाना—क्या इसमें धारा 97(1) लागू होती है?

अभिनिर्धारित :—इस प्रकार के मामले में धारा 97(1) लागू होती है। उच्च न्यायालय ने निर्वाचन अर्जीदार से संबंधित रद्द किए गए मत पत्रों को फिर से गणना का निदेश देकर न्यायोचित कार्रवाई की और प्रत्यारोपण आवेदन की अनुपस्थिति में उच्च न्यायालय ने अनुचित रूप से रद्द किए गए पाए गए सफल अभ्यर्थी से सम्बंधित मतपत्रों को ध्यान में रखने से इंकार करके न्यायोचित कार्य किया।

भाग मल बनाम **चौधरी प्रभु राम और अन्य** : सिविल अपील सं० 1451/84 जिसका विनिश्चय 30.10.1984 को किया गया।
न्या० एस० मुर्तज़ा फजल अली, वरदराजन और न्या० सब्यसाची मुखर्जी (विसम्मति प्रकट करते हुए)।

333. अनुच्छेद 102(1)(क)—नगरपालिका में लेखापाल का पद—क्या लाभ का पद है—क्या वह लेखापाल संसद् का निर्वाचन लड़ने के लिए अर्हित नहीं हैं?

अभिनिर्धारित :— कोई व्यक्ति सरकार में लाभ का पद धारण करता है या नहीं, यह देखने के लिए हर मामले को उस अधिनियम के ...

उपबंधों की दृष्टि से परखना होगा, जिसके अधीन वह काम करता है। बंग। म्युनिसिपल ऐक्ट, 1932 के उपबन्धों के विवेचन से पता चलता है कि यद्यपि राज्य सरकार स्थानीय प्राधिकरणों पर कुछ नियन्त्रण रखती है, फिर भी इन प्राधिकरणों में काम करने वाले अधिकारी और कर्मचारी राज्य सरकार के कर्मचारी नहीं हैं और न ही वे कोई शासकीय कार्य करते हैं। इस प्रकार नगरपालिका का कर्मचारी इस मामले में संसद् का निर्वाचन लड़ने के लिए अपात्र नहीं है।

अशोक कुमार भट्टाचार्य बनाम अजय बिश्वास : सिविल अपील सं० 1724/82 जिसका विनिश्चिय 15.11.1984 को किया गया।

न्या० एस० मुर्तज़ा फज़ल अली, वरदराजन और सब्यसाची मुखर्जी।

अशोक कुमार भट्टाचार्य

बनाम

अजय बिश्वास और अन्य

(15 नवम्बर, 1984)

(न्यायाधिपति एस० मुर्तजाफजल अली, ए० वरदराजन और
सव्यसाची मुखर्जी).

संविधान—1950, अनुच्छेद 102(1)(क)—सरकार के अधीन लाभ का पद—प्रत्यर्थी का नगरपालिका में नियोजित होना—नियोजन के दौरान प्रत्यर्थी द्वारा लोक सभा का मध्यावधि चुनाव लड़ा जाना—प्रत्यर्थी का चुनाव में विजयी होना—प्रत्यर्थी के विरुद्ध उच्च न्यायालय में इस आधार पर निर्वाचन वाद लाया जाना कि वह स्थानीय नगरपालिका के अधीन लाभ का पद धारण किए हुए था—स्थानीय प्राधिकरणों के कर्मचारी सभी मामलों में सरकार के अधीन लाभ का पद धारण नहीं करते।

पिटीशनर ने सन् 1980 में पश्चिमी त्रिपुरा संसदीय निर्वाचन क्षेत्र से कांग्रेस (इ) के अभ्यर्थी के रूप में लोक सभा का मध्यावधि चुनाव लड़ा। प्रत्यर्थी सी०पी०आई० (एम) का अभ्यर्थी था। मुख्य मुकाबला पिटीशनर और प्रत्यर्थी के बीच था और प्रत्यर्थी विजयी घोषित किया गया। उच्च न्यायालय के समक्ष एक निर्वाचन अर्जी फाइल की गई जिसमें यह दलील दी गई कि प्रत्यर्थी लोक सभा का सदस्य निर्वाचित होने के लिए अनर्हित था क्योंकि वह सुसंगत समय में सरकार के अधीन लाभ का पद धारण किए हुए था। यह बतलाया गया कि प्रत्यर्थी अगरतला नगरपालिका में लेखा प्रभारी के रूप में कार्य कर रहा था। उच्च न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि प्रत्यर्थी सुसंगत समय में स्थानीय नगर पालिका के अधीन लाभ का पद धारण किए हुए था और वह आयुक्तों का अधिकारी था और वह सरकारी कर्मचारी नहीं था न ही उससे सरकार के लिए सरकारी कर्त्तव्यों का निर्वहन करने की अपेक्षा थी। इस निर्णय के विरुद्ध अपील को खारिज करते हुए,

अभिनिर्धारित—उच्च न्यायालय का यह मत था और हमारी राय में ठीक ही था कि प्रत्यर्थी सं० 1 सुसंगत समय में स्थानीय नगरपालिका के

अधीन लाभ का पद धारण किए हुए था। बंगाल म्युनिसिपल ऐक्ट, 1932 की धारा 66 के उपबन्धों के अनुसार प्रत्यर्थी सं० 1 द्वारा धारित पद की श्रेणी के व्यक्तियों की नियुक्ति नगरपालिका के आयुक्तों द्वारा की जाती थी किन्तु नियुक्ति राज्य सरकार की पुष्टि के अधीन थी। उच्च न्यायालय ने यह ठीक ही अभिनिर्धारित किया कि प्रत्यर्थी सं० 1 आयुक्तों का अधिकारी था। उक्त अधिनियम की धारा 63 में इस बात का उपबंध है कि आयुक्तों के ऐसे अधिकारी और कर्मचारी आयुक्तों द्वारा नियुक्त कार्यपालिका अधिकारी के अधीनस्थ होंगे। प्रत्यर्थी सं०1 आयुक्तों द्वारा नियुक्त किया गया था यद्यपि सरकार की मंजूरी अभिप्राप्त की गई थी। उसे आयुक्तों द्वारा फिर सरकार की मंजूरी के अधीन हटाया जा सकता था। उसे नगरपालिक निधियों में से संदाय किया जाता था जिसे नगरपालिका इकट्ठा करने के लिए सक्षम थी और है। अधिनियम के उपबन्धों के विश्लेषण से यह बात स्पष्ट है कि यद्यपि सरकार कुछ नियन्त्रण और पर्यवेक्षण करती है प्रत्यर्थी सं० 1 सरकार का कर्मचारी नहीं था न ही उससे सरकार के लिए सरकारी कर्त्तव्यों को करने की अपेक्षा थी। नगरपालिका पृथक् रूप से राज्य सरकार उल्लिखित की जाती हैं जैसा कि संविधान की सप्तम अनुसूची 1 की सूची 2 की मद 5 के निर्देश से स्पष्ट है। इसलिए इस प्रकार का एक स्थानीय प्राधिकरण पृथक् और भिन्न है। यह बात संविधान के अनुच्छेद 58 (2) से और स्पष्ट हो जाती है न (पैरा 10 और 11)

अनुच्छेद 102 (1) (क) में इस उपबन्ध के पीछे सही सिद्धान्त यह है कि कर्त्तव्य और हित के बीच कोई विरोध नहीं होना चाहिए। सरकार विभिन्न क्षेत्रों में और विभिन्न परिमाण में विभिन्न कार्यवाहियों को नियंत्रित करती है किन्तु इस बात का निर्णय करने के लिए कि क्या किसी प्राधिकरण या सरकार के नियन्त्रण के अधीन किसी स्थानीय प्राधिकरणों के कर्मचारी सरकारी कर्मचारी बनते हैं या नहीं, सरकार के अधीन लाभ का पद धारण करने वाले हैं अथवा नहीं, नियन्त्रण का परिमाण और स्वरूप प्रत्येक मामले में तथ्यों और परिस्थितियों के दृष्टिकोण से निर्णीत किया जाना चाहिए जिससे कि व्यक्तिगत हित और कर्त्तव्यों के बीच किसी संभाव्य विरोध से बचा जा सके। (पैरा 16)

संविधान के अनुच्छेद 102 (1) (क) और अनुच्छेद 191 (1) (क) के समान उपबन्ध को अधिनियमित करने का उद्देश्य यह है कि कोई व्यक्ति जो विधानमंडल या संसद के लिए निर्वाचित होता है वह अपने कर्त्तव्यों का निर्भीक रूप से किसी सरकारी दबाव के अधीन हुए बिना निर्वहन कर

सके । खंड (क) में प्रयुक्त "सरकार के अधीन लाभ का पद" शब्द सरकार के अधीन धारित पद की अपेक्षा विस्तृत आयाम की अभिव्यक्ति है जिस पर संविधान के भाग 15 में चर्चा की गई है । किसी स्थानीय प्राधिकरण पर सरकार द्वारा नियन्त्रण की सीमा निर्वाचित निकाय के कर्त्तव्य और हित के बीच विवाद की संभाव्यता को समाप्त करने के लिए और उनकी निष्पक्षता को बनाए रखने के लिए निर्णीत की जानी चाहिए । (पैरा 20)

इस प्रश्न का अवधारण करने के लिए कि क्या कोई व्यक्ति सरकार के अधीन लाभ का पद धारण किए हुए है प्रत्येक मामले को सुसंगत उपबन्धों और धाराओं के दृष्टिकोण से मापा और निर्णीत किया जाना चाहिए और बंगाल म्युनिसिपल ऐक्ट, 1932 के उपबन्धों को ध्यान में रखते हुए जिसे त्रिपुरा तक विस्तारित कर दिया गया था, सरकार प्रत्यर्थी सं० 1 जैसे अधिकारियों का नियन्त्रण नहीं करती और कि वह नगरपालिका का कर्मचारी बना रहता है यद्यपि उसकी नियुक्ति सरकार द्वारा पुष्टि के अधीन है । उसका नगरपालिका का कर्मचारी बनना समाप्त नहीं हो जाता । इस प्रकार के स्थानीय प्राधिकरण का सरकार से पृथक् स्वतन्त्र इकाई बनना समाप्त नहीं हो जाता । क्या किसी विशेष मामले में ऐसा है अथवा नहीं, सुसंगत उपबन्धों के तथ्यों और परिस्थितियों पर निर्भर करता है । स्थानीय प्राधिकरणों के कर्मचारियों को सभी मामलों में सरकार के नियन्त्रण के अधीन लाभ का पद धारण करने वाले बनाना, संविधान के अनुच्छेद 58 (2) के अधीन किए गए विनिर्दिष्ट विभेदीकरण को मिटाना और इस अनुच्छेद की भाषा द्वारा असमर्थित विस्तार तक अनुच्छेद 102 (1) (क) के अधीन अनर्हता को विस्तारित करना होगा । (पैरा 21)

अविलम्बित निर्णय

		पैरा
[1984]	[1984] 2 उम० नि० प० = [1984] 1 एस० सी० आर० 551 : **बिहारी लाल डोबरे बनाम रोशनलाल डोबरे**	19
[1977]	[1977] 1 उम० नि० प० 1247 = [1976] 3 एस० सी० आर० पे० 832, पृष्ठ 851 : **मधुकर जी० ई० पंकाकर बनाम जशवंत छबीलदास, रजनी और अन्य**	18

[1975] [1975[3 उम० नि० प० 533=[1975] 3 एस० सी० आर० 909 ::
सूर्यकान्त राय बनाम इमामुल हयि खान 16

[1971] [1971] 3 एस० सी० आर० ||
शिवमूर्ति स्वामी बनाम अगादी संगाना अंदनप्पा 16

प्रभोदित निर्णय

[1970] [-1970] 1 उम० नि० प० 23=[1969] 3 एस० सी० आर० 425 :
डी० आर० गुरुशांतप्पा बनाम अब्दुल खुद्दूस अनवर और अन्य 14

[1964] [1964] 4 एस० सी० आर० 311 :
गुरुगोविन्द बसु बनाम शंकरी प्रसाद घोषाल और अन्य 15

[1958] [1958] एस० सी० आर० पी० 387
मौलाना अब्दुल शकूर बनाम रिखाब चन्द 15

सिविल अपीली अधिकारिता : 1982 की सिविल अपील सं० 1724.

1980 की निर्वाचन पिटीशन सं० 2 में गोहाटी उच्च न्यायालय, अगरतला शाखा के 15 मार्च, 1982 वाले निर्णय और आदेश के विरुद्ध विशेष इजाजत लेकर की गई अपील।

अपीलार्थी की ओर से सर्वश्री जी० एल० सांघी, एस० के० नन्दी और एस० पारेख

प्रत्यर्थी की ओर से सर्वश्री आर० के० गर्ग और एस० सी० बिरला

न्यायालय का निर्णय न्यायाधिपति सव्यसाची मुखर्जी ने दिया।

न्यायाधिपति मुखर्जी—

यह अपील एक निर्वाचन पिटीशन में गोहाटी उच्च न्यायालय के निर्णय और आदेश से उद्भूत होती है। पिटीशनर अपीलार्थी राम नगर विधान सभा भाग सं० 7 से पश्चिमी त्रिपुरा संसदीय निर्वाचन क्षेत्र में एक मतदाता था। उसने कांग्रेस (इ) के नाम निर्देशिती के रूप में पश्चिमी त्रिपुरा संसदीय

निर्वाचन-क्षेत्र से 1980 में हुए मध्यावधि लोक सभा निर्वाचन में चुनाव लड़ा। पिटीशनर सहित छह अभ्यर्थी थे जो उक्त चुनाव लड़ रहे थे। प्रत्यर्थी सं० 1 सी० पी० आई० (एम०) का अभ्यर्थी था। तारीख 8 दिसम्बर, 1979 नामांकन-पत्रों को फाइल करने की तारीख थी। नामांकन-पत्रों की संवीक्षा 11 दिसम्बर, 1979 को हुई और नाम वापस लेने की तारीख 13 दिसम्बर, 1979 थी। तारीख 6 जनवरी, 1980 को मतदान हुआ और चुनाव के परिणाम 8 जनवरी, 1980 को घोषित किए गए। मुख्य मुकाबला पिटीशनर-अपीलार्थी और प्रत्यर्थी सं० 1, अजय बिश्वास में था। प्रत्यर्थी सं० 1 ने अपीलार्थी के विरुद्ध जिसने 1,82,990 मत प्राप्त किए 1,98,335 मत प्राप्त किए। प्रत्यर्थी सं० 1 को निर्वाचित घोषित कर दिया गया।

2. एकमात्र प्रश्न जिस पर अपीलार्थी-पिटीशनर द्वारा उच्च न्यायालय के समक्ष निर्वाचन पिटीशन पर जोर दिया था और मात्र प्रश्न जो इस अपील में हमारे समक्ष बतलाया गया है, यह है कि क्या प्रत्यर्थी सं० 1 लोक सभा के सदस्य के रूप में निर्वाचित होने के लिए अनर्हित था चूंकि वह संविधान के अनुच्छेद 102 (1) (क) के अर्थान्तर्गत त्रिपुरा सरकार के अधीन लाभ का पद धारण किए हुए था। सुसंगत तारीख को प्रत्यर्थी सं० 1 अगरतला नगरपालिका का लेखा प्रभारी था। इसलिए इस अपील में अन्तर्वलित प्रश्न यह है कि क्या अगरतला नगरपालिका का लेखा-प्रभारी संविधान के अनुच्छेद 102 (1) (क) के अर्थान्तर्गत लाभ का पद है। इस प्रश्न का अवधारण करने के लिए कतिपय तथ्यों को निर्दिष्ट करना आवश्यक है।

3. प्रत्यर्थी सं० 1 अगरतला नगरपालिका में नियोजित था और 80—180 रु० प्रति मास के वेतनमान के पद को धारण किए हुए था। सन् 1975 में त्रिपुरा राज्य तक यथा विस्तारित अगरतला नगरपालिका के आयुक्तों को बंगाल म्युनिसिपल ऐक्ट, 1932 की धारा 553 के अधीन, राज्य सरकार के आदेश द्वारा अतिष्ठित कर दिया गया था। उक्त अधिनियम की धारा 554 का प्रभाव यह है कि अधिक्रमण की कालावधि के दौरान आयुक्तों और अध्यक्ष की शक्तियों और कर्त्तव्यों का प्रयोग उसकी धारा के अधीन राज्य सरकार द्वारा नियुक्त प्रशासक द्वारा किया जाएगा। प्रत्यर्थी सं० 1 को जो अधिक्रमण के समय निलम्बित था, 20 दिसम्बर, 1975 को अगरतला नगरपालिका के प्रशासक द्वारा उसके विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्यवाहियों में सेवा से पदच्युत कर दिया गया था। इसके पश्चात् राज्य सरकार ने पदच्युति के आदेश को पुष्ट कर दिया था। त्रिपुरा राज्य में जब वाम पंथी सरकार

पदासीन हुई, प्रत्यर्थी सं० 1 को 6 मई, 1978 को प्रशासक द्वारा तुरन्त अगरतला नगरपालिका के लेखा प्रभारी के पद पर बहाल कर दिया गया था। इसलिए सुसंगत समय में वह सहायक लेखपाल था और अगरतला नगरपालिका के अधीन लेखा प्रभारी था जो 200/- रुपए मासिक वेतन ले रहा था।

4. इस अपील में दी गई दलील के दृष्टिकोण से उक्त अधिनियम के सुसंगत उपबन्धों में से कुछ को संक्षिप्त रूप से नोट करना आवश्यक है। उक्त नगरपालिका अधिनियम की धारा 66 (2) के परन्तुक (ii) में इस बात का उपबन्ध है कि 200/- रुपए से अधिक मासिक वेतन या कालिक वेतन-वृद्धियों द्वारा उद्भूत 200/- रुपए से अधिक वेतन वाली नियुक्तियां राज्य सरकार की मंजूरी के बिना सृजित नहीं की जाएंगी और ऐसे किसी नाम निर्देशन से प्रत्येक नाम निर्देशन और उससे पदच्युति राज्य सरकार द्वारा पुष्टि के अधीन होगी। ऐसा प्रतीत होता है कि त्रिपुरा सरकार के उप-सचिव ने 6 मई, 1978 के अपने पत्र द्वारा अगरतला नगरपालिका के प्रशासक को 19 दिसम्बर, 1975 को उसे संसूचित पदच्युति के पुष्टि के आदेश के रद्दकरण के लिए सरकार के विनिश्चय को बता दिया था। परिणामस्वरूप रद्दकरण आदेश प्रभावी नहीं रहा था और प्रत्यर्थी सं० 1 को बहाल कर दिया गया था और आगे इस बात का उपबन्ध किया गया था कि पदच्युति की तारीख और बहाली की तारीख के बीच की कालावधि सभी प्रयोजनों के लिए काम पर बिताई गई कालावधि के रूप में मानी जाएगी।

5. अधिनियम में आगे इस बात का उपबन्ध है कि प्रत्येक नगरपालिका के लिए आयुक्तों का एक निकाय स्थापित किया जाएगा जिसमें ऐसे सदस्य या आयुक्त होंगे जो 20 से अधिक या 6 से कम, जैसा भी राज्य सरकार नगरपालिका गठित करने वाली अधिसूचना में विनिर्दिष्ट करे, नहीं होंगे। ऐसे आयुक्त उस स्थान के नगर आयुक्तों के नाम से निगमित निकाय होंगे जिसके निदश से नगरपालिका जानी जाती है जिसका शाश्वत् उत्तराधिकार होगा और एक सामान्य मुद्रा होगी और उस नाम से उन पर वाद लाया जा सकेगा और वे वाद ला सकेंगे। नगरपालिका में निर्वाचित आयुक्त हैं। सभापति आयुक्तों में से नगरपालिका में आयुक्तों के आम निर्वाचन के परिणाम के प्रकाशन की तारीख से 30 दिनों के भीतर आयुक्तों द्वारा निर्वाचित होगा जिसके न होने पर राज्य सरकार को आयुक्तों में से एक आयुक्त को सभापति नियुक्त करने की शक्ति होगी। एक उप-सभापति भी उनके बीच से निर्वाचित किया जाता है। सभापति को अन्यथा यथा-उपबन्धित के सिवाय कतिपय परिसीमाओं के भीतर अधिनियम से सम्बन्धित कारबार चलाने और

अधिनियम के अधीन आयुक्तों में विहित सभी शक्तियों का प्रयोग करने की शक्ति प्राप्त है। आयुक्तों को नगरपालिका में आयुक्तों के आम चुनाव के पश्चात् आयुक्तों के नए सिरे से बनाए गए निकाय की प्रथम बैठक की तारीख से प्रारम्भ होकर चार वर्षों के लिए पद धारण करना होता है जिसमें कि एक गणपूर्ति होती है। निर्वाचित सभापति या उप-सभापति किसी भी समय आयुक्तों के एक संकल्प द्वारा, जैसा कि उक्त अधिनियम की धारा 61 (2) और (3) में अधिकथित है, उसके पद से हटाया जा सकता है। अधिनियम निर्वाचित आयुक्त को उक्त अधिनियम की धारा 62 में उपवर्णित कतिपय आधारों पर हटाने के लिए राज्य सरकार को भी सशक्त करता है।

6. इस अपील में दी गई दलीलों के दृष्टिकोण से उक्त अधिनियम की धारा 66 को निर्दिष्ट और उपवर्णित करना सुसंगत होगा जो निम्न प्रकार है—

*"66. अधीनस्थ अधिकारियों की नियुक्ति—

(1) बैठक में आयुक्त इस अधिनियम और समय-समय पर तद्धीन बनाए गए नियमों के उपबन्धों के अधीन इस बात का निर्धारण करेंगे कि आयुक्तों के कौन-से अधिकारी और कर्मचारी नगरपालिका के लिए आवश्यक हैं और ऐसे अधिकारियों और कर्मचारियों को संदत्त और अनुदत्त किए जाने वाले वेतन और भत्ते नियत करेंगे।

(2) उपधारा (1) के अधीन आयुक्तों द्वारा अनुमोदित स्थापना के वेतनमान के अधीन सभापति को ऐसे व्यक्तियों को नियुक्त करने की जैसा कि वह उचित समझे और समय-समय पर ऐसे

---

* अंग्रेजी में यह इस प्रकार है—

"66. APPOINTMENT OF SUBORDINATE OFFICERS—

(1) The commissiohers at a meeting may, subject to the provisions of this Act and the rules made thereunder from time to time, determine what officers and what servants of the Commissioners are necessary for the municipality and may fix the salaries and allowences to be paid and granted to such officers and servants.

(2) Subject to the scale of establishment approved by the Commissioners under sub-section (1), the Chairman shall have power to appoint such persons

व्यक्तियों को हटाने और उनके स्थान में अन्य लोगों को नियुक्त करने की शक्ति होगी :

परन्तु यह और कि—

(i) कोई व्यक्ति 50 रुपयों से अधिक के मासिक वेतन या जो कालिक वेतन वृद्धियों के द्वारा 50 रुपयों से अधिक वेतन के पद पर बैठक में आयुक्तों की मंजूरी के बिना नियुक्त नहीं किया जाएगा और कोई अधिकारी या कर्मचारी जिसके पद का मासिक वेतन 20 रुपये से अधिक है ऐसी मंजूरी के बिना पदच्युत नहीं किया जाएगा।

(ii) 200 रुपये से अधिक मासिक वेतन या कालिक वेतन वृद्धियों द्वारा 200 रुपये से अधिक वेतन की नियुक्तियां राज्य सरकार की मंजूरी के बिना सृजित नहीं की जाएंगी और ऐसी किसी नियुक्ति पर नाम-निर्देशन और उससे पदच्युति राज्य सरकार द्वारा पुष्टि के अधीन होगी।

(iii) कोई व्यक्ति जो 100 रुपये मासिक वेतन या उससे अधिक वेतन वाले पद को धारण करता है तब तक पदच्युत नहीं

---

as he may think fit, and from time to time to remove such persons and appoint others in their places :

Provided as follows :

(i) a person shall not be appointed to an office carrying a monthly salary of more than fifty rupees or a salary rising by periodical increments to more than fifty rupees without the sanction of the Commissioners at a meeting, and an officer or servant whose post carries a monthly salary of more than twenty rupees shall not be dismissed without such sanction,

(ii) no appointment carrying a monthly salary of more than two hundred rupees or a salary rising by periodical increments to more than two hundred rupees shall be created without the sanction of the State Government and every nomination to, and be dismissal from, any such appointment shall be subject to confirmation by the State Government,

(iii) no person holding an office carrying a monthly salary of on hundred rupees or more shall de dismissed

किया जाएगा जब तक कि ऐसी पदच्युति की मंजूरी राज्य सरकार की सलाह के बिना आयुक्तों के संकल्प द्वारा, जो इस प्रयोजन के लिए बुलाई गई विशेष बैठक में पारित किया गया है, न दी गई हो और जब तक कि ऐसे संकल्प का आयुक्तों की जो तत्समय पद धारण किए हुए हैं, कुल संख्या के 2/3 से अनधिक मतों द्वारा समर्थन नहीं कर दिया गया है।

(3) उपधारा (2) में अन्तर्विष्ट किसी बात के होते हुए भी कार्यकालिक अधिकारी के पद का सृजन, उस पर नाम-निर्देशन या उसके निलम्बन या हटाए जाने या उसकी पदच्युति पद को समनुदेशित वेतन के बावजूद राज्य सरकार द्वारा पुष्टि के अधीन होगा।"

7. अधिनियम में आगे इस बात का उपबन्ध है कि ऊपर उल्लिखित अधिकारियों और कर्मचारियों के अतिरिक्त धारा 67 में उल्लिखित सभी या किन्हीं अधिकारियों को आयुक्तों द्वारा नियुक्त किया जा सकेगा। कतिपय परिस्थितियों में अधिनियम में इस बात का उपबन्ध है कि राज्य सरकार ऐसी कालावधि के लिए एक कार्यकालिक अधिकारी रख सकेगी जो अधिसूचना में विनिर्दिष्ट हो। धारा 93 में इस बात का उपबन्ध है कि जितना शीघ्र सम्भव हो प्रति वर्ष अप्रैल के प्रथम दिन के पश्चात् जो ऐसी तारीख के पश्चात् न हो जो राज्य सरकार द्वारा नियत की जाए आयुक्त राज्य सरकार को ऐसे प्ररूप और ऐसे ब्यौरों के साथ जैसा कि राज्य सरकार निदेश दे, पूर्व वर्ष के दौरान नगरपालिका के प्रशासन के बारे में एक रिपोर्ट राज्य सरकार को प्रस्तुत करेगा और रिपोर्ट की एक प्रति आयुक्तों द्वारा जिला मजिस्ट्रेट को भी भेजी जाएगी। नगरपालिका के आयुक्त नगरपालिका की सीमाओं के

---

unless such dismissal is sanctioned by a resolution of the Commissioners passed at a special meeting called for the purpose and, except with the consent of the State Government unless such resolution has been supported by the votes of not less than two-thirds of the total number of commissioners holding office for the time being.

(3) Notwithstanding anything contained in sub-section (2), the creation of and nomination to or suspension, removal or dismissal from, the post of Executive Officer shall irrespective of the salary assigned to the post, be subject to confirmation by the State Government."

भीतर या बाहर सम्पत्ति अर्जित और धारण कर सकेंगे और नगरपालिका के भीतर धारा 95 में विनिर्दिष्ट प्रकार की सभी सम्पत्ति जो केन्द्रीय सरकार या किसी अन्य स्थानीय प्राधिकरण द्वारा उल्लिखित सम्पत्ति से भिन्न होगी, आयुक्तों से सम्बन्धित और उनमें निहित होगी और सीधे उनके प्रबन्ध और नियन्त्रण में होगी। उक्त अधिनियम की धारा 102 के द्वारा उक्त अधिनियम के प्रयोजनों के लिए किसी भूमि को खरीदने पट्टे पर लेने या अन्यथा अर्जित करने के लिए सशक्त होंगे और ऐसे किन्हीं प्रयोजनों के लिए अनापेक्षित किसी भूमि को बेच सकेंगे, पट्टे पर दे सकेंगे, विनियमन कर सकेंगे या अन्यथा उसका निपटान कर सकेंगे। उन्हें अधिनियम के प्रयोजनों के लिए आवश्यक कोई संविदा करने या उसको पूरा करने की भी शक्ति है। प्रत्येक नगरपालिका के लिए नगरपालिका निधि नामक निधि गठित की गई है और उक्त अधिनियम के अधीन या अन्यथा आयुक्तों द्वारा या उनकी ओर से सभी रकमें प्राप्त की जा सकेंगी और यदि कोई अतिशेष हो जो उक्त अधिनियम के प्रारम्भ में नगरपालिका की नगरपालिका निधि में जमा हो, वे उक्त निधि में जमा कर दिए जाएंगे। वे प्रयोजन जिसके लिए नगरपालिका निधि लागू होती है अधिनियम की धारा 108 में प्रगणित किए गए हैं। यदि किसी कार्य का आकलन दस हजार रुपयों की कीमत से ऊपर किया जाता है तो राज्य सरकार इस बात की अपेक्षा कर सकती है कि ऐसे कार्य के नकशे और आकलन उसकी मंजूरी के लिए प्रस्तुत किए जाएं या ऐसे कार्य से पूर्व सरकार के किसी सेवक के अनुमोदन के लिए ऐसे प्ररूप में जैसा वह विहित करे, प्रस्तुत किए जाएं।

8. कर, पथकर और शुल्क उक्त अधिनियम की धारा 123 के अधीन अधिरोपित करने के लिए उपबंध हैं और उक्त अधिनियम की धारा 128 के अधीन जोत के वार्षिक मूल्य पर दरों को निर्धारण करने का उपबंध है। कर अधिरोपित करने की शक्ति प्रदत्त की गई है। रजिस्ट्रीकरण आदि के लिए शुल्क लेकर नगरपालिका की निधि को बढ़ाने के अन्य उपबंध हैं। अधिनियम उक्त अधिनियम के प्रयोजनों को पूरा करने के लिए नगरपालिका के लिए निधियों को बढ़ाने के लिए सशक्त करता है।

9. इस संबंध में साधारण खंड अधिनियम, 1897 की धारा 3 के खंड (31) को निर्दिष्ट करना सुसंगत होगा और अधिनियम के उपबंधों के दृष्टिकोण से उच्च न्यायालय द्वारा यह अभिनिर्धारित किया गया था कि अगरतला नगरपालिका साधारण खंड अधिनियम, 1897 की धारा 3 के

खंड (31) में यथा परिभाषित उस अभिव्यक्ति के अर्थान्तर्गत स्थानीय प्राधिकरण है। हमारी यह राय है कि उच्च न्यायालय ठीक था।

10. पहेल उल्लिखित तथ्यों के दृष्टिकोण से उच्च न्यायालय का यह मत था और हमारी राय में ठीक ही था कि प्रत्यर्थी सं० 1 सुसंगत समय में स्थानीय नगरपालिका के अधीन लाभ का पद धारण किए हुए था। धारा 66 जिसे हमने यहां पर पहले उपवर्णित किया है, यह उपदर्शित करती है कि प्रत्यर्थी सं० 1 द्वारा धारित पद की श्रेणी के व्यक्तियों की नियुक्ति नगरपालिका के आयुक्तों द्वारा की जाती थी किन्तु नियुक्ति राज्य सरकार की पुष्टि के अधीन थी। उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया और हमारी यह राय है कि ठीक ही किया कि प्रत्यर्थी सं० 1 आयुक्तों का अधिकारी था। उक्त अधिनियम की धारा 63 में इस बात का उपबंध है कि आयुक्तों के ऐसे अधिकारी और कर्मचारी आयुक्तों द्वारा नियुक्त कार्यपालिक अधिकारी के अधीनस्थ होंगे। प्रत्यर्थी सं० 1 आयुक्तों द्वारा नियुक्त किया गया था यद्यपि सरकार की मंजूरी अभिप्राप्त की गई थी। उसे आयुक्तों द्वारा फिर सरकार की मंजूरी के अधीन हटाया जा सकता था। उसे नगरपालिका निधियों में से संदाय किया जाता था जिसे नगरपालिका इकट्ठा करने के लिए सक्षम थी और है। अधिनियम के उपबंधों के विश्लेषण से यह बात स्पष्ट है कि यद्यपि सरकार कुछ नियंत्रण और पर्यवेक्षण करती है प्रत्यर्थी सं० 1 सरकार का कर्मचारी नहीं था न ही उससे सरकार के लिए सरकारी कर्त्तव्यों को करने की अपेक्षा थी।

11. नगरपालिकाएं पृथक् रूप से राज्य सरकार से भिन्न उल्लिखित की जाती हैं। जैसा कि संविधान की सप्तम अनुसूची 1 की सूची 2 की मद 5 के निर्देश से स्पष्ट है। इसलिए इस प्रकार का एक स्थानीय प्राधिकरण पृथक् और भिन्न है। यह बात संविधान के अनुच्छेद 58 (2) से और स्पष्ट हो जाती है।

12. इस अपील में अन्तर्वलित प्रश्न यह है कि क्या प्रत्यर्थी सं० 1 ने संविधान के अनुच्छेद 102 के खंड (1) के उपखंड (क) के अधीन लाभ का पद धारण किया था। अनुच्छेद 102 (1) का उपखंड (क) निम्न प्रकार उपबंधित करता है—

"102 (1)············

(क) यदि वह भारत सरकार के या किसी राज्य की सरकार के अधीन, ऐसे पद को छोड़कर जिसको धारण करने वाले का

निर्रहित न होना संसद् ने विधि द्वारा घोषित किया है, कोई लाभ का पद धारण करता है।"

13. अनुच्छेद 58 के खंड (2) के अंतर में जो राष्ट्रपति के रूप में निर्वाचन के लिए अनर्हताओं का उल्लेख करता है, निम्न प्रकार है—

"58. राष्ट्रपति निर्वाचित होने के लिए अर्हताएं—

(1) ....

(2) कोई व्यक्ति जो भारत सरकार के या किसी राज्य की सरकार के अधीन अथवा उक्त सरकारों में से किसी के नियंत्रण में किसी स्थानीय या अन्य प्राधिकारी के अधीन कोई लाभ का पद धारण करता है, राष्ट्रपति निर्वाचित होने का पात्र नहीं होगा।"

14. वास्तव में कोई व्यक्ति या तो भारत सरकार के अधीन या किसी राज्य सरकार के अधीन या किसी स्थानीय या अन्य प्राधिकरण के अधीन लाभ का पद धारण करता है जो उक्त सरकारों के नियंत्रण के अधीन है, राष्ट्रपति बनने से अनर्हित है किन्तु यदि कोई व्यक्ति भारत सरकार या किसी राज्य की सरकार के अधीन लाभ का पद धारण करता है तो केवल वह संसद् सदस्य बनने से अनर्हित है। किसी प्राधिकरण या स्थानीय प्राधिकरण के अधीन राज्य या केन्द्रीय सरकार के नियंत्रण के अधीन लाभ का पद धारण करने वाला कोई व्यक्ति इस प्रकार से संसद् का सदस्य होने से अनर्हित नहीं है। इन उपबंधों को ध्यान में रखते हुए इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है कि क्या प्रत्यर्थी सं० 1 राज्य सरकार के अधीन लाभ का पद धारण किए हुए था।

15. **डी० आर० गुरुशांतप्पा** बनाम **अब्दुल खुद्दूस अनवर और अन्य**[1] के मामले में इस न्यायालय को इस बात पर विचार करना पड़ा कि क्या सरकार द्वारा धारित किसी कंपनी में नियोजित कोई अभ्यर्थी संविधान के अनुच्छेद 102 (1) (क) और 191 (1) (क) के अधीन अनर्हित था और इस संबंध में संविधान के अनुच्छेद 102 (1) (क) और 191 (1) (क) के सुसंगत उपबंधों पर विचार किया था। **गुरु गोबिन्द बसु** बनाम **शंकरी प्रसाद घोषाल और अन्य**[2] के मामले में चर्चा करने के पश्चात् और **मौलाना अब्दुल शकूर** बनाम **रिखाब चंद**[3] के मामले में विनिश्चय के पश्चात् यह न्यायालय

---

[1]. [1970] 1 उम० नि० प० 23=[1969] 3 एस० सी० आर० 425.

[2]. [1964] 4 एस० सी० आर० 311.

[3]. [1958] एस० सी० आर० 387.

इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि मात्र यह तथ्य कि सरकार प्रबंध निदेशक या अन्य निदेशकों पर नियंत्रण रखती थी, तथा उसे कंपनी के कार्यकरण से संबंधित निदेश जारी करने की शक्ति थी इससे यह अनुमान नहीं लगाया जा सकता कि कंपनी का प्रत्येक कर्मचारी सरकार के नियंत्रण के अधीन था।

16. अनुच्छेद में इस उपबंध के पीछे सही सिद्धांत यह है कि कर्त्तव्य और हित के बीच कोई विरोध नहीं होना चाहिए। सरकार विभिन्न क्षेत्रों में और विभिन्न परिमाण में विभिन्न कार्यवाहियों को नियंत्रित करती है किन्तु इस बात का निर्णय करने के लिए कि क्या किसी प्राधिकरण या सरकार के नियंत्रण के अधीन किसी स्थानीय प्राधिकरणों के कर्मचारी सरकारी कर्मचारी बनते हैं या नहीं, सरकार के अधीन लाभ का पद धारण करने वाले हैं अथवा नहीं, नियंत्रण का परिमाण और स्वरूप प्रत्येक मामले में तथ्यों और परिस्थितियों के दृष्टिकोण से निर्णीत किया जाना चाहिए जिससे कि व्यक्तिगत हित और कर्त्तव्यों के बीच किसी संभाव्य विरोध से बचा जा सके। इस स्थिति की **सूर्यकांत राय** बनाम **इसामुल हई खां**[1] के मामले में और परीक्षा की गई थी। वहां पर बिहार एंड उड़ीसा माइनिंग सेटलमेंट ऐक्ट, 1920 के अधीन एक बोर्ड, जिसका नाम माइन्स बोर्ड आफ हैल्थ था, किसी क्षेत्र के नियन्त्रण और स्वच्छता प्रबन्ध के लिए स्थापित किए जाने का उपबन्ध करना था जिसके भीतर किसी खान में नियोजित व्यक्ति रहते हैं और उसमें किसी फसाद और व्यापक बीमारियों को फैलने से रोकने का उपबन्ध करना था। उस मामले के तथ्यों का विश्लेषण करने के पश्चात् इस न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि मात्र यह तथ्य कि अभ्यर्थी राज्य सरकार द्वारा बोर्ड का अध्यक्ष नियुक्त किया गया था, उसे राज्य सरकार के अधीन लाभ का पद धारण करने वाला व्यक्ति नहीं बना देता। वहां पर उच्चतम न्यायालय ने **शिवमूर्ति स्वामी बनाम अगादी संगन्ना अंदनप्पा**[2] के मामले को निर्दिष्ट किया था। इस न्यायालय ने **सूर्यकान्त राय** बनाम **इसामुल हई खां**[1] के मामले में पृष्ठ 911 पर निम्न प्रकार मत व्यक्त किया था—

> "यहां पुनः यह संकेत कर दें कि सरकार पारिश्रमिक का संदाय नहीं करती और न ही पदधारक सरकार के लिए अपने कृत्य करता है। इससे अन्यथा अभिनिर्धारित करने का अर्थ यह अभिनिर्धारित

---

1. [1975] 3 उम० नि० प० 533 = [1975] 3 एस० सी० आर० 909.
2. [1971] 3 एस० सी० सी० 870.

करना होगा कि नगरपालिका परिषद् जैसे स्थानीय निकाय सरकार की ओर अपने कृत्य करते हैं यद्यपि एक भाव में वे जो कृत्य करते हैं वे सरकारी कृत्य होते हैं।"

17. **डी० आर० गुरु संतप्पा बनाम अब्दुल खुद्दूस अनवर और अन्य**[1] के मामले में जिसका इसमें पहले उल्लेख किया गया है, इस न्यायालय ने पृष्ठ 434 पर निम्न प्रकार मत व्यक्त किया था—

"अतः राष्ट्रपति या उपराष्ट्रपति के निर्वाचन की दशा में निरर्हता तब भी उत्पन्न होती है यदि अभ्यर्थी केन्द्रीय सरकार या राज्य सरकार के नियन्त्रणाधीन किसी स्थानीय या किसी अन्य प्राधिकारी के अधीन लाभ का पद धारण कर रहा हो जब कि विधानमण्डलों में से किसी विधानमण्डल के सदस्य के निर्वाचन के लिए अभ्यर्थी की दशा में संविधान द्वारा कोई ऐसी निरर्हता अधिकथित नहीं की गई है यदि लाभ का पद सरकारों के नियन्त्रणाधीन किसी स्थानीय या किसी अन्य प्राधिकारी के अधीन न कि सरकारों में से किसी सरकार के प्रत्यक्षतः अधीन धारण किए हुए है। इससे स्पष्टतया यह उपदर्शित होता है कि विधानमण्डल के सदस्य के निर्वाचन के लिए पात्रता की दशा में स्थानीय प्राधिकारी, जैसे निगमित निकाय के अधीन लाभ का पद धारण करने से कोई निरर्हता उत्पन्न नहीं होती चाहे वह स्थानीय प्राधिकारी सरकार के नियन्त्रणाधीन हो। सरकार का उस प्राधिकारी पर, जिसके पास ऐसे प्राधिकारी द्वारा नियोजित आफिसर को नियुक्त करने, पदच्युत करने या उसके कार्यकरण को नियन्त्रित करने की शक्ति है, केवल मात्र नियन्त्रण से, वह आफिसर उस रीति में, जिसमें ऐसी निरर्हता राष्ट्रपति या उपराष्ट्रपति के रूप में निर्वाचित किए जाने के लिए अस्तित्व में आ जाती है, विधानमण्डल के सदस्य के रूप में निर्वाचित किए जाने के लिए अभ्यर्थी के रूप में वह आफिसर निरर्हित नहीं हो जाता। प्रस्तुत मामले में कम्पनी निस्सन्देह सरकार के नियन्त्रण के अधीन आती है और प्रत्यर्थी सं० 1 कम्पनी के अधीन लाभ का पद] धारण कर रहा था, किन्तु ऊपर उपदर्शित अन्तर की दृष्टि से यह स्पष्ट है कि संविधान के अनुच्छेद 191 (1) (क) के अधीन अधिकथित निरर्हता लाभ के ऐसे पद के धारक को लागू करने के लिए आशयित नहीं है।"

1. [1970] 1 उम० नि०प० 23 = [1979] 3 एस० सी० आर० 425.

18. इस दृष्टिकोण को इस न्यायालय ने **मधुकर जी० ई० पंकाकर बनाम जसवंत छबीलदास रजनी और अन्य**[1] के मामले में पुनः दोहराया था जहां पर इस न्यायालय ने निम्न प्रकार मत व्यक्त किया था—

> "इन सब नजीरों के सर्वेक्षण से, जिनका हवाला ऊपर दिया गया है, उभरने वाला मुख्य प्रश्न यह है कि कब हम किसी को ऐसे व्यक्ति के रूप में अभिहित कर सकते हैं जो नगरपालिक या तत्सदृश निर्वाचनों की उम्मीदवारी के लिए निरर्हता की स्थिति को ध्यान में रखते हुए सरकार के अधीन किसी "लाभ के पद" के संधारक के रूप में सरकार के साथ सम्बन्ध रखने वाले कार्य में अभिलाभपूर्वक नियोजित है। पदधारण से कोई पद और उसका धारक अभिप्रेत है और इस द्वैत (ड्यूलिटी) से स्वतन्त्र रूप से बने रहने वाले अस्तित्व के रूप में पद का अस्तित्व तथा तत्समय उसका धारक विवक्षित है।
>
> कुछ बातें प्रारम्भिक प्रतीत होती हैं। सरकार के अधीन लाभ का पद धारण करने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि कोई व्यक्ति सरकार की सेवा में हो और न स्वामी और सेवक की नातेदारी ही आवश्यक है (गुरु गोबिन्द का मामला [1964] 4 एस० सी० आर० 311]। इसी प्रकार हमें मूल तथ्य पर ध्यान देना है, न कि प्रारूप पर। तीसरी बात यह है कि सरकार के अधीन किसी "पद" का संधारण के निश्चायक के रूप में, इस न्यायालय द्वारा जोर देकर बताए गए सब तत्वों का एक ही समय में उपस्थित होना आवश्यक नहीं है। खास-खास परिस्थितियां ही निश्चायक साबित होती हैं, न कि कुल तत्व। किसी बुद्धिमततापूर्ण निष्कर्ष पर पहुंचने में सहायक, व्यावहारिक दृष्टिकोण हो सकता है, न कि यह कि सभी कसौटियों के अनुसार परख की गई है या नहीं।"

19. **बिहारी लाल डोबरे बनाम रोशन लाल डोबरे**[2] के मामले में इस न्यायालय के हाल ही के एक विनिश्चय में इस न्यायालय ने इस प्रश्न पर चर्चा की थी कि क्या लाभ का पद उस मामले के तथ्यों में सरकार के अधीन प्रत्यक्षतः धारण किया गया था। उत्तर प्रदेश बोर्ड आफ बेसिक एजूकेशन द्वारा संचालित उत्तर प्रदेश बेसिक शिक्षा अधिनियम के अधीन एक सहायक

1. [1977] 1 उम० नि प० 1247 = [1976] 3 एस० सी० आर० 832.
2. [1984] 2 उम० नि० प०=[1984] 1 एस० सी० आर० 551.

अध्यापक था और यह अभिनिर्धारित किया गया था कि यह संविधान के अनुच्छेद 191(1) (क) के अर्थान्तर्गत राज्य सरकार के अधीन लाभ का पद था और इसलिए वह निर्वाचन से अनर्हित था। वहां पर प्रत्यर्थी मूल रूप से एक बेसिक प्राइमरी स्कूल में सहायक अध्यापक में रूप में नियोजित था जो जिला परिषद द्वारा संचालित तथा प्रबंधित था। उत्तर प्रदेश बेसिक शिक्षा अधिनियम, 1972 के प्रवृत्त होने पर वह अधिनियम की धारा 9(1) के अधीन बेसिक शिक्षा बोर्ड का कर्मचारी बन गया। सहायक अध्यापक के पद पर उस पद को धारण करते हुए उसने राज्य विधान सभा के निर्वाचन के लिए अपना नामांकन भर दिया। किन्तु रिटर्निंग आफिसर ने इस आधार पर उसके नामांकन-पत्र को नामंजूर कर दिया कि वह राज्य सरकार के अधीन लाभ का पद धारण किए हुए था और इसलिए वह विधानसभा सदस्य के रूप में निर्वाचित होने के लिए अनुच्छेद 191(1) (क) के अधीन अनर्हित था। अनुच्छेद 191(1) (क) वस्तुतः राज्य विधान सभा के निर्वाचन के सम्बन्ध में संविधान के अनुच्छेद 102(1) (क) के तात्विक रूप से समान है। उसमें प्रत्यर्थी ने एक निर्वाचन अर्जी फाइल की और उच्च न्यायालय ने यह घोषित करते हुए उसे मंजूर कर लिया कि प्रत्यर्थी के नामांकन-पत्र को नामंजूर करके अपीलार्थी निर्वाचन शून्य था इसलिए अपीलार्थी ने इस न्यायालय में अपील फाइल की। इस न्यायालय ने अपील को मंजूर कर लिया और यह अभिनिर्धारित किया कि प्रत्यर्थी राज्य सरकार के अधीन लाभ का पद धारण किए हुए था।

20. जैसा कि हमने पहले उल्लिखित किया है अनुच्छेद 102(1) (क) और अनुच्छेद 191(1) (क) के समान उपबंध को अधिनियमित करने का उद्देश्य यह है कि कोई व्यक्ति जो विधानमंडल या संसद के लिए निर्वाचित होता है, वह अपने कर्त्तव्यों का निर्भीक रूप से किसी सरकारी दवाव के अधीन हुए बिना निर्वहन कर सके। खण्ड (क) में प्रयुक्त "सरकार के अधीन लाभ का पद" शब्द सरकार के अधीन धारित पद की अपेक्षा विस्तृत आयाम की अभिव्यक्ति है जिस पर संविधान के भाग 14 में चर्चा की गई है। किसी स्थानीय प्राधिकरण पर सरकार द्वारा नियन्त्रण की सीमा निर्वाचित निकाय के कर्त्तव्य और हित के बीच विवाद की संभाव्यता को समाप्त करने के लिए और उनकी निष्पक्षता को बनाए रखने के लिए निर्णीत की जानी चाहिए। विभिन्न मामलों का पुनर्विलोकन करने के पश्चात् और उत्तर प्रदेश बेसिक शिक्षा अधिनियम, 1972 की विभिन्न धाराओं के उपबन्धों विशेष रूप से अधिनियम की धारा 13 के दृष्टिकोण से इस न्यायालय ने बाद में उल्लिखित

मामले में यह अभिनिर्धारित किया कि नियन्त्रण की सीमा ऐसी थी कि उत्तर प्रदेश शिक्षा बोर्ड एक ऐसा प्राधिकरण था जो सही रूप से सरकार से स्वतन्त्र नहीं था और बोर्ड का प्रत्येक कर्मचारी वास्तव में राज्य सरकार के अधीन लाभ का पद धारण किए हुए था। उत्तर प्रदेश बेसिक शिक्षा अधिनियम, 1972 का कथन और उद्देश्य और धारा 4, 6, 7, 18 और 19 जिन सभी को विस्तार में उस विनिश्चय में उपवर्णित कर दिया गया है इस निष्कर्ष को अनिवार्य बना देते हैं।

21. इस प्रश्न का अवधारण करने के लिए कि क्या कोई व्यक्ति सरकार के अधीन लाभ का पद धारण किए हुए है प्रत्येक मामले को सुसंगत उपबन्धों और धाराओं के दृष्टिकोण से मापा और निर्णीत किया जाना चाहिए और बंगाल म्युनिसिपल ऐक्ट, 1932 के उपबंधों को ध्यान में रखते हुए जिसे त्रिपुरा तक विस्तारित कर दिया गया था, जिसके उपबंधों को यहां पर पहले उपवर्णित किया जा चुका है, हमारी यह राय है कि सरकार प्रत्यर्थी सं० 1 जैसे अधिकारियों का नियन्त्रण नहीं करती और कि वह नगरपालिका का कर्मचारी बना रहता है यद्यपि उसकी नियुक्ति सरकार द्वारा पुष्टि के अधीन है। उसका नगरपालिका का कर्मचारी बनना समाप्त नहीं हो जाता। इस प्रकार के स्थानीय प्राधिकरण या कोई अन्य प्राधिकरण का सरकार से पृथक् स्वतन्त्र इकाई बनना समाप्त नहीं हो जाता। क्या किसी विशेष मामले में ऐसा है अथवा नहीं, सुसंगत उपबंधों के तथ्यों और परिस्थितियों पर निर्भर करता है। स्थानीय प्राधिकरणों के कर्मचारियों को सभी मामलों में सरकार के नियन्त्रण के अधीन सरकार के अधीन लाभ को पद धारण करने वाले बनाना, संविधान के अनुच्छेद 58(2) के अधीन किए गए विनिर्दिष्ट विभेदीकरण को मिटाना और अनुच्छेद की भाषा द्वारा असमर्थित विस्तार तक अनुच्छेद 102(1)(क) के अधीन अनर्हता को विस्तार करना होगा।

22. सुसंगत उपबन्धों को ध्यान में रखते हुए हमारी यह राय है कि प्रत्यर्थी सं० 1 सुसंगत समय में सरकार के अधीन लाभ का पद धारण करने वाला नहीं था। नियन्त्रण की कुछ मात्रा स्थानीय प्राधिकरण में भी मानी जाती है जिसका अनुच्छेद 58 के अधीन ध्यान रखा गया है। उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि अधिनियम के सुसंगत उपबन्धों का विश्लेषण करने पर प्रत्यर्थी सं० 1 नामांकन फाइल करने की तारीख़ को त्रिपुरा सरकार के अधीन लाभ का पद धारण नहीं करता था जिसे हमने यहां पर उपवर्णित कर दिया है। हम उच्च न्यायालय इस दृष्टिकोण में सहमत हैं।

23. पूर्वकथित तथ्य के अनुसार प्रत्यर्थी सं० 1 अपना नामाकन-पत्र फाइल करने से अनर्हित नहीं था, इसलिए अपील असफल होती है और तदनुसार खर्चों सहित खारिज की जाती है।

अपील खारिज की गई।

स०

जनरल लेबर यूनियन (लाल झण्डा) मुम्बई

बनाम

बी० वी० चव्हाण और अन्य

(16 नवम्बर, 1984)

(न्यायाधिपति डी० ए० देसाई, वी० बालकृष्ण एराडी और वी० खालिद)

महाराष्ट्र रिकग्निशन आफ ट्रेड यूनियन्स एण्ड प्रिवेंशन आफ अनफेयर लेबर प्रैक्टिसेज ऐक्ट, 1971—धारा 6 और 28 तथा अनुसूची 2 [सपठित औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947—धारा 2(ड), 23, 26 और 22(2)]—प्रत्यर्थी द्वारा तालाबन्दी की जानी —अपीलार्थी द्वारा तालाबन्दी को चुनौती दी जानी—अनुचित श्रम व्यवहार का प्रश्न उठाकर औद्योगिक क्रियाकलाप बन्द किया जाना—औद्योगिक न्यायालय को यह सुनिश्चित करना चाहिए कि तालाबन्दी युक्ति के रूप में लागू की गई है या बहाने के रूप में और सद्भाविक है या नहीं।

वर्तमान मामले में अपीलार्थी यूनियन ने प्रत्यर्थी नियोजकों द्वारा उपक्रम में की गई तालाबन्दी के विरुद्ध औद्योगिक न्यायालय में वाद फाइल किया जिसमें अनुचित श्रम व्यवहार का आरोप लगाया गया। प्रत्यर्थी उपक्रम की ओर से शपथपत्र फाइल कर यह कहा गया कि उपक्रम में औद्योगिक क्रियाकलाप को स्थायी रूप से बन्द किया गया था जो परिस्थितियों के अनुकूल हो जाने से पुनः आरम्भ हो गया है और यह कि पुराने कर्मकारों को काम पर वापिस लिया जा रहा है। अनुचित श्रम व्यवहार के प्रश्न पर औद्योगिक न्यायालय के नकारात्मक उत्तर के विरुद्ध बम्बई उच्च न्यायालय ने आरम्भतः आवेदनों को खारिज कर दिया। उच्च न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध विशेष इजाजत लेकर की गई अपील पर मामले को वापस निर्दिष्ट करते हुए उच्चतम न्यायालय द्वारा

अभिनिर्धारित—जहां पक्षकारों के बीच यह मतभेद हो कि नियोजकों ने तालाबन्दी अधिरोपित की थी या स्थापन को बन्द कर दिया गया था यह पता लगाना आवश्यक है कि जिस समय नियोजक ने तालाबन्दी लागू की या

औद्योगिक उपक्रम को बन्द करने का दावा किया उस समय उसका आशय क्या था। (पैरा 8)

तालाबन्दी के मामले में नियोजक अपने द्वारा नियोजित कर्मकारों को काम पर लगाने से इंकार कर देता है भले ही व्यावसायिक क्रियाकलाप को बन्द नहीं किया गया था और न ही उसे बन्द करने का आशय था। तालाबन्दी का सारतत्व है नियोजक द्वारा कर्मकार को नियोजन में रखने से इंकार किया जाना इसमें औद्योगिक क्रियाकलाप को बन्द करने का आशय नहीं होता यद्यपि कार्य स्थगित किए जाने का आदेश किया जाता है तो भी वह तालाबंदी माना जाएगा। बन्दी का अभिप्राय है औद्योगिक क्रियाकलाप का बन्द किया जाना जिसके परिणामस्वरूप कर्मकार बेकार हो जाते हैं। (पैरा 10)

इस बात की परीक्षा करना कि नियोजक ने तालाबन्दी अधिरोपित की है या उसने औद्योगिक स्थापन को बन्द कर दिया है यह आवश्यक नहीं है कि मामले पर इस दृष्टिकोण से विचार किया जाए कि बन्दी अप्रतिसंहरणीय अन्तिम और स्थायी हो और तालाबंदी आवश्यक रूप से अस्थायी या कुछ अवधि के लिए हो। नियोजक औद्योगिक क्रियाकलाप को कतिपय सम्भाव्यताओं में सद्भाविक रूप से भी बन्द कर सकता है। यह कहा जाना कि बन्दी सदैव स्थायी और अप्रतिसंहरणीय होनी चाहिए उन कारणों की उपेक्षा करना होगा जिनके कारण बंदी की आवश्यकता पड़ी है। परिस्थितियों में परिवर्तन होने से नियोजक को औद्योगिक क्रियाकलाप को जिसे वस्तुतः बन्द किए जाने का आशय था पुनः जीवित करने को प्रोत्साहन मिल सकता है। इसलिए, इसका सही परीक्षण यह है कि जब यह दावा किया जाए कि नियोजक ने औद्योगिक क्रियाकलाप को बन्द करने का रास्ता अपनाया है तब यह अवधारित करने के लिए कि नियोजक अनुचित श्रम व्यवहार का दोषी है या नहीं औद्योगिक न्यायालय को उसके समक्ष लाए गए साक्ष्य के आधार पर यह सुनिश्चित करना चाहिए कि क्या बंदी उपाय के रूप में लागू की गई थी या कर्मकारों की सेवा समाप्त करने के लिए बहाने के रूप में लागू की गयी और यह सद्भाविक थी या नहीं और क्या यह ऐसे कारणों से लागू की गयी जो नियोजक के नियन्त्रण से परे थे। बंदी की कालावधि बंदी किए जाने के समय नियोजक के आशय और उसके सद्भाव के अवधारण के लिए महत्वपूर्ण तथ्य हो सकता है किन्तु वह मामले का निश्चायक नहीं हो सकता। जब यह दावा किया जाए कि नियोजक तालाबंदी अधिरोपित करने के लिए दोषी नहीं है बल्कि उसने औद्योगिक क्रियाकलाप को ही बन्दी किया है तब औद्योगिक न्यायालय जिसके

समक्ष नियोजक की कार्रवाई को प्रश्नगत किया गया है यह चाहिए कि कर्मकारों की सेवाओं का अवधारण करने के लिए समस्त सुसंगत परिस्थितियों को जो बंदी के समय थीं ध्यान में रखते हुए यह विनिश्चय और अवधारण करे कि बंदी सद्भाविक थी या नहीं अथवा वह एक उपाय के रूप में थी या बहाने के रूप में। (पैरा 11)

[1983 के रिट पिटीशन सं० 173 में बम्बई उच्च न्यायालय के तारीख 4 फरवरी, 1983 वाले निर्णय और आदेश के विरुद्ध विशेष इजाजत लेकर की गयी अपील]

सिविल अपीली अधिकारिता : 1983 की सिविल अपील सं० 6092 और 6093.

अपीलार्थी की ओर से श्री एम० के० राममूर्ति और श्रीमती उर्मिला सिरूर

प्रत्यर्थी की ओर से सर्वश्री गोविन्द दास और पी० एच० पारेख तथा कु०. इन्दु मल्होत्रा

न्यायालय का निर्णय न्यायाधिपति डी० ए० देसाई ने दिया।

न्या० देसाई :

जनरल लेबर यूनियन (रैड फ्लैग) बम्बई ने महाराष्ट्र रिकग्निशन आफ ट्रेड यूनियन्स एण्ड प्रिवेंशन आफ अनफ्रेयर लेबर प्रैक्टीसिज ऐक्ट 1971 [संक्षेप में अधिनियम] की अनुसूची 2 की मद संख्या 1(क), 1(ख); 2, 4(क), 4(च) और 6 के साथ पठित धारा 28 के अधीन दो परिवाद फाइल किए; एक मैं० डेल्टा वायर्स प्राइवेट लिमिटेड और दूसरा मैं० डेल्टा स्पोक्स मैन्यूफैक्चरिंग कम्पनी [संक्षेप में नियोजक] के विरुद्ध फाइल किया जो सहयोगी समुत्थान हैं। स्पष्ट रूप से कहा जाए तो परिवाद यह थे कि नियोजक तालाबंदी अधिरोपित करने और उसे चालू रखने के दोषी थे और इस प्रकार उन्होंने अनुचित श्रम व्यवहार किया है। नियोजकों ने यह दलील दी कि उन्होंने अन्तिम रूप से और अप्रतिसंहरणीय रूप से औद्योगिक उपक्रम को बंद कर दिया है और वे अनुचित श्रम व्यवहार के दोषी नहीं थे। प्रतिवाद औद्योगिक न्यायालय महाराष्ट्र, बम्बई में फाइल किए गए थे।

2. विद्वान् न्यायाधीश ने यह मुद्दा विरचित किया कि नियोजकों ने तालाबंदी अधिरोपित और चालू रखकर अधिनियम की अनुसूची 2 के मद 6 में यथा उपबन्धित अनुचित श्रम व्यवहार किया है या नहीं।

3. विद्वान न्यायाधीश ने पक्षकारों की सुनवाई करने के पश्चात् मुद्दे का नकारात्मक उत्तर दिया और परिवाद खारिज कर दिए।

4. अपीलार्थी यूनियन ने बम्बई उच्च न्यायालय में संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन औद्योगिक न्यायालय के विनिश्चय के औचित्य को प्रश्नगत करते हुए दो विशेष सिविल आवेदन फाइल किए। दोनों ही आवेदनों को आरम्भतः खारिज कर दिया गया। तत्पश्चात् यूनियन ने विशेष इजाजत लेकर यह दो अपीलें फाइल कीं।

5. अपीलों की सुनवाई के समय नियोजकों के विद्वान काउन्सेल श्री गोबिन्द दास ने यह कथन किया कि नियोजकों ने औद्योगिक एककों को पुनः चालू कर दिया है और भागतः विनिर्माण की प्रक्रिया का कार्य पुनः आरम्भ हो चुका है। उन्होंने आगे यह भी उल्लेख किया कि नियोजक सभी पुराने कर्मकारों को वापस लेने के इच्छुक हैं और नियोजकों की सद्भावना की बावत न्यायालय का समाधान करने के लिए उन्होंने यह उल्लेख किया कि 16 पुराने कर्मकारों को जो स्थानीय समाचारपत्रों में दिए गए विज्ञापनों के अनुसार काम पर लौटे उन्हें पहले ही पुनः नियोजित किया जा चुका है। श्री गोबिन्द दास ने यह कथन किया कि नियोजक इन अपीलों में शपथपत्र के रूप में एक शर्तहीन वचनबंध अभिलेख पर रखेगा कि पूर्वोल्लिखित दोनों औद्योगिक उपक्रमों में ऐसा कोई अन्य कर्मकार भर्ती नहीं किया जाएगा जो उनके पूर्व नियोजन में नहीं था और उन कर्मकारों को जो 8 अप्रैल, 1980 को जब उपक्रम को बंद किया गया उनके नियोजन में थे पहले वरीयता दिए बिना ऐसा नहीं किया जाएगा। इसके विपरीत अपीलार्थी यूनियन के विद्वान् काउन्सेल श्री एम० के० राममूर्ति ने यह दलील दी कि नियोजकों का औद्योगिक उपक्रम कभी भी बंद नहीं हुआ या हर कीमत पर उसमें पूरी तरह कार्य आरम्भ हो चुका है और पुराने कार्मकारों का नियोजन नहीं किया जा रहा है और नए कर्मकार भर्ती किए जा रहे हैं।

6. हम नियोजकों की ओर से उनके विद्वान् काउन्सेल श्री गोबिन्द दास द्वारा दिए गए स्पष्ट वचन को अभिलिखित करते हैं कि पुराने कर्मकार जो अभिकथित तालाबंदी के समय नियोजकों की सेवा में थे जिसके अन्तर्गत, 8 अप्रैल, 1980 तक की अवधि है उन्हें सेवा में पुनः सम्मिलित कर लिया जाएगा क्योंकि धीरे-धीरे कार्य का पुनः विस्तार होता जा रहा है और जब तक समस्त पुराने कर्मकार सेवा में पुनः सम्मिलित नहीं कर लिए जाते तब तक किसी नए कर्मकार को भर्ती नहीं किया जाएगा। डा० डी० पी० मेधानी

पुत्र धर्मचन्द्र मेघानी द्वारा दिया गया इस आशय का एक वचन अभिलेख पर रखा गया है और उसे इस निर्णय का अभिन्न भाग समझा जाता है। इस बात को सुनिश्चित करने के लिए कि इस वचन का पालन शब्द और भावना दोनों रीति से किया जाए, हम औद्योगिक न्यायालय महाराष्ट्र, बम्बई को यह निदेश करते हैं कि वह नियोजकों के औद्योगिक उपक्रम का निरीक्षण करने के लिए किसी वरिष्ठ अनुसचिवीय अधिकारी को तैनात करे और अपना यह समाधान करे कि पुराने कर्मकारों को सेवा में पुनः सम्मिलित किया जा रहा है और जैसे-जैसे धीरे-धीरे उत्पादन का कार्य बढ़ रहा है पुराने कर्मकारों को सेवा में पुनः सम्मिलित कर लिया जाएगा। औद्योगिक न्यायालय द्वारा नियुक्त अनुसचिवीय अधिकारी द्वारा तब तक निरंतर यह चौकसी रखी जाएगी जब तक उन समस्त पुराने कर्मकारों को जो सेवा में पुनः सम्मिलित किए जाने के इच्छुक हैं सेवा में वापस नहीं ले लिया जाता।

7. वस्तुतः इस उपक्रम को मामले को निपटा लेना चाहिए था। किन्तु औद्योगिक न्यायालय द्वारा अपीलार्थी यूनियन द्वारा फाइल किए गए प्रतिवाद को नामंजूर करते हुए विधि सम्बन्धी एक कथन किया गया जिससे हम सहमत नहीं हैं और भविष्य में ऐसी कोई गलती न दोहरायी जाए और उसे सुधारने के लिए हम इस निर्णय में मामले की परीक्षा करते हैं।

8. यूनियन का परिवाद यह था कि नियोजक ऐसी तालाबंदी अधिरोपित करने और उसे चालू रखने के दोषी थे जो विधि की दृष्टि से अवध थी। दूसरी ओर नियोजकों की ओर से यह निवेदन किया गया था कि औद्योगिक उपक्रम को बंद कर दिया गया था और यह तालाबंदी का मामला नहीं था। ऐसी स्थिति में जहां पक्षकारों के बीच यह मतभेद हो कि नियोजकों ने तालाबंदी अधिरोपित की थी या स्थापन को बंद कर दिया गया था यह पता लगाना आवश्यक है कि जिस समय नियोजक ने तालाबंदी लागू की या औद्योगिक उपक्रम को बंद करने का दावा किया उस समय उसका आशय क्या था। इसे बहुत सही तरीके से अवधारित करना है कि क्या बंदी तालाबंदी अधिरोपित करने के परिणामस्वरूप थी या स्वयं नियोजक ने औद्योगिक क्रियाकलाप को बंद करने का विनिश्चय किया था।

9. सामान्यतः तालाबंदी कर्मकारों द्वारा की गयी किसी सीधी कार्रवाई के दबाव में नियोजकों द्वारा की जाती है। बंदी विभिन्न कारणों से हो सकती है जिनके कारण औद्योगिक उपक्रम को बंद करने की आवश्यकता पड़ सकती

है । इस मामले में मुद्दा यह था कि नियोजक ने तालाबंदी अधिरोपित की या उसने व्यवसाय को बन्द कर दिया । इस पहलू की परीक्षा करते समय औद्योगिक न्यायालय ने निम्नखित अवलोकन किया :—

"यह आवश्यक नहीं है कि तालाबंदी के विषय पर श्री भट्ट द्वारा उल्लिखित प्रत्येक विनिश्चय के प्रति निर्देश किया जाए । क्योंकि अब तक यह पूर्णत: सिद्ध हो चुका है कि तालाबंदी के मामले में केवल व्यवसाय के स्थान को बन्द किया जाता है जबकि बंदी के मामले में स्वयं व्यवसाय ही स्थायी रूप से और अप्रतिसंहरणीय रूप से बन्द हो जाता है । बन्दी द्वेषपूर्ण तरीके से लागू की गयी है या नहीं और क्या उसे बचाया जा सकता था या नहीं यह विषय असंगत हैं और जो कुछ देखा जाना है वह यह है कि क्या तथ्यत: और प्रभावत: बन्दी लागू हुई है या नहीं ।"

हम दोनों ही दृष्टिकोणों को और दृष्टिकोण के समर्थन में दिए गए कारणों को नहीं मान सकते ।

10. तालाबंदी को औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947 की धारा 2(ठ) में परिभाषित किया गया है जिसका अर्थ है व्यवसाय के स्थान का बन्द किया जाना या कार्य को स्थगित करना अथवा किसी नियोजक द्वारा नियोजित व्यक्तियों में से किसी संख्या में व्यक्तियों के नियोजन में बने रहने से इन्कार करना । तालाबंदी के मामले में नियोजक अपने द्वारा नियोजित कर्मकारों को काम पर लगाने से इंकार कर देता है भले ही व्यावसायिक क्रियाकलाप को बन्द नहीं किया गया था और न ही उसे बन्द करने का आशय था । तालाबंदी का सारतत्व है नियोजक द्वारा कर्मकार को नियोजन में रखने से इंकार किया जाना इसमें औद्योगिक क्रियाकलाप को बंद करने का आशय नहीं होता यद्यपि कार्य स्थगित किए जाने का आदेश किया जाता है तो भी वह तालाबंदी मानी जाएगी । दूसरी ओर, बंदी का अभिप्राय है ओद्योगिक क्रियाकलाप का बन्द किया जाना जिसके परिणामस्वरूप कर्मकार बेकार हो जाते हैं । औद्योगिक विवाद अधिनियम की धारा 22(2) नियोजक को लोकोपयोगी सेवा की उसके किसी कर्मकार के लिए उसमें विहित रीति में नोटिस दिए विना तालाबन्दी करने पर प्रतिषेध लगाती है । धारा 23 किसी नियोजक को उसमें उल्लिखित सम्भाव्यताओं में से किसी में भी तालाबंदी घोषित करने से प्रतिषिद्ध करती है । धारा 23 का उल्लंघन करते हुए तालाबंदी को अवैध घोषित किया जा चुका है । औद्योगिक विवाद अधिनियम की धारा 26 में यह उपबन्ध किया

गया है कि अनुसूची 2, 3 और 4 में गिनाए गए व्यवहार अनुचित श्रम व्यवहार माने जाएंगे। अधिनियम के अधीन अवैध समझी गयी तालाबंदी को अधिरोपित करना और जारी रखना अनुचित श्रम व्यवहार है।

11. इस बात की परीक्षा करना कि नियोजक ने तालाबंदी अधिरोपित की है या उसने औद्योगिक स्थापन को बन्द कर दिया है यह आवश्यक नहीं है कि मामले पर इस दृष्टिकोण से विचार किया जाए कि बन्दी अप्रतिसंहरणीय अन्तिम और स्थायी हो और तालाबंदी आवश्यक रूप से अस्थायी या कुछ अवधि के लिए हो। नियोजक औद्योगिक क्रियाकलाप को कतिपय संभाव्यताओं में सद्भाविक रूप से भी बन्द कर सकता है जैसे निरंतर हानि, व्यवसाय के पुनरुज्जीवित होने की सम्भावना न होना या अन्य विभिन्न कारणों से औद्योगिक क्रियाकलाप को चलाने में असमर्थता। इन कारणों में से किसी एक कारण से भी बन्दी हो सकती है यद्यपि यह कारण व्यापक नहीं हैं बल्कि मात्र दृष्टांतस्वरूप हैं। यह कहा जाना कि बन्दी सदैव स्थायी और अप्रतिसंहरणीय होनी चाहिए उन कारणों की उपेक्षा करना होगा जिनके कारण बन्दी की आवश्यकता पड़ी है। परिस्थितियों में परिवर्तन होने से नियोजक को औद्योगिक क्रियाकलाप को जिसे वस्तुतः बन्द किए जाने का आशय था पुनः जीवित करने का प्रोत्साहन मिल सकता है। इसलिए इसका सही परीक्षण यह है कि जब यह दावा किया जाए कि नियोजक ने औद्योगिक क्रियाकलाप को बन्द करने का रास्ता अपनाया है तब यह अवधारित करने के लिए कि नियोजक अनुचित श्रम व्यवहार का दोषी है या नहीं औद्योगिक न्यायालय को उसके समक्ष लाए गए साक्ष्य के आधार पर यह सुनिश्चित करना चाहिए कि क्या बन्दी उपाय के रूप में लागू की गई थी या कर्मकारों की सेवा समाप्त करने के लिए बहाने के रूप में लागू की गयी और यह सद्भाविक थी या नहीं और क्या यह ऐसे कारणों से लागू की गयी जो नियोजक के नियन्त्रण से परे थे। बन्दी की कालावधि बन्द किए जाने के समय नियोजक के आशय और उसके सद्भाव के अवधारण के लिए महत्वपूर्ण तथ्य हो सकता है किन्तु वह मामले का निश्चायक नहीं हो सकता। औद्योगिक न्यायालय द्वारा अपनाए गए दृष्टिकोण को स्वीकार करने से एक पुस्ता परिणाम निकल सकता है अर्थात नियोजक जिसने बन्दी लागू की है सद्भाविक रूप से औद्योगिक क्रियाकलाप को पुनः खोलना चाहता है पुनरुज्जीवित और पुनः चालू करना चाहता है तो वह ऐसा इस कीमत पर नहीं कर सकता कि ऐसी बन्दी को उपाय के रूप में या बहाने के रूप में न्यायनिर्णीत किया जाए। इसलिए

ठीक दृष्टिकोण यह अपनाया जाना चाहिए था कि जब यह दावा किया जाए कि नियोजक तालाबन्दी अधिरोपित करने के लिए दोषी नहीं है बल्कि उसने औद्योगिक क्रियाकलाप को ही बन्द किया है तब औद्योगिक न्यायालय जिसके समक्ष नियोजक की कार्रवाई को प्रश्नगत किया गया है यह चाहिए कि कर्मकारों की सेवाओं का अवधारण करने के लिए समस्त सुसंगत परिस्थितियों को जो बन्दी के समय थी ध्यान में रखते हुए यह विनिश्चिय और अवधारण करे कि बन्दी सद्भाविक थी या नहीं अथवा वह एक उपाय के रूप में थी या बहाने के रूप में। इस प्रश्न का उत्तर दिए जाने से औद्योगिक न्यायालय इधर या उधर किसी एक निष्कर्ष पर पहुंच सकेगा।

12. विधिक स्थिति को स्पष्ट करने के पश्चात हम इन अपीलों का निपटान निर्णय में यथाभिलिखित डा० पी० डी० मेघानी द्वारा दिए गए बचन के अनुसार करते हैं।

13. तदनुसार दोनों ही अपीलों का निपटान किया जाता है।

द्वि०/स० आदेश तदनुसार किया गया।

अमरनाथ ओम प्रकाश (मैसर्स) और अन्य

बनाम

पंजाब राज्य और अन्य

तथा

भारतीय खाद्य निगम

बनाम

पंजाब राज्य और अन्य

(19 नवम्बर, 1984)

(न्यायाधिपति ओ० चिन्नप्पा रेड्डी, ए० पी० सेन और
ई० एस० वेंकटरामय्या)

पंजाब एग्रीकल्चरल प्रोड्यूस मार्केट्स ऐक्ट, 1961 (1961 का 23)—धारा 23 और 23-क— फीस का अतिरिक्त उद्ग्रहण—मार्केट समिति द्वारा व्यापारियों से उद्ग्रहणीय फीस से अधिक फीस उद्गृहीत तथा संगृहीत की जाना—अतिरिक्त उद्ग्रहण के बारे में उच्च न्यायालय द्वारा यह घोषणा की जाना कि वह अविधिमान्य है—धारा 23क को इस हेतु अधिनियमित किया गया था कि मार्केट समितियों को इस योग्य बनाया जा सके कि वे अतिरिक्त संग्रहण को अपने पास रख सकें—राज्य विधानमण्डल को ऐसे उद्ग्रहण को विधिमान्य बनाने की क्षमता प्राप्त है जो न्यायालय द्वारा विधि-विरुद्ध घोषित की गई हो—धारा 23-क द्वारा जनता से उद्गृहीत फीस का प्रतिदाय किया जा सकता है—बिचौलियों को अनुचित मुनाफाखोरी से रोकने के लिए विधानमण्डल ने एक ऐसी प्रक्रिया विरचित की हैं जिसके द्वारा उस दोष को समाप्त किया जा सकता है जो कि अतिरिक्त उद्ग्रहण द्वारा मार्केट समिति को यह अनुज्ञा देते हुए किया गया है कि वह एतत्पश्चात् ठीक उन्हीं व्यक्तियों के लिए, जिनके फायदे के लिए विपणन विधान अधिनियमित किया गया था, प्रयुक्त की जाने वाली रकम को अपने पास रख सके।

कानूनों का निर्वचन— न्यायालयों के निर्णय का अर्थान्वनय

कानूनों के रूप में नहीं किया जा सकता—किसी कानून के शब्दों, वाक्यांशों तथा उपबन्धों का निर्वचन करने हेतु न्यायाधीशों के लिए यह आवश्यक हो सकता है कि वे विस्तृत रूप से विचार-विमर्श करें, किन्तु यह विचार-विमर्श स्पष्टीकरण करने से सम्बन्धित होता है, न कि परिभाषित करने से—न्यायाधीश कानूनों का निर्वचन करते हैं—उनके शब्दों का निर्वचन कानूनों के रूप में नहीं किया जा सकता।

इस मामले में अपीलार्थी कृषि सम्बन्धी उत्पाद के क्रय तथा विक्रय में लगे हुए व्यापारी हैं। वे एक अभिनिश्चित समूह गठित करते हैं। ऐसे व्यक्ति पंजाब एग्रीकल्चरल प्रोड्यूस मार्केट ऐक्ट, 1961 के अधीन गठित मार्केट समितियों द्वारा मार्केट फीस के उद्ग्रहण तथा संग्रहण के विषय में मुकदमेबाज़ी करते रहे हैं और उनसे बचने का प्रयत्न करते रहे हैं। कुछ मामलों में तो वे सफल रहे हैं, किन्तु दूसरों में हार गए हैं। एक ऐसे मामले में, जिसमें कि वे सफल रहे थे, यह घोषित किया गया था कि दो प्रतिशत से बढ़ाकर तीन प्रतिशत फीस के रूप में वृद्धि अवैध थी। न्यायालय ने फीस की उक्त वृद्धि को अभिखण्डित करते हुए मात्र सामान्य मत व्यक्त किए जिन्हें इस प्रकार गलत समझा गया और ऐसा अनुचित निर्वचन किया गया है जिसके परिणामस्वरूप किंचित् भ्रम तथा लोक रिष्टि उद्भूत हो गई है। ऐसे मिथ्या-बोध तथा विभ्रम के परिणामस्वरूप स्वाभाविक तौर पर उत्तरोत्तर मुकदमेबाज़ी होती रही है। इस न्यायालय ने एक मामले-विशेष में इस प्रकार के अधिकतर मिथ्या-बोध को समाप्त कर दिया है और अनेक जटिल विषयों को भी स्पष्ट कर दिया है। फीस की उक्त वृद्धि को अभिखण्डित करने के पश्चात् यह प्रश्न उद्भूत हुआ कि विभिन्न मार्केट समितियों द्वारा संगृहीत 100 रुपए पर 2 रुपए से अधिक फीस के बारे में क्या करना होगा। क्या मार्केट समितियों को अतिरिक्त रकमों को प्रतिधारित करने के लिए अनुज्ञात किया जाना था और क्या उन व्यापारियों को ऐसी अतिरिक्त रकम का प्रतिदाय किया जाना था जिनसे कि रकमें इस तथ्य के बावजूद संगृहीत की गई थीं कि स्वयं व्यापारियों ने अगले क्रेताओं तथा उपभोक्ताओं पर भार संक्रान्त कर दिया था अथवा क्या अग्रिम क्रेताओं अथवा उपभोक्ताओं को ढूंढ़ निकाला जाना था और उन्हें रकमों का प्रतिदाय किया जाना था जो कि निस्सन्देह लगभग व्यावहारिक रूप से एक असम्भव कार्य होगा। कुछ व्यवहारियों ने यह इच्छा प्रकट की कि धनराशियों का प्रतिदाय उन्हें किया जाना चाहिए और उन्होंने इस न्यायालय में समावेदन प्रस्तुत किया। इसके बावजूद उच्चतम न्यायालय

ने एक मामले में यह निदेश दिया कि विभिन्न मंडी समितियों द्वारा संगृहीत सब धनराशियां इस संसूचना के दिए जाने से एक सप्ताह के भीतर पंजाब और हरियाणा उच्च न्यायालय में संदत्त करनी होंगी। व्यापारी और अन्य जिन्होंने एक प्रतिशत आधिक्य में संदाय किया है, उतनी धनराशि के लिए उतनी रकम का जितनी उसके द्वारा उन्हें देय है, एक मास के भीतर या अन्य ऐसी अवधि के भीतर जो वह नियत करें, दावा कर सकते हैं। यदि रकमों के प्रति संदाय के पात्र पक्षकार एक वर्ष के भीतर दावा नहीं करते हैं तो आगे कोई दावा ग्रहण नहीं किया जाएगा। यदि कोई अदावाकृत रकम है तो उच्चतम न्यायालय के निर्वचन के अनुसार कानून के अन्तर्गत आने वाले प्रयोजनों के लिए सम्बन्धित मण्डी समितियों द्वारा प्रयुक्त की जा सकेगी। इस विनिश्चय के परिणामस्वरूप, पंजाब एग्रीकल्चरल प्रोड्यूस मार्केट्स ऐक्ट में धारा 23-क पुरःस्थापित करके उसे संशोधित कर दिया गया। उक्त धारा की सांविधानिक विधिमान्यता को पंजाब-हरियाणा उच्च न्यायालय के समक्ष प्रश्नगत किया गया, किन्तु उच्च न्यायालय ने उसे कायम रखा। इस मामले में की गई दो सिविल अपीलों में उच्चतम न्यायालय के समक्ष उच्च न्यायालय के इस निर्णय पर आक्षेप किया गया है। उच्चतम न्यायालय द्वारा अपीलें खारिज करते हुए,

अभिनिर्धारित—पंजाब एग्रीकल्चरल प्रोड्यूस मार्केट ऐक्ट, 1961 की धारा 23 ऐसे नियमों के अध्यधीन, जैसे कि तन्निमित्त राज्य सरकार द्वारा विरचित किए जाएं, समिति को इस योग्य बनाती है कि वह मूल्य के आधार पर प्रत्येक 100 रुपए के लिए समय-समय पर धारा 23 में वर्णित दर से अनधिक दर पर किसी अधिसूचित मण्डी क्षेत्र में अनुज्ञप्ति द्वारा खरीदे गए या बेचे गए कृषि उत्पाद पर फीस उद्गृहीत कर सके। (पैरा 6)

जब तक कर के सम्बन्ध में फीस की धारणा सुभिन्न और सीमित है तब तक मण्डी फीस के उद्ग्रहण द्वारा वसूल की गई रकम के ऐसे व्यय को विधि द्वारा मान्यता नहीं दी जा सकती। कोई मामला, उसमें जो कुछ विनिश्चय किया गया है, वस्तुतः मात्र उसी के लिए नज़ीर है और तार्किक रूप से जो कुछ उससे अनुसृत होता है उसके लिए नज़ीर नहीं है। प्रत्येक निर्णय का, साबित किए गए विशेष तथ्यों की बाबत लागू किए जाने के रूप में या साबित माने गए रूप में, परिशीलन किया जाना चाहिए क्योंकि वह ऐसी अभिव्यक्तियों की व्यापकता, जो उसमें आधृत हैं, पूर्ण विधि को प्रतिपादित

करने के लिए आशयित नहीं है, बल्कि उस मामले के विशेष तथ्यों द्वारा सीमित है जिसमें ऐसी अभिव्यक्तियां पाई जाती हैं । (पैरा 7)

न्यायालयों के निर्णयों का अर्थान्वयन कानूनों के रूप में नहीं किया जाना चाहिए । किसी कानून के शब्दों, बाक्यांशों और उपबन्धों का निर्वचन करने के लिए न्यायाधीशों के लिए यह आवश्यक हो सकता है कि वे विस्तृत विचार-विमर्श करें किन्तु यह विचार-विमर्श स्पष्टीकरण किए जाने के लिए, न कि परिभाषित किए जाने के लिए आशयित है । न्यायाधीश कानूनों का निर्वचन करते हैं, वे निर्णयों का निर्वचन नहीं करते । वे कानूनों के शब्दों का निर्वचन करते हैं, उनके शब्दों का निर्वचन कानूनों के रूप में नहीं किया जाता । (पैरा 10)

धारा 23-क ऐसे व्यवहारियों को मार्केट समिति द्वारा अनुज्ञप्ति फीस के प्रतिदाय को निवारित करती है जिन्होंने कि पहले ही ऐसी फीस का आपतन कृषि उपज के अगले क्रेता को अन्तरित कर दिया है और जो मार्केट समितियों में से प्रतिदाय अभिप्राप्त करके अपने-आप को अनुचित रूप से सुदृढ़ बनाना चाहते हैं। वस्तुतः, धारा 23-क ऐसी उपभोक्ता-जनता को अभिज्ञात करती है जिसने कि ऐसे व्यक्तियों के रूप में अन्तिम आपतन का वहन किया है जिन्होंने कि वस्तुतः रकम का संदाय किया था और जो संगृहीत किसी अतिरिक्त फीस के प्रतिदाय के हकदार हैं और इसलिए वह उनके हितों का प्रतिनिधित्व करने वाली मार्केट समिति को यह निदेश देती है कि वह रकम को प्रतिधारित रख सके । यह इसी स्वरूप में करना होगा क्योंकि व्यवहारिक रूप से ऐसे वैयक्तिक क्रेताओं तथा उपभोक्ताओं को ढूंढ़ निकालने का प्रयत्न एक कठिन और निरर्थक प्रयोग होगा, जिन्होंने कि अन्तिमतः आपतन का वहन किया था । यह वस्तुतः एक ऐसी विधि है जिसके द्वारा जनता को वह रकम लौटा दी जाती है जिसे कि जनता से उसने, अधिनियम के अधीन उसके द्वारा अपेक्षित सेवाओं के निष्पादन हेतु रकम का उपयोग करने के लिए, समिति को समर्थ बनाया था । अनुचित रूप से प्राप्त लाभों द्वारा बिचौलियों द्वारा मुनाफा-खोरी को अनुज्ञात करने की बजाय, विधानमण्डल ने इस अनुचित मद को समाप्त करने सम्बन्धी एक प्रक्रिया विरचित की है जो कि एतत्पश्चात् उन्हीं व्यक्तियों के फायदे के लिए रकम को प्रतिधारित करने के लिए समितियों को अनुज्ञात करके अतिशय उद्ग्रहण द्वारा बनाई गई है जिनके फायदे के लिए विपणन विधान, अधिनियमित किया गया था । (पैरा 13)

इस दलील में कोई सार नहीं है कि धारा 23-क किसी अवैध उद्ग्रहण को विधिमान्य बनाने सम्बन्धी प्रयत्न है । धारा 23-क उक्त उपबन्ध के प्रवृत्त होने से पूर्व अथवा तत्पश्चात् कृषि उपज के किन्हीं विक्रयों की बावत 3 रुपए प्रति सैंकड़ा फीस के किसी प्रत्युद्धरण को अनुज्ञात नहीं करती । यहां न तो अतिरिक्त संग्रहण को भूतलक्षी प्रभाव से विधिमान्य बनाने का प्रयत्न किया गया है और न ही 3 रुपए प्रति सैंकड़ा की दर पर भावी संग्रहणों के लिए उपबन्ध करने का कोई प्रयत्न किया गया है । धारा 23-क में मात्र यह उपबन्ध किया गया है कि ऐसे व्यवहारियों द्वारा अन्यायोचित समृद्धि को निवारित किया जाए जिन्होंने पहले ही फीस के आपतन को अगले क्रेता के प्रति अन्तरित कर दिया है और इस प्रकार मार्केट समितियों से प्रतिदाय की मांग करते हुए भी अपनी क्षतिपूर्ति कर ली है । यह जनता को मार्केट समिति की मार्फत ऐसी धनराशि प्रदान करती है जैसी कि उसने जनता से ग्रहण की है और जो उसे शोध्य है । यह स्वामी को वह राशि प्रदान करती है जो कि स्वामी की है । धारा 23-क जैसे उपबन्ध को ऐसा स्वरूप देने के लिए कोई न्यायौचित्य प्रतीत नहीं होता कि वह किसी अवैध उद्ग्रहण को विधिमान्य बनाने के लिए उद्दिष्ट था । (पैरा 14)

धारा 23-क किसी व्यवहारी को उसके द्वारा संदत्त फीस के प्रतिदाय को प्राप्त करने की बावत निर्योग्य बनाती है जिसका कि आपतन उसने पहले ही अग्रिम क्रेता को अन्तरित कर दिया है । धारा 23-क में मात्र यह उपबन्ध किया गया है कि ऐसे प्रतिदाय के जरिए अन्यायोचित रूप से समृद्धि को निवारित किया जाए जिसके प्रति कि दावा करने वाला व्यक्ति कोई नैतिक अथवा साम्यागत हक धारण नहीं करता है । (पैरा 17)

इसलिए पंजाब एग्रीकल्चरल प्रोड्यूस मार्केट्स ऐक्ट की धारा 23-क पंजाब विधानमण्डल की सक्षमता के भीतर थी और वह किसी भी रीति में अन्यथा अविधिमान्य नहीं थी । (पैरा 19)

निर्दिष्ट निर्णय

पैरा

[1984] ए० आई० आर० 1984 पंजाब-हरियाणा 120 :
वलायती राम महावीर प्रसाद बनाम पंजाब राज्य 13

[1983] ए० आई० आर० 1983 एस० सी० 1246 :
श्रीनिवास जनरल ट्रेडर्स बनाम आन्ध्र प्रदेश राज्य 1, 5, 7, 9

[1964] ए० आई० आर० 1964 एस० सी० 922 :
अब्दुल क़ादिर एण्ड कम्पनी बनाम **विक्रय कर अधिकारी** 15

[1963] [1963] सप्लीमेंट 2 एस० सी० आर० 302 :
एस० एच० सुधेन्द्र तीर्थ स्वामियार बनाम **आयुक्त** 8

[1962] [1962] 2 एस० सी० आर० 537 :
हिंगीर रामपुर कोल कम्पनी लिमिटेड बनाम
उड़ीसा राज्य 6, 8

[1962] [1962] 1 एस० सी० आर० 549 :
ओरियण्ट पेपर मिल्स लिमिटेड बनाम **उड़ीसा राज्य** 16, 17

[1959] ए० आई० आर० 1959 एस० सी० 300 :
अरुणाचल नाडार बनाम **मद्रास राज्य** 3

[1954] [1954] एस० सी० आर० 1005 :
शिरूर मठ वाला मामला 6

[1954] ए० आई० आर० 1954 मद्रास 621 :
कुट्टीकेया बनाम **मद्रास राज्य** 2

[1953] [1953] एस० सी० आर० 1069 :
मुम्बई राज्य बनाम **यूनाइटेड मोटर्स (इण्डिया) लिमिटेड** 16

[1951] (1951) अपील केसेज़ 733 :
लन्दन ग्रेविंग डाक कम्पनी लिमिटेड बनाम **हार्टन** 10

सिविल अपीली अधिकारिता : 1984 की सिविल अपील सं० 4500 और 4501.

1982 की सिविल रिट सं० 4757 तथा 1981 की सिविल रिट सं० 3300 में पंजाब-हरियाणा उच्च न्यायालय के तारीख 18 जनवरी और 25 जनवरी, 1984 वाले निर्णय और आदेश के विरुद्ध विशेष इजाजत लेकर की गई अपीलें।

अपीलार्थियों की ओर से सर्वश्री एच० के० पुरी, एम० पी० झा और संजीव वालिया

प्रत्यर्थी की ओर से श्री एस० के० बग्गा

प्रत्यर्थी की ओर से — सर्वश्री एल० एन० सिन्हा, ए० के० पंडा और अश्विनी कुमार।

न्यायालय का निर्णय न्यायाधिपति ओ० चिन्नप्पा रेड्डी ने दिया।

न्यायाधिपति चिन्नप्पा रेड्डी—

अपीलार्थी, जो कि कृषि सम्बन्धी उत्पाद के क्रय तथा विक्रय में लगे हुए व्यापारी हैं, उनके बारे में यह प्रतीत होता है कि वे एक अभिनिश्चित समूह गठित करते हैं। एक दशक से भी अधिक समय से वे अथवा ऐसे व्यक्ति जो कि समरूप स्थिति में हैं, पंजाब एग्रीकल्चरल प्रोड्यूस मार्केट्स ऐक्ट के अधीन गठित मार्केट समितियों द्वारा मार्केट फीस के उद्ग्रहण तथा संग्रहण के विषय में मुकदमेबाज़ी करते रहे हैं और इनसे बचने का प्रयत्न करते रहे हैं। कुछ मामलों में वे सफल रहे हैं, किन्तु अन्य मामलों में वे असफल भी रहे हैं। उन अवसरों में से, जबकि उनके बारे में यह प्रतीत होता है कि वे सफल रहे थे, एक मामला वह था जब कि इस न्यायालय ने **केवल कृष्ण पुरी बनाम पंजाब राज्य**[1] वाले मामले में यह घोषित किया गया था कि दो प्रतिशत से बढ़ाकर तीन प्रतिशत फीस के रूप में वृद्धि अवैध थी। न्यायालय ने फीस की उक्त वृद्धि को अभिखण्डित करते हुए कोई नए सिद्धान्त अधिकथित नहीं किए बल्कि किंचित् सामान्य सम्प्रेक्षण किए जिनके बारे में हमें खेदपूर्वक यह कहना होगा कि उन्हें इस प्रकार गलत समझा गया है और ऐसा अनुचित निर्वचन किया गया है जिसके परिणामस्वरूप किंचित् भ्रम तथा लोक रिष्टि उद्भूत हो गई है। उक्त मिथ्या-बोध तथा विभ्रम के परिणामस्वरूप स्वाभाविक रूप से उत्तरोत्तर मुकदमेबाज़ी होती रही है। सौभाग्यवश **श्रीनिवास जनरल ट्रेडर्स बनाम आन्ध्र प्रदेश राज्य**[2] वाले मामले में इस न्यायालय ने अधिकतर मिथ्या-बोध को दूर कर दिया है, बहुत से जटिल विषयों को स्पष्ट कर दिया है और ऐसी स्थिति से बचा लिया गया है।

2. इससे पूर्व कि हम वर्तमान मामले में विवाद्यक प्रश्न पर विचार-विमर्श प्रारम्भ करें, यह उचित होगा कि पंजाब एग्रीकल्चरल प्रोड्यूस मार्केट्स ऐक्ट तथा अन्य राज्यों में प्रवृत्त समरूप अधिनियमितियों के उद्देश्य तथा प्रयोजन को विचारगत किया जाए। बहुत समय पूर्व 1953 में मुख्य न्यायमूर्ति राजमन्नार तथा न्यायमूर्ति टी० एल० वेंकटराम अय्यर ने **कुट्टी केआ बनाम मद्रास राज्य**[3] वाले मामले में मद्रास कमर्शियल क्राप्स मार्केट्स ऐक्ट, 1933

---

1. [1980] 2 उम० नि० प० 1170= ए० आई० आर० 1980 एस० सी० 1008.
2. ए० आई० आर० 1983 एस० सी० 1246.
3. ए० आई० आर० 1954 मद्रास 621.

के उपबन्धों पर विचार किया था जो कि पंजाब एग्रीकल्चरल प्रोड्यूस मार्केट्स ऐक्ट तथा अन्यत्र अन्य समरूप अधिनियमितयों का अग्रगामी अधिनियम था। विधान की सामान्य प्रकृति का स्पष्टीकरण न्यायमूर्ति वेंकटराम अय्यर ने इस प्रकार किया था :—

"...आक्षेपकृत अधिनियम की विषयवस्तु विपणन है और विपणन सम्बन्धी विधान सभी वाणिज्यिक देशों का अब एक सुविज्ञात लक्षण है। जब कभी समाज आत्म-निर्भर आर्थिक यूनिट के प्रक्रम से, जहां कि केवल अपने उपयोग के लिए वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है, ऐसे वाणिज्यिक समुदाय के प्रति अग्रसर होता है जिसमें कि लाभार्थ बाह्य क्षेत्रों में विक्रय के लिए वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है, तो ऐसे विधान की आवश्यकता उत्पन्न होती है। जबकि पूर्वतर क्रम में, सामान्य रूप से संव्यवहार सीधे विक्रेता तथा क्रेता के बीच तय किए जाते हैं और संव्यवहार के समय कीमत का संदाय और वस्तु का परिदान किया जाता है, किन्तु जब वाणिज्यिक फसलें उगाने का कार्य प्रारम्भ किया जाता है, तब दशा इससे भिन्न हो जाती है। इन वस्तुओं के अन्तिम क्रेता सामान्य रूप से उत्पाद के क्षेत्र से बाहर वाले व्यक्ति होंगे जैसे कि किसी अन्य राज्य में निवास करने वाला अथवा यहां तक कि विदेश में रहने वाला कोई सौदागर।"

स्थानीय उत्पादकों तथा बाह्य क्रेताओं के बीच संव्यवहार को सम्पन्न करने के लिए बिचौलिए का एक वर्ग आविर्भूत हुआ। इंग्लैंड जैसे सुव्यवस्थित तथा आर्थिक रूप से प्रगतिशील देशों में भी यह देखा गया कि कृषि उत्पादक के पास अपने सर्वोत्तम लाभ हेतु माल का व्ययन करने के लिए सुविधाएँ उपलभ्य नहीं थीं (देखिए डा० एडीसन, कृषि मन्त्री का कथन, जो इण्डियन सेंट्रल बैंकिंग इन्क्वायरी कमेटी रिपोर्ट, खण्ड 1 भाग 2 के पृष्ठ 80 में उद्धृत किया गया)। इन शर्तों के परिणामस्वरूप, सभी ऐसे देशों में जिनमें कि वाणिज्यिक फसलों के अन्तर्गत व्यापक परिमाण में व्यापार होता है, विपणन सम्बन्धी विधियों को अधिनियमित किया गया है। इस विधान का उद्देश्य यह है कि बिचौलियों तथा मुनाफाखोरों से वाणिज्यिक फसलों के उत्पादकों को उनके शोषित किए जाने से बचाया जा सके और उन्हें इस योग्य बनाया जा सके कि वे अपने उत्पाद के लिए उचित लाभ प्राप्त कर सकें।

ऐसे विधान के लिए आवश्यकता भारत में और भी अधिक है क्योंकि उत्पादकों का वर्ग अशिक्षित है और वे आर्थिक दृष्टि से दूसरों पर निर्भर और अस्थिर स्वरूप का है। विभिन्न आर्थिक विषयों पर रिपोर्ट प्रस्तुत करने के लिए जो अनेक समितियां गठित की गई थीं, उनका ध्यान इस प्रश्न पर संलग्न रहा है। भारतीय कपास एक ऐसा वाणिज्य था जिसकी कि इंग्लैंड तथा अन्य देशों में भारी मांग थी तथा विधान बनाकर सैंट्रल प्रॉविन्सेस एण्ड बरार में कपास के लिए खुली मण्डियां स्थापित की गईं। सन् 1919 में भारतीय कपास समिति ने अपनी रिपोर्ट में यह मत व्यक्त किया कि विपणन पद्धति उत्पादकों को सुचारू संरक्षण प्रदान करती है और यह कि कपास उगाने वाले प्रत्येक क्षेत्र में ऐसी मण्डियों को स्थापित करने के लिए लिए विशेष विधान बनाने का काम प्रारम्भ किया जाना चाहिए।

रायल कमीशन आफ एग्रीकल्चर इन इण्डिया ने खाद्य फसलों में व्यापार की व्यवस्था पर पर्याप्त साक्ष्य सम्बन्धी निकाय अभिलिखित किए और उसने उत्पादकों के हितों का रक्षोपाय करने के लिए विधान बनाने सम्बन्धी कार्य के लिए आवश्यकता दर्शित की (देखिए 1928 वाली रिपोर्ट)। 1931 में इण्डियन सेंट्रल बैंकिंग इंक्वायरी कमेटी ने अपनी रिपोर्ट के अध्याय 7 में विपणन के प्रति निर्देश से अवस्थाओं पर विचार किया। उसमें यह बताया गया है कि ग्रामीण उत्पादक कदाचित ही उचित कीमत प्राप्त करने में सफल रहता था क्योंकि वह प्राचीनकाल से ही बिचौलिए के चंगुल में रहा है क्योंकि बिचौलिए उगाई जाने वाली फसलों की प्रतिभूति के आधार पर ऋण दिया करते थे और इस प्रकार वे ऐसी स्थिति में थे कि वे अपने निबन्धनों को उन पर समादिष्ट कर सकते थे और यह कि सौदे कदाचित् ही विक्रेता के लिए उचित होते थे।

यह भी मत व्यक्त किया गया कि उत्पाद हेतु भण्डारकरण के लिए सुविधाओं के अभाव में, खेतिहर ऐसी स्थिति में नहीं था कि वह प्रतीक्षा करता रहता ताकि उचित कीमत पर वाणिज्य का विक्रय किया जा सके (देखिए पृष्ठ 78 और 79)। 1933 में विचाराधीन अधिनियम 'वाणिज्यिक फसलों को खरीदने और बेचने के बेहतर विनियमन' के लिए उपबन्ध करने के उद्देश्य से पारित किया गया था। यहां इस बात का उल्लेख किया जाना आवश्यक है कि उस समय

जो एकमात्र उत्पाद वाणिज्यिक फ़सलों का स्वरूप धारण कर चुका था और जिनका अन्तर्राष्ट्रीय विपणन किया जा रहा था, कपास, मूँगफली और तम्बाकू थे और मूलतः यथा अधिनियमित वाणिज्यिक फसलों की परिभाषा में केवल ये तीन फसलें समाविष्ट थीं।"

....

"विपणन अवस्थाओं में सुधार लाने के लिए विभिन्न सुझाव दिए गए थे (देखिए पृष्ठ 92 और 93)। 1952 में प्रकाशित योजना की रिपोर्ट में अध्याय 17, खण्ड 1 कृषि सम्बन्धी विपणन की बाबत है और मुम्बई, मद्रास हैदराबाद और मध्य प्रदेश में विनियमित मण्डियों के कार्यकरण के प्रति निर्देश करने के पश्चात्, इसमें भावी सुधार किए जाने के लिए विभिन्न सुझाव प्रस्तुत किए गए हैं। यहां यह जोड़ दिया जाए कि भारत के विभिन्न राज्यों में मद्रास अधिनियम के विधान के समरूप विधान विद्यमान रहा है।

विपणन विधान के उपर्युकत सर्वेक्षण से यह स्पष्ट हो जाता है कि इसका उद्देश्य यह है कि उत्पादकों को इस योग्य बनाया जा सके कि वे अपनी वस्तुओं के लिए उचित कीमत प्राप्त कर सकें और यह कि इसे सामान्य रूप से सभी वाणिज्यिक राज्यों में अपनाया गया है। अमेरिका में ऐसी विधियों के बारे में यह अभिनिर्धारित किया गया है कि वे राज्य की पुलिस शक्ति के अन्तर्गत आती हैं जिससे कि सामान्य कल्याण को प्रोन्नत करने की प्रवृत्ति रहती है [देखिए पारकर बनाम ब्राउन (1942) 87 लॉ एडीशन 315(डी)]। भारतीय संविधान के अधीन उनके बारे में अनुच्छेद 19(6) के अधीन यह निश्चित रूप से कायम रखा जाना युक्तियुक्त है और इसे जन-सामान्य के हितों में अधिनियमित किया गया है।"

3. **कुट्टी केया** बनाम **राज्य**[1] वाले मामले में मद्रास उच्च न्यायालय के विनिश्चय की पुष्टि **अरुणाचल नाडार** बनाम **मद्रास राज्य**[2] वाले मामले में उच्चतम न्यायालय की सांविधानिक न्यायपीठ द्वारा की गई थी। न्यायाधिपति सुब्बाराव ने अधिनियम की पृष्ठभूमि के प्रति निर्देश करते हुए यह मत व्यक्त किया था :—

"इस अधिनियम के लिए ऐतिहासिक पृष्ठभूमि विद्यमान है।

---

[1] ए० आई० आर० 1954 मद्रास 621.

[2] ए० आई० आर० 1959 एस० सी० 300.

विपणन विधान अब सभी वाणिज्यिक देशों का एक सुस्थिर लक्षण बन चुका है। ऐसे विधान का उद्देश्य यह है कि वाणिज्यिक फसलों के उत्पादकों को बिचौलियों तथा मुनाफाखोरों के शोषण से बचाया जा सके और उत्पादकों को इस योग्य बनाया जा सके कि उन्हें उनके उत्पाद के लिए उचित लाभ अभिप्राप्त हो। मद्रास राज्य में, जैसा कि देश के अन्य भागों में है, विभिन्न आयोग तथा समितियां नियुक्त की गई हैं जो समस्या का अन्वेषण करेंगी, फसलों को उगाने वाले व्यक्तियों के साथ सदव्यवहार का उपबन्ध करने के लिए उपाय सुझाएंगी, विशेष रूप से जहां वाणिज्यिक फसलें हों तथा उचित दरों पर उनके उत्पाद का विक्रय करने के लिए मण्डी उपलभ्य कराएगी। बहुत-सी समितियों ने अपनी रिपोर्ट में इस प्रश्न पर विचार किया और यह सुझाव दिया कि कृषि सम्बन्धी विपणन की संतोषजनक पद्धति कृषकों द्वारा उगाए जाने वाले उत्पादक के लिए लाभ अभिप्राप्त करने हेतु उनकी सहायता करने के उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए पुरःस्थापित की जानी चाहिए।"

तत्पश्चात् विद्वान् न्यायाधीश ने रायल कमीशन आन एग्रीकल्चर इन इण्डिया की रिपोर्ट, मद्रास सरकार द्वारा नियुक्त एक्सपोर्ट कमेटी की रिपोर्ट के प्रति निर्देश किया और तत्पश्चात् यह मत व्यक्त किया :—

"अपने उत्पादकों को समान निबन्धनों पर तथा युक्तियुक्त कीमत पर बेचने के लिए वाणिज्यिक फसलों को उगाने वालों के लिए संतोषजनक अवस्थाओं का उपबन्ध करने की दृष्टि से 25 जुलाई, 1933 को एक अधिनियम पारित किया गया। उद्देशिका में इस परिवर्णन सहित अधिनियम को पुरःस्थापित किया गया है कि मद्रास प्रेसीडेंसी में वाणिज्यिक फसलों के क्रय और विक्रय को बेहतर रूप से विनियमित करने हेतु और उस प्रयोजन के लिए उनके समुचित प्रशासन हेतु मण्डियों की स्थापना तथा नियमों को विरचित करना समीचीन है। इसलिए यह अधिनियम इस क्षेत्र में विशेषज्ञों द्वारा दीर्घ अन्वेषणात्मक अन्वेषण का परिणाम था जिसे बिचौलियों को निकालकर तथा उत्पादकों तथा क्रेताओं को आमने-सामने लाकर उपयुक्त और विनियमित मण्डियों की व्यवस्था करने की वाणिज्यिक फसलों के क्रय और विक्रय को विनियमित करने के लिए विचार किया गया है जिससे कि वे (उत्पादक तथा क्रेता) समतुल्य निबन्धनों पर

लाए जा सकें और जिसके द्वारा व्यवहारों में शोषण की गुंजाइश का उन्मूलन किया जा सके या चाहे जो भी हो, उसे कम किया जा सके। ऐसे कानून के बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि वह तब तक नागिरकों पर कारबार करने सम्बन्धी अधिकार करने के लिए अयुक्तियुक्ति निर्बन्धनों की सृष्टि करता है जब तक कि यह स्पष्टतः साबित नहीं हो जाता कि उक्त उपबन्ध अत्यन्त तीक्ष्ण, अनावश्यक रूप से कठोर है और जिस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए इसे अधिनियमित किया गया है, उसकी परिधि को अतिव्याप्त करते हैं।"

....

"....संक्षेप में, अधिनियम, नियम और उसके अधीन विरचित उपविधियों का अधिक संख्या में मण्डियों की व्यवस्था करने का दीर्घकालिक लक्ष्य है जिसमें शुद्ध माप सुनिश्चित करने की सुविधाएं हों, भण्डारकारण के लिए स्थान की व्यवस्था हो तथा सौदा करने की समान शक्तियां सुनिश्चित की गई हों जिससे कि उत्पादक अपनी वाणिज्यिक फसलों को मण्डियों में ला सकें और उचित कीमत पर बेच सकें। जब तक ऐसी मण्डियां स्थापित नहीं की जाती, तब तक उक्त उपबन्ध अनुज्ञप्ति सम्बन्धी निर्बन्धन अधिरोपित करके क्रेताओं और विक्रेताओं को अनुज्ञप्त परिसरों में एकत्र होने के लिए समर्थ बनाएंगे, शुद्ध माप सुनिश्चित करेंगे, उन्हें विश्वसनीय मण्डी संसूचना उपलब्ध कराएंगे और विवादों का निपटारा करने के लिए उनके लिए साधारण मशीनरी की व्यस्था करेंगे। विपणन समितियों द्वारा मण्डियों का निर्माण करने या उन्हें आरम्भ करने के पश्चात्, जैसा कि नियमों द्वारा विहित किया है, मण्डियों के युक्तियुक्ति क्षेत्र के भीतर कोई अनुज्ञप्ति जारी नहीं की जाएगी; इसके पश्चात् सभी उत्पादकों को अपने माल के विक्रय के लिए मंडी का सहारा लेना पड़ेगा। अधिनियम को लागू करने का परिणाम यथासम्भव बिचौलिओं को समाप्त करना और वाणिज्यिक फसलों के उत्पादकों को उनकी वस्तुओं के लिए उचित कीमत सुनिश्चित करने हेतु युक्तियुक्त सुविधाएं प्रदान करना है।"

4. इम्मेदीशेट्टी रामकृष्णया सन्स बनाम आन्ध्र प्रदेश राज्य[1] वाले मामले में मंडी समिति के कृत्यों की प्रकृति को स्पष्ट किया गया है :--

[1] ए० आई० आर० 1976 आन्ध्र प्रदेश 193.

"विद्वान् काउन्सेल की ओर से अन्य आधार-रहित दलील यह दी गई थी कि मंडी समिति के कार्यकलाप और उसके द्वारा दी गई सुविधाएं अधिनियम द्वारा मण्डी क्षेत्र तक सीमित की गई हैं। मण्डी की स्थापना, उसका बनाए रखना तथा उसमें सुधार किया जाना उन प्रयोजनों में से एक प्रयोजन है जिनके लिए मण्डी समिति निधि को अधिनियम की धारा 15 के अधीन खर्च किया जा सकता है। अन्य सेवाएं जैसे कि मानक तोल और माप सम्बन्धी उपबन्ध तथा उनका बनाए रखना, अधिसूचित कृषि उपज की बाबत फसल के आंकड़ों तथा विपणन से सम्बन्धित सभी विषयों की बाबत जानकारी का संग्रहण तथा प्रसार, अधिसूचित कृषि उपज के विस्तार अथवा सांस्कृतिक सुधार के लिए पशुधन और पशुधन के उत्पाद सम्बन्धी स्कीमें जिनके अन्तर्गत अन्य निकायों अथवा व्यष्टियों द्वारा अपनाए गए ऐसे क्षेत्र के भीतर ऐसे विस्तार अथवा सुधार के लिए स्कीम हेतु वित्तीय सहायता का अनुदान शामिल है, कृषि, पशुधन तथा पशुधन के उत्पाद तथा मितव्ययता, सेवाओं के श्रेणीकरण की प्रोन्नति, खाद्यान के परिरक्षण के लिए अध्युपाय इत्यादि ऐसी सेवाएं नहीं हैं जो मात्र मंडी क्षेत्र पर्यन्त सीमित हैं। वे ऐसी सेवाएं हैं जिनसे यह अपेक्षा की जाती है कि उनका निष्पादन मण्डी समिति द्वारा किया जाएगा और जो मण्डी तक सीमित रखे बिना समस्त अधिसूचित मण्डी क्षेत्र में कार्यान्वित की जाएंगी। इसके अतिरिक्त कृषि-उपज के प्रत्येक उत्पादक के प्रयोजन के लिए तथा अधिसूचित मण्डी क्षेत्र के भीतर पशुधन के स्वामी के उपयोग के लिए मण्डी में उपबन्धित सुविधाएं उपलभ्य हैं। मण्डी समिति से यह प्रत्याशा करना अत्यधिक होगा कि वह वैसी ही सुविधाओं को उपलभ्य कराए जैसी कि अधिसूचित मण्डी क्षेत्र के कोने-कोने में मण्डी क्षेत्र के भीतर उपलभ्य हैं। यह काम कृषि-उपज के उगाने वालों तथा पशुधन के स्वामियों का है कि वे मण्डी में उपलभ्य सुविधाओं का लाभ उठाएं। कोई भी व्यक्ति इस आधार पर अनुज्ञप्ति फीस के उद्ग्रहण के विरुद्ध शिकायत नहीं कर सकता कि कुछ लोगों ने मण्डी में उपलभ्य सुविधाओं का लाभ नहीं उठाया है।"

5. **अम्मेदीशेट्टी रामकृष्णय्या सन्स** बनाम **आन्ध्र प्रदेश राज्य**[1] वाले मामले का अनुमोदन **श्रीनिवास जनरल ट्रेडर्स** बनाम **आन्ध्र प्रदेश राज्य**[2] वाले

1 ए० आई० आर० 1976 आन्ध्र प्रदेश 193.

2 ए० आई० आर० 1983 एस० सी० 1246.

मामले में इस न्यायालय द्वारा किया गया था, जहां निम्नलिखित मत व्यक्त किया गया था :—

"स्पष्टत: यह कृषि-उपज के उत्पादकों के हित में होगा कि वे खुली मण्डी में स्वयं उपयुक्त कीमत प्राप्त कर सकते हैं और उन्हें बिचौलियों को संदाय नहीं करना है। मण्डी समिति के पर्यवेक्षण तथा नियन्त्रण के अधीन ऐसी मण्डी में कृषि-उपज का विक्रय या क्रय संभवत: नकद में होगा और इसलिए यह उत्पादकों के लिए लाभप्रद होगा तथा मानक तोल का प्रयोग उसके अवचार द्वारा उत्पीड़ित होने की संभावना को कम कर देगा। अधिसूचित मण्डी क्षेत्र में कार्यों का पर्यवेक्षण अधिक सुविधापूर्वक किया जा सकता है यदि कारबार किसी विनिर्दिष्ट क्षेत्र में या उस प्रयोजन के लिए आशयित क्षेत्र में किया जाता है। यह अधिनियम एकीकृत है और यह किसी केन्द्रित स्थान से अधिसूचित कृषि-उपज और पशुधन तथा पशुधन के उत्पादों के क्रय और विक्रय को विनियमित करता है।"

....

"यह दलील कि अधिसूचित कृषि-उपज, पशुधन तथा पशुधन के उत्पादों के विक्रय और क्रय के संव्यवहारों पर मण्डी फीस संदत्त करने के लिए पिटीशनर किसी दायित्व के अधीन नहीं हैं, इस सदोष उपधारणा पर अग्रसर की गई है कि वे अब भी अधिसूचित मण्डी क्षेत्र में, किन्तु उस क्षेत्र में मण्डी के बाहर, अपने परिसरों से ऐसा व्यापार कर सकते हैं। धारा 7 की उपधारा (6) में अन्तर्विष्ट अभिव्यक्त प्रतिषेध को दृष्टि में रखते हुए पिटीशनर स्वयं मण्डी का सहारा लिए बिना ऐसा व्यापार नहीं कर सकते।"

....

"यह तर्क भ्रममूलक है कि चूंकि सेवाएं स्वयं मण्डी के भीतर मण्डी समितियों द्वारा प्रदान की जाती हैं, इसलिए अधिसूचित मण्डी क्षेत्र में किन्तु मण्डी से बाहर किए गए क्रय या विक्रय पर मण्डी फीस संदत्त करने के लिए कोई दायित्व नहीं है। इस दलील में इस तथ्य की ओर ध्यान नहीं दिया गया है कि अधिसूचित कृषि उपज, पशुधन या पशुधन के उत्पादों के क्रय या विक्रय के लिए किसी विनियमित मण्डी की स्थापना स्वत: ऐसी वस्तुओं के क्रय या विक्रय के कारबार में लगे व्यक्तियों को दी जाने वाली सेवा है। अधिनियम की धारा 4 की उपधारा (1) के अधीन गठित मण्डी समिति का कर्तव्य उपधारा (3) के प्रथम भाग के अधीन अधिसूचित मण्डी क्षेत्र में अनेक ऐसी मण्डियों

की स्थापना करके ही समाप्त नहीं हो जाता बल्कि उसमें मण्डी में ऐसी सुविधाओं का प्रबन्ध करना भी सम्मिलित है, जैसी कि सरकार समय-समय पर उपधारा (3) के द्वितीय भाग के अधीन साधारण या विशेष आदेश द्वारा विनिर्दिष्ट करे। अधिनियम की धारा 33 के अधीन अपनी शक्तियों का प्रयोग करते हुए, राज्य सरकार ने आन्ध्र प्रदेश (एग्रीकल्चरल प्रोड्यूस एण्ड लाइवस्टाक) मार्केट रूल्स, 1969 विरचित किए हैं। अध्याय 5 'व्यापार के विनियमन' से सम्बन्धित है। इससे यह प्रतीत होता है कि नियम 48 से 53 अधिसूचित क्षेत्र में अधिसूचित कृषि-उपज, पशुधन और पशुधन के उत्पादों में नियन्त्रण करने के लिए कार्यप्रणाली से सम्बन्धित उपबन्ध हैं जबकि नियम 54 से 73 ऐसे क्षेत्र में ऐसे सम्पूर्ण व्यापार करने पर निर्बन्धन अधिरोपित करते हैं। अधिनियम की धारा 15 के उपबन्धों से यह स्पस्ट है कि मण्डी समिति द्वारा प्रदत्त की जाने वाली सेवाएं तथा उपलभ्य की जाने वाली सुविधाएं स्वयं मण्डी तक ही सीमित नहीं हैं बल्कि वे सम्पूर्ण पूरे अधिसूचित क्षेत्र पर्यन्त विस्तारित की गई हैं।"

6. पंजाब एग्रीकल्चरल प्रोड्यूस मार्केट्स ऐक्ट की सामान्य स्कीम तथा हरियाणा में यथा-संशोधित तथा प्रवृत्त अधिनियम व्यापक रूप से उन्हीं आधारों पर विरचित किए गए हैं जिन पर कि मद्रास तथा आन्ध्र प्रदेश अधिनियम एवं अन्य राज्यों में समरूप अधिनियमितियां विरचित हैं। यद्यपि हम यह आवश्यक नहीं समझते कि पंजाब तथा हरियाणा अधिनियमों के सभी उपबन्धों के प्रति निर्देश किया जाए, हमारा यह विचार है कि यह समुचित होगा कि यहां अधिनियम के उन उपबन्धों का उल्लेख कर दिया जाए जो अधिनियमों के अधीन गठित मण्डी समितियों के कर्तव्यों तथा शक्तियों में से किंचित कर्तव्यों तथा शक्तियों को प्रगणित करते हैं और उन प्रयोजनों का भी उल्लेख कर दिया जाए जिनके लिए कि विपणन विकास निधि तथा मण्डी समिति निधि का व्यय किया जा सकता है। यहां हम इस बात का उल्लेख कर दें कि जबकि अधिनियम द्वारा बोर्ड को समनुदिष्ट कृत्यों और कर्तव्यों का पालन करने के लिए सम्पूर्ण राज्य के लिए राज्य कृषि विपणन बोर्ड विद्यमान हैं, राज्य सरकार विनिर्दिष्ट, अधिसूचित क्षेत्रों को ऐसे मण्डी क्षेत्रों के रूप में घोषित कर सकती है जिनमें से प्रत्येक क्षेत्र के लिए एक-एक मण्डी समिति होगी। बोर्ड में समितियों पर अधीक्षण तथा नियन्त्रण सम्बन्धी शक्तियां निहित की गई हैं। धारा 13 मण्डी समितियों के कृत्यों तथा शक्तियों को

विहित करती है और वह इस प्रकार है :—

*"13. समिति के कर्तव्य तथा शक्तियां—(1) समिति का यह कर्तव्य होगा कि वह—

(क) अधिसूचित मण्डी क्षेत्र में इस अधिनियम तथा तद्धीन बनाए गए नियमों और उपविधियों को प्रवर्तित करे और जब बोर्ड द्वारा ऐसी अपेक्षा की जाए तो उसमें एक ऐसी मण्डी की स्थापना करे जिसमें क्रय, विक्रय, भांडागारण, तोल तथा सम्बद्ध कृषि-उपज के प्रसंस्करण के सम्बन्ध में आने वाले व्यक्तियों के लिए ऐसी सुविधाओं को उपलभ्य कराए जैसी कि बोर्ड समय-समय पर निदिष्ट करे;

(ख) मण्डी में प्रवेश को नियन्त्रित तथा विनियमित करे, मण्डी के उपयोग के लिए अवस्थाओं का अवधारण करे, एवं विधिमान्य अनुज्ञप्ति के बिना व्यापार करने वाले व्यक्ति की कृषि-उपज के बारे में मुकदमा चलाए और उसे अधिहृत करे;

(ग) जब बोर्डों द्वारा निदिष्ट किया जाए, तो समिति की ओर से या अन्यथा किसी वाद, कार्रवाई, कार्यवाही, उपयोजन अथवा माध्यस्थम् को लाए, अभियोजित करे अथवा प्रतिरक्षा करे या उसे लाने, अभियोजित करने या प्रतिरक्षा करने में सहायता प्रदान करे।

---

* अंग्रेजी में यह इस प्रकार है :—

"13. Duties and powers of Committee—(1) It shall be the duty of a Committee—

(a) to enforce the provisions of this Act and the rules and bye-laws made thereunder in the notified market area and, when so required by the Board, to establish a market therein providing such facilities for persons visiting it in connection with the purchase, sale, storage, weighment and processing of agricultural produce concerned as the Board may from time to time direct ;

(b) to control and regulate the admission to the market, to determine the conditions for the use of the market and to prosecute or confiscate the agricultural produce belonging to a person trading without a valid licence;

(c) to bring, prosecute or defend or aid in bringing, prosecuting or defending any suit, action, proceeding, application or arbitration, on behalf of the Committee or otherwise when directed by the Boards.

की स्थापना करके ही समाप्त नहीं हो जाता बल्कि उसमें मण्डी में ऐसी सुविधाओं का प्रबन्ध करना भी सम्मिलित है, जैसी कि सरकार समय-समय पर उपधारा (3) के द्वितीय भाग के अधीन साधारण या विशेष आदेश द्वारा विनिर्दिष्ट करे। अधिनियम की धारा 33 के अधीन अपनी शक्तियों का प्रयोग करते हुए, राज्य सरकार ने आन्ध्र प्रदेश (एग्रीकल्चरल प्रोड्यूस एण्ड लाइवस्टाक) मार्केट रूल्स, 1969 विरचित किए हैं। अध्याय 5 'व्यापार के विनियमन' से सम्बन्धित है। इससे यह प्रतीत होता है कि नियम 48 से 53 अधिसूचित क्षेत्र में अधिसूचित कृषि-उपज, पशुधन और पशुधन के उत्पादों में नियन्त्रण करने के लिए कार्यप्रणाली से सम्बन्धित उपबन्ध हैं जबकि नियम 54 से 73 ऐसे क्षेत्र में ऐसे सम्पूर्ण व्यापार करने पर निर्बन्धन अधिरोपित करते हैं। अधिनियम की धारा 15 के उपबन्धों से यह स्पस्ट है कि मण्डी समिति द्वारा प्रदत्त की जाने वाली सेवाएं तथा उपलभ्य की जाने वाली सुविधाएं स्वयं मण्डी तक ही सीमित नहीं हैं बल्कि वे सम्पूर्ण पूरे अधिसूचित क्षेत्र पर्यन्त विस्तारित की गई हैं।"

6. पंजाब एग्रीकलचरल प्रोड्यूस मार्केट्स ऐक्ट की सामान्य स्कीम तथा हरियाणा में यथा-संशोधित तथा प्रवृत्त अधिनियम व्यापक रूप से उन्हीं आधारों पर विरचित किए गए हैं जिन पर कि मद्रास तथा आन्ध्र प्रदेश अधिनियम एवं अन्य राज्यों में समरूप अधिनियमितियां विरचित हैं। यद्यपि हम यह आवश्यक नहीं समझते कि पंजाब तथा हरियाणा अधिनियमों के सभी उपबन्धों के प्रति निर्देश किया जाए, हमारा यह विचार है कि यह समुचित होगा कि यहां अधिनियम के उन उपबन्धों का उल्लेख कर दिया जाए जो अधिनियमों के अधीन गठित मण्डी समितियों के कर्तव्यों तथा शक्तियों में से किंचित कर्तव्यों तथा शक्तियों को प्रगणित करते हैं और उन प्रयोजनों का भी उल्लेख कर दिया जाए जिनके लिए कि विपणन विकास निधि तथा मण्डी समिति निधि का व्यय किया जा सकता है। यहां हम इस बात का उल्लेख कर दें कि जबकि अधिनियम द्वारा बोर्ड को समनुदिष्ट कृत्यों और कर्तव्यों का पालन करने के लिए सम्पूर्ण राज्य के लिए राज्य कृषि विपणन बोर्ड विद्यमान हैं, राज्य सरकार विनिर्दिष्ट, अधिसूचित क्षेत्रों को ऐसे मण्डी क्षेत्रों के रूप में घोषित कर सकती है जिनमें से प्रत्येक क्षेत्र के लिए एक-एक मण्डी समिति होगी। बोर्ड में समितियों पर अधीक्षण तथा नियन्त्रण सम्बन्धी शक्तियां निहित की गई हैं। धारा 13 मण्डी समितियों के कृत्यों तथा शक्तियों को

विहित करती है और वह इस प्रकार है :—

*"13. समिति के कर्तव्य तथा शक्तियां—(1) समिति का यह कर्तव्य होगा कि वह—

(क) अधिसूचित मण्डी क्षेत्र में इस अधिनियम तथा तद्धीन बनाए गए नियमों और उपविधियों को प्रवर्तित करे और जब बोर्ड द्वारा ऐसी अपेक्षा की जाए तो उसमें एक ऐसी मण्डी की स्थापना करे जिसमें क्रय, विक्रय, भांडागारण, तोल तथा सम्बद्ध कृषि-उपज के प्रसंस्करण के सम्बन्ध में आने वाले व्यक्तियों के लिए ऐसी सुविधाओं को उपलभ्य कराए जैसी कि बोर्ड समय-समय पर निदिष्ट करे;

(ख) मण्डी में प्रवेश को नियन्त्रित तथा विनियमित करे, मंडी के उपयोग के लिए अवस्थाओं का अवधारण करे, एवं विधिमान्य अनुज्ञप्ति के बिना व्यापार करने वाले व्यक्ति की कृषि-उपज के बारे में मुकदमा चलाए और उसे अधिहृत करे;

(ग) जब बोर्डों द्वारा निदिष्ट किया जाए, तो समिति की ओर से या अन्यथा किसी वाद, कार्रवाई, कार्यवाही, उपयोजन अथवा माध्यस्थम् को लाए, अभियोजित करे अथवा प्रतिरक्षा करे या उसे लाने, अभियोजित करने या प्रतिरक्षा करने में सहायता प्रदान करे।

---

* अंग्रेजी में यह इस प्रकार है :—

"13. Duties and powers of Committee—(1) It shall be the duty of a Committee—

(a) to enforce the provisions of this Act and the rules and bye-laws made thereunder in the notified market area and, when so required by the Board, to establish a market therein providing such facilities for persons visiting it in connection with the purchase, sale, storage, weighment and processing of agricultural produce concerned as the Board may from time to time direct;

(b) to control and regulate the admission to the market, to determine the conditions for the use of the market and to prosecute or confiscate the agricultural produce belonging to a person trading without a valid licence;

(c) to bring, prosecute or defend or aid in bringing, prosecuting or defending any suit, action, proceeding, application or arbitration, on behalf of the Committee or otherwise when directed by the Boards.

(2) धारा 10 अथवा धारा 13 के अधीन अनुज्ञप्ति-प्राप्त प्रत्येक व्यक्ति और ऐसा प्रत्येक व्यक्ति, जिसे अनुज्ञप्ति ग्रहण करने से धारा 6 के अधीन छूट दी गई हो, समिति द्वारा अथवा इस निमित्त उसके द्वारा प्राधिकृत किसी व्यक्ति द्वारा मांग किए जाने पर ऐसी जानकारी और विवरणियां प्रस्तुत करेगा जैसी कि अधिनियम अथवा तद्धीन बनाए गए नियमों और उपविधियों के समुचित रूप से प्रवर्तित किए जाने के लिए आवश्यक हों।

(3) ऐसे नियमों के अधीन रहते हुए, जैसे कि राज्य सरकार इस निमित्त विरचित करे, समिति का यह कर्त्तव्य होगा कि वह अधिसूचित मण्डी क्षेत्र में कृषि-उपज की बाबत अपनी उपजीविका को चलाने के लिए दलालों, तोलने वालों, मापने वालों, सर्वेक्षकों, गोदामधारियों तथा अन्य कारिंदों के नाम अनुज्ञप्तियां जारी करे तथा ऐसी अनुज्ञप्तियों का नवीकरण, निलम्बन अथवा रद्दकरण करे।

(4) कोई भी दलाल, तोलने वाला, मापने वाला, सर्वेक्षक, गोदामधारी अथवा अन्य कारिंदा तब तक जब तक कि वह अनुज्ञप्ति द्वारा सम्यक् रूप से प्राधिकृत न किया गया हो, कृषि उपज की बाबत किसी अधिसूचित मण्डी क्षेत्र में अपनी उपजीविका नहीं करेगा :

---

(2) Every person licensed under sec. 10 or section. 13 and every person exempted under sec. 6 from taking out licence, shall on demand by the Committee or any person authorised by it in this behalf furnish such information and returns, as may be necessary for proper enforcement of Act or the rules and bye-laws made thereunder.

(3) Subject to such rules as the State Government may make in this behalf, it shall be the duty of a Committee to issue licences to brokers, weighmen, measurers, surveyors, godown keepers and other functionaries for carrying on their occupation in the notified market area in respect of agricultural produce and to renew, suspend or cancel such licences.

(4) No broker, weighman, measurer, surveyor, godown-keeper or other functionary shall, unless duly authorised by licence, carry on his occupation in a notified market area in respect of agricultural produce :

परन्तु यह कि उपधारा (3) और (4) में का कोई उपबन्ध किसी ऐसे व्यक्ति को लागू नहीं होगा जो भांडागारक का कारबार कर रहा हो और जिसे पंजाब वेयरहाउसिज़ ऐक्ट, 1957 (1958 का पंजाब अधिनियम सं० 2) के अधीन अनुज्ञप्त किया गया हो।"

धारा 25 में एक विपणन विकास निधि का सृजन किया गया है जिसमें कि बोर्ड को अपने व्ययों की पूर्ति करनी होगी। धारा 27 में मण्डी समिति निधि के सृजन के लिए उपबन्ध किया गया है जिसमें से कि समिति को अपने व्यय की पूर्ति करनी होगी। जिन प्रयोजनों के लिए विपणन विकास निधि का व्यय किया जा सकता है, वे धारा 26 में इस प्रकार विनिर्दिष्ट किए गए हैं—

**"26. विपणन विकास निधि का उपयोग निम्नलिखित प्रयोजनों के लिए किया जाएगा—

(i) बेहतर कृषि उपज का विपणन ;

(ii) सहकारी आधार पर कृषि उपज का विपणन ;

(iii) मण्डी दरों तथा जानकारी का संग्रहण तथा प्रसार ;

(iv) कृषि उपज का श्रेणीकरण तथा मानकीकरण ;

(v) मण्डियों में अथवा उनके अपने-अपने अधिसूचित मण्डी-क्षेत्रों में सामान्य सुधार ;

Provided that nothing in sub-sections (3) and (4) shall apply to a person carrying on the business of warehouseman who is licensed under the Punjab Warehouses Act, 1957 (Punjab Act No.2 of 1958)".

**"26. The Marketing Development Fund shall be utilised out of the following purposes—

(i) Better marketing of agricultural produce ;

(ii) Marketing of Agricultural produce on co-operative lines ;

(iii) collection and dissemination of market rates and news ;

(iv) grading and standardisation of agricultural produce ;

(v) general improvements in the markets or their respective notified areas ;

(vi) बोर्ड के कार्यालय का रख-रखाव तथा कार्यालय इमारतों विश्राम-गृहों एवं कर्मचारिवृन्द के निवास-स्थानों का सन्निर्माण और उनकी मरम्मत;

(vii) वित्त की दृष्टि से कमज़ोर समितियों को ऋणों तथा अनुदानों की प्रकृति में सहायता प्रदान करना ;

(viii) वेतन का संदाय, अवकाश भत्ता, उपदान, अनुकम्पापूर्ण भत्ता, क्षतियों के लिए अथवा ड्यूटी पर रहते हुए होने वाली दुर्घटनाओं के परिणामस्वरूप मृत्यु के लिए प्रतिकर, चिकित्सीय सहायता, पेंशन अथवा भविष्य निधि जो कि ऐसे व्यक्तियों को दी जाएगी जिन्हें बोर्ड द्वारा नियोजित किया गया है तथा प्रतिनियुक्ति पर विद्यमान सरकारी सेवकों को पेंशन सम्बन्धी अभिदाय तथा छुट्टी;

(ix) बोर्ड के कर्मचारियों, उसके सदस्यों तथा सलाहकार समितियों के सदस्यों को यात्रा तथा अन्य भत्ते;

(x) प्रचार, प्रदर्शन तथा प्रसार, जो कि कृषि सम्बन्धी सुधारों के पक्ष में किया जाएगा;

(xi) कृषि उपज का उत्पादन तथा बेहतरी;

(vi) maintenance of the office of the Board and construction and repair of its office buildings, rest-house and staff quarters ;

(vii) giving aid to financially weak committees in the shape of loans and grants ;

(viii) payment of salary, leave allowance, gratuity, compassionate allowance. compensation for injuries or death resulting from accidents while on duty, medical aid, pension or provident fund to the persons employed by the Board and leave and pension contribution to Government servants on deputation ;

(ix) travelling and other allowances to the employees of the Board, its members and members of Advisory Committees :

(x) propaganda, demonstration and publicity in favour of agricultural improvements ;

(xi) production and betterment of agricultural produce;

(xii) बोर्ड द्वारा उपगत किन्हीं विधि सम्बन्धी व्ययों पर पूरा उतरना;

(xiii) विपणन अथवा कृषि में शिक्षा प्रदान करना;

(xiv) गोदामों का सन्निर्माण;

(xv) कर्मचारियों को ऋण तथा अग्रिम धन देना;

(xvi) बोर्ड के लेखाओं की संपरीक्षा करने में उपगत व्यय;

(xvii) राज्य सरकार की पूर्व मंजूरी के साथ कोई अन्य प्रयोजन जो बोर्ड तथा समिति के सामान्य हितों को बढ़ावा देगा अथवा राष्ट्रीय या सार्वजनिक हितों को अभिदाय प्रदान करेगा;

परन्तु यदि बोर्ड खण्ड (vii) के अधीन वित्त की दृष्टि से कमज़ोर किसी समिति को पांच हजार रुपए से अधिक की सहायता देने का विनिश्चय करता है, तो ऐसे संदाय की पूर्व मंजूरी राज्य सरकार से अभिप्राप्त की जाएगी ।"

मण्डी समितियों की निधि का जिन प्रयोजनों के लिए व्यय किया जाएगा, वे धारा 28 में विनिर्दिष्ट हैं, जो इस प्रकार है—

***"28. वे प्रयोजन जिनके लिए मण्डी समिति निधियों का व्यय किया जाएगा । धारा 27 के उपबन्धों के अधीन रहते हुए, मण्डी

(xii) meeting any legal expenses incurred by the Board ;

(xiii) imparting education in marketing or agriculture ;

(xiv) construction of godowns ;

(xv) loans and advances to the employees ;

(xvi) expenses incurred in auditing the accounts of the Board ;

(xvii) with the previous sanction of the State Government any other purpose which is calculated to promote the general interests of the Board and the Committtees or the national or public interest ;

Provided that if the Board decided to give aid of more than five thousand rupees to a financially weak Committee under clause (vii) the prior approval of the State Government to such payment shall be obtained.

***"28. **Purposes for which the Market Committee Funds may be expended.** Subject to the provisions of

[1983] [1983] 3 उम० नि० प० 289=
[1983] 3 एस० सी० सी० 229 :
दिल्ली नगर निगम बनाम मोहम्मद यासीन 8

[1982] [1982] 3 उम० नि० प० 1121=
[1982] 1 एस० सी० सी० 206 :
ए० बी० नछाने और अन्य बनाम भारत संघ 14

[1980] [1980] 4 उम० नि० प० 218=
ए० आई० आर० 1980 एस० सी० 1037 :
शिवशंकर दाल मिल्स बनाम हरियाणा राज्य 12, 13

[1980]]1980] 3 उम० नि० प० 420=
[1980] 1 एस० सी० आर० 368 :
महामान्य श्री स्वामी जी बनाम आयुक्त, हिन्दू धार्मिक और पूर्त विन्यास विभाग 8

[1980] [1980] 2 उम० नि० प० 1170=
ए० आई० आर० 1980 एस० सी० 1008 :
केवल कृष्ण पुरी बनाम पंजाब राज्य 1

[1978] [1978] 3 उम० नि० प० 1063=
ए० आई० आर० 1977 एस० सी० 2279 :
आर० एस० जोशी बनाम अजीत मिल्स 19

[1976] ए० आई० आर० 1976 आन्ध्र प्रदेश 193 :
इम्मेदीशेट्टी रामकृष्णय्या सन्स बनाम आन्ध्र प्रदेश राज्य 4, 5

[1972] [1972] 2 डब्ल्यू० एल० आर० 537 :
हेरिंगटन बनाम ब्रिटिश रेलवेज़ बोर्ड 10

[1971] ए० आई० आर० 1971 एस० सी० 946 :
अशोक मार्केटिंग कम्पनी वाला मामला 19

[1970] [1970] 2 आल इंग्लैण्ड ला रिपोर्ट्स 294 :
होम आफिस बनाम डारसेट याच कम्पनी 10

[1965] [1965] 2 एस० सी० आर० 477 :
कलकत्ता नगर निगम बनाम लिबर्टीज सिनेमा 6

(vii) सम्बद्ध कृषि उपज की बाबत फसल के आंकड़े तथा विपणन के सम्बन्ध में सभी विषयों की बाबत जानकारी का संग्रहण तथा प्रसारण;

(viii) आश्रय-स्थल, पनाह, वाहन खड़े करने तथा उन्हें लाने वाले पशुओं, वाहनों तथा भार वहन करने वाले पशुओं के लिए जो कि मण्डी में आते हैं या लाए जा रहे होते हैं अथवा मण्डी की ओर से ले जाने वाली सड़कों के सन्निर्माण तथा मरम्मत पर, कटावों, पुलों तथा अन्य ऐसे प्रयोजनों पर सुविधाओं तथा प्रसुविधाओं की व्यवस्था करना;

(ix) कार्यालयों के रख-रखाव में उपगत तथा समितियों के लेखाओं की संपरीक्षा में उपगत व्यय;

(x) कृषि सम्बन्धी सुधारों तथा मितव्ययता के पक्ष में प्रचार;

(xi) उत्पाद तथा कृषि उपज में सुधार;

(xii) समिति द्वारा उपगत किन्हीं विधि सम्बन्धी व्ययों को पूरा करना,

(xiii) विपणन अथवा कृषि में शिक्षा प्रदान करना;

(vii) collection and dissemination of information regarding all matters relating to crop statistics and marketing in recpect of the agricultural produce concerned ;

(viii) providing comforts and facilities, such as the shelter, shade, parking accommodation and water for the persons draught cattle vehicles and pack animals link roads coming or being brought to the market or on construction and repair of approach roads, culverts, bridges and other such purposes ;

(ix) expenses incurred in the maintenance of the offices and in auditing the accounts of the Committees ;

(x) propaganda in favour of agricultural improvements and thrift ;

(xi) prodction and betterment of agricultural produces

(xii) meeting any legal expenses incurred by the Committee ;

(xiii) imparting education in marketing or agriculture

(xiv) समिति के सदस्यों तथा कर्मचारियों को यात्रा तथा अन्य भत्तों का यथाविहित रूप में संदाय;

(xv) कर्मचारियों को ऋण तथा अग्रिम राशियां;

(xvi) निर्वाचनों पर तथा तदनुषंगी व्यय; और

(xvii) बोर्ड की पूर्व मंजूरी के साथ, अन्य प्रयोजन जो समितियों अथवा अधिसूचित मण्डी क्षेत्र के सामान्य हितों की प्रोन्नति करने के लिए प्रकल्पित है या राज्य की पूर्व मंजूरी सहित कोई ऐसा प्रयोजन जो कि राष्ट्रीय अथवा सार्वजनिक हित को अग्रसर करने के लिए प्रकल्पित है ।"

यह उल्लेखनीय है कि धारा 26 और 27 के अन्तर्गत अनेक विषय आते हैं और वे इतने व्यापक हैं कि वे अधिनियम के प्रमुख उद्देश्य की पूर्ति करने के लिए प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष अगणित विषयों को समाविष्ट करते हैं अर्थात् कृषि उत्पाद के क्रय, विक्रय, भंडारकरण और प्रसंस्करण के वेहतर विनियमन एवं कृषि उत्पाद के लिए मण्डियों की स्थापना उनमें आ जाती है । जिन प्रयोजनों के लिए निधियों का व्यय किया जा सकता है, उनमें से कुछ प्रयोजन ऐसे भी हो सकते हैं जिनके बारे में प्रथमदृष्टया यह प्रतीत होता है कि वे नगरपालिक अथवा सरकारी कृत्य हैं किन्तु यदि निकट से संवीक्षा की जाए, तो इस बात का पता चलेगा कि वे स्पष्टत: कृषि उत्पाद के विपणन के लिए वेहतर सुविधाओं को उपलब्ध कराने से सम्बन्धित हैं। वास्तव में, उनमें से कुछ विषय नगरपालिक अथवा सरकारी कृत्य भी हो सकते हैं किन्तु फिर भी वे ऐसे प्रयोजन होंगे जिनके लिए विपणन बोर्ड तथा विपणन समितियों की निधियों का व्यय उपयोगितापूर्वक, विधिपूर्वक और संभवत: आवश्यक रूप से किया जा सकता है । उदाहरणार्थ, यह मूल महत्व का विषय है कि यदि कृषकों को उनके उत्पाद का परिवहन तथा विपणन उपलभ्य कराने हेतु प्रभावशील

(xiv) payment of traeAlling and other allowances to the members and employees of the Committee, a s prescribed ;

(xv) loans and advances to the employees ;

(xvi) expenses of and incidental to elections ; and

(xvii) with the previous sanction of the Board, any other purpose which is calculated to promote the general interest of the Committee or the notified market area or with the previous sanction of the State Government, any purpose calculated to promote the national or public interest."

सहायता का उपबन्ध किया जाना है तो विस्तृत संख्या में मोटरगाड़ियां उपलब्ध कराई जानी चाहिएं। अधिनियम की धारा 23, ऐसे नियमों के अध्यधीन जैसे कि तन्निमित्त राज्य सरकार द्वारा विरचित किए जाएं, समिति को इस योग्य बनाती हैं कि वह मूल्य के आधार पर प्रत्येक 100 रुपए के लिए समय-समय पर धारा 23 में वर्णित दर से अनधिक दर पर किसी अधिसूचित मण्डी क्षेत्र में अनुज्ञप्ति द्वारा खरीदे गए या बेचे गए कृषि उत्पाद पर फीस उद्गृहीत कर सके। जो फीस मूलतः 1969 में 100 रुपए पर 50 पैसे से बढ़ाकर एक रुपया कर दी गई थी, वह तत्पश्चात् 1973 में 1·50 रुपए और 1974 में 2·25 रुपए कर दी गई थी। तत्पश्चात् इस फीस को बढ़ाकर 100 रुपए पर 3 रुपए कर दिया गया था। 100 रुपए पर इस 3 रुपए की फीस की वृद्धि पर **केवल कृष्ण पुरी** बनाम **पंजाब राज्य**[1] वाले मामले में पंजाब-हरियाणा के अनेक व्यवहारियों ने आक्षेप किया था। इस न्यायालय की एक सांविधानिक न्यायपीठ ने **शिरूर मठ**[2], **हिंगिर रामपुर कोल कम्पनी लिमिटेड** बनाम **उड़ीसा राज्य**[3], **कलकत्ता नगर निगम** बनाम **लिबर्टीज सिनेमा**[4] इत्यादि मामलों में अधिकथित सिद्धान्तों के प्रति निर्देश करने के पश्चात् इस बात पर विचार किया कि मामले की सभी परिस्थितियों में 100 रुपए पर 2 रुपए से अधिक अनुज्ञप्ति फीस की वृद्धि न्यायोचित नहीं थी। न्यायालय ने इस बात का अवलोकन किया कि प्रत्येक मण्डी समिति के पास भारी अधिशेष था और उसने शिक्षा संस्थाओं में बड़ी मात्रा में चन्दे दिए थे और ऐसे अन्य प्रयोजनों के लिए निधियों का व्यय किया था जो कि अधिनियम द्वारा अनुबंधित प्रयोजनों से सर्वथा असम्बद्ध थे। ऐसा प्रतीत होता था कि 1978 वाले वर्ष में 2 रुपए से 3 रुपए की वृद्धि मुख्य रूप से मैडिकल कालेज, फरीदकोट को एक करोड़ रुपए की भारी राशि का अभिदाय किए जाने के परिणामस्वरूप प्रतिकर करने के लिए की गई थी। व्ययों के भारी अधिशेषों तथा अनधिकृत मदों पर ध्यान देते हुए न्यायालय मामले के तथ्यों के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि प्रति 100 रुपए पर 2 रुपए से अधिक फीस की वृद्धि न्यायोचित नहीं थी। विचार-विमर्श के अनुक्रम में न्यायाधिपति ऊंटवालिया, जिन्होंने कि न्यायालय की ओर से निर्णय सुनाया था, ने कतिपय ऐसे मत व्यक्त किए यदि उनका संदर्भ से अलग करके परिशीलन किया जाए तो उनके बारे में कुछ गलतफहमी प्रतीत होती है। उदाहरणार्थ, ए० आई० आर० के पृष्ठ 1016 पर उन्होंने यह कहा था—

---

[1] [1980] 2 उम० नि० प० 1170=ए० आई० आर० 1980 एस० सी० 1008.

[2] [1954] एस० सी० आर० 1005.

[3] [1962] 2 एस० सी० आर० 537.

[4] [1965] 2 एस० सी० आर० 477.

(xiv) समिति के सदस्यों तथा कर्मचारियों को यात्रा तथा अन्य भत्तों का यथाविहित रूप में संदाय;

(xv) कर्मचारियों को ऋण तथा अग्रिम राशियां;

(xvi) निर्वाचनों पर तथा तदनुषंगी व्यय; और

(xvii) बोर्ड की पूर्व मंजूरी के साथ, अन्य प्रयोजन जो समितियों अथवा अधिसूचित मण्डी क्षेत्र के सामान्य हितों की प्रोन्नति करने के लिए प्रकल्पित है या राज्य की पूर्व मंजूरी सहित कोई ऐसा प्रयोजन जो कि राष्ट्रीय अथवा सार्वजनिक हित को अग्रसर करने के लिए प्रकल्पित है।"

यह उल्लेखनीय है कि धारा 26 और 27 के अन्तर्गत अनेक विषय आते हैं और वे इतने व्यापक हैं कि वे अधिनियम के प्रमुख उद्देश्य की पूर्ति करने के लिए प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष अगणित विषयों को समाविष्ट करते हैं अर्थात् कृषि उत्पाद के क्रय, विक्रय, भंडारकरण और प्रसंस्करण के वेहतर विनियमन एवं कृषि उत्पाद के लिए मण्डियों की स्थापना उनमें आ जाती है। जिन प्रयोजनों के लिए निधियों का व्यय किया जा सकता है, उनमें से कुछ प्रयोजन ऐसे भी हो सकते हैं जिनके बारे में प्रथमदृष्टया यह प्रतीत होता है कि वे नगरपालिक अथवा सरकारी कृत्य हैं किन्तु यदि निकट से संवीक्षा की जाए, तो इस बात का पता चलेगा कि वे स्पष्टतः कृषि उत्पाद के विपणन के लिए वेहतर सुविधाओं को उपलभ्य कराने से सम्बन्धित हैं। वास्तव में, उनमें से कुछ विषय नगरपालिक अथवा सरकारी कृत्य भी हो सकते हैं किन्तु फिर भी वे ऐसे प्रयोजन होंगे जिनके लिए विपणन बोर्ड तथा विपणन समितियों की निधियों का व्यय उपयोगितापूर्वक, विधिपूर्वक और संभवतः आवश्यक रूप से किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, यह मूल महत्व का विषय है कि यदि कृषकों को उनके उत्पाद का परिवहन तथा विपणन उपलभ्य कराने हेतु प्रभावशील

(xiv) payment of traeAlling and other allowances to the members and employees of the Committee, a s prescribed;

(xv) loans and advances to the employees;

(xvi) expenses of and incidental to elections; and

(xvii) with the previous sanction of the Board, any other purpose which is calculated to promote the general interest of the Committee or the notified market area or with the previous sanction of the State Government, any purpose calculated to promote the national or public interest."

सहायता का उपबन्ध किया जाना है तो विस्तृत संख्या में मोटरगाड़ियां उपलभ्य कराई जानी चाहिएं। अधिनियम की धारा 23, ऐसे नियमों के अध्यधीन जैसे कि तन्निमित्त राज्य सरकार द्वारा विरचित किए जाएं, समिति को इस योग्य बनाती हैं कि वह मूल्य के आधार पर प्रत्येक 100 रुपए के लिए समय-समय पर धारा 23 में वर्णित दर से अनधिक दर पर किसी अधिसूचित मण्डी क्षेत्र में अनुज्ञप्ति द्वारा खरीदे गए या बेचे गए कृषि उत्पाद पर फीस उद्गृहीत कर सके। जो फीस मूलतः 1969 में 100 रुपए पर 50 पैसे से बढ़ाकर एक रुपया कर दी गई थी, वह तत्पश्चात् 1973 में 1·50 रुपए और 1974 में 2·25 रुपए कर दी गई थी। तत्पश्चात् इस फीस को बढ़ाकर 100 रुपए पर 3 रुपए कर दिया गया था। 100 रुपए पर इस 3 रुपए की फीस की वृद्धि पर **केवल कृष्ण पुरी बनाम पंजाब राज्य**[1] वाले मामले में पंजाब-हरियाणा के अनेक व्यवहारियों ने आक्षेप किया था। इस न्यायालय की एक सांविधानिक न्यायपीठ ने **शिरूर मठ**[2], **हिंगिर रामपुर कोल कम्पनी लिमिटेड** बनाम **उड़ीसा राज्य**[3], **कलकत्ता नगर निगम** बनाम **लिबर्टीज सिनेमा**[4] इत्यादि मामलों में अधिकथित सिद्धान्तों के प्रति निर्देश करने के पश्चात् इस बात पर विचार किया कि मामले की सभी परिस्थितियों में 100 रुपए पर 2 रुपए से अधिक अनुज्ञप्ति फीस की वृद्धि न्यायोचित नहीं थी। न्यायालय ने इस बात का अवलोकन किया कि प्रत्येक मण्डी समिति के पास भारी अधिशेष था और उसने शिक्षा संस्थाओं में बड़ी मात्रा में चन्दे दिए थे और ऐसे अन्य प्रयोजनों के लिए निधियों का व्यय किया था जो कि अधिनियम द्वारा अनुबंधित प्रयोजनों से सर्वथा असम्बद्ध थे। ऐसा प्रतीत होता था कि 1978 वाले वर्ष में 2 रुपए से 3 रुपए की वृद्धि मुख्य रूप से मैडिकल कालेज, फरीदकोट को एक करोड़ रुपए की भारी राशि का अभिदाय किए जाने के परिणामस्वरूप प्रतिकर करने के लिए की गई थी। व्ययों के भारी अधिशेषों तथा अनधिकृत मदों पर ध्यान देते हुए न्यायालय मामले के तथ्यों के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि प्रति 100 रुपए पर 2 रुपए से अधिक फीस की वृद्धि न्यायोचित नहीं थी। विचार-विमर्श के अनुक्रम में न्यायाधिपति ऊंटवालिया, जिन्होंने कि न्यायालय की ओर से निर्णय सुनाया था, ने कतिपय ऐसे मत व्यक्त किए यदि उनका संदर्भ से अलग करके परिशीलन किया जाए तो उनके बारे में कुछ गलतफहमी प्रतीत होती है। उदाहरणार्थ, ए० आई० आर० के पृष्ठ 1016 पर उन्होंने यह कहा था—

---

[1] [1980] 2 उम० नि० प० 1170=ए० आई० आर० 1980 एस० सी० 1008.

[2] [1954] एस० सी० आर० 1005.

[3] [1962] 2 एस० सी० आर० 537.

[4] [1965] 2 एस० सी० आर० 477.

"किन्तु साधारणतः अथवा मुख्य रूप से कहा जाए तो निश्चितता, युक्तियुक्ता अथवा अधिसंभाव्यता की प्रबलता के कुछ परिणाम के साथ यह अवश्य ही दर्शित किया जाना चाहिए कि वसूल की गई फीस की पर्याप्त रकम उसे संदाय करने वालों के विशेष फायदे के लिए खर्च की गई है।"

इस वाक्यांश का परिशीलन अलग से नहीं किया जाना चाहिए। इसका परिशीलन मामले के तथ्यों के संदर्भ में किया जाना चाहिए। वस्तुतः ठीक उसी वाक्यांश में जो कि उद्धृत वाक्यांश से पूर्वतर आता है, उसमें यह कहा गया था—

"वह अन्य व्यक्तियों को प्रदान की गई सेवा से इतनी घनिष्ठता तथा पारस्परिक रूप से सम्बन्धित होनी चाहिए कि यह सम्भव ही न हो कि उनको पूर्ण रूप से दो भागों में विभाजित किया जा सके अथवा उनका इस प्रकार से विश्लेषण किया जा सके कि कितनी मात्रा उन व्यक्तियों को प्रदान की गई है जिन्होंने कि फीस का संदाय किया है तथा वह कितने अनुपात में अन्य व्यक्तियों को प्रदान की गई है।"

7. यही कारण था कि न्यायाधिपति सेन ने **श्रीनिवास जनरल ट्रेडर्स बनाम आन्ध्र प्रदेश**[1] वाले मामले में न्यायाधिपति ऊंटवालिया द्वारा किए गए सम्प्रेक्षणों को स्पष्ट करने में पर्याप्त मेहनत की थी और उन्हें समुचित स्वरूप प्रदान किया था। उन्होंने वस्तुतः अत्यन्त औचित्य सहित यह मत व्यक्त किया था—

"अन्ततः विश्लेषण करने पर ऊपर निर्दिष्ट केवल कृष्ण पुरी वाले मामले में इस न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि जब तक कर के सम्बन्ध में फीस की धारणा सुभिन्न और सीमित है तब तक मण्डी फीस के उद्ग्रहण द्वारा वसूल की गई रकम ऐसे व्यय को विधि द्वारा मान्यता नहीं दी जा सकती। कोई मामला वस्तुतः जो कुछ उसमें विनिश्चय किया गया है, मात्र उसी के लिए नज़ीर है और तार्किक रूप से जो कुछ उससे अनुसरित होता है उसके लिए नज़ीर नहीं है। प्रत्येक निर्णय का, साबित किए गए विशेष तथ्यों की बावत लागू किए जाने के रूप में या साबित माने गए रूप में परिशीलन किया जाना चाहिए क्योंकि वे ऐसी अभिव्यक्तियों की व्यापकता, जो उसमें आधृत हैं, पूर्ण विधि को प्रतिपादित करने के लिए आशयित नहीं हैं बल्कि उस मामले के विशेष तथ्यों द्वारा सीमित है जिसमें ऐसी

---

1 ए० आई० आर० 1983 एस० सी० 1246.

अभिव्यक्तियां पाई जाती हैं । यह प्रतीत होता है कि ऐसे कतिपय सम्प्रेक्षण हैं जो ऊपर निर्दिष्ट **केवल कृष्ण पुरी वाले मामले** में दिए गए निर्णय में हैं जो कि वस्तुत: विनिश्चय के प्रयोजनों के लिए आवश्यक नहीं थे और अवसर से बाह्य थे और इसलिए ये आबद्धकर नज़ीर नहीं हैं यद्यपि इनका मात्र प्रेरणात्मक मूल्य है । संगृहीत की गई फीस की रकम तथा सेवाएं प्रदान करने की लागत के बीच परस्पर सम्बन्ध के परिणाम को निर्धारित करने की ईप्सा करते हुए व्यक्त किया गया मत, अर्थात् :

'फीस मद्धे संगृहीत रकम का कम से कम पर्याप्त और सारवान् भाग फीस के संदायकर्ता के लिए मण्डी में सेवा प्रदान करने के लिए व्यय करने के रूप में जो कि लगभग दो-तिहाई अथवा तीन-चौथाई हो सकता है, उसके बारे में युक्तियुक्त निश्चितता दर्शित करना आवश्यक है,' इतरोक्ति प्रतीत होता है ।"

8. प्रत्यक्ष रूप से न्यायाधिपति ऊंटवालिया का तात्पर्य कोई नए सिद्धान्त अधिकथित करना नहीं था और उनके द्वारा यह आशयित नहीं किया जा सकता था कि वे इस न्यायालय के पूर्ववर्ती मामलों की श्रृंखला से विचलित होते । उदाहरणार्थ, **एच० एच० सुधेन्द्र तीर्थ स्वामियार** बनाम **आयुक्त**[1] वाले मामले में न्यायालय ने यह कहा था—

"न ही फीस में संकल्पना की गई है कि इसका प्राधिकारी द्वारा की गई उस व्यक्ति की, जो सेवा का फायदा अभिप्राप्त करता है, वास्तविक सेवाओं से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध होना चाहिए । यदि विनिर्दिष्ट सेवा का उपबन्ध करने की दृष्टि से विधि द्वारा उद्ग्रहण अधिरोपित किया जाता है और सेवाओं को बनाए रखने के लिए व्यय संगृहीत रकम में से पूरा किया जाता है, तो उद्ग्रहण और की गई सेवाओं के लिए उपगत व्ययों के बीच युक्तियुक्त सम्बन्ध होने के कारण वह उद्ग्रहण फीस की प्रकृति का होगा, न कि कर की प्रकृति का······· किन्तु किसी उद्ग्रहण को केवल इसलिए कर नहीं माना जाएगा क्योंकि उसके आपतन में एकरूपता का अभाव है, अथवा उसके संग्रहण में अनिवार्यता है और न ही इसलिए कि कुछ अभिकर्ता उसी मात्रा में सेवा अभिप्राप्त करते हैं जिस मात्रा में अन्य व्यक्ति सेवा अभिप्राप्त करते हैं ।"

---

1 [1963] सप्लीमेंट 2 एस० सी० आर० 302.

हिंगिर रामपुर कोल कम्पनी लिमिटेड बनाम उड़ीसा राज्य[1] वाले मामले में न्यायाधिपति ने यह कहा था—

"यदि विशेष सेवाएं किसी विशिष्ट क्षेत्र अथवा व्यक्तियों के किसी विशिष्ट वर्ग अथवा व्यापार या कारबार के लिए किसी स्थानीय क्षेत्र में प्रदान की जाती हैं और उन सेवाओं के लिए पूर्ववर्ती शर्त के रूप में अथवा उस क्षेत्र में उन सेवाओं के बदले में अथवा व्यक्तियों के उक्त वर्ग अथवा व्यापार या कारबार के बारे में उपकर लगाया जाता है तो वह उपकर कर से प्रभेदनीय होगा तथा उसे फीस माना जाएगा।"

....

"यह सत्य है कि जब विधानमण्डल किसी विनिर्दिष्ट क्षेत्र अथवा व्यक्तियों के विनिर्दिष्ट वर्ग अथवा व्यापार या कारबार को सेवा प्रदान करने के लिए फीस का उद्ग्रहण करता है, तो अन्तिम विश्लेषण करने पर ऐसी सेवाएं अप्रत्यक्ष रूप से उस सेवा का भाग हो सकती हैं जो जनसाधारण को प्रदान की जाती हैं। जो विशेष सेवा प्रदान की गई है। यदि वह सुभिन्न तथा प्राथमिक रूप से किसी विशिष्ट वर्ग अथवा क्षेत्र के फायदे के लिए आशयित है तो इस तथ्य से कि उस विशिष्ट वर्ग अथवा क्षेत्र को फायदा प्रदान किए जाने से अन्ततः अथवा अप्रत्यक्षतः उनका फायदा उस समस्त राज्य को होगा, फीस के रूप में उद्गृहीत किए जाने से उसका स्वरूप कम नहीं हो जाएगा तथापि जहां पर विशिष्ट सेवा जन सेवा से प्रभेदनीय है तथा मुख्यतः उसके प्रत्यक्ष भाग के रूप में है, तो उस पर भिन्न रूप से विचार किया जा सकता है। इस प्रकार के मामले में यह आवश्यक है कि इस बात की जांच की जाए कि उद्ग्रहण का प्राथमिक उद्देश्य तथा वह आवश्यक प्रयोजन क्या है जिसको प्राप्त करना इसके द्वारा आशयित है। इसके प्राथमिक उद्देश्य तथा आवश्यक प्रयोजन का अवश्य ही उसके अन्तिम अथवा प्रासंगिक परिणामों तथा प्रभावों से प्रभेद किया जाना चाहिए। यही वह सच्ची कसौटी है जिसके आधार पर उद्ग्रहण के स्वरूप को अवधारित किया जाता है।"

पुनः, **महामान्य श्री स्वामी जी बनाम आयुक्त, हिन्दू धार्मिक और पूर्त विन्यास**[2] विभाग वाले मामले में मुख्य न्यायाधिपति चन्द्रचूड़ ने यह कहा था—

---

1. [1962] 2 एस० सी० आर० 537.
2. [1980] 3 उम० नि० प० 420 = [1980] 1 एस० सी० आर० 368.

"यह पता लगाने के प्रयोजनार्थ कि क्या फीस संदायकर्ताओं का की गई सेवाओं के और उनसे प्रभारित फीस के बीच कोई सहसम्बन्ध है या नहीं, सेवाओं को संगठित करने और सेवाएं करने के लिए उपगत लागत को जानना आवश्यक है। किन्तु ऐसे सहसम्बन्ध पर विचार किया जाना अन्तर्वलित करने वाले विषयों के बारे में यह अपेक्षित नहीं है कि उन्हें गणितीय सूत्र से साबित किया जाए। जिस बात पर ध्यान दिया जाना है वह यह है कि प्रभारित फीस के और एक वर्ग के रूप में फीस का संदाय करने वाले को की गई सेवाओं की लागत के बीच उचित सादृश्य है। सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 6 के नियम 5 के अधीन अपीलार्थियों द्वारा मांगी गई अतिरिक्त और बेहतर विशिष्टियां, यदि दे दी जातीं तो उससे न्यायालय को आयुक्त के विभागीय बजट के सूक्ष्म ब्यौरों की श्रमसाध्य और निष्फल जांच करनी होती। विभिन्न स्थानों पर और विभिन्न प्रयोजनों के लिए आयुक्त के स्थापन द्वारा खर्च की गई रकमों के और न्यायालय द्वारा विभिन्न शीर्षों के प्रति विभिन्न रकमों का तदर्थ आबंटन अधिक-से-अधिक अनुमानिक ही हुआ होता। यदि उच्च न्यायालय के समक्ष जानकारी रही होती तो उसके लिए हमारे समक्ष जानकारी होने की अपेक्षा यह पता लगाना अधिक सम्भव हुआ होता कि विभिन्न स्थानों पर आयुक्त के स्थापन द्वारा क्या व्यय उपगत किया गया है और अपीलार्थियों को की गई सेवाओं के सम्बन्ध में स्थापन द्वारा किए गए खर्चों के लिए उन स्थानों पर कर्मचारिवृन्द के वेतन के भागस्वरूप आबंटित की जाए। अतः हमारा यह विचार है कि अपीलार्थियों द्वारा चाही गई जानकारी के न दिए जाने के कारण उन पर सारवान् रूप से कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ा है।"

इन मामलों पर विचार-विमर्श करने पर न्यायाधिपति सेन ने **श्रीनिवास जनरल ट्रेडर्स** बनाम **आन्ध्र प्रदेश राज्य**[1] वाले मामले में निम्नलिखित निष्कर्ष निकाला था—

"इस पारम्परिक दृष्टिकोण में कि फीस के लिए वस्तुतः तत्प्रतितत् का होना आवश्यक है, पश्चात्वर्ती विनिश्चयों में अत्यन्त परिवर्तन हो चुका है। कर और फीस के बीच प्रभेद प्राथमिक रूप से इस तथ्य में है कि कर सामान्य भार के रूप में उद्गृहीत किया जाता है जब कि फीस विनिर्दिष्ट फायदे या विशेषाधिकार का संदाय करने

---

1 ए० आई० आर० 1983 एस० सी० 1246.

के लिए उद्गृहीत की जाती है यद्यपि विशेष फायदा लोक हित में विनियमन का प्राथमिक हेतु की बाबत गौण रूप में है।..........

....

....

यह अवधारित करने के लिए कि कोई उद्ग्रहण फीस है अथवा नहीं, सही कसौटी यही होनी चाहिए कि क्या इसका प्राथमिक तथा अनिवार्य प्रयोजन किसी विनिर्दिष्ट क्षेत्र या वर्ग को विनिर्दिष्ट सेवाएं प्रदान करने के लिए है। इसका कदाचित् ही कोई महत्व हो कि राज्य को अन्ततः और अप्रत्यक्षतः इससे फायदा हो सकता है। कोई फीस उद्गृहीत करने के लिए किसी विधानमण्डल की शक्ति इस तथ्य से सशर्त है कि यह अवश्य ही 'व्यापक रूप से' प्रदान की गई सेवाओं के लिए तत्प्रतितत् हो। बहरहाल, उद्ग्रहण और प्रदान की गई सेवाओं के बीच परस्पर सम्बन्ध साधारण प्रकृति का होना प्रत्याशित है न कि गणित की दृष्टि से सुनिश्चित स्वरूप का। आवश्यक यह है कि फीस के उद्ग्रहण और प्रदान की गई सेवाओं के बीच 'युक्तियुक्त सम्बन्ध' होना चाहिए।"

इन अनेक मामलों के प्रति निर्देश करने के पश्चात् न्यायालय द्वारा **नगर निगम, दिल्ली** बनाम **मोहम्मद यासीन**[1] वाले मामले में यह मत व्यक्त किया गया था—

"इन पूर्व-निर्णयों से हम क्या समझते हैं ? इससे हम यह समझते हैं कि 'कर' और 'फीस' में कोई व्यापक अन्तर नहीं हैं, यद्यपि कर मोटे तौर पर कर-दाताओं के वर्ग को विशेष लाभों के बिना समान भार के भाग रूप में अनिवार्य आहरण है जबकि फीस की गई सेवाओं, दिए गए फायदों और प्रदत्त विशेषाधिकार के बदले संदाय है। विवश्यकता कर और फीस के बीच सुभिन्नता का पहचान-चिह्न नहीं है। यह कि संगृहीत किया हुआ धन किसी पृथक् निधि से नहीं जाता किन्तु संचित निधि में जाता है, आवश्यक रूप से उद्ग्रहण को कर नहीं बना देता। यद्यपि फीस का की गई सेवाओं या प्रदत्त लाभों से सम्बन्ध होना चाहिए, ऐसा सम्बन्ध प्रत्यक्षतः होना आवश्यक नहीं है; मात्र नैमित्तिक सम्बन्ध पर्याप्त हो सकता है। इसके अतिरिक्त, न तो फीसों का आपतन और न ही की गई सेवाओं के एक जैसा होने की आवश्यकता है। यह बात फीस के स्वरूप को कम नहीं करती कि फीस का संदाय करने वाले लोगों से भिन्न लोगों को भी फायदा

---

1 [1983] 3 उम० नि० प० 779=(1983) 3 एस० सी० सी० 229.

पहुंचता है। वास्तव में, फीस के संदायकर्ताओं को मिलने वाले विशेष फायदे या लाभ लोक हित में विनियमन के प्राथमिक प्रयोजन की तुलना में गौण भी हो सकते हैं। न्यायालय लागत लेखापाल (कास्ट अकाउण्टेंट) की भूमिका भी अदा नहीं कर सकते। संगृहीत फीसों की रकम के मुकाबले की गई सेवाओं की लागत को, दोनों के बीच बराबर सन्तुलन करने की दृष्टि से, बहुत बारीकी से तुलना करना न तो आवश्यक है और न समीचीन ही। व्यापक सहसम्बन्ध मात्र आवश्यक है। सीमित अर्थों में तत्प्रतितत् को फीस का एक और केवल सही अभिसूचक नहीं माना जा सकता, न ही वह आवश्यक रूप से कर में अनुपस्थित रहता है।"

इससे पूर्व निर्वचन के एक प्रश्न पर यह उल्लेख किया गया था—

"दो शब्द निर्वचन पर कहेंगे। समय के परिवर्तन और इतिवृत्त की आवश्यकताओं के साथ-साथ दार्शनिक व्यवहारों, संकल्पनाओं, विचारों तथा आदर्शों तथा शब्दों एवं पदों तथा स्वयं भाषा के अर्थ में भी परिवर्तन हो जाते हैं। विधि का तत्व और भाषा इस बात का कोई अपवाद नहीं है। शब्दों और पदों का अर्थ और स्वरूप संदर्भ और समय के अनुसार बनता है और इन्हीं संदर्भों और समय के अनुसार भिन्न-भिन्न होता रहता है। और यह बात याद रखने योग्य है कि शब्दों और पदों का न केवल एक अर्थ ही होता है बल्कि उनका एक विषय होता है। यह विषय सजीव होता है और कभी बढ़ता है, कभी घटता है, कभी उसका अर्थ विस्तृत हो जाता है और कभी संकीर्ण हो जाता है। यह विशिष्टतया वहां होता है जहां शब्दों और पदों का अथ ठीक प्रकार से अन्य विषयों से सम्बद्ध होता है। 'कर' और 'फीस' ऐसे ही शब्द हैं। ये शब्द वास्तव में सार्वजनिक वित्त की कोटि में आते हैं, किन्तु चूंकि संविधान और विधियां भी सार्वजनिक वित्त से सम्बद्ध है, अतः इन शब्दों का न्याय-निर्णयन उनकी विषयवस्तु का पता चलाने के प्रयास में किया जाता है।

9. **श्रीनिवास जनरल ट्रेडर्स** बनाम **आन्ध्र प्रदेश राज्य**[1] वाले मामले में न्यायाधिपति सेन ने इस बात का भी उल्लेख किया था कि कर और फीस के बीच कोई सामान्य भेद नहीं था, कि लोक प्राधिकारियों द्वारा ये दोनों अनिवार्य धन का उद्ग्रहण था और यह कि फीस की प्रकृति में उद्ग्रहण मात्र इस कारण फीस नहीं रह जाता कि उसकी ऐसी प्रकृति है कि इसमें विवश्यकता अथवा प्रपीड़न का तत्व विद्यमान है और न ही यह किसी फीस का ऐसा

•ए [1] ।।ई० आर० 1983 एस० सी० 1246.

आधार तत्व है जो निश्चित रूप से प्रत्येक ऐसे व्यक्ति के प्रति प्राधिकारी द्वारा प्रदान की गई वास्तविक सेवा से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखता है जिसने कि सेवा का फायदा अभिप्राप्त किया है। उन्होंने यथार्थ रूप में तत्प्रतितत् के तत्व के बढ़ती हुई अनुभूति के प्रति हमारा ध्यान आकृष्ट किया जो कि सदैव फीस के लिए अनिवार्य नहीं था। इसके अतिरिक्त तत्प्रतितत् के तत्व का निश्चित रूप से प्रत्येक कर में अभाव रहता है—ऐसी बात नहीं है। उन्होंने आगे जाकर इस बात का उल्लेख किया कि किसी माल तथा फीस लेखे संगृहीत किसी रकम के सारवान् प्रभाग पर जो कि लगभग दो-तिहाई अथवा तीन-चौथाई के आसपास हो, जोर दिया जाना और युक्तियुक्त निश्चितता से यह दर्शित किया जाना कि उसका व्यय फीस के संदायकर्ता को मार्केट में प्रदान की गई सेवाओं के लिए कर दिया गया है, सर्वमान्य रूप से लागू होने वाला नियम नहीं हो सकता था और यह कि यह एक ऐसा नियम था जो निश्चित रूप से **केवल कृष्ण पुरी**[1] वाले मामले के विशेष तथ्यों पर्यन्त सीमित था। अन्यथा इसका प्रभाव गत अर्ध-शताब्दी के दौरान सम्पूर्ण देश में अपनाए गए विपणन विधान की विधि-मान्यता पर पड़ेगा। हम न्यायाधिपति सेन के दृष्टिकोण से सहमत हैं कि उन्होंने **केवल कृष्ण पुरी**[1] वाले मामले में से जिन सम्प्रेषणों को उद्धृत किया है, वे इस मामले के लिए वस्तुत: आवश्यक नहीं थे और हम न्यायाधिपति सेन द्वारा किए गए सम्प्रेक्षणों के स्पष्टीकरण से भी सहमत हैं।

10. **श्रीनिवास जनरल ट्रेडर्स** बनाम **आन्ध्र प्रदेश राज्य**[2] वाले मामले में एक अन्य महत्वपूर्ण वाक्यांश है जिसके साथ हमारे द्वारा सहमति प्रकट की जाना आवश्यक है। यह कहा गया था कि "अत्यन्त आदर सहित, विद्वान् न्यायाधिपति के इन सम्प्रेक्षणों का परिशीलन न तो युक्लिड के सिद्धान्तों के रूप में और न ही कानून के उपबन्धों के साथ किया जाना आवश्यक है। इन सम्प्रेक्षणों का परिशीलन निश्चित रूप से उस संदर्भ में किया जाना चाहिए जिसमें कि वे समक्ष आए हैं।" हम यह कहना उचित समझते हैं, जैसाकि हमने पहले भी अन्य मामलों में कहा है, कि न्यायालयों के निर्णयों का अर्थान्वयन कानूनों के रूप में नहीं किया जाना चाहिए। किसी कानून के शब्दों, वाक्यांशों और उपबन्धों का निर्वचन करने के लिए न्यायाधीशों के लिए यह आवश्यक हो सकता है कि वे विस्तृत विचार-विमर्श करें किन्तु यह विचार-विमर्श स्पष्टीकरण किए जाने के लिए, न कि परिभाषित किए जाने के लिए आशयित है। न्यायाधीश कानूनों का निर्वचन करते हैं, वे निर्णयों का निर्वचन नहीं करते। वे कानूनों के शब्दों का निर्वचन करते हैं, उनके शब्दों का निर्वचन

---

1 [1980] 2 उम० नि० प० 1170=ए० आई० आर० 1980 एस० सा० 1008.

2 ए० आई० आर० 1983 एस० सी० 1246.

कानूनों के रूप में नहीं किया जाता। **लन्दन ग्रेविंग डाक कम्पनी लिमिटेड बनाम हार्टन**[1] वाले मामले में लार्ड मैकडरमाट ने यह मत व्यक्त किया था—

> "निस्सन्देह मामला मात्र इस रूप में तय नहीं किया जा सकता कि उससे न्या० विल्लीस के शब्दों को इस रूप में व्यवहृत किया गया है मानो कि वे संसद् के किसी अधिनियम का भाग थे और उनके बारे में समुचित निर्वचन के नियमों को लागू किया गया था। यह उस विशेष महत्व का ह्रास करने के लिए नहीं है जो कि उन अत्यन्त महान न्यायाधीशों द्वारा वस्तुत: प्रयोग की गई भाषा को प्रदान किया गया था।"

होम आफिस बनाम डारसेट याच कम्पनी[2] वाले मामले में लार्ड रीड ने यह कहा था, "लार्ड एटकिन के भाषण को······इस रूप में नहीं समझा जाना चाहिए मानो कि यह कानूनी परिभाषा थी। नवीन परिस्थितियों में इसे शर्त की अपेक्षा रहेगी।" न्यायाधिपति मैंगे री ने 1971 (1) डब्ल्यू०एल० आर०1062 वाले मामले में यह मत व्यक्त किया था कि "किसी भी व्यक्ति को निस्सन्देह लार्ड जस्टिस रस्सल जैसे महान न्यायाधीश के आरक्षित निर्णय के बारे में भी यह अर्थान्वयन नहीं करना चाहिए मानो कि वह संसद का कोई अधिनियम था।" और **हैरिंगटन बनाम ब्रिटिश रेलवेज़ बोर्ड**[3] वाले मामले में लार्ड मौरिस ने यह कहा था—

> "किसी भाषण अथवा निर्णय के शब्दों को इस रूप में समझने में सदैव खतरा रहता है मानो कि वे किसी विधायी अधिनियमिति में विद्यमान शब्द हों और यह स्मरणीय है कि न्यायिक प्रवचन किसी विशिष्ट मामले के तथ्यों की स्थिति में कहे जाते हैं।"

11. **केवल कृष्ण पुरी**[4] वाले मामले में किंचित् अन्य सम्प्रेक्षण विद्यमान हैं जो कि हमने ऊपर जो कुछ कहा है, उसके विषय में समान बल से लागू होते हैं। लार्ड हैल्स बरीज़ के समय-समय पर उद्धृत इस सूत्र को दोहराना अनावश्यक है कि कोई मामला जिस किसी विषय का वह वस्तुत: विनिश्चय करता है उसके लिए नजीर मात्र होता है, न कि उस बारे में जिसके विषय में यह उप-परिणाम उससे तार्किक दृष्टि से उद्भूत होता हो। हमने **केवल कृष्ण पुरी**[4] वाले मामले के बारे में इतना कुछ इस कारण कहा है क्योंकि विद्वान् काउन्सेल ने इसका विवक्षित रूप से अवलम्ब लिया था, हालांकि, जैसा कि हम

---

1 [1951] अपील केसेज 737.

2 [1970] 2 आल इंगलैंड रिपोर्ट्स 294.

3 [1972] 2 डब्ल्यू० एल० आर० 537.

4 [1980] 2 उम० नि० प० 1170=ए० आई० आर० 1980 एस० सी० 1008.

शीघ्र ही दर्शित करेंगे, हमारी समझ में यह नहीं आता कि भला कोई घोषणा मात्र कि प्रति सैंकड़ा 2 रुपए से अधिक फीस का उद्ग्रहण तथा संग्रहण किस प्रकार स्वतः व्यवहारी में अतिरिक्त रकम को प्राप्त करने के अधिकार को धारण करेगा जबकि वस्तुतः उसने उसका भार वहन नहीं किया था और जबकि उसका नैतिक तथा साम्यागत स्वामी उपभोक्ता जनता थी, जिसे वह भार संक्रान्त किया गया था।

12. **केवल कृष्ण पुरी वाले मामले**[1] में निर्णय के आख्यापित किए जाने के तुरन्त पश्चात् यह प्रश्न उद्भूत हुआ कि विभिन्न मार्केट समितियों द्वारा संगृहीत प्रति 100 रुपए पर 2 रुपए से अधिक फीस के बारे में क्या करना होगा। क्या मार्केट समितियों को अतिरिक्त रकमों को प्रतिधारित करने के लिए अनुज्ञात किया जाना था? क्या उन व्यापारिकों को ऐसी अतिरिक्त रकम का प्रतिदाय किया जाना था जिनसे कि रकमें इस तथ्य के बावजूद संगृहीत की गई थीं कि स्वयं व्यापारियों ने अगले क्रेताओं तथा उपभोक्ताओं पर भार संक्रान्त कर दिया था? दूसरे शब्दों में, क्या व्यापारियों को मार्केट समितियों से प्रतिदाय प्राप्त करने के लिए अनुज्ञात किया जाना था और इस प्रकार उन्हें अन्यायोचित रूप में अपने आपको धनाढ्य बनाने के लिए अनुज्ञात किया जाना था? क्या उन्हें अनुचित रूप से अभिलाभों द्वारा लाभ कमाने के लिए अनुज्ञात किया जाना था? अथवा क्या अग्रिम क्रेताओं अथवा उपभोक्ताओं को ढूंढ़ निकाला जाना था और उन्हें रकमों का प्रतिदाय किया जाना था जो कि निस्सन्देह लगभग व्यावहारिक रूप से एक असम्भव कार्य होगा? यदि ऐसे व्यक्तिगत उपभोक्ताओं को ढूंढ़ना संभव नहीं था, जिन्होंने कि भार का वहन किया था, तो क्या यह उचित नहीं था कि जिस लोक प्राधिकारी ने उसे उद्गृहीत तथा संगृहीत किया था, उसे रकम को धारण तथा प्रतिधारण करने के लिए अनुज्ञात किया जाना चाहिए मानो कि वह उनके फायदे के लिए न्यास में इस रूप में रखी गई थी कि इसका प्रयोग उन प्रयोजनों के लिए किया जाएगा जिनके लिए कि फीस के उद्ग्रहण के लिए कानून द्वारा वांछित है? तथापि कुछ व्यवहारियों ने यह इच्छा प्रकट की कि धनराशियों का प्रतिदाय उन्हें किया जाना चाहिए और इस पर उन्होंने इस न्यायालय में समावेदन प्रस्तुत किया। इसके बावजूद इन परिस्थितियों में **शिव शंकर दास मिलस बनाम हरियाणा राज्य**[2] वाले मामले में इस न्यायालय ने निम्नलिखित निदेश दिए—

"(i) नीचे दिए गए निदेशों के अधीन रहते हुए विभिन्न मण्डी

---

[1] [1980] 2 उम० नि० प० 1170=ए० आई० आर० 1980 एस० सी० 1008.

[2] [1980] 4 उम० नि० प० 218=ए० आई० आर० 1980 एस० सी० 1037.

समितियों द्वारा जो इन रिट पिटीशनों या अपीलों में प्रत्यर्थी हैं, संगृहीत सब धनराशियां रजिस्ट्रार द्वारा न्यायालय में संदत्त की जाने वाली रकम की सूचना के एक सप्ताह के भीतर पंजाब-हरियाणा उच्च न्यायालय में संदत्त करनी होंगी।

(ii) पूर्वोक्त विभिन्न मण्डी समितियां आधिक्य में (1%) संगृहीत रकमों का एक विवरण आज से 10 दिन के भीतर इस न्यायालय में पेश करेंगी और रिट पिटीशनर तथा अपीलार्थियों को भेजेंगी और यदि पक्षकारों में कोई मतभेद है तो प्रकीर्ण पिटीशनों के द्वारा इस न्यायालय के ध्यान में उसे लाया जाएगा। यदि इस न्यायालय द्वारा उस पर कोई अन्तिम आदेश पारित किए जाएं तो इस प्रकार अवधारित की गई वे रकमें अन्तिम समझी जाएंगी।

(iii) उच्च न्यायालय का रजिस्ट्रार सार्वजनिक सूचना जारी करेगा और अन्यथा इस बात का सम्यक् प्रचार करेगा कि व्यापारी और अन्य जिन्होंने इन रिट पिटीशनों और अपीलों में अन्तर्वलित एक प्रतिशत आधिक्य में योगदान किया है या संदाय किया है, उतनी धनराशि के लिए उतनी रकम का जितनी उसके द्वारा उन्हें देय है, एक मास के भीतर या अन्य ऐसी अवधि के भीतर जो वह नियत करे, दावा कर सकते हैं। रजिस्ट्रार ऐसे दावों की छानबीन करके और इस प्रकार साबित धनराशियों को सुनिश्चित करके इसके बाद वह सभी सम्बन्धित मण्डी समितियों से ऐसी धनराशि रजिस्ट्री में संदाय के लिए मांग करेगा जिनकी बाबत दावों के सबूत दिए गए हैं। ऐसी सूचना पर मण्डी समितियां रजिस्ट्रार द्वारा इस प्रकार मांगी गई रकम ऐसी सूचना के एक मास के भीतर रजिस्ट्री में संदत्त करेंगी। रकम, का संदाय रजिस्ट्रार के पास जमा करने की तारीख तक 10 प्रतिशत वार्षिक-ब्याज सहित किया जाएगा।

(iv) रजिस्ट्रार उल्लिखित आधार पर दावेदारों द्वारा समुचित सबूत देने पर समय-समय पर ऐसे दावों की मांग कर सकता है।

(v) वह दावों को तैयार करने की पद्धति बढ़िया-से-बढ़िया ढंग से तैयार करेगा। यदि कोई विवाद है तो ऐसे विवादों को विनिश्चय करने के लिए उच्च न्यायालय के पास भेज सकेगा यदि ऐसा करना वह आवश्यक समझता है। अन्यथा वह आक्षेपों का निपटारा अन्तिम रूप से कर सकता है।

(vi) यदि इस न्यायालय से वापसी के दावे की पद्धति के बारे में या अन्यथा और कोई निदेश आवश्यक समझा जाए तो उच्च

(xiv) समिति के सदस्यों तथा कर्मचारियों को यात्रा तथा अन्य भत्तों का यथाविहित रूप में संदाय;

(xv) कर्मचारियों को ऋण तथा अग्रिम राशियां;

(xvi) निर्वाचनों पर तथा तदनुषंगी व्यय; और

(xvii) बोर्ड की पूर्व मंजूरी के साथ, अन्य प्रयोजन जो समितियों अथवा अधिसूचित मण्डी क्षेत्र के सामान्य हितों की प्रोन्नति करने के लिए प्रकल्पित है या राज्य की पूर्व मंजूरी सहित कोई ऐसा प्रयोजन जो कि राष्ट्रीय अथवा सार्वजनिक हित को अग्रसर करने के लिए प्रकल्पित है।"

यह उल्लेखनीय है कि धारा 26 और 27 के अन्तर्गत अनेक विषय आते हैं और वे इतने व्यापक हैं कि वे अधिनियम के प्रमुख उद्देश्य की पूर्ति करने के लिए प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष अगणित विषयों को समाविष्ट करते हैं अर्थात् कृषि उत्पाद के क्रय, विक्रय, भंडारकरण और प्रसंस्करण के वेहतर विनियमन एवं कृषि उत्पाद के लिए मण्डियों की स्थापना उनमें आ जाती है। जिन प्रयोजनों के लिए निधियों का व्यय किया जा सकता है, उनमें से कुछ प्रयोजन ऐसे भी हो सकते हैं जिनके बारे में प्रथमदृष्टया यह प्रतीत होता है कि वे नगरपालिक अथवा सरकारी कृत्य हैं किन्तु यदि निकट से संवीक्षा की जाए, तो इस बात का पता चलेगा कि वे स्पष्टत: कृषि उत्पाद के विपणन के लिए वेहतर सुविधाओं को उपलभ्य कराने से सम्बन्धित हैं। वास्तव में, उनमें से कुछ विषय नगरपालिक अथवा सरकारी कृत्य भी हो सकते हैं किन्तु फिर भी वे ऐसे प्रयोजन होंगे जिनके लिए विपणन बोर्ड तथा विपणन समितियों की निधियों का व्यय उपयोगितापूर्वक, विधिपूर्वक और संभवत: आवश्यक रूप से किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, यह मूल महत्व का विषय है कि यदि कृषकों को उनके उत्पाद का परिवहन तथा विपणन उपलभ्य कराने हेतु प्रभावशील

(xiv) payment of traeᴧlling and other allowances to the members and employees of the Committee, a s prescribed ;

(xv) loans and advances to the employees ;

(xvi) expenses of and incidental to elections ; and

(xvii) with the previous sanction of the Board, any other purpose which is calculated to promote the general interest of the Committee or the notified market area or with the previous sanction of the State Government, any purpose calculated to promote the national or public interest."

सकेगी जिसमें कि ऐसी फीस का आपतन अनुज्ञप्तिधारी द्वारा ऐसी कृषि उपज के अगले क्रेता को, जिसकी बाबत ऐसी फीस उद्गृहीत तथा संगृहीत की गई थी, अन्तरित कर दी गई थी।

(2) किसी भी न्यायालय में उपधारा (1) के अधीन समिति द्वारा प्रतिधारित सम्पूर्ण फीस अथवा उसके किसी भाग के प्रतिदाय के लिए कोई वाद अथवा कार्यवाही संस्थित नहीं की जाएगी, न बनाए रखी जाएगी और न ही जारी रखी जाएगी और कोई भी न्यायालय किसी ऐसी डिक्री अथवा आदेश को प्रवर्तित नहीं करेगा जिसमें कि ऐसी सम्पूर्ण फीस अथवा उसके किसी भाग के प्रतिदाय सम्बन्धी निदेश दिया गया हो।

(3) यदि उपधारा (1) के आधार से समिति द्वारा प्रतिधारित किसी फीस के प्रतिदाय के सम्बन्ध में कोई विवाद उद्भूत होता है और प्रश्न यह है कि क्या ऐसी फीस का आपतन अनुज्ञप्तिधारी द्वारा सम्बद्ध कृषि उपज के अगले क्रेता को अन्तरित कर दिया गया था, तो जब तक कि अन्यथा साबित न कर दिया गया हो, यह उपधारणा की जाएगी कि ऐसा आपतन अनुज्ञप्तिधारी द्वारा इस रूप में अन्तरित किया गया था।

---

such fee was passed on by the licensee to the next purchaser of the Agricultural Produce in respect where of such fee was levied and collected,

(2) No suit or other proceeding shall be instituted, maintained or continued in any court for the refund of whole or any part of the fee retai ned by a Committee under sub-section (1) and no court shall enforce any decree or order directing the refund of whole or any part of such fee.

(3) If any dispute arises as to the refund of any fee retained by a Committee by virtue of sub-section (1) and the question is whether the burden of such fee was passed on by the licensee to the next purchaser of the concerned agricultural produce, it shall be presumed unless proved otherwise that snch burden was so passed on by the licensee.

(4) यदि उपधारा (1) के अधीन समिति द्वारा प्रतिधारणीय फीस की किसी रकम का प्रतिदाय किसी अनुज्ञप्तिधारी को कर दिया गया है, तो वह समिति द्वारा उस रीति में प्रत्युद्धरणीय होगा जो कि धारा 41 की उपधारा (2) में उपदर्शित की गई है।

(5) इस धारा के उपबन्ध पंजाब एग्रीकल्चरल प्रोड्यूस मार्केट्स (अमेंडमेंट एण्ड वेलिडेशन) ऐक्ट, 1976 की धारा 6 के प्रवर्तन पर प्रभाव नहीं डालेंगे ।"

धारा 23-क का प्राथमिक प्रयोजन उसे देखने मात्र से ही स्पष्ट हो जाता है; वह ऐसे व्यवहारियों को मार्केट समिति द्वारा अनुज्ञप्ति फीस के प्रतिदाय को निवारित करती है जिन्होंने कि पहले ही ऐसी फीस का आपतन कृषि उपज के अगले क्रेता को अन्तरित कर दिया है और जो मार्केट समितियों में से प्रतिदाय अभिप्राप्त करके अपने आपको अनुचित रूप से सुदृढ़ बनाना चाहते हैं। वस्तुतः धारा 23-क ऐसी उपभोक्ता-जनता को अभिज्ञात करती है जिसने कि ऐसे व्यक्तियों के रूप में अन्तिम आपतन का वहन किया है जिन्होंने कि वस्तुतः रकम का संदाय किया था और जो संगृहीत किसी अतिरिक्त फीस के प्रतिदाय के हकदार हैं और इसलिए वह उनके हितों का प्रतिनिधित्व करने वाली मार्केट समिति को यह निदेश देती है कि वह रकम को प्रतिधारित रख सके। यह इसी स्वरूप में करना होगा क्योंकि व्यावहारिक रूप से ऐसे वैयक्तिक क्रेताओं तथा उपभोक्ताओं को ढूंढ निकालने का प्रयत्न एक कठिन और निरर्थक प्रयोग होगा, जिन्होंने कि अन्तिमतः आपतन का वहन किया था। यह वस्तुतः एक ऐसी विधि है जिसके द्वारा जनता को वह रकम लौटा दी जाती है जिसे कि जनता से उसने, अधिनियम के अधीन उसके द्वारा अपेक्षित सेवाओं के निष्पादन हेतु रकम का उपयोग करने के लिए समिति को समर्थ बनाया था। अनुचित रूप से प्राप्त लाभों द्वारा बिचौलियों द्वारा मुनाफाखोरी को अनुज्ञात करने की बजाय, विधानमण्डल ने इस अनुचित मद को समाप्त

---

(4) If any amount of fee retainable by a Committee under sub-section (1) has been refunded to any licensee, the same shall be recoverable by the Committe in the manner indicated in sub-section (2) of Section 41.

(5) The provisions of this section shall not effect the operation of Section 6 of the punjab Agricultural produce Markets (Amendment and Validation) Act, 1976."

करने सम्बन्धी एक प्रक्रिया विरचित की है जो कि एतत्पश्चात् उन्हीं व्यक्तियों के फायदे के लिए रकम को प्रतिधारित करने के लिए समितियों को अनुज्ञात करके अतिशय उद्ग्रहण द्वारा बनाई गई है जिनके फायदे के लिए विपणन विधान अधिनियमित किया गया था। धारा 23-क की सांविधानिक विधिमान्यता को पंजाब-हरियाणा उच्च न्यायालय के समक्ष प्रश्नगत किया गया था, किन्तु इसे **बलायती राम महावीर प्रसाद** बनाम **पंजाब राज्य**[1] वाले मामले में कायम रखा गया था। इन दोनों सिविल अपीलों में हमारे समक्ष इस विनिश्चय के सही होने या न होने का प्रश्न उठाया गया है।

14. विद्वान् काउन्सेल की दलील यह थी कि धारा 23-क एक ऐसे उद्ग्रहण को विधिमान्य बनाने के लिए गम्भीर प्रयत्न था जिसे इस न्यायालय द्वारा अविधिमान्य घोषित किया जा चुका था और विद्वान् काउन्सेल के कथनानुसार यह अनुज्ञेय नहीं था। हम इस दलील से सर्वथा असहमत हैं कि धारा 23-क किसी अवैध उद्ग्रहण को विधिमान्य बनाने सम्बन्धी प्रयत्न है। धारा 23-क उक्त उपबन्ध के प्रवृत्त होने से पूर्व अथवा तत्पश्चात् कृषि उपज के किन्हीं विक्रयों की बाबत 3 रुपए प्रति सैकड़ा फीस के किसी प्रत्युद्धरण को अनुज्ञात नहीं करती। यहां न तो अतिरिक्त संग्रहण को भूतलक्षी प्रभाव से विधिमान्य बनाने का प्रयत्न किया गया है और न ही 3 रुपए प्रति सैकड़ा की दर पर भावी संग्रहणों के लिए उपबन्ध करने का कोई प्रयत्न किया गया है। धारा 23-क में मात्र यह उपबन्ध किया गया है कि ऐसे व्यवहारियों द्वारा अन्यायोचित समृद्धि को निवारित किया जाए जिन्होंने पहले ही फीस के आपतन को अगले क्रेता के प्रति अन्तरित कर दिया है और इस प्रकार मार्केट समितियों से प्रतिदाय की मांग करते हुए भी अपनी क्षतिपूर्ति कर ली है। हमने पहले ही धारा 23-क के सही प्रयोजन को स्पष्ट कर दिया है। यह जनता को मार्केट समिति की मार्फत ऐसी धनराशि प्रदान करती है जैसी कि उसने जनता से ग्रहण की है और जो उसे शोध्य है। यह स्वामी को वह राशि प्रदान करती है जो कि स्वामी की है। हमें धारा 23-क जैसे उपबंध को ऐसा स्वरूप देने के लिए कोई न्यायौचित्य प्रतीत नहीं होता कि वह किसी अवैध उद्ग्रहण को विधिमान्य बनाने के लिए उद्दिष्ट थी। **ए० बी० नछाने और अन्य** बनाम **भारत संघ**[2] वाले मामले में, जिसका कि काउन्सेल ने अवलम्ब लिया था, इस न्यायालय का विनिश्चय सर्वथा लागू नहीं होता। हमारे

---

[1] ए० आई० आर० 1984 पंजाब-हरियाणा 120.

[2] [1982] 3 उम० नि० प० 1121=(1982) 1 एस० सी० सी० 206.

दृष्टिकोण में धारा 23-क **केवल कृष्ण पुरी**[1] वाले मामले की भावना के अनुकूल है और साथ ही **शिव शंकर दाल मिल्स**[2] वाले मामले के शब्दश: अनुरूप है ।

15. विद्वान् काउन्सेल की एक अन्य दलील यह थी कि जबकि विधान-मण्डल किसी फीस तथा तत्सम्बद्ध आनुषंगिक तथा समनुषंगी विषयों के उद्ग्रहण के लिए विधि अधिनियमित करने हेतु सक्षम था, वह अवैध रूप से उद्गृहीत फीस के किसी प्राधिकरण द्वारा उसके प्रतिधारण के सम्बन्ध में उपबंध करने के लिए विधान बनाने की बाबत अक्षम था । इस प्रयोजनार्थ, **अब्दुल कादिर एण्ड कम्पनी** बनाम **विक्रय-कर अधिकारी**[3] वाले मामले में इस न्यायालय के विनिश्चय का विद्वान् काउन्सेल द्वारा अवलम्ब लिया गया था । हमें इस बारे में आशंका है कि यह विनिश्चय भी अपीलार्थियों को कोई सहायता प्रदान नहीं करता है ।

16. **ओरिएण्ट पेपर मिल्स लिमिटेड** बनाम **उड़ीसा राज्य**[4] वाले मामले में एक व्यवहारी का कर सम्बन्धी मूल्यांकन किया गया था और उसने कर का संदाय भी कर दिया था । तत्पश्चात् उसने ऐसे कर के प्रतिदाय के लिए आवेदन प्रस्तुत किया जिसके बारे में **मुम्बई राज्य** बनाम **यूनाइटेड मोटर्स (इण्डिया) लिमिटेड**[5] वाले मामले में इस न्यायालय द्वारा यह अभिनिर्धारित किया गया था कि वह उद्ग्रहणीय नहीं था । जब अपीलें इस न्यायालय में लम्बित थीं, तो उड़ीसा विधानमण्डल ने इस मामले में हस्तक्षेप किया और मूल अधिनियम में धारा 14-क अन्तःस्थापित करते हुए यह उपबंध किया कि प्रतिदाय सम्बन्धी दावा केवल ऐसे व्यक्ति द्वारा किया जा सकता है जिससे कि व्यवहारी ने वस्तुत: रकम की वसूली कर के रूप में की थी । इस उपबंध की शक्तिमत्ता पर इस न्यायालय द्वारा आक्षेप किया गया किन्तु इस आधार पर वह कायम रखा गया कि यह सूची 2 की प्रविष्टि 54 से उद्भूत आनुषंगिक शक्ति के अन्तर्गत आती है । मामले पर प्रतिदाय के प्रश्न के रूप में विचार किया गया था और यह अभिनिर्धारित किया गया था कि इस बारे में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता कि उद्गृहीत कर का प्रतिदाय सदैव एक ऐसा विषय है जो कर के उद्ग्रहण तथा संग्रहण से सम्बन्धित आनुषंगिक तथा

---

1 [1980] 2 उम० नि० प० 1170=ए० आई० आर० 1980 एस० सी० 1008.

2 [1980] 4 उम० नि० प० 218=ए० आई० आर० 1980 एस० सी० 1037.

3 ए० आई० आर० 1964 एस० सी० 922.

4 [1962] 1 एस० सी० आर० 549.

5 [1953] एस० सी० आर० 1069.

समनुषंगी शक्तियों के अन्तर्गत आता है । सांविधानिक न्यायपीठ ने इस प्रकार अभिनिर्धारित किया—

> "संविधान की अनुसूची 7 की सूची 2 की मद 54 द्वारा राज्य विधानमण्डल निर्विवाद्य रूप से कागज़ों और गत्तों सम्बन्धी विक्रय अथवा क्रय पर करों की बाबत विधान बनाने में सक्षम था । किसी कर के सम्बन्ध में विधान बनाने सम्बन्धी शक्ति ऐसी शक्ति को समाविष्ट करती है जिसके द्वारा कर अधिरोपित किया जा सके, उक्त कर को संगृहीत करने के लिए तंत्र विहित किया जा सके, उन प्रस्थापनाओं को पदाभिहित किया जा सके जिनके द्वारा दायित्व प्रवर्तित किया जा सके और प्राधिकार, बाध्यताएं और उन अधिकारियों की क्षतिपूर्ति विहित की जा सके । संविधान की सूची में विधान के विभिन्न शीर्ष विधायी सक्षमता की परिधि को सीमांकित करते हैं और उनके अन्तर्गत ऐसे सभी विषय आते हैं जो प्राथमिक शीर्षक से आनुषंगिक अथवा समनुषंगी हैं । इसलिए उड़ीसा राज्य का विधान-मण्डल अनुचित रूप से या विधिविरुद्ध रूप से संगृहीत कर के प्रतिदाय को मंजूर करने की गौण या आनुषंगिक विषय की बाबत शक्ति का प्रयोग करने के लिए सक्षम था और विधानमण्डल की इस निमित्त सक्षमता पर निर्धारितियों के काउन्सेल द्वारा जोर नहीं दिया गया है । यदि अनुचित रूप से संगृहीत विक्रय-कर के प्रतिदाय को मंजूर करने के लिए विधायन की सक्षमता को मान लिया जाए तो क्या यह घोषित करने की शक्ति को अपवर्जित करने का कोई कारण है कि प्रतिदाय का दावा केवल उसी व्यक्ति द्वारा किया जाएगा जिससे व्यवहारी ने वास्तव में विक्रय कर के रूप में या अन्यथा रकमें वसूल की हैं ? हमारे विचार से ऐसा कोई कारण नहीं है । प्रश्न विधायी सक्षमता से सम्बन्धित है और इसमें तन्निमित्त विधानमण्डल की शक्ति पर कोई अभिव्यक्त अथवा विवक्षित निर्बन्धन अधिरोपित नहीं किया गया है ।"

17. वर्तमान मामला **ओरिएण्ट पेपर मिल्स**[1] वाले मामले के समान है । धारा 23-क, जैसा कि हमने उल्लेख किया है, किसी व्यवहारी को उसके द्वारा संदत्त फीस के प्रतिदाय को प्राप्त करने की बाबत निर्योग्य बनाती है जिसका कि आपतन उसने पहले ही अग्रिम क्रेता को अन्तरित कर दिया है । जैसा कि हमने कहा था, धारा 23-क में मात्र यह उपबंध किया गया है कि ऐसे प्रतिदाय

---

[1] [1962] 1 एस० सी० आर० 549.

के जरिए अन्यायोचित रूप से समृद्धि को निवारित किया जाए जिसके प्रति कि दावा करने वाला व्यक्ति कोई नैतिक अथवा साम्यागत हक धारण नहीं करता है।

18. **अब्दुल कादिर एण्ड कम्पनी** बनाम **विक्रय-कर अधिकारी**[1] वाला मामला जिसका कि अपीलार्थियों की ओर से विद्वान् काउन्सेल द्वारा पर्याप्त अवलम्ब लिया गया था, सर्वथा भिन्न मामला था। उस मामले में व्यवहारी ने इस आधार पर अपने द्वारा किए गए विक्रयों के सम्बन्ध में क्रेताओं से विक्रय-कर संगृहीत किया था कि कर का आपतन विक्रेताओं पर पड़ता है और उसने क्रेता को यह आश्वासन दिया था कि अपीलार्थी को कर का संदाय करने के पश्चात् उन पर कोई अतिरिक्त दायित्व नहीं होगा। किन्तु कर की वसूली करने के पश्चात् अपीलार्थी ने सरकार को वसूल को गई रकम का संदाय नहीं किया बल्कि उसे निलम्बित खाते में रख छोड़ा। जब विक्रय-कर विभाग को इस बात का पता चला और उसने अपीलार्थी से यह मांग की कि वह वसूल की गई रकम का संदाय करे तो उसने ऐसा करने से इनकार कर दिया। सरकार की ओर से हैदराबाद जनरल सेल्स टैक्स ऐक्ट की धारा 11(2) का अवलम्ब लिया गया था जिसमें यह अधिकथित था कि अधिनियम के उपबंधों के अनुसार के सिवाय कर के रूप में संगृहीत कोई रकम सरकार को संदत्त की जाएगी और ऐसे संदाय में व्यतिक्रम किए जाने की दशा में उक्त रकम ऐसे व्यक्ति से इस प्रकार प्रत्युद्धृत की जाएगी मानो कि यह भू-राजस्व की बकाया हो। न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि यह स्पष्ट था कि "इस अधिनियम के उपबंधों के अनुसार के सिवाय" शब्दों के अन्तर्गत ऐसी रकमें समाविष्ट थीं जो कर के रूप में संगृहीत की जा सकती थीं हालांकि वे अधिनियम के अधीन कर के रूप में ग्रहणीय नहीं थीं। तत्पश्चात् न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि राज्य विधानमण्डल धारा 11(2) जैसे उपबंध को अधिनियमित करने में अक्षम है क्योंकि यह सरकार को इस योग्य बनाती है कि वह किसी अवैध उद्ग्रहण का प्रत्युद्धरण कर सके और यह कहना सम्भव नहीं था कि वह कोई आनुषंगिक अथवा समनुषंगी शक्ति है जिसका प्रयोग विधानमण्डल के मुख्य प्रविषय की सहायतार्थ किया जा सकता था जो कि माल के विक्रय अथवा क्रय पर कर था। **ओरिएण्ट पेपर मिल्स**[2] वाले मामले में जो विनिश्चय दिया गया था, वह इस आधार पर प्रभेदनीय था कि उसमें प्रतिदाय सम्बन्धी मामले की चर्चा की गई थी न कि संग्रहण की, जो कि वस्तुतः विधि के अधीन कर के रूप में शोध्य न हो। अपने सुनिश्चित शब्दों में उन्होंने यह कहा था—

---

1 ए० आई० आर० 1964 एस० सी० 922.

2 [1962 1 एस० सी० आर० 549.

"(ओरिएण्ट पेपर मिल्स वाले मामले में) विषय के अन्तर्गत प्रतिदाय सम्बन्धी एक प्रश्न की चर्चा की गई थी और इस बारे में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता कि संगृहीत कर का प्रतिदाय सदैव ऐसा विषय होता है जो ऐसी आनुषंगिक तथा समनुषंगी शक्तियों के अन्तर्गत आता है जो कर के उद्ग्रहण तथा संग्रहण से सम्बन्धित रहती हैं। वर्तमान मामले में हम प्रतिदाय के किसी विषय पर विचार नहीं कर रहे हैं। धारा 11(2) में यह उपबंध किया गया है कि करके रूप में संगृहीत कोई रकम, भले ही वह वस्तुत: सूची 2 की प्रविष्टि 54 के अधीन अधिनियमित विधि के अधीन कर के रूप में शोध्य न हो, निश्चित रूप से सरकार को संदत्त की जानी होगी। हमारी राय में, यह स्थिति ओरिएण्ट पेपर मिल्स वाले मामले में विद्यमान स्थिति से सर्वथा भिन्न है।"

19. **ओरिएण्ट पेपर मिल्स**[1] वाले मामले में दिया गया विनिश्चय **आर० एस० जोशी** बनाम **अजीत मिल्स**[2] वाले मामले में इस न्यायालय के सात न्यायाधिपतियों की न्यायपीठ द्वारा अभिव्यक्त रूप से पुष्ट किया गया था और **अशोक मार्केटिंग कम्पनी**[3] वाले मामले में तत्प्रतिकूल सम्प्रेक्षणों से स्पष्टत: विम्मति प्रकट की गई थी। इसलिए हमारा समाधान हो गया है कि पंजाब एग्रीकल्चरल प्रोड्यूस मार्केट्स ऐक्ट की धारा 23-क पंजाब विधान-मण्डल की सक्षमता के भीतर थी और यह कि वह भी किसी भी रीति में अन्यथा अविधिमान्य नहीं थी। अत: अपीलें खर्चे सहित खारिज की जाती हैं।

अपीलें खारिज की गईं।

मू०

---

1 [1962] 1 एस० सी० आर० 549.

2 [1978] 3 उम० नि० प० 1063=ए० आई० आर० 1977 एस० सी० 2279.

3 ए० आई० आर० 1971 एस० सी० 946.

हरशरण वर्मा

बनाम

चरण सिंह और अन्य

(19 नवम्बर, 1984)

(मुख्य न्यायाधिपति वाई० वी० चन्द्रचूड़ और न्यायाधिपति
ई० एस० वेंकटरामय्या)

संविधान, 1950—अनुच्छेद 74 और 75 (1) प्रधानमंत्री की नियुक्ति—भारत के राष्ट्रपति द्वारा यथानिर्दिष्ट प्रधानमंत्री के पद का भार सभालने के पश्चात् तीन सप्ताह के भीतर लोकसभा के आदेश की ईप्सा करने में प्रधानमंत्री का असफल रहना और त्यागपत्र पेश करने के पश्चात् नए सिरे से पद संबधी शपथ ग्रहण किए बिना पद पर बने रहना असांविधानिक नहीं है।

अपीलार्थी ने मुख्य प्रत्यर्थी-प्रधानमंत्री के इस बात के बावजूद पद पर बने रहने पर आक्षेप किया कि जबकि राष्ट्रपति द्वारा यह निदेश दिया गया था कि प्रधानमंत्री के पद का भार ग्रहण करने के पश्चात् तीन सप्ताह के भीतर वह लोकसभा के आदेश की ईप्सा करे, इस आदेश का पालन करने मे असफल रहते हुए और सदन के सम्मुख जाने की बजाय प्रधानमंत्री ने अपनी सरकार का त्यागपत्र दे दिया और निदेशानुसार वह प्रभारी प्रधानमत्री के रूप में उस पद पर बना रहा हालांकि उन्होंने पद सबंधी नए सिरे से शपथ ग्रहण नहीं की थी । यह आक्षेप अपीलार्थी द्वारा इलाहाबाद उच्च न्यायालय के समक्ष उसे असांविधानिक बताते हुए किया गया था, किन्तु उच्च न्यायालय ने उसके रिट पिटीशन को खारिज कर दिया लेकिन योग्यता प्रमाणपत्र देकर उच्चतम न्यायालय के समक्ष अपील करने का अवसर प्रदान किया । उच्चतम न्यायालय के समक्ष की गई अपील को खारिज करते हुए,

अभिनिर्धारित—यह इतिहास का एक सुविदित तथ्य है कि प्रत्यर्थी-प्रधानमंत्री की सरकार अत्यन्त संक्षिप्त अवधि के लिए पदासीन रही । जैसे ही

उसने पद ग्रहण किया, उसके पश्चात्, वस्तुतः तुरंत पश्चात्, वह समाप्त हो गई। अपीलार्थी द्वारा जिन विवाद्यकों को उठाया गया है वे अब सजीव नहीं रहे और उच्चतम न्यायालय की यह प्रणाली नहीं रही है कि वह मात्र शास्त्रीय महत्व के प्रश्नों का विनिश्चय करे। उच्च न्यायालय का यह दृष्टिकोण सही है कि प्रधानमंत्री के रूप में प्रत्यर्थी की नियुक्ति के बारे में यह नहीं कहा जा सकता था कि वह लोकसभा से आदेश की उनके द्वारा ईप्सा किए जाने पर सशर्त है। संविधान में ऐसी कोई संकरित बात नहीं है कि प्रधानमंत्री विफलीकरण की शर्त के अध्यधीन होगा। हो सकता है कि राष्ट्रपति द्वारा अधिरोपित शर्तें राजनीतिक नैतिकता अथवा प्रसंविदागत औचित्य संबंधी विचार्य विषयों की सृष्टि करें किन्तु इस सिलसिले में सांविधानिक विधिमान्यता की सृष्टि नहीं की जा सकती। उच्च न्यायालय का यह कहना भी सही है कि प्रत्यर्थी और उसके मंत्रियों के लिए यह आवश्यक नहीं था कि वे प्रभारी सरकार के रूप में पद पर बने रहने हेतु राष्ट्रपति द्वारा आहूत किए जाने पर नए सिरे से शपथ ग्रहण करते। इस प्रकार प्रत्यर्थी और उनके मंत्रियों का पद पर बने रहना असांविधानिक नहीं था। (पैरा 2)

सिविल अपीली अधिकारिता : 1979 की सिविल अपील संख्या 3491.

1979 के रिट पिटीशन सं० 2402 में इलाहाबाद उच्च न्यायालय के तारीख 10 दिसम्बर, 1979 वाले निर्णय और आदेश के विरुद्ध प्रमाणपत्र लेकर की गई अपील।

अपीलार्थी की ओर से स्वयं अपीलार्थी

प्रत्यर्थियों की ओर से सर्वश्री गिरीश चन्द्र और आर० एन० पोद्दार

न्यायालय का निर्णय मुख्य न्यायाधिपति वाई० वी० चन्द्रचूड़ ने दिया।

मुख्य न्यायाधिपति चन्द्रचूड़—

अपीलार्थी ने प्रधानमंत्री के रूप में श्री चरण सिंह के तथा विधि, न्याय और कम्पनी कार्य मंत्री के रूप में श्री एस०एन०कक्कड़ के बने रहने पर आक्षेप करते हुए इलाहाबाद उच्च न्यायालय के समक्ष रिट पिटीशन फाइल किया। संक्षेप में अपीलार्थी की दलील यह थी कि श्री चरण सिंह, जैसा कि भारत के राष्ट्रपति द्वारा निदेश दिया गया था, प्रधानमंत्री के पद का भार ग्रहण करने के पश्चात् तीन सप्ताह के भीतर लोकसभा के आदेश की ईप्सा करने में असफल

रहे थे, कि " सदन के सम्मुख" जाने की बजाय उन्होंने 20 अगस्त, 1979 को अपनी सरकार का त्यागपत्र पेश कर दिया और यह कि प्रभारी प्रधानमंत्री के रूप में तत्पश्चात् उनका पद बना रहा, जबकि उन्होंने पद संबंधी नए सिरे से शपथ ग्रहण नहीं की थी, असंवैधानिक है। इस रिट पिटीशन को तारीख 10 दिसम्बर, 1979 वाले निर्णय द्वारा उच्च न्यायालय ने खारिज कर दिया, किन्तु उसने अपीलार्थी को योग्यता प्रमाणपत्र अनुदत्त किया है कि वह प्रस्तुत अपील फाइल कर सकता है।

2. यह इतिहास का एक सुविदित तथ्य है कि श्री चरण सिंह की सरकार अत्यन्त संक्षिप्त अवधि के लिए पदासीन रही। जैसे ही उसने पद ग्रहण किया, उसके पश्चात्, वस्तुतः तुरन्त पश्चात्, वह समाप्त हो गई। अपीलार्थी द्वारा जिन विवाद्यकों को उठाया गया है वे अब सजीव नहीं रहे और इस न्यायालय की यह प्रणाली नहीं रही है कि वह मात्र शास्त्रीय महत्व के प्रश्नों का विनिश्चय करे। तथापि हम तुरन्त ही यह जोड़ देना चाहेंगे कि उच्च न्यायालय का यह दृष्टिकोण सही है कि प्रधानमंत्री के रूप में श्री चरण सिंह की नियुक्ति के बारे में यह नहीं कहा जा सकता था कि वह लोकसभा से आदेश की उनके द्वारा ईप्सा किए जाने पर सशर्त है। हमारे संविधान में ऐसी कोई संकरित बात नहीं है कि "प्रधानमंत्री विफलीकरण की शर्त के अध्यधीन होगा"। हो सकता है कि राष्ट्रपति द्वारा अधिरोपि शर्तें राजनीतिक नैतिकता अथवा प्रसंविदागत औचित्य संबंधी विचार्य-विषयों की सृष्टि करें, किन्तु इस सिलसिले में सांविधानिक विधिमान्यता की सृष्टि नहीं की जा सकती। उच्च न्यायालय का यह कहना भी सही है कि श्री चरण सिंह और उनके मंत्रियों के लिए यह आवश्यक नहीं था कि वे प्रभारी सरकार के रूप में पद पर बने रहने हेतु राष्ट्रपति द्वारा आहूत किए जाने पर नए सिरे से शपथ ग्रहण करते। इस प्रकार श्री चरण सिंह और उनके मंत्रियों का पद पर बने रहना असांविधानिक नहीं था।

3. इन कारणों से अपील खारिज की जाती है।

अपील खारिज की गई।

भू०

सत्य नारायण सिंह

बनाम

इलाहाबाद उच्च न्यायालय और अन्य

नरेश चन्द्र दुबे

बनाम

इलाहाबाद उच्च न्यायालय और अन्य

तथा

श्री रवीन्द्र नाथ वर्मा

बनाम

इलाहाबाद उच्च न्यायालय और एक अन्य

(27 नवम्बर, 1984)

(न्यायाधिपति ओ० चिन्नप्पा रेड्डी, ए० पी० सेन और ई० एस० वेंकटरामय्या)

संविधान, 1950—अनुच्छेद 233 (1) और (2)—जिला न्यायाधीशों की नियुक्ति—पिटीशनरों का उत्तर प्रदेश अधीनस्थ न्यायिक सेवा का सदस्य होना—अधीनस्थ सेवा में आने से पूर्व पिटीशनरों को विधिव्यवसाय का सात वर्ष का अनुभव होना—पिटीशनरों द्वारा उत्तर प्रदेश उच्चतर न्यायिक सेवा में जिला न्यायाधीश के पद पर सीधी भर्ती द्वारा नियुक्ति के लिए दावा किया जाना—उच्चतर न्यायिक सेवा के सदस्यों की स्थिति में सात वर्ष की अर्हता का सिद्धांत लागू नहीं होता बल्कि उनके संबंध में उच्च न्यायालय से परामर्श करना आवश्यक है, अतः ऐसे पिटीशनर-अभ्यर्थियों की सात वर्ष के अनुभव के आधार पर जिला न्यायाधीश के पद पर सीधी भर्ती द्वारा नियुक्ति तभी की जा सकती है जबकि इसके लिए सम्बद्ध उच्च न्यायालय ने सिफारिश की हो।

ये रिट पिटीशन पिटीशनरों द्वारा संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन इलाहाबाद उच्च न्यायालय के विरुद्ध फाइल किए गए हैं। जब पिटीशनर 1980 में उत्तर प्रदेश न्यायिक सेवा के सदस्य थे, तब इन सभी ने इलाहाबाद उच्च न्यायालय के विज्ञापन के उत्तर में उत्तर प्रदेश उच्चतर न्यायिक सेवा (उत्तर प्रदेश हायर ज्युडिशियल सर्विस) में सीधी भर्ती द्वारा नियुक्ति के लिए आवेदन किए। उनके द्वारा दावा किया गया कि इनमें से प्रत्येक ने उत्तर प्रदेश न्यायिक सेवा में नियुक्ति के बहुत पहले न्यायालय में विधि-व्यवसाय के सात वर्ष पूरे कर लिए थे और इसलिए उच्चतर न्यायिक सेवा में सीधी भर्ती के द्वारा नियुक्ति के लिए पात्र थे। चूंकि उच्चतर न्यायिक सेवा में सीधी भर्ती द्वारा नियुक्ति के बारे में उत्तर प्रदेश न्यायिक सेवा के सदस्यों की पात्रता की बाबत प्रश्न था, इसलिए इनमें से कुछ पिटीशनरों द्वारा इलाहाबाद उच्च न्यायालय में रिट पिटीशन फाइल किए गए किन्तु उक्त पिटीशन यह अभिनिर्धारित करते हुए खारिज कर दिए गए कि उत्तर प्रदेश न्यायिक सेवा के सदस्य उत्तर प्रदेश उच्चतर न्यायिक सेवा में सीधी भर्ती द्वारा नियुक्ति के लिए पात्र नहीं हैं। इसके पश्चात्, अनुच्छेद 136 के अधीन विशेष इजाजत लेकर अपील फाइल की गई। उच्चतम न्यायालय द्वारा पारित अन्तरिम आदेश के कारण, उत्तर प्रदेश न्यायिक सेवा के ऐसे इच्छुक सदस्यों को चयन-परीक्षा में बैठने की अनुमति दी गई थी। किन्तु चयन का परिणाम उच्चतम न्यायालय में की गई सिविल अपील और रिट पिटीशन के अधीन बनाया गया था। सिविल अपील और कतिपय रिट पिटीशन खारिज कर दिए गए। शेष रिट पिटीशन भी उच्चतम न्यायालय द्वारा खारिज करते हुए,

अभिनिर्धारित—संविधान के अनुच्छेद 233 का प्रथम खण्ड 'किसी राज्य में जिला न्यायाधीश नियुक्त होने वाले व्यक्तियों की नियुक्ति तथा जिला न्यायाधीश की तैनाती और प्रोन्नति' के बारे में है जबकि द्वितीय खण्ड का लागू होना केवल उन व्यक्तियों की बाबत सीमित है जो 'संघ की या राज्य की सेवा में पहले से नहीं हैं'। प्रथम खण्ड में उच्च न्यायालय से परामर्श किया जाना उस राज्य के राज्यपाल के लिए आवश्यक बनाया गया है, जबकि द्वितीय खण्ड में यह अपेक्षित है कि जिला न्यायाधीश के रूप में नियुक्ति के लिए किसी व्यक्ति की सिफारिश उच्च न्यायालय द्वारा अवश्य की गई हो। द्वितीय खण्ड के अन्तर्गत आने वाले व्यक्तियों के बारे में ही ऐसी बात है जिसमें यह अपेक्षित है कि ऐसा व्यक्ति जिला न्यायाधीश के रूप में नियुक्ति के लिए तभी पात्र होगा जब वह कम से कम सात वर्ष तक अधिवक्ता या प्लीडर रहा हो। ऐसे अभ्यर्थियों की दशा में, जो न्यायिक सेवा के सदस्य नहीं हैं, कम से सात वर्ष तक अधिवक्ता या

प्लीडर होना आवश्यक है तथा इसके पूर्व कि उनकी नियुक्ति जिला न्यायाधीश के रूप में की जाए उनकी नियुक्ति के लिए उच्च न्यायालय ने अवश्य सिफारिश की हो, जबकि उन अभ्यर्थियों की दशा में जो न्यायिक सेवा के सदस्य हैं, सात वर्ष वाला नियम लागू नहीं होता किन्तु उच्च न्यायालय से परामर्श किया जाना आवश्यक है। भर्ती के दो स्रोतों के बीच स्पष्ट प्रभेद किया गया है और विभाजन बनाए रखा गया है। दोनों स्रोत तब तक पृथक् रहते हैं जब तक कि नियुक्तियों द्वारा वे एक न हो जाएं। स्पष्टतः, एक ही जहाज एक ही साथ दो प्रवाहों (धाराओं) को पार नहीं कर सकता। (पैरा 2)

प्रभेदित निर्णय

पैरा

[1967] [1967] 1 एस० सी० आर० 77 :
चन्द्र मोहन बनाम उत्तर प्रदेश राज्य 2

[1961] [1961] 2 एस० सी० आर० 874 :
रामेश्वर दयाल बनाम पंजाब राज्य 2

आरम्भिक अधिकारिता : 1984 का रिट पिटीशन सं० 16087, 1981 का 728 और 1984 का 15926

(संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन रिट पिटीशन)

पिटीशनरों की ओर से — श्री एल० एन० सिन्हा

(1984 के रिट पिटीशन सं० 15926 और 16087 में) — श्रीमती श्यामला पप्पू, सर्वश्री अरविंद कुमार, आर० डी० उपाध्याय और सी० के० रत्नपारखी

(1981 के रिट पिटीशन 728 में) — पिटीशनरों की ओर से सर्वश्री के० के० वेणु गोपाल और अरविंद कुमार तथा श्रीमती लक्ष्मी अरविंद

प्रत्यर्थियों की ओर से — श्री गोपाल सुब्रामणियम और श्रीमती शोभा दीक्षित

न्यायालय का निर्णय न्यायाधिपति ओ० चिन्नप्पा रेड्डी ने दिया।

न्या० चिन्नप्पा रेड्डी—

रिट पिटीशनों में अनेक पिटीशनर जो हमारे समक्ष हैं तथा 1982 की सिविल अपील सं० 548 के अपीलार्थी तथा 1980 के रिट पिटीशन सं० 6346-6351 जिन्हें हमने 11 अक्तूबर 1984 को खारिज कर दिया था, के पिटीशनर 1980 में मध्य प्रदेश न्यायिक सेवा के सदस्य थे तब इन सभी ने इलाहाबाद उच्च न्यायालय द्वारा प्रकाशित किये गये विज्ञापन के उत्तर में उत्तर प्रदेश उच्चतर न्यायिक सेवा (उत्तर प्रदेश हायर जुडीशियल सर्विस) में सीधी भर्ती द्वारा नियुक्ति के लिए आवेदन किया। उन्होंने दावा किया कि इनमें से प्रत्येक ने उत्तर प्रदेश न्यायिक सेवा में अपनी नियुक्ति के बहुत पहले ही न्यायालय में विधि-व्यवसाय के 7 वर्ष पूरे कर लिए थे और इसलिए उच्चतर न्यायिक सेवा में सीधी भर्ती द्वारा नियुक्ति के लिए पात्र थे। चूंकि उच्चतर न्यायिक सेवा के लिए सीधी भर्ती द्वारा नियुक्ति के लिए उत्तर प्रदेश न्यायिक सेवा के सदस्यों की पात्रता के बारे में एक प्रश्न था इसलिए इनमें से कतिपय ने इलाहाबाद उच्च न्यायालय में रिट पिटीशन फाइल किए, उक्त पिटीशन खारिज कर दिए गए और यह अभिनिर्धारित किया गया कि उत्तर प्रदेश न्यायिक सेवा के सदस्य उत्तर प्रदेश उच्चतर न्यायिक सेवा में सीधी भर्ती द्वारा नियुक्ति के लिए पात्र नहीं हैं। 1982 की सिविल अपील सं० 548 संविधान के अनुच्छेद 136 के अधीन विशेष इजाजत प्राप्त करने के पश्चात् इस न्यायालय में फाइल की गई थी। इस न्यायालय द्वारा पारित अंतरिम आदेश के कारण उत्तर प्रदेश न्यायिक सेवा के वे सदस्य जो चयन तथा परीक्षा में बैठने के लिए इच्छुक थे इस प्रकार बैठने के लिए अनुज्ञात किए गए थे किन्तु चयन का परिणाम इस न्यायालय में सिविल अपील और रिट पिटीशनों के परिणाम के अध्यधीन बनाया गया था। सिविल अपील तथा कतिपय रिट पिटीशनों को 11 अक्तूबर, 1984 हमारे द्वारा खारिज कर दिया गया। शेष रिट पिटीशनर अब हमारे समक्ष हैं। पिटीशनरों की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान काउन्सेल श्री लाल नारायण सिन्हा और के०के० वेणुगोपाल ने वह विवाद्यक पुनः प्रारम्भ करने के लिए हमें मनाने का प्रयत्न किया जो 11 अक्तूबर 1984 के हमारे विनिश्चय द्वारा अन्तिम रूप से निर्णीत किया गया था। उनकी सुनवाई करने के पश्चात हमारा यह समाधान नहीं हुआ है कि विवाद्यक पुनः प्रारंभ करने के लिए कोई कारण है। जब हमने पूर्व अवसर पर सिविल अपील और रिट पिटीशनों को खारिज कर दिया था तब हम स्वयं अपने कारण दिए बिना इलाहाबाद उच्च न्यायालय के निर्णय की पुष्टि

मात्र करके संतुष्ट थे । पेश की गई बहस को देखते हुए, हम यह समझते हैं कि अपने कारणों को, संक्षेप में, इंगित करना हमारे लिए बेहतर हो सकता है ।

2. श्री लाल नारायण सिन्हा तथा के० के० वेनुगोपाल ने निवेदन किया कि किसी अधीनस्थ न्यायिक सेवा के सदस्यों के विरुद्ध सीधी भर्ती द्वारा जिला न्यायाधीशों के रूप में नियुक्ति करने की ईप्सा के विरुद्ध कोई संवैधानिक निषेध नहीं है बशर्ते कि वे न्यायालय में (विधि) व्यवसाय के 7 वर्ष पूरे कर चुके हों । विद्वान काउंसेल ने यह दलील दी कि ऐसे अधीनस्थ न्यायपालिका के ऐसे सदस्यों को जो अधीनस्थ न्यायिक सेवा में विधि व्यवसाय के 7 वर्ष पूरा कर चुके थे और जो अधीनस्थ न्यायिक सेवा में पद ग्रहण करके न्यायिक अधिकारियों के रूप में अनुभव प्राप्त कर चुके थे उनके द्वारा प्राप्त किए गए अतिरिक्त अनुभव के कारण जिला न्यायाधीशों के रूप में नियुक्ति के लिए अधिक बेहतर समझे जाने चाहिए न कि इस कारण उन्हें दण्डित किया जाए । विद्वान काउन्सेल ने यह निवेदन किया कि संविधान के अनुच्छेद 233 का ऐसा अर्थान्वयन जो अधीनस्थ न्यायिक सेवा के किसी सदस्य को न्यायिक अधिकारी के रूप में उसके द्वारा प्राप्त किये गये अतिरिक्त अनुभव के कारण उच्चतर न्यायिक सेवा में नियुक्ति के लिए अपात्र बनाएगा अनुचित और विरोधाभासी दोनों होगा । यह भी सुझाव दिया गया था कि यह अत्यन्त असंगत होगा यदि उत्तर प्रदेश न्यायिक सेवा के ऐसे सदस्य जो अनुच्छेद 222 के वर्तमान अर्थान्वयन पर सीधी भर्ती द्वारा जिला न्यायाधीश के रूप में नियुक्ति के लिए अपात्र हैं, यद्यपि अनुच्छेद 217 (2) (कक) के कारण उच्च न्यायालय के न्यायाधीश के रूप में नियुक्ति किये जाने के लिए पात्र हैं । दूसरी ओर प्रत्यर्थी की ओर से विद्वान काउन्सेल श्री गोपाल सब्रामणियम् ने इस बात पर बल दिया कि भर्ती के दो स्रोतों अर्थात् (1) वे जो राज्य की या संघ की सेवा में थे और (2) वे जो ऐसी सेवा में नहीं थे के बीच संविधान में स्पष्ट सीमांकन था । उन्होंने यह भी दलील दी कि अनुच्छेद 233 का द्वितीय खंड मात्र दूसरे स्रोत को ही लागू होता है और उस स्रोत से आने वाले अभ्यर्थियों के बारे में अधिवक्ता या प्लीडर के रूप में 7 वर्ष की अतिरिक्त अर्हता पात्रता के लिए आबद्धकर बनाई गई थी । श्री गोपाल सुब्रामणियम् के अनुसार अनुच्छेद 233 के दोनों खंडों के पढ़ने मात्र से यह दर्शित होता है कि अनुच्छेद 233 का द्वितीय खंड केवल उन व्यक्तियों को ही लागू होता है जो पहले से सेवा में नहीं थे जब कि प्रथम खंड उन व्यक्तियों को लागू होता है जो पहले से सेवा में थे । उन्होंने इस बात का जोरदार समर्थन किया कि किसी अन्य अर्थान्वयन का बेतुका और असंगत परिणाम निकलेगा, अर्थात यह अधीनस्थ न्यायिक सेवा के कनिष्ठ

सदस्य द्वारा प्रशंसनीय सेवा के लम्बे रिकार्ड वाले न्यायिक सेवा के ज्येष्ठ सदस्यों को (अतिष्ठित करने) के समान होगा। दोनों पक्षकारों की ओर से रारमेश्वर दयाल ब० पंजाब राज्य[1] और चंदर मोहन बनाम उत्तर प्रदेश राज्य[2] वाले मामलों में इस न्यायालय के विनिश्चय का अवलम्ब लिया गया—
अनुच्छेद 233 इस प्रकार है :—

> "233. (1) किसी राज्य में जिला न्यायाधीश नियुक्त होने वाले व्यक्तियों की नियुक्ति तथा जिला न्यायाधीश की तैनाती और प्रोन्नति उस राज्य का राज्यपाल ऐसे राज्य के संबंध में अधिकारिता का प्रयोग करने वाले उच्च न्यायालय से परामर्श करके करेगा।
>
> (2) वह व्यक्ति जो संघ की या राज्य की सेवा में पहले से ही नहीं है, जिला न्यायाधीश नियुक्त होने के लिए केवल तभी पात्र होगा जब वह कम से कम सात वर्ष तक अधिवक्ता या प्लीडर रहा हो और उसकी नियुक्ति के लिए उच्च न्यायालय ने सिफारिश की हो।"

अब अनुच्छेद 233 के दोनों खंडों को पढ़ने पर सीधे दो मद्दे बनते हैं :

प्रथम खण्ड "किसी राज्य में जिला न्यायाधीश नियुक्त होने वाले व्यक्तियों की नियुक्ति तथा जिला न्यायाधीश की तैनाती और प्रोन्नति" के बारे में है जबकि द्वितीय खण्ड का लागू होना केवल उन व्यक्तियों की बावत सीमित है जो "संघ की या राज्य की सेवा में पहले से नहीं हैं"। हम यहां यह उल्लेख कर सकते हैं कि "संघ की या राज्य की सेवा" का इस न्यायालय द्वारा न्यायिक सेवा के रूप में निर्वचन किया गया है। पुनः प्रथम खण्ड में उच्च न्यायालय से परामर्श किया जाना उस राज्य के राज्यपाल के लिए आवश्यक बनाया गया है, जबकि द्वितीय खण्ड में यह अपेक्षित है कि जिला न्यायाधीश के रूप में नियुक्ति के लिए किसी व्यक्ति की सिफारिश उच्च न्यायालय द्वारा की जानी आवश्यक है। द्वितीय खण्ड के अन्तर्गत आने वाले व्यक्तियों के बारे में ही ऐसा है जिसमें यह अपेक्षित है कि ऐसा व्यक्ति जिला न्यायाधीश के रूप में नियुक्ति के लिए पात्र होगा, यदि वह कम से कम सात वर्ष तक अधिवक्ता या प्लीडर रहा हो। दूसरे शब्दों में, ऐसे अभ्यर्थियों की दशा में, जो न्यायिक सेवा के सदस्य नहीं हैं, कम से कम सात वर्ष तक अधिवक्ता या प्लीडर होना आवश्यक है तथा इसके पूर्व कि उनकी नियुक्ति जिला

---

1 (1961) 2 एस० सी० आर० 874.
2 (1967) 1 एस० सी० आर० 77.

न्यायाधीश के रूप में की जाए, उनकी नियुक्ति के लिए उच्च न्यायालय ने अवश्य सिफारिश की हो, जबकि उन अभ्यर्थियों की दशा में जो न्यायिक सेवा के सदस्य हैं, सात वर्ष वाला नियम लागू नहीं होता किन्तु उच्च न्यायालय से परामर्श किया जाना आवश्यक है। भर्ती के दो स्रोतों के बीच स्पष्ट प्रभेद किया गया है और विभाजन बनाए रखा गया है। दोनों स्रोत तब तक पृथक् रहते हैं जब तक कि नियुक्तियों द्वारा वे एक न हो जाएं। स्पष्टतः एक ही जहाज एक ही साथ दो धाराओं को पार नहीं कर सकता। **रामेश्वर दयाल** बनाम **पंजाब राज्य**[1] वाले मामले में न्यायाधिपति एस० के० दास द्वारा यह द्विविभाजन स्पष्ट किया गया है, जिसमें उन्होंने निम्नलिखित मत व्यक्त किया है—

> "......अनुच्छेद 233 जिला न्यायाधीशों की नियुक्ति के संबंध में स्वयंपूरित उपबंध है। ऐसे व्यक्ति की बाबत जो संघ की या राज्य की सेवा में पहले से ही हैं, कोई विशेष अर्हता अधिकथित नहीं की गई है और खण्ड (1) के अधीन राज्यपाल ऐसे व्यक्तियों की नियुक्ति संबंधित उच्च न्यायालय के परामर्श से ज़िला न्यायाधीश के रूप में कर सकता है। ऐसे व्यक्ति के बारे में, जो पहले से ही सेवा में नहीं है, खण्ड (2) में अर्हता अधिकथित की गई है और इसमें मात्र यह अपेक्षित है कि उसे सात वर्ष के अनुभव वाला अधिवक्ता या प्लीडर होना चाहिए।"

पुनः हरबंस सिंह और साहनी वाले मामलों पर विचार करते हुए यह मत व्यक्त किया गया था : "हम यह समझते हैं कि यदि हम इस आधार पर कार्यवाही करने के लिए अग्रसर होते हैं कि उन दोनों व्यक्तियों की भर्ती अधिवक्ताओं में से की गई थी और उनकी नियुक्ति खण्ड (2) की अपेक्षाओं द्वारा परखी जानी है, तो हमें यह अवश्य अभिनिर्धारित करना चाहिए कि वे उन अपेक्षाओं को पूरा करते हैं।" स्पष्ट है कि न्यायालय यह मत व्यक्त कर रहा था कि यह अधिवक्ताओं में से भर्ती की दशा में था जो कि न्यायिक सेवा से इस अर्थ में भिन्न है कि खण्ड (2) की अपेक्षाओं को पूरा करना आवश्यक था। हम यह भी मत व्यक्त कर सकते हैं कि इसके पूर्व न्यायालय ने यह भी दृष्टिकोण अपनाया कि "...... हम यह नहीं समझते कि अनुच्छेद 233 के खण्ड (2) का निर्वचन अनुच्छेद 124 और 217 में जोड़े गए स्पष्टीकरण को देखते हुए किया जा सकता है।"

3. ऊपर निर्दिष्ट **चन्द्र मोहन** बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य**[2] वाले मामले

[1] (1961) 1 एस० सी० आर० 874.

[2] (1967) 1 एस० सी० आर० 77.

में मु० न्या० सुब्बाराव ने अनुच्छेद 233, 234, 235, 236, और 237 के प्रति निर्देश करने के पश्चात निम्नलिखित मत व्यक्त किया था—

"उक्त उपबन्धों का सार निम्नलिखित रूप में वर्णित किया जा सकता है : किसी राज्य में जिला न्यायाधीशों के रूप में नियुक्त होने वाले व्यक्तियों की नियुक्ति, उसकी तैनाती और प्रोन्नति राज्य के राज्यपाल द्वारा की जाएगी । भर्ती के दो स्रोत हैं अर्थात (i) संघ की या राज्य की सेवा, और (ii) बार के सदस्य (अधिवक्तागण) । प्रथम स्रोत से उन न्यायाधीशों की नियुक्ति उच्च न्यायालय से परामर्श करने के पश्चात की जाती है और दूसरे स्रोत वाले व्यक्तियों की नियुक्ति उच्च न्यायालय की सिफारिश पर की जाती है । किन्तु जिला न्यायाधीशों से भिन्न न्यायिक सेवा में व्यक्तियों की नियुक्ति की दशा में ये नियुक्तियां उच्च न्यायालय तथा लोक सेवा आयोग से परामर्श करने के पश्चात उसके द्वारा विरचित नियमों के अनुसरण में राज्य के राज्यपाल द्वारा की जाएंगी । किन्तु उच्च न्यायालय का सभी जिला न्यायालयों और उसके अधीनस्थ न्यायालयों पर, कतिपय विहित सीमाओं के अधीन रहते हुए, नियंत्रण होगा ।"

इसके पश्चात मु० न्या० सुब्बा राव ने इस बात पर विचार किया कि क्या सरकार न्यायिक सेवा से भिन्न सेवाओं में से व्यक्तियों की जिला न्यायाधीशों के रूप में नियुक्ति कर सकती है । यह संकेत करने के पश्चात, कि अनुच्छेद 233 (1) जिला न्यायाधीशों की नियुक्ति के विषय में राज्यपाल की साधारण शक्ति की घोषणा के बारे में था और उन्होंने नियुक्त किए जाने वाले अभ्यर्थियों की अर्हता अधिकथित नहीं की या ऐसे स्रोतों को इंगित नहीं किया जिन स्रोतों से भर्ती की जानी है उन्होंने निम्नलिखित मत व्यक्त किया—

"किन्तु भर्ती के स्रोत इसके खण्ड (2) में दिये गये हैं । अनुच्छेद 233 के खण्ड (2) के अधीन दो स्रोत दिये गये हैं, अर्थात (i) संघ की या राज्य की सेवा में के व्यक्ति और (ii) अधिवक्ता या प्लीडर ।"

4. यह प्रश्न करते हुए कि क्या "संघ की या राज्य की सेवा" से संघ की या राज्य की कोई सेवा अभिप्रेत है या इसका अर्थ संघ की या राज्य की न्यायिक सेवा है, विद्वान मु० न्या० ने जोरदार शब्दों में यह अभिनिर्धारित किया कि अनुच्छेद 233 (2) में "सेवा" पद का अर्थ केवल न्यायिक सेवा हो

सकता है। किन्तु इस कथन द्वारा उनका आशय यह नहीं था कि ऐसे व्यक्ति जो उच्च न्यायालय की सिफारिश पर पहले से ही सेवा में हैं, संविधान के अनुच्छेद 14 और 16 के प्रतिकूल अधीनस्थ न्यायिक सेवा में अन्य सभी ज्येष्ठ व्यक्तियों के दावे की अनदेखी करते हुए जिला न्यायाधीशों के रूप में नियुक्त किये जा सकते हैं।

5. इस प्रकार हम यह देखते हैं कि ये दोनों विनिश्चय पिटीशनरों द्वारा दी गई दलील का समर्थन नहीं करते बल्कि निश्चित रूप से एक सीमा तक वे प्रत्यर्थियों के पक्षकथन का समर्थन करते हैं। इसलिये हम अपने द्वारा पहले ही अपनाए गये दृष्टिकोण से भिन्न मत व्यक्त करने का कोई कारण नहीं देखते और तदनुसार रिट पिटीशन खारिज करते हैं।

रिट पिटीशन खारिज किए गए।

प्र०/कृ०

———

वैराइटी एम्पोरियम (मैसर्स)

बनाम

वी० आर० एम० मोहम्मद इब्राहीम नैना

(27 नवम्बर, 1984)

मुख्य न्यायाधिपति वाई० वी० चन्द्रचूड़ और न्यायाधिपति एम० पी० ठक्कर)

संविधान, 1950, अनुच्छेद 136—उच्चतम न्यायालय की अधिकारिता—मकान-मालिक द्वारा अपने किरायेदारों के विरुद्ध बेदखली अर्जियां—निचले तीनों न्यायालयों द्वारा एक समान निर्णय दिया जाना—विचारण न्यायालय द्वारा मकान-मालिक की आवश्यकता से संबंधित तात्विक दस्तावेजी साक्ष्य का वस्तुपरक और ध्यानपूर्वक मूल्यांकन न किया जाना—अपील न्यायालय द्वारा प्रत्यर्थी की ओर से ऐसा आधार लेना जो स्वयं प्रत्यर्थी का पक्षकथन नहीं था—उच्च न्यायालय द्वारा पुनरीक्षण आवेदन में पहली बार उत्पन्न परिस्थितियों पर विचार न किया जाना—ऐसी स्थिति में उच्चतम न्यायालय अनुच्छेद 136 के अधीन हस्तक्षेप कर सकता है, भले ही निचले तीनों न्यायालयों द्वारा एकसमान मत व्यक्त किया गया हो।

प्रत्यर्थी-मकानमालिक ने सात भिन्न-भिन्न किरायेदारों के विरुद्ध वेदखली अर्जियां फाइल कीं। अपीलार्थी और अन्य छह किरायेदारों की वेदखली की मांग करने के लिए प्रत्यर्थी द्वारा दिए गये कारण ये हैं : गोडाउन स्ट्रीट परिसर द्वार मुख्य प्रात: 9 बजे को खुलता है और शाम को 5 बजे बन्द होता है, जिससे उसे अपने ग्राहकों को प्रात: 9 बजे से पहले या शाम को 5 बजे के बाद सामान देना असंभव हो जाता है, गोडाउन स्ट्रीट में थोक के कारबार में अत्यधिक प्रतिस्पर्धा है और गोडाउन स्ट्रीट में यातायात भी बहुत अधिक है इन परिस्थितयों से कारबार पर भारी प्रभाव पड़ा है और चूंकि फर्म को हर रोज भारी नुकसान हो रहा है, इसलिये वह थोक का कारबार बन्द करना चाहती है और उस परिसर में जिन पर किरायेदारों का अधिभोग है, खुदरा कारबार आरम्भ करना चाहती है। अपीलार्थी ने प्रत्यर्थी की इस दलील को चुनौती दी कि उसे गोडाउन स्ट्रीट के अपने थोक

कारबार में हानि हो रही है और उससे अपनी फर्म का तुलन-पत्र, आयकर विवरणी और लेखा पुस्तकें पेश करने के लिए कहा गया । ये दस्तावेज पेश करने के बजाय जिनसे थोक कारबार की वित्तीय स्थिति का पता लग सकता था, अपीलार्थी ने यह बहाना किया कि तुलन-पत्र उसके संपरीक्षक की अभिरक्षा में है । वह बाहर गया हुआ है । विचारण न्यायालय ने सारी अर्जियां डिक्री कर दीं और बेदखली का आदेश पारित कर दिया । सात किरायेदारों में से पांच ने, जिनके विरुद्ध बेदखली डिक्री पारित की गई थीं, अपीलें फाइल कीं । विद्वान अपील न्यायाधीश का कहना है कि एकमात्र यह परिस्थिति कि प्रत्यर्थी किराये के परिसर में अपना कारबार करता था, इस निष्कर्ष को न्यायोचित ठहराने के लिये पर्याप्त है कि वादगत परिसर की उसकी आवश्यकता सद्भाविक है। अपील न्यायालय प्रत्यर्थी से एक कदम आगे बढ़ गया और उसने प्रत्यर्थी के लिये ऐसा पक्षकथन पेश किया जो उसने स्वयं पेश करना कभी उचित नहीं समझा था । उसका पक्षकथन यह नहीं था कि वह वादगत परिसर का कब्जा इसलिए चाहता है कि वह अपना कारबार किराए के परिसर में करता है । उसका कहना था कि गोडाउन स्ट्रीट के परिसर में थोक का कारबार करना लाभप्रद नहीं रहा है इसलिए वह स्वयं अपने भवन में खुदरा कारबार करना चाहता है जो अपीलार्थी और अन्य किरायेदारों के कब्जे में है। अपील प्राधिकारी ने पहली मंजिल के तीन किरायेदारों की अपीलें खारिज कर दीं और दूसरी मंजिल के किरायेदारों द्वारा फाइल की गई अपीलें मंजूर कर लीं । इस प्रकार प्रत्यर्थी पहली मंजिल पर के चारों किरायेदारों के विरुद्ध और दूसरी मंजिल पर एक किरायेदार के विरुद्ध कब्जे की डिक्री लेने में सफल हो गया । पहली मंजिल के तीन किरायेदारों में से एक किरायेदार ने जो कि यहां अपीलार्थी है, पुनरीक्षण आवेदन उच्च न्यायालय में फाइल किया । तथ्य संबंधी स्थिति में परिवर्तन के आधार पर जो कि अपील प्राधिकारी द्वारा विनिश्चय दिये जाने के बाद उत्पन्न हुई थी, अपीलार्थी ने उच्च न्यायाय के समक्ष यह तर्क दिया कि यह पता लगाने के लिए कि क्या मकान-मालिक को अपीलार्थी के कब्जाधीन दुकान परिसर की अभी तक आवश्यकता है, जो लगभग 308 वर्गफीट क्षेत्रफल की है, पश्चात्वर्ती घटनाओं को भी ध्यान में रखना चाहिए था । उच्च न्यायालय ने ऊपर उद्धृत संक्षिप्त आदेश देकर उस दलील को अनदेखा कर दिया । पहली मंजिल के अन्य दो किरायेदारों ने अपील प्राधिकारी द्वारा पुष्ट की गई बेदखली की डिक्री स्वीकार कर ली । इस प्रकार प्रत्यर्थी पहली मंजिल पर चार किरायेदारों में से तीन और दूसरी मंजिल पर तीन किराएदारों में से एक

से कब्जा लेने का अपना अधिकार प्रस्थापित करने में या कब्जा लेने में अन्तत: और निश्चायक रूप से सफल हो गया। उच्च न्यायालय ने पुनरीक्षण आवेदन खारिज कर दिया। अत: अपीलार्थी ने विशेष इजाजत लेकर उच्चतम न्यायालय में अपील फाइल की। अपील मंजूर करते हुये,

अभिनिर्धारित—इस बात को अनदेखी नहीं किया जा सकता कि तीन न्यायालयों ने इस मामले में एक समान अभिनिर्धारित किया है कि प्रत्यर्थी ने यह साबित कर दिया है कि उसे वादगत परिसर अपनी निजी आवश्यकता के लिए सद्भाविक रूप से चाहिए। निस्संदेह ऐसी सहमति इस प्रश्न से सुसंगत है कि क्या उच्चतम न्यायालय को एक विनिश्चय विशेष का पुनर्विलोकन करने के लिए संविधान के अनुच्छेद 136 के अधीन अपनी अधिकारिता का प्रयोग करना चाहिए या नहीं। इस अधिकारिता का प्रयोग बहुत कम करना होगा किन्तु संभवत: इसका अर्थ यह नहीं है कि अन्याय इसलिए शाश्वत चलता रहे कि वह किसी मामले में तीन बार किया गया है। यह दर्शित करने का भार कि दो या अधिक न्यायालयों या अधिकरणों का एक-सा विनिश्चय प्रकटत: अन्यायपूर्ण है, अपीलार्थी पर है। किन्तु जब एक बार इस भार का निर्वहन कर दिया जाए तो उच्चतम न्यायालय का यह एकमात्र अधिकार बल्कि कर्त्तव्य है कि अन्याय का निवारण किया जाए। (पैरा 6)

चूंकि उच्च न्यायालय उन परिस्थितियों पर विचार करने में असफल रहा है, जो पहली बार उसके सामने उत्पन्न हुई थीं, इसलिए उच्चतम न्यायालय का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह उन पर ध्यान दें। मामले के साक्ष्य पर विचार करने के बाद विशेष रूप से इस तथ्य पर कि मकान-मालिक ने पहली मंजिल के चार किराएदारों में से तीन के खिलाफ और दूसरी मंजिल के तीन किरायेदारों में से एक के खिलाफ कब्जे की डिक्री प्राप्त कर ली है, इसलिये अपीलार्थी को उसके अधिभोगाधीन परिसर से बेदखल करने में कोई औचित्य दिखाई नहीं पड़ता। मकान-मालिक की जैसी आवश्यकता है, वह उन चार किरायेदारों की बेदखली से पर्याप्त से भी अधिक पूरी हो जाती है। (पैरा 17)

निर्दिष्ट निर्णय

पैरा

[1982] [1982] 2 उम० नि० प० 128=[1981] 3 एस० सी० आर० 605 :
हसमत राय बनाम रघुनाथ प्रसाद 16

सिविल अपीली अधिकारिता : 1979 की सिविल अपील सं० 3358.

1979 के सिविल पुनरीक्षण पिटीशन सं० 122 में मद्रास उच्च न्यायालय के तारीख 31 अक्तूबर, 1979 वाले निर्णय और आदेश के विरुद्ध विशेष इजाज़त लेकर की गई अपील ।

अपीलार्थी की ओर से श्री सी० एम० वैद्यनाथन

प्रत्यर्थी की ओर से सर्वश्री वी० एम० तारकुन्डे और शकील अहमद

न्यायालय का निर्णय मुख्य न्यायाधिपति वाई० वी० चन्द्रचूड़ ने दिया ।

मुख्य न्यायाधिपति चन्द्रचूड़—

प्रत्यर्थी-मकानमालिक ने 7 भिन्न-भिन्न किराएदारों के विरुद्ध बेदखली अर्जियां फाइल कीं । इनमें से चार के पास पहली मंजिल पर दुकान परिसर थे और अन्य तीन के अधिभोग में भवन के दूसरी मंजिल पर आवासीय परिसर थे । इस भवन का पता है डोर सं० 14, पर्सुआलकम हाई रोड, मद्रास । अपीलार्थी पहली मंजिल पर दुकान के चार किराएदारों में से एक है ।

2· प्रत्यर्थी का पक्षकथन है कि वह 93, गोडाउन स्ट्रीट, मद्रास में स्थित दूसरी मंजिल पर कपड़ों का थोक व्यापारी है; उसमें कारबार करना उसके लिए असुविधाजनक है और अमितव्ययी है, अपने कारबार के स्थान की विचित्र अवस्थाओं के कारण उसे अपने थोक व्यापार में भारी नुकसान हो रहा है, अतः वह अपना थोक कारबार बन्द करके उस भवन में खुदरा कारबार करना चाहता है जो उसके किराएदारों के अधिभोग में है ।

3· विद्वान विचारण न्यायाधीश ने सारी अर्जियां डिक्री कर दीं और 7 किराएदारों में से प्रत्येक के विरुद्ध बेदखली आदेश पारित कर दिए । इनमें से एक की जिसके अधिभोग में जीने में 4′ x 4′ वाली तथाकथित दुकान थी, अपने विरुद्ध पारित बेदखली की डिक्री में उपमति थी । दुकान परिसर के अन्य तीन किराएदारों ने अपील प्राधिकारी के समक्ष अपील फाइल करके अपने विरुद्ध पारित बेदखली डिक्री को चुनौती दी । जहां तक आवासीय परिसर का संबंध है, तीन किराएदारों में से दो ने बेदखली डिक्रियों के विरुद्ध अपीलें फाइल कीं । जीने वाले पहले किराएदार की भांति तीसरा किराएदार भी डिक्री से उपमत रहा । संक्षेप में 7 में से 5 किराएदारों ने, जिनके विरुद्ध बेदखली डिक्री पारित की गई थी, अपीलें फाइल कीं जबकि शेष 2 ने कोई अपील फाइल नहीं की ।

4. अपील प्राधिकारी ने पहली मंजिल पर दुकान परिसर के किराएदारों की तीनों अपीलें खारिज कर दीं किन्तु दूसरी मंजिल पर आवासीय परिसर के दो किराएदारों द्वारा फाइल की गई अपीलें मंजूर कर लीं। विचारण न्यायालय और प्रथम अपील न्यायालय की कार्यवाहियों का मिश्रित परिणाम यह हुआ कि प्रत्यर्थी पहली मंजिल पर चारों किराएदारों के विरुद्ध और दूसरी मंजिल पर एक किराएदार के विरुद्ध कब्जे की डिक्री लेने में सफल हो गया।

5. पहली मंजिल के तीन किराएदारों में से, जिनके विरुद्ध बेदखली डिक्रियां अपील प्राधिकारी द्वारा पुष्ट कर दी गई थीं (चौथे किराएदार ने कोई अपील नहीं की (एक किराएदार ने जोकि यहां अपीलार्थी है, एक सिविल पुनरीक्षण आवेदन (1979 का सिविल पुनरीक्षण आवेदन सं० 122) उच्च न्यायालय में फाइल किया। पहली मंजिल के अन्य दो किराएदारों ने अपील प्राधिकारी द्वारा पुष्ट की गई बेदखली की डिक्री स्वीकार कर ली। इस प्रकार उच्च न्यायालय के सक्षम सिविल पुनरीक्षण आवेदन लम्बित रहने के दौरान यह स्थिति थी कि प्रत्यर्थी पहली मंजिल पर दुकान के परिसरों के चार किराएदारों में से तीन से और दूसरी मंजिल पर आवासीय परिसर के तीन किराएदारों में से एक से कब्जा प्रत्युद्धृत करने का अपना अधिकार स्थापित करने में या कब्जा प्रत्युद्धृत करने में अन्ततः और निश्चायक रूप से सफल हो गया था। उच्च न्यायालय ने सिविल पुनरीक्षण आवेदन खारिज कर दिया। अतः अपीलार्थी ने विशेष इजाजत लेकर इस न्यायालय में अपील फाइल की है।

6. इस बात को अनदेखा नहीं किया जा सकता कि तीन न्यायालयों ने इस मामले में एकसमान अभिनिर्धारित किया है कि प्रत्यर्थी ने यह साबित कर दिया है कि उसे वादगत परिसर अपनी निजी आवश्यकता के लिए सद्भाविक रूप से चाहिए। निस्संदेह ऐसी सहमति इस प्रश्न से सुसंगत है कि क्या इस न्यायालय को एक विनिश्चय विशेष का पुनर्विलोकन करने के लिए संविधान के अनुच्छेद 136 के अधीन अपनी अधिकारिता का प्रयोग करना चाहिए या नहीं। इस अधिकारिता का प्रयोग बहुत कम करना होगा। किन्तु संभवतः इसका अर्थ यह नहीं है कि अन्याय इसलिए शाश्वत् चलता रहे कि वह किसी मामले में तीन बार किया गया है। यह दर्शित करने का भार कि दो या अधिक न्यायालयों या अधिकरणों का ससम्मत विनिश्चय प्रकटतः अन्यायपूर्ण है, अपीलार्थी पर है। किन्तु जब एकबार इस भार का निर्वहन कर दिया जाए है तो इस न्यायालय का यह एकमात्र अधिकार बल्कि कर्त्तव्य है कि अन्याय का निवारण किया जाए। श्री तारकुंडे ने, जो प्रत्यर्थी की ओर से

हाजिर हुए हैं, तर्क दिया कि यह पता लगाने के लिए कि क्या ससम्मत विनिश्चय प्रकटतः अवैध या अन्यायपूर्ण हैं, विभिन्न न्यायालयों के संबंध में विभिन्न मापदण्ड उत्पन्न हो सकते हैं और व्यवहार में ऐसा होता है। वर्तमान न्याय-प्रशासन में यह अपरिहार्य है। परिमाण की दृष्टि से उच्च न्यायालय को बहुत व्यापक अधिकारिता है, जिसका विस्तार उत्पाद-शुल्क से लेकर निर्वाचनों तथा संविधान से लेकर अपराधों-जैसे अनेक विषयों तक है। यह न्यायालय न्यायपीठों में कार्य करता है न कि अकेले, जैसा कि अमेरिका उच्चतम न्यायालय करता है। वस्तुतः यदि आठ हजार मामलों में से जोकि इस वर्ष फाइल किए गए हैं, प्रत्येक की सुनवाई करने के लिए सम्पूर्ण न्यायालय बैठे तो भी अन्याय की प्रतिक्रिया स्वरूप कुछ न कुछ पृथक्त्व आए बिना नहीं रह सकता। उन देशों में भी जहां सम्पूर्ण न्यायालय प्रत्येक मामले की सुनवाई के लिए बैठता है, सांविधानिक इतिहास का यह सुविदित तथ्य है कि बहुसंख्यकों की रचना स्थैतिक नहीं रहती। विषय-विषय में यह बदलती रहती है, हालांकि संभवतः हर मामले में नहीं। अन्याय के प्रति निजी प्रतिक्रियाएं ......वस्तुतः जो मामले न्यायाधीशों के समक्ष आते हैं, उनमें न्यायाधीश सूक्ष्म और सतर्कतापूर्वक ध्यान देंगे, ऐसा आश्वासन मिलता है। हम यह नहीं मानते कि मुकदमा लड़ने वाले लोग न्याय-प्रशासन की कोई संगणीकृत प्रणाली पसन्द करेंगे : केवल इतना कि चान्सलर का कदम बड़ी सावधानी से उठना चाहिए।

7. अपीलार्थी के काउन्सेल श्री वैद्यनाथन ने अपने भारी बोझ का बड़ी अच्छी तरह निर्वहन किया है और यह सिद्ध कर दिया है कि इस मामले में तीनों न्यायालयों द्वारा किया गया विनिश्चय ऐसा है कि उसे स्वीकार करना सम्भव नहीं हो सकता। हम तुरन्त यह दर्शित करने के लिए अग्रसर होंगे कि कारण कार्य तर्क से निष्कर्ष निकाल कर किस प्रकार न्यायालयों ने, अत्यन्त आदरपूर्वक, अपीलार्थी को न्याय से वंचित रखा है। विचारण न्यायालय उस तथ्य को साबित मानकर धोखा खा गया जो साक्ष्य पेश करके साबित किया जाना शेष है, जो पेश किया जा सकता था, किन्तु पेश नहीं किया गया। प्रथम अपील न्यायालय ने मकान-मालिक की सद्भाविक आवश्यकता के प्रश्न का विनिश्चय यह सिद्धांत लागू करके किया है जो अपेक्षा या आवश्यकता से वांछा की भ्रांति पैदा कर देता है। उच्च न्यायालय ने इस प्रश्न पर बुद्धि का प्रयोग करने से इन्कार कर दिया। यदि इस पर विचार किया जाता तो न्याय का मार्ग ही बदल सकता था।

8. "आरटैक्स कंपनी" नामक फर्म का, जिसका प्रत्यर्थी का एक भागीदार है, 93, गोडाउन स्ट्रीट मद्रास पर स्थित कारबार परिसर पर

अधिभोग है, फर्म ने वे परिसर 21 दिसम्बर, 1974 को समाप्त होने वाले 21 वर्षों की अवधि के लिए 21 दिसम्बर, 1973 के पट्टे पर लिए थे। आज भी वह पट्टा अगले 10 वर्षों के लिए प्रभावी है। अपीलार्थी और अन्य छः किराएदारों की बेदखली की मांग करने के लिए प्रत्यर्थी द्वारा दिए गए कारण ये हैं : गोडाउन स्ट्रीट परिसर द्वार मुख्य प्रात: 9 बजे खुलता है और शाम को 5 बजे बन्द होता है, जिससे उसे अपने ग्राहकों को प्रात: 9 बजे से पहले या शाम को 5 बजे के बाद सामान देना असम्भव हो जाता है, गोडाउन स्ट्रीट में थोक के कारबार में अत्यधिक प्रतिस्पर्धा है और गोडाउन स्ट्रीट में यातायात भी बहुत अधिक है। इन परिस्थितियों से कारबार पर भारी प्रभाव पड़ा है और चूंकि फर्म को हर रोज भारी नुकसान हो रहा है, इसलिए वह थोक का कारबार बन्द करना चाहती है और उस परिसर में जिन पर किराएदारों का अधिभोग है, खुदरा कारबार आरम्भ करना चाहती है।

9. अपीलार्थी ने प्रत्यर्थी की इस दलील को चुनौती दी कि उसे गोडाउन स्ट्रीट के अपने थोक कारबार में हानि हो रही है और उससे अपनी फर्म का तुलन-पत्र, आयकर विवरणी और लेखा पुस्तकें पेश करने के लिए कहा गया। ये दस्तावेज पेश करने के बजाए जिनसे थोक कारबार की वित्तीय स्थिति का पता लग सकता था, अपीलार्थी ने यह बहाना पेश कर दिया कि तुलन-पत्र उसके संपरीक्षक की अभिरक्षा में है, जो कि बाहर गया हुआ है, हमें यह विचित्र प्रतीत होता है कि उन दस्तावेजों को पेश न करने के लिए जो पेश करने के लिए उससे कहा गया था, प्रत्यर्थी के विरुद्ध निष्कर्ष निकालने के बजाए विचारण न्यायालय ने प्रत्यर्थी का यह अधिकृत कथन स्वीकार कर लिया कि उसे अपने थोक के कारबार में हानि हो रही है, जिसकी वजह से उसके लिए वादगत परिसर का कब्जा लेना आवश्यक हो गया ताकि वह खुदरा कारबार आरम्भ कर सके। प्रत्यर्थी को वादगत परिसर की आवश्यकता क्यों है, इसका एकमात्र या कम से कम मुख्य कारण यह है कि उसके वर्तमान कारबार का स्थान ऐसे परिक्षेत्र में है जहां उसे कारबार में हानि हो रही है। इतना ही नहीं कि कारबार में होने वाली हानि को दर्शित करने वाला साक्ष्य पेश नहीं किया गया बल्कि उसे दबाया भी गया है।

10. यह देखने के बाद कि विचारण न्यायालय ने मकान-मालिक की तथाकथित आवश्यकता से संबंधित साक्ष्य का वस्तुपरक और ध्यानपूर्वक मूल्यांकन किए बिना प्रत्यर्थी का यह पक्षकथन स्वीकार कर लिया हम, अपील प्राधिकारी के निर्णय पर दृष्टिपात करेंगे। विद्वान अपील न्यायाधीश का कहना है कि एकमात्र यह परिस्थिति कि प्रत्यर्थी किराए के परिसर में अपना

कारबार करता था, इस निष्कर्ष को न्यायोचित ठहराने के लिए पर्याप्त है कि वादगत परिसर की उसकी आवश्यकता सद्भाविक है। यह निष्कर्ष लेखबद्ध करने के बाद विद्वान अपील न्यायाधीश ने आगे कहा—

> "अर्जी में वर्णित परिसर की पहली मंजिल के भाग के किराएदारों का यह कहना कि यदि बेदखली का आदेश पारित किया गया तो वे कहीं के नहीं रहेंगे, बिल्कुल भी विचार करने योग्य नहीं है। यह तथ्य ही कि प्रत्यर्थी ने यह अर्ज़ी 1975 में सम्पत्ति खरीदने के तुरन्त बाद फाइल की थी, यह पर्याप्त रूप से साबित कर देता है कि परिसर खरीदने का उसका प्रयोजन ही अर्जी में वर्णित परिसर में थोक या खुदरा कारबार करता रहा होगा।"

11. अपील न्यायालय प्रत्यर्थी से एक कदम आगे बढ़ गया और उसने प्रत्यर्थी के लिए ऐसा पक्षकथन पेश किया जो उसने स्वयं पेश करना कभी उचित नहीं समझा था। उसका पक्षकथन यह नहीं था कि वह वादगत परिसर का कब्जा इसलिए चाहता है कि वह अपना कारबार किराए के परिसर में करता है। उसका कहना था कि गोडाउन स्ट्रीट के परिसर में थोक का कारबार करना लाभप्रद नहीं रहा था, इसलिए वह स्वयं अपने भवन में खुदरा कारबार करना चाहता था, जो अपीलार्थी और अन्य किराएदारों के कब्जे में था।

12. इसके अतिरिक्त विधिपूर्ण साधनों द्वारा बेदखली का प्रतिरोध करने के किराएदार के प्रयास को गोहार के रूप में वर्णित करना नितान्त निन्दनीय है। यह नितान्त खेदजनक है कि कोई न्यायालय और कम से कम एक किराया अधिकरण जिसे मनुष्य की बड़ी बड़ी समस्याओं से निपटना होता है, इसे एक महत्वहीन बात माने कि बेदखली का आदेश किराएदार को बेघर कर देगा। न्यायाधीश को समस्या से जूझना नहीं होता जिससे कि यह पता चल सके कि उससे कितना कष्ट होता है। अतः उसे बेघर कर दिये जाने की संभावना का मुकाबला करना नहीं होता जिससे वे महसूस कर सकें कि इसका क्या तात्पर्य है। उसका प्रशिक्षण, विधिक ज्ञान और जीवन का अनुभव शिक्षा और सामाजिक जागृति के उसके उपकरण हैं। हम यह कहना नहीं चाहते कि किसी किराएदार के विरुद्ध कभी भी बेदखली की डिक्री पारित नहीं की जा सकती किन्तु न्यायालय को अपने समक्ष वाले विषय के सभी पहलुओं के लिए इस बात का ध्यान रखना होगा कि क्या विधि के उपबंधों के अनुसार विनिर्दिष्ट तौर पर यह अपेक्षित है या नहीं कि और जो

वह आदेश देना चाहता है, उसके दूरदर्शी परिणाम क्या निकलेंगे। अन्ततः अपील न्यायालय के इस मत से सहमत होना असम्भव है कि यह तथ्य ही कि प्रत्यर्थी ने बेदखली की अर्जियां सम्पत्ति खरीदने के तुरन्त बाद फाइल की थीं, यह साबित कर देता है कि सम्पत्ति खरीदने का प्रयोजन उसमें कारबार चलाना था, "चाहे थोक या खुदरा"।

13. उच्च न्यायालय का निर्णय पुनरीक्षण आवेदन को संक्षेप में खारिज करने के आदेश जैसा है। उच्च न्यायालय ने अपने समक्ष की गई बहस का उल्लेख पौने दो पृष्ठों में करने के बाद निम्नलिखित कुछ पंक्तियों में कार्यवाही का निपटारा कर दिया—

> "मुझे खेद है कि जब एक बार निचले प्राधिकारियों ने इन सब परिस्थितियों पर ध्यान दिया है और इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि प्रत्यर्थी की आवश्यकता सद्भाविक है, यह इस न्यायालय का काम नहीं है कि अपील न्यायालय के रूप में वह इन तथ्यों पर पुनः विचार करे और प्रत्यर्थी के विरुद्ध अभिनिर्धारित करे। परिणामस्वरूप, सिविल पुनरीक्षण आवेदन असफल होता है और खारिज किया जाता है।"

14. उच्च न्यायालय ने यह ठीक कहा कि पुनरीक्षण कार्रवाई में वह मामले में अपील न्यायालय के रूप में साक्ष्य का पुनर्मूल्यांकन नहीं कर सकता किन्तु ऐसा कहकर उच्च न्यायालय ने ससम्मान, मामले का वास्तविक मुद्दा भुला दिया।

15. उच्च न्यायालय के समक्ष अपीलार्थी की मुख्य दलील यह थी कि जब तक बेदखली अर्जियां विचारण न्यायालय में और प्रथम अपील न्यायालय में लम्बित हैं, तब तक पक्की तरह यह घोषणा नहीं की जा सकती थी कि कितने मामलों में प्रत्यर्थी अन्ततः विजयी होगा। अपील प्राधिकारी द्वारा निर्णय दिये जाने के बाद यह स्थिति स्पष्ट हो गई थी। जैसा कि हम इस निर्णय के आरम्भ में ही कह चुके हैं, दूसरी मंजिल के तीन किरायेदारों में से एक ने विचारण न्यायालय द्वारा पारित की गई डिक्री को चुनौती नहीं दी। अतः मकान-मालिक उसके विरुद्ध अन्तिम रूप से सफल हो गया था। पहली मंजिल पर दुकान परिसर के चार किरायेदारों में से जीने वाले किराये-दार ने विचारण न्यायालय द्वारा अपने विरुद्ध पारित बेदखली की डिक्री को चुनौती नहीं दी थी। किन्तु फिर भी हम उस सज्जन को अकेले छोड़ देंगे क्योंकि उसके कब्जे में केवल 4′ × 4′ क्षेत्रफल था। अपीलार्थी सहित पहली मंजिल के शेष तीन किरायेदारों ने बेदखली की डिक्री के खिलाफ अपीलें की

थीं किन्तु अपील प्राधिकारी ने तीनों अपीलें खारिज कर दी थीं। इन तीन किरायेदारों में से दो ने अपील प्राधिकारी की डिक्री को चुनौती नहीं दी थी, जिसका परिणाम यह हुआ कि प्रत्यर्थी उन दो किरायेदारों के विरुद्ध अन्तिम रूप से और निश्चायक रूप से सफल हो गया था। इस प्रकार पहली बार जब उच्च न्यायालय के समक्ष सिविल पुनरीक्षण आवेदन में बहस की जा रही थी तो यह स्थिति थी कि मकानमालिक पहली मंजिल के चार किरायेदारों में से तीन के खिलाफ और दूसरी मंजिल के तीन किरायेदारों में से एक खिलाफ वेदखली आदेश प्राप्त करने में अन्तिम रूप से सफल हो चुका था। इस स्थिति से निस्संदेह उस स्थिति में परिवर्तन हो गया था, जो वेदखली की कार्यवाही के आरम्भ में विद्यमान थी और जो अपील प्राधिकारी के समक्ष वाली कार्यवाहियों के लम्बित रहने के दौरान भी अंशतः विद्यमान थी। तथ्य सम्बन्धी स्थिति में परिवर्तन के आधार पर जो कि अपील प्राधिकारी द्वारा विनिश्चय दिए जाने के बाद उत्पन्न हुई थी, अपीलार्थी ने उच्च न्यायालय के समक्ष यह तर्क दिया कि यह पता लगाने के लिए कि क्या मकान-मालिक को अपीलार्थी के कब्जाधीन दुकान परिसर की अभी तक आवश्यकता है, जो लगभग 308 वर्गफीट क्षेत्रफल की है पश्चातवर्ती घटनाओं को भी ध्यान में रखना चाहिए था। उच्च न्यायालय ने ऊपर उद्धृत संक्षिप्त आदेश देकर उस दलील को अनदेखा कर दिया।

16. इस प्रतिपादना के लिए किसी नजीर की आवश्यकता नहीं है कि समुचित मामलों में न्यायालय को अपने समक्ष कार्यवाही की सुनवाई के समय विद्यमान घटनाओं को ध्यान में रखना चाहिए और वह उन घटनाओं के प्रकाश में ही अनुतोष दे सकता है। फिर भी हम **हसमत राय** बनाम **रघुनाथ प्रसाद**[1] वाले मामले में इस न्यायालय के निर्णय की ओर ध्यान आकर्षित करना चाहेंगे, जिसका विनिश्चयाधार इस प्रकार है—

> "इसलिए जब किसी मकान-मालिक द्वारा अपनी आवश्यकता के आधार पर किराया अधिनियम के अधीन किराएदार की बेदखली के लिए कोई वाद फाइल किया जाता है, तो ऐसा वाद फाइल करने की तारीख को ही उसकी आवश्यकता विद्यमान नहीं रहनी चाहिए, बल्कि अपील में की जाने वाली डिक्री की तारीख को या उच्चतर न्यायालय द्वारा मामले का निपटारा किए जाने की तारीख को भी विद्यमान होनी चाहिए। एक न्यायालय से दूसरे न्यायालय में

---

[1] [1982] 2 उम० नि० प० 128=(1981) 3 एस० सी० आर० 605.

कार्यवाही के आगे बढ़ने और चलते रहने के दौरान यदि वाद में कुछ ऐसी घटनाएं घटती हैं कि यदि उन्हें ध्यान में रखा जाए तो वादी का वादावसान हो जाएगा, तो न्यायालय को उनकी जांच करनी चाहिए और उनका मूल्यांकन करना चाहिए और उसके अनुसार ही डिक्री बननी चाहिए । यदि इसी बीच ऐसी घटनाएं हो गई हैं जिनसे यह दर्शित होता है कि मकान-मालिक की आवश्यकता पूर्णतः पूरी हो चुकी है, तो ऐसी दशा में उसकी कार्रवाई विफल हो जाएगी और ऐसी स्थिति में यह कहना गलत होगा कि चूंकि किराएदार के विरुद्ध बेदखली की डिक्री या आदेश किया जा चुका है, इसलिये वह न्यायालय से यह निवेदन नहीं कर सकता कि वह पश्चात्‌वर्ती घटनाओं को विचार में न ले । उसे ऐसी दलील देने से उस समय रोका जा सकता है जब बेदखली की डिक्री या आदेश अन्तिम हो चुका हो ।''

न्या० आर० एस० पाठक, जिन्होंने न्या० डी० ए० देसाई और न्या० वेंकटरामैया से सहमति व्यक्त की थी, वही मत इस प्रकार व्यक्त किया था —

''अब यह बात सुस्थिर हो चुकी है कि किरायेदार को बेदखल करने वाले किसी कानून के अधीन व्यक्तिगत आवश्यकता के आधार पर किसी किरायेदार की बेदखली के लिए चल रही कार्यवाही में जब तक उस कानून में अन्यथा उपबंधित न हो, उसकी यह आवश्यकता उस तारीख तक बनी रहनी चाहिये जिस तारीख को उस कार्यवाही का निपटारा अपील या पुनरीक्षण में सुसंगत प्राधिकारी द्वारा अन्तिम रूप से न कर दिया जाए । यह स्थिति निर्विवाद है ।

17. चूंकि उच्च न्यायालय उन परिस्थितियों पर विचार करने में असफल रहा है, जो पहली बार उसके सामने उत्पन्न हुई थीं, इसलिये हमारा यह कर्तव्य हो जाता है कि हम उन पर ध्यान दें । मामले के साक्ष्य पर विचार करने के बाद विशेष रूप से इस तथ्य पर कि मकान-मालिक ने पहली मंजिल के चार किरायेदारों में से तीन के खिलाफ और दूसरी मंजिल के तीन किरायेदारों में से एक के खिलाफ कब्जे की डिक्री प्राप्त कर ली है, हमें अपीलार्थी को उसके अधिभोगाधीन परिसर से बेदखल करने में कोई औचित्य दिखाई नहीं पड़ता । मकान-मालिक की जैसी आवश्यकता है, वह उन चार किरायेदारों की बेदखली से पर्याप्त से भी अधिक पूरी हो जाती है ।

18. यह संदेहास्पद है कि क्या प्रत्यर्थी सात मामलों में से किसी मामले में भी सफल हो जाता यदि विचारण न्यायालय उसके द्वारा तात्विक दस्तावेजी साक्ष्य को दबाने के प्रभाव का सही-सही मूल्यांकन करता। किन्तु सात किरायेदारों में से छह के विरुद्ध पारित बेदखली डिक्री एक सम्पन्न कार्य है और चूंकि वे मामले अन्तिम रूप से निश्चित किए जा चुके हैं, इसलिये उन्हें फिर से आरम्भ नहीं किया जा सकता।

19. इन कारणों से हम यह अपील मंजूर करते हैं और उच्च न्यायालय, अपील प्राधिकारी और विचारण न्यायालय के निर्णय अपास्त करते हैं। अपीलार्थी की बेदखली के लिये प्रत्यर्थी का आवेदन खारिज रहेगा। प्रत्यर्थी अपीलार्थी को तीनों न्यायालयों का पूरा खर्च देगा और वह खर्च पांच हजार रुपए होगा।

अपील मंजूर की गई।

कृ०

प्रादेशिक निदेशक, कर्मचारी राज्य बीमा निगम त्रिचूर

बनाम

रामानुज मैच इण्डस्ट्रीज़

(27 नवम्बर 1984)

(न्यायाधिपति अमरेन्द्र नाथ सेन और रंगनाथ मिश्र)

कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम, 1948 (1948 का 34) —धारा 2 (9) मजदूरी पर नियमित रूप से काम करने वाले फर्म के भागीदार को निरीक्षक द्वारा कर्मचारी मानकर फर्म को अभिदाय के लिए दायी बनाना —फर्म द्वारा भागीदार को कर्मचारी मानने को चुनौती दिया जाना —फर्म का भागीदार कर्मचारी नहीं है— भागीदारों को अपवर्जित करने पर यदि फर्म के कर्मचारियों की संख्या 20 से कम है तो फर्म उक्त अधिनियम के अधीन अभिदाय के लिए दायी नहीं है।

प्रत्यर्थी-फर्म केरल राज्य के त्रिचूर क्षेत्र में दिया सलाई के विनिर्माण में लगी हुई है। अपील में विचारार्थ संक्षिप्त प्रश्न यह है कि क्या किसी फर्म का भागीदार कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम, 1948 की धारा 2 (9) के अर्थ में 'कर्मचारी' है। निरीक्षक का यह मत था कि फर्म में 18 नियमित कर्मचारी थे और भागीदारों में से तीन भागीदारों को, जिन्होंने मजदूरी पर नियमित रूप से काम किया था, सम्मिलित किया जाना चाहिए। इस प्रकार अधिनियम की अपेक्षानुसार 20 कर्मचारियों की संख्या पूरी हो गई थी तथा प्रत्यर्थी अभिदाय के लिए दायी हो गई थी। प्रत्यर्थी ने कालीकट में कर्मचारी बीमा न्यायालय के समक्ष यह दलील देते हुए अपने दायित्व को चुनौती दी थी कि भागीदार कर्मचारी नहीं थे और यदि तीन भागीदार को छोड़ दिया जाता है तो कर्मचारियों की कुल संख्या कानूनी न्यूनतम सीमा से अधिक नहीं होगी। बीमा न्यायालय ने प्रत्यर्थी के पक्ष में निर्णय दिया था तथा अपीलार्थी द्वारा अधिनियम के अधीन उच्च न्यायालय के समक्ष अपील की गई थी और उस न्यायालय की खण्ड न्यायपीठ ने अपने द्वारा किए गए एक पूर्व विनिश्चय का अनुसरण करते हुए यह अभिनिर्धारित किया था कि भागीदार कर्मचारी नहीं थे। उच्च न्यायालय के इस विनिश्चय के विरुद्ध

वर्तमान अपील की गई है। उच्चतम न्यायालय द्वारा अपील खारिज करते हुये,

अभिनिर्धारित—भारतीय भागीदारी अधिनियम, 1932 की धारा 4 'भागीदार' को परिभाषित करती है तथा भागीदारी के आवश्यक लक्षणों में से एक लक्षण यह है कि भागीदारों के बीच पारस्परिक अभिकरण अवश्य ही होना चाहिए। भागीदारी अधिनियम की धारा 18 कानूनी रूप से प्रत्येक भागीदार को फर्म के कारबार के प्रयोजनों के लिए फर्म का अभिकर्ता घोषित करती है तथा धारा 19 में यह कहा गया है कि सामान्य रूप से किसी भागीदार का काम, जो फर्म द्वारा किए जाने वाले काम के समान कारबार को चलाने के लिए किया जाता है, फर्म को आबद्ध कर देता है। भागीदारी फर्म विधिक सत्ता नहीं है। फर्म के रूप में भागीदार की स्थिति मालिक और कर्मचारी अथवा नियोजक और कर्मचारी की नहीं है। इस धारणा में अधीनस्थता का तत्व है किन्तु वह समानता का है। भागीदारी कारबार भागीदारों का है और उनमें से प्रत्येक उसका स्वामी है। इस प्रकार सामान्य बोलचाल में फर्म के रूप में भागीदार की हैसियत फर्म के अधीन काम करने वाले कर्मचारियों से भिन्न है। यह भी हो सकता है कि किसी भागीदार को किसी विशेष काम के लिये, जो वह करता है, कुछ पारिश्रमिक संदत्त किया जा रहा हो, किन्तु इससे उसकी हैसियत में कोई परिवर्तन नहीं होगा और वह कर्मचारी की परिभाषा के अन्तर्गत नहीं आयेगा। (पैरा 4)

फर्म का प्रबन्ध भागीदार यदि वह केवल वेतन या अन्य पारिश्रमिक प्राप्त करता है कर्मचारी नहीं है जो सेवा की संविदा के अधीन काम कर रहा हो। भागीदार, जो नियोजक के वर्ग का है, कर्मचारी नहीं हो सकता क्योंकि वह भागीदारी के लिए मजदूरी हेतु भी काम करता है। निस्संदेह 'कर्मचारी' शब्द नियोजक का सह-संबंधी है। (पैरा 5 और 6)

फायदाप्रद विधानों का उदार अर्थान्वयन किया जाना चाहिए ताकि विधायी आशय को कार्यान्वित किया जा सके किन्तु जहां ऐसे फायदाप्रद विधान की स्वयं की अपनी स्कीम हो, वहां स्कीम से परे जाने के लिए और कानूनी फ़ायदा ऐसे लोगों तक, जो स्कीम के अन्तर्गत नहीं आते हैं, विस्तारित करने के बहाने के आधार कर कानून की परिधि विस्तारित करने के लिए न्यायालय के पास कोई आधार नहीं है। अधिनियम में 20 या उससे अधिक कर्मचारियों वाले सभी कारखाने या स्थापन आते हैं तथा फायदा 20 या उससे अधिक संख्या वाले संस्थानों को देने के लिए आशयित है। व्यक्ति को, जो परिभाषा के

अनुसार नहीं होगा, न्यूनतम कानूनी सीमा नियत करने के प्रयोजन के लिए गणना में नहीं लिया जायेगा। तीन भागीदार कर्मचारी नहीं थे इसलिए स्वीकृत तथ्य के अधार पर कर्मचारियों की कुल संख्या 20 से कम होगी और अधिनियम विवादग्रस्त स्थापन को लागू नहीं होगा। (पैरा 10 और 11)

अवलम्बित निर्णय

पैरा

[1975] आई० एल० आर० (1975) 2 केरल 207 :
प्रादेशिक निदेशक, कर्मचारी राज्य बीमा निगम बनाम **मैसर्स ओसमंजा टाइल वर्क्स, अलवे** 1,5

प्रभेदित निर्णय

[1964] [1964] 2 एस० सी० आर० 921 :
चम्पारन केन कंसर्न बनाम **बिहार राज्य और एक अन्य** 4

निर्दिष्ट निर्णय

[1981] (1981) लेबर एण्ड इंडस्ट्रियल केसेज 671 :
प्रादेशिक निदेशक, कर्मचारी राज्य बीमा निगम, जयपुर बनाम **पी० सी० कासलीवाल** 5

[1946] (1946) 224 इण्डियन केसेज 106 :
सेठ हीरा लाल और एक अन्य बनाम **शेख जमालुद्दीन और एक अन्य** 4

[1905] (1905) 1 के० बी० 324 :
एलिस बनाम **जोसेफ एलिस एण्ड कम्पनी** 7

92 एन० एच० 312 :
ड्यबे बनाम **रोबिंसन** 6

188 जी० ए० 105 :
यूनाइटेड स्टेट्स फाइडिलिटी एंड गारंटी कम्पनी बनाम **नील** 6

202 एन० वाई० एस० 514 :
ले क्लेयर बनाम **स्मिथ** 6

292 एस० डब्ल्यू० 235 :
वर्जर बनाम **फाइडिलिटी यूनियन कैजुअल्टी कम्पनी, टैक्सास** 6

392 एफ० सप्लीमेंटरी 721 : वीवर बनाम
वेनवर्जर 6

500 एफ० सप्लीमेंटरी 714 :
मोरिसी कारपोरेशन बनाम यू० एस० डी० सी० कैलीफोर्निया 6

556 एफ० सेकेंड 867 :
बर्कर बनाम फ्रेडमैन 6

442 पी० सेकेंड 388 :
राइट बनाम डियरेटर 6

268 पी० सेकेंड 203 :
क्रूक्स बनाम ग्लेनाफालस इंडेमिनिटी कम्पनी 6

सिविल अपीली अधिकारिता : 1984 की सिविल अपील सं० 3500

1979 की प्रकीर्ण प्रथम अपील सं० 442 में केरल उच्च न्यायालय के तारीख 3 अगस्त, 1981 वाले निर्णय और आदेश के विरुद्ध विशेष इजाजत लेकर की गई अपील।

अपीलार्थी की ओर से : श्री एम० के० बनर्जी, अपर महासालिस्टिर, सर्वश्री गिरीश चन्द्र और आर० एन० पोद्दार

न्यायालय का निर्णय न्यायाधिपति रंगनाथ मिश्र ने दिया ।

न्यायाधिपति मिश्र—

विशेष इजाजत लेकर की गई इस अपील में विचारार्थ संक्षिप्त प्रश्न यह है कि क्या किसी फर्म का भागीदार कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम, 1948(जिसे इसमें इसके पश्चात् 'अधिनियम' कहा गया है) की धारा 2(9) के अर्थ में 'कर्मचारी' है। प्रत्यर्थी रामानुज मैच इण्डस्ट्रीज, जो कि एक फर्म है, केरल राज्य के त्रिचूर क्षेत्र में दिया सलाई के विनिर्माण में लगी हुई है। और यह प्रश्न कि क्या वह अधिनियम के उपबंधों के अन्तर्गत आती है, इस अपील में विचारार्थ उद्भूत हुआ है। निरीक्षक का यह मत था कि इस फर्म में 18 नियमित कर्मचारी थे और भागीदारों में से तीन भागीदारों को, जिन्होंने मजदूरी पर नियमित रूप से काम किया था, सम्मिलित किया जाना चाहिए। इस प्रकार अधिनियम की अपेक्षानुसार 20 कर्मचारियों की संख्या पूरी हो गई थी तथा प्रत्यर्थी अभिदाय के लिए दायी हो गई थी। प्रत्यर्थी ने कालीकट में कर्मचारी बीमा न्यायालय के समक्ष यह दलील देते हुए अपने दायित्व को चुनौती दी थी कि भागीदार कर्मचारी नहीं थे और यदि तीन भागीदारों को

छोड़ दिया जाता है तो कर्मचारियों की कुल संख्या कानूनी न्यूनतम सीमा से अधिक नहीं होगी। बीमा न्यायालय ने प्रत्यर्थी के पक्ष में निर्णय दिया था तथा अपीलार्थी द्वारा अधिनियम के अधीन उच्च न्यायालय के समक्ष अपील की गई थी और उस न्यायालय की खण्ड न्यायपीठ ने **प्रादेशिक, निदेशक कर्मचारी राज्य बीमा निगम** बनाम **मैसर्स ओसमैज टाइल वर्क्स, अलबे**[1] के मामले में अपने पूर्ववर्ती विनिश्चय का अनुसरण करते हुए यह अभिनिर्धारित किया था कि भागीदार कर्मचारी नहीं थे। इस विनिश्चय के विरुद्ध वर्तमान अपील की गई है।

2. इस बारे में कोई विवाद नहीं है कि अधिनियम के अधीन अभिदाय संदाय करने का दायित्व केवल तभी उद्भूत होता है जब मजदूरी पर 20 या उससे अधिक व्यक्ति नियोजित किए जाते हैं। इस बारे में भी कोई विवाद नहीं है कि प्रत्यर्थी के मामले में जब तक तीन भागीदार सम्मिलित नहीं किए जाते, तब तक मूल संख्या 20 नहीं होती है और अधिनियम के अधीन कोई भी दायित्व उद्भूत नहीं होता है।

3. 'कर्मचारी' शब्द अधिनियम की धारा 2(9) में परिभाषित किया गया है और उससे ऐसा व्यक्ति अभिप्रेत है जो किसी ऐसे कारखाने या स्थान में, जिसे यह अधिनियम लागू हो, या उसके काम के संबंध में मजदूरी पर नियोजित है और जिसे उक्त धारा के खण्ड (i), (ii) या (iii) में से वैकल्पिक रूप में कोई भी एक खण्ड लागू होता है। 'मजदूरी' उस धारा की उपधारा (22) में परिभाषित की गई है और उससे 'वह सभी पारिश्रमिक अभिप्रेत है जो किसी कर्मकार को नियोजन की संविदा के अभिव्यक्त या विवक्षित निबंधनों की पूर्ति हो जाने पर नकद संदत्त किया गया हो या नकद संदेय होता...... ।" इस प्रकार यह स्पष्ट है कि कोई व्यक्ति जो अधिनियम के अर्थ में कर्मचारी है, वह मजदूरी के लिए नियोजित किया जाना चाहिए। मजदूरी की धारणा नियोजन की संविदा में आएगी। शार्टर आक्सफोर्ड इंग्लिश डिक्शनरी में 'नियोजित करना (एम्पलाय)' के अर्थ से 'किसी विशेष कारबार के लिए सेवाओं का उपयोग करना, किसी की सेवा में होना अथवा किसी की सेवामें बने रहना' अभिप्रेत है। सामान्य बोलचाल में कर्मचारी की धारणा में नियोजक से संबंध भी आएगा। 'नियोजक' शब्द अधिनियम में परिभाषित नहीं किया गया था किन्तु नियोजक, जो नियोजन देगा, के अभाव में वास्तव में कोई कर्मचारी नहीं होगा। वस्तुतः वह धारणा औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947 की स्कीम में

---

[1] आई० एल० आर (1975) 2 केरल 207.

स्पष्ट है तथा इस अधिनियम की धारा 2(छ) में 'नियोजक' शब्द की परिभाषा स्थिति को स्पष्ट करती है ।

4. यह बात उचित है कि इस प्रक्रम पर हम फर्म के रूप में भागीदार की स्थिति को निर्दिष्ट करेंगे । भारतीय भागीदारी अधिनियम, 1932 की धारा 4 ,भागीदार को परिभाषित करती है तथा भागीदारी के आवश्यक लक्षणों में से एक लक्षण यह है कि भागीदारों के बीच पारस्परिक अभिकरण (एजेंसी) अवश्य ही होनी चाहिए । **सेठ हीरा लाल और एक अन्य बनाम शेख जमालुद्दीन और एक अन्य**[1] वाले मामले में पटना उच्च न्यायालय की पूर्ण न्यायपीठ ने सही रूप से इस स्थिति पर बल दिया था कि भागीदारी की परिभाषा में एक महत्वपूर्ण लक्षण यह है कि वह सभी भागीदारों अथवा सभी भागीदारों की ओर से कार्य करने वाले किसी एक भागीदार द्वारा चलाई जानी चाहिए । भागीदारी अधिनियम की धारा 18 कानूनी रूप से प्रत्येक भागीदार को फर्म के कारबार के प्रयोजनों के लिए फर्म का अभिकर्ता घोषित करती है तथा धारा 19 में यह कहा गया है कि सामान्य रूप से किसी भागीदार का काम, जो फर्म द्वारा किए जाने वाले काम के समान कारबार को चलाने के लिए किया जाता है, फर्म को आबद्ध कर देता है । भागीदारी फर्म विधिक सत्ता नहीं है। इस न्यायालय ने **चम्पारन केन कन्सर्न बनाम बिहार राज्य और एक अन्य**[2] वाले मामले में यह बतलाया है कि भागीदारी दूसरे भागीदार के अभिकर्ता के रूप में काम करता है । इस प्रकार फर्म के रूप में भागीदार की स्थिति मालिक और कर्मचारी अथवा नियोजक और कर्मचारी की नहीं है । इस धारणा में अधीनस्थता का तत्व है किन्तु वह समानता का है । भागीदारी कारबार भागीदारों का है और उनमें से प्रत्येक उसका स्वामी है । इस प्रकार सामान्य बोलचाल में फर्म के रूप में भागीदार की हैसियत फर्म के अधीन काम करने वाले कर्मचारियों से भिन्न है । यह भी हो सकता है कि किसी भागीदार को किसी विशेष काम के लिए; जो वह करता है, कुछ पारिश्रमिक संदत्त किया जा रहा हो, किन्तु इससे उसकी हैसियत में कोई परिवर्तन नहीं होगा और वह कर्मचारी की परिभाषा के अन्तर्गत नहीं आएगा ।

5. अपीलार्थी के विद्वान् काउन्सेल ने बलपूर्वक प्रादेशिक निदेशक, कर्मचारी राज्य बीमा निगम, **जयपुर बनाम पी० सी० कासलीवाल और एक अन्य**[3] वाले मामले में राजस्थान उच्च न्यायालय के मामले का अवलम्ब

---

[1] (1946) 224 इन्डियन केसेज़ 106.

[2] (1964) 2 एस० सी० आर० 921.

[3] (1981) लेबर एंड इंडस्ट्रियल केसेज 671.

लिया है। विद्वान् एकल न्यायाधीश ने यह मत अपनाया था कि भागीदार फर्म द्वारा नियोजित किया जा सकता है और यदि वह कारखाने के काम के लिये विहित सीमा के भीतर परिलब्धियां लेता है तो वह अधिनियम की धारा 2 (9) के अधीन कर्मचारी होगा। उसी विनिश्चय में उन्होंने यह भी अभिनिर्धारित किया है कि मासिक भत्ता लेने वाला निष्क्रिय भागीदार केवल इस कारण से कि वह भागीदार है, कर्मचारी के रूप में अधिनियम की परिधि के अंतर्गत नहीं आयेगा तथा ऐसे भागीदाक के संबंध में अभिदाय संदेय नहीं होगा। इस मत के विरुद्ध प्रादेशिक निदेशक, **राज्य कर्मचारी बीमा निगम** बनाम **मैसर्स ओसमंजा टाइल वर्क्स, अलवे**[1] के मामले में केरल उच्च न्यायालय की खण्ड न्यायपीठ का विनिश्चय है जिसमें यह अभिनिर्धारित किया गया है कि फर्म का प्रबन्ध भागीदार कर्मचारी नहीं है यदि वह केवल वेतन या अन्य पारिश्रमिक प्राप्त करता है। केरल उच्च न्यायालय द्वारा इस स्थिति का बहुत ही बलपूर्वक अवलम्ब लिया गया है कि ऐसा प्रबंध भागीदार कर्मचारी नहीं है जो सेवा की संविदा के अधीन काम कर रहा हो। वास्तव में वर्तमान मामले में पूर्वोदाहरण के रूप में उच्च न्यायालय के इस विनिश्चय का अवलम्ब लिया गया है और उस विनिश्चय के विनिश्चयाधार का अनुसरण करते हुए उच्च न्यायालय ने अपीलार्थी के विरुद्ध मामले का विनिश्चय किया है। राजस्थान उच्च न्यायालय अधिनियम की धारा 2 (9) में 'कर्मचारी' शब्द की परिभाषा के बारे में जागरूक नहीं रहा है यद्यपि परिभाषा विस्तारपूर्वक उद्धृत की गई है। भागीदारी अधिनियम के उपबंधों, 'नियोजक' और 'कर्मचारी' की संकलपना और 'मजदूरी' की परिभाषा के महत्व के प्रति निर्देश से फर्म के रूप में भागीदार की हैसियत की भी इस बात का विनिर्णय करते समय उपेक्षा कर दी गई है कि क्या भागीदार कर्मचारी है। इसलिए हम राजस्थान उच्च न्यायालय के मत को स्वीकार करने के लिए प्रेरित नहीं हैं। दूसरी ओर, केरल उच्च न्यायालय द्वारा व्यक्त मत सही प्रतीत होता है और उक्त मत किसी भागीदारी की उसकी फर्म की हैसियत से स्थिति और मामले के विधिशास्त्रीय मत के अनुसार है।

6. प्रत्यर्थी उच्च न्यायालय के आदेश के समर्थन के लिए इस न्यायालय में हाजिर नहीं हुआ था। तथापि हमने अमेरिकन और इंग्लिश न्यायालयों की कई न्यायिक रायें पढ़ी हैं जिनमें यह मत व्यक्त किया गया है कि व्यक्ति ऐसी फर्म का कर्मचारी नहीं हो सकता जिसका वह भागीदार है। वर्डस एण्ड

---

1 आई० एल० आर० (1975) 2 केरल 207.

फरेजेज परमानेंट एडीशन, खण्ड 14 और 14 क (1974 का पुनः मुद्रित संस्करण) में अमेरिकन न्यायालयों के कई ऐसे विनिश्चय इस मत के समर्थन में निर्दिष्ट किए गये हैं कि भागीदार उसकी फर्म का कर्मचारी नहीं हो सकता और हम उनमें से कुछ को निर्दिष्ट करेंगे। **ड्यूबे** बनाम **रोबिन्सन** के मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया है कि किसी भागीदारी में प्रत्येक भागीदार दूसरे भागीदार का अभिकर्ता है तथा वह मालिक भी है। किन्तु वह कर्मचारी के रूप में काम नहीं करता है तथा वह भागीदारी के कर्मचारियों के साथ वैसा ही काम कर सकता है जैसा वे करते हैं और इससे वह अन्य भागीदारों या भागीदारी का कर्मचारी नहीं बन जाता। इसलिये ऐसे भागीदार की भागीदारी कारबार को एम्पलायर्स लायबेलिटी एण्ड वर्क्समैन कम्पनसेशन ऐक्ट को लागू करने के लिये कर्मकार के रूप में गणना नहीं की जा सकती। **यूनाइटेड स्टेट्स फाइडिलिटी एंड गारन्टी कम्पनी** बनाम **नोल**[2] के मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया है कि भागीदार कम्पनसेशन ऐक्ट में भागीदारी का कर्मचारी नहीं है। यद्यपि क्षति के समय वह अपने भागीदार के साथ संविदा के अधीन विशेष सेवाएं कर रहा था जो भागीदारी के आर्टिकल्स से पृथक् और स्वतन्त्र थी और उसके लिए लाभ में उसके हिस्से के अतिरिक्त उसे प्रतिकर संदत्त किया गया था। पुनः **ले-क्लेयर** बनाम **स्मिथ**[3] के मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि भागीदार, यद्यपि वह लाभ में उसके हिस्से के अतिरिक्त वेतन प्राप्त कर रहा हो, नियोजक था और कर्मकार प्रतिकर विधि के अधीन प्रतिकर के लिए हकदार कर्मचारी नहीं था। उक्त विधि के अधीन बीमाकर्ता नियोजकों का बीमा नहीं करता है। **बर्जर** बनाम **फाइडिलिटी यूनियन कैजुएलिटी कंपनी टैक्सास**[4] के मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया है कि नियोजक फर्म का सदस्य उसका कर्मचारी नहीं हो सकता। **वीवर** बनाम **बेनबर्जर**[5] के मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि कर्मचारी ऐसा व्यक्ति है जो सामान्यतया मजदूरी, वेतन या अन्य वित्तीय प्रतिफल के लिए अन्य की सेवा करता है और जो ऐसी सेवा करने में ऐसे अन्य व्यक्ति के नियोजक होने की दशा में पूर्ण रूप से उसके निदेश और नियंत्रण के अध्यधीन होता है। **क्रूक्स** बनाम **ग्लेनाफाल्स इंडेमिनिटी कम्पनी**[6] का मामला इस मत के लिये नज़ीर है कि

---

[1] 92 एन० एच० 312.
[2] 188 जी० ए० 105.
[3] 202 एन० वाई० एस० 514.
[4] 293 एस० डब्ल्यू० 235.
[5] 392 एफ० सप्लीमेंटरी 721.
[6] 268 पी० सेकेंड 203.

कर्मचारी वह होता है जो किसी नियोजक के नियोजन के दौरान और उसकी परिधि में किये जाने वाले किसी काम, श्रम या कार्य के सम्बन्ध में नियोजक के पूर्णतया नियंत्रण और निदेश के अध्यधीन है **मोरिसी कारपोरेशन बनाम यू० एस० डी० सी० कैलीफोर्निया**[1] के मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया है कि इस बात का अवधारण करने की कसौटी कि क्या कोई व्यक्ति किसी अन्य का कर्मचारी है यह है कि क्या वह अन्य व्यक्ति के नियंत्रण के अध्यधीन है अथवा नहीं । **बर्कर बनाम एंडर्सन**[2] के मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि भागीदारों को कर्मचारियों के रूप में नहीं माना जा सकता और न ही ऐसे नियोजकों के रूप में माना जा सकता है जो कारबार का स्वामित्व रखते है और उसके संचालन की व्यवस्था करते हैं और इसलिये उन्हें कर्मचारियों में सम्मिलित नहीं किया जा सकता । **राइट बनाम डियरेदर**[3] के मामले में यह मत व्यक्त किया गया कि भागीदार इस अपेक्षा के प्रयोजनों के लिये कर्मचारी नहीं थे कि कम्पनसेशन ला का अनुपालन किया जाना चाहिये जब तीन या उससे अधिक कर्मचारी हों। यद्यपि हमारे समक्ष इस मुद्दे पर अमेरिका की सुप्रीम कोर्ट का ऐसा कोई विनिश्चय नहीं आया है । विभिन्न विधानों के अधीन ये नजीरें स्पष्ट रूप से इस सिद्धांत को उपदर्शित करती हैं कि भागीदार जो नियोजक के वर्ग का है, कर्मचारी नहीं हो सकता क्योंकि वह भागीदारी के लिये मजदूरी हेतु भी काम करता है । निस्संदेह "कर्मचारी" शब्द नियोजक का सह संबंधी है ।

7. हम इंगलिश विनिश्चयों को भी निर्दिष्ट कर सकते हैं । **एलिस बनाम जोसेफ एलिस एण्ड कम्पनी**[4] के मामले में अपील न्यायालय को इस बात का विनिश्चय करना था कि क्या किसी फर्म का भागीदार उसका कर्मचारी हो सकता है । कोलिन्स एम० आर० के निर्णय में हमारे प्रयोजन के लिए उपलभ्य सुसंगत संक्षिप्त तथ्य इस प्रकार हैं—

> "मृतक एक कुशल कर्मकार प्रतीत होता है और उनके भागीदारों के करार से वह कभी-कभी धरातल पर और कभी-कभी धरातल के नीचे मजदूरी पर खान में काम करता है और धरातल के नीचे काम करते समय वह एक दुर्घटना का शिकार हुआ जिससे

---

[1] 500 एफ० सप्लीमेंटरी 714.

[2] 556 एफ० सेकेंड 867.

[3] 442 पी० सेकेंड 888.

[4] (1905) 1 के० बी० 324.

उसकी मृत्यु हो गई । इस पर उसके प्रतिनिधियों ने स्वयं की ओर से और उसके बच्चों के लिए वर्कमेन्स कंपनसेशन ऐक्ट, 1897 के अधीन प्रतिकर के लिए दावा किया । प्रश्न यह है कि क्या भागीदारों में से एक भागीदार के रूप उसकी स्थिति को देखते हुए क्या उसे अधिनियम के अर्थ में भागीदारी के नियोजन में कर्मकार और नियोजकों के रूप में भागीदार के रूप में माना जा सकता है, जब कोई व्यक्ति अधिनियम के उपबंधों को देखता है तो वे प्रस्तुत मामले जैसे मामले को लागू होने वाले प्रतीत नहीं होते । इस धारणा में कि मृतक व्यक्ति अधिनियम में प्रयुक्त उस शब्द के अर्थ में नियोजित था, यह बात अन्तर्वलित होगी कि उसे भागीदारों में से एक भागीदार के रूप में उसके नियोजकों में से एक नियोजक की स्थिति धारण करने वाले रूप में देखा जाना चाहिए । मुझे यह प्रतीत होता है कि जब कोई व्यक्ति इस प्रकार की व्यवस्था का अर्थात् जिसके द्वारा कोई भागीदार स्वयं काम करता है और राशि प्राप्त करता है जिसे मजदूरी कहा जाता है, विश्लेषण करता है, तो वह वास्तविक रूप से ऐसे नियोजकों का संबंध सूचित नहीं करता है जो ऐसी रकम को समायोजित करता है जो ऐसे भागीदार द्वारा भागीदारी की आस्तियों में अभिदाय की हुई मानी जानी चाहिए जिसने अभिदाय किया है जो वास्तविक रूप से अभिदाय ही है और वह ऐसे अन्य भागीदारों के साथ उसके उस सम्बन्ध को प्रभावित नहीं करता है जो उसके सहकर्मी के हैं और कर्मचारी के नहीं हैं ।"

न्यायाधिपति मैथ्यू ने दुखपूर्वक किन्तु बलपूर्वक यह कहा है—

"इस अपील में आवेदक की ओर से दिए गए तर्क में विधि की असंभाव्यता अन्तर्वलत प्रतीत होती है अर्थात् एक ही व्यक्ति मालिक और कर्मचारी, नियोजक और कर्मचारी, नियोजक और कर्मचारी दोनों होने से इस स्थिति को धारित कर सकता है ।"

लार्ड जस्टिस काजन हार्डी ने भी यही मत व्यक्त किया है—

"इस मामले में हमारा विनिश्चय मेरे विचार से इस कोटि में आता है कि अधिनियम केवल वही लागू होता है जहां एक ओर नियोजक हो और दूसरी ओर कर्मकार हो जो भिन्न व्यक्ति है ।"

यह बात पूर्णतया हमारे मत के अनुरूप है ।

8. एफ० सी० बाँक और एफ० एफ० मेनिक्स ने अपनी पुस्तक आस्ट्रेलियन इन्कम टैक्स ला एण्ड प्रैक्टिस (1960 संस्करण) जिल्द 3, पृष्ठ 3092 में निम्नलिखित मत व्यक्त किया है —

> "रोज बनाम फैडरल कमिश्नर आफ टैक्सेशन (1951) 84 सी०एल०आर० 118 के मामले में उच्च न्यायालय का विनिश्चय यह सिद्ध करता है कि सुसंगत आयकर विधान में पृथक् विधिक सत्ता के रूप में भागीदारी को मानने के लिए कोई बात नहीं है। इसलिए भागीदार भागीदारी का कर्मचारी नहीं हो सकता क्योंकि व्यक्ति अपने स्वयं का नियोजक नहीं हो सकता।"

9. इस प्रकार यह बात स्पष्ट है कि संयुक्त राज्य अमेरिका, ग्रेट ब्रिटेन और आस्ट्रेलिया में भागीदार को अपनी फर्म के कर्मचारी के रूप में केवल इस कारण से नहीं माना जाता है क्योंकि वह फर्म के लिए किए जाने वाले काम के हेतु मजदूरी या पारिश्रमिक प्राप्त करता है। यह मत विधि-शास्त्र के मत के अनुसार है। किसी कानूनी आज्ञा के अभाव में हमारे विचार से राजस्थान उच्च न्यायालय के मत को स्वीकार करने के लिए कोई गुंजाइश नहीं है।

10. अपीलार्थी के काउन्सेल ने इस बात पर बल दिया है कि कानून फायदाप्रद है तथा न्यायालय को उस में आने वाले उपबंध का इस प्रकार से निर्वचन नहीं करना चाहिए कि कर्मचारियों के लिए फायदा रुक जाए। हमें इस बारे में कोई संदेह नहीं है कि फायदाप्रद विधानों का उदार अर्थान्वयन किया जाना चाहिए ताकि विधायी आशय को कार्यान्वित किया जा सके किन्तु जहां ऐसे फायादाप्रद विधान की स्वयं की अपनी स्कीम हो, वहां स्कीम से परे जाने के लिए और कानूनी फायदा ऐसे लोगों तक, जो स्कीम के अंतर्गत नहीं आते हैं, विस्तारित करने के बहाने के आधार पर कानून की परिधि विस्तारित करने के लिए न्यायालय के पास कोई आधार नहीं है। अधिनियम में 20 या उससे अधिक कर्मचारियों वाले सभी कारखाने या स्थापन आते हैं तथा फायदा 20 या उससे अधिक संख्या वाले संस्थानों को देने के लिए आशयित है। काउन्सेल की यह दलील नहीं है कि चूंकि विधान फायदाप्रद है इसलिए वह 20 या उससे कम कर्मचारियों वाले कारखानों या स्थापनों को भी लागू किया जाना चाहिए। यदि ऐसी बात नहीं है तो यह बात मालूम करने के लिए, कि क्या भागीदार कर्मचारी होगा, उदार अर्थान्वयन अपेक्षित नहीं है। व्यक्ति को, जो परिभाषा के अनुसार नहीं होगा न्यूनतम

कानूनी सीमा नियत करने के प्रयोजन के लिए गणना में नहीं लिया जाएगा। इसलिए हम काउन्सेल की इस दलील को स्वीकार करने के लिए प्रेरित नहीं हैं कि कानून फायदाप्रद होने के आधार पर भागीदार की भी कर्मचारी के रूप में गणना की जानी चाहिए।

11. यदि हम एक बार यह अभिनिर्धारित करते हैं कि तीन भागीदार कर्मचारी नहीं थे तो स्वीकृत तथ्य के आधार पर कर्मचारियों की कुल संख्या 20 से कम होगी और अधिनियम विवादग्रस्त स्थापन को लागू नहीं होगा। अपील में कोई गुणागुण नहीं है और इसलिए वह खारिज की जानी चाहिए। सुनवाई के समय प्रत्यर्थी का प्रतिनिधित्व नहीं किया गया था इसलिए हम खर्चे के बारे में कोई निदेश नही देते हैं।

अपील खारिज की गई

जं०/स०

———

महाराष्ट्र राज्य और अन्य

बनाम

श्रीमती कमल सुकुमार दुर्गुले और अन्य

और

बृहत्तर मुम्बई नगर निगम

बनाम

श्री राम शिरोमन कवलेश्वर और एक अन्य

तथा

बहत्तर मुम्बई नगर निगम

बनाम

सैफुद्दीन फिदाहुसैन रेतीवाला और अन्य

(28 नवम्बर, 1984)

(मुख्य न्यायाधिपति वाई० वी० चन्द्रचूड़, न्यायाधिपति एस० मुर्तज़ा फजल अली, वी० डी० तुलजापुरकर, ओ० चिन्नप्पा रेड्डी और ए० वरदराजन)

महाराष्ट्र वेकेंट लैंड्स (प्रोहिबिशन ग्राफ अनअथराइज्ड ओकुपेशन एण्ड समरी इविक्शन) ऐक्ट, 1975 (1975 का 66)—धारा 2 (च) (ख), 3 और 4 [सपठित 1976 और 1977 वाले संशोधन अधिनियम एवं महाराष्ट्र वेकेंट लैंड्स (प्रोहिबिशन ग्राफ अनअथराइज्ड ओकुपेशन एण्ड समरी इविक्शन) (सर्विस आफ नोटिस) रूल्स, 1979 का नियम 3 (2) तथा संविधान का अनुच्छेद 14]—विधि-मान्यता—अधिनियम के अधीन सक्षम प्राधिकारी को यह घोषित करने का विवेकाधिकार प्रदत्त किया जाना कि वह ऐसे विवेकाधिकार को नियंत्रित करने विषयक कोई भी मार्गदर्शक सिद्धांत अधिकथित किए बिना ऐसी भूमियों में से जिन पर अप्राधिकृत संरचनाएं हैं, कुछ को रिक्त भूमि घोषित कर सकेगा और उसी स्थिति वाली कुछ

भूमियों को ऐसी घोषणा की परिधि से बाहर कर सकेगा—ऐसा उपबंध मनमाना है और सक्षम प्राधिकारी को प्रदत्त विवेकाधिकार के मनमाने प्रयोग के विरुद्ध किसी भी रक्षोपाय के अभाव में वह अविधिमान्य और असांविधानिक है।

संविधान, 1950—अनुच्छेद 14 तथा (संविधान से लुप्त किए जाने से पूर्व) 19(1)(च) और 31(1) और (2) [सपठित महाराष्ट्र वेकेंट लैंड्स (प्रोहिबिशन आफ अनअथराइज्ड ओकुपेशन एण्ड समरी इविक्शन) ऐक्ट, 1975 की धारा 2(च)(ख) और 1979 के नियम]—वर्गीकरण—रिक्त भूमियों पर अप्राधिकृत अधिक्रमण किया जाना—सक्षम प्राधिकारी को यह विवेकाधिकार प्रदत्त किया जाना कि जिन भूमियों पर अप्राधिकृत संरचनाएं हैं, उनमें से कुछ को वह रिक्त भूमि घोषित कर सकेगा और कुछ को अछूता छोड़ सकेगा—ऐसे वर्गीकरण का तर्कसंगत आधार न होने के कारण वह मनमाना है और उससे अनुछेच्द 14 के उपबंधों का अतिक्रमण होता है।

संविधान, 1950—सातवीं अनुसूची की सूची-2 की प्रविष्टि 18, 64 और 65—विधायी सक्षमता—राज्य विधानमंडल को उक्त प्रविष्टियों के अधीन 1975 वाला उक्त अधिनियम पारित करने की विधायी सक्षमता प्राप्त है।

प्रत्यर्थी-पिटीशनर उस भूखण्ड के स्वामी हैं, जो बृहत्तर मुम्बई स्थित बान्द्रा के सर्वेक्षण सं० 154 का भाग है और जिसका माप लगभग 1,100 वर्ग मीटर है। यद्यपि पिटीशनरों ने विक्रय-करार के अधीन लगभग 1964 में उस भूखण्ड का कब्जा प्राप्त कर लिया था, तथापि वे तारीख 20 सितम्बर, 1964 वाले विक्रय-विलेख के अधीन उसके स्वामी हो गए। मुम्बई नगर निगम ने उस भूखण्ड का निर्धारण, अकृषिक निर्धारण और सम्पत्ति-कर के लिए किया है। उस भूखण्ड पर ऐसी चार "चालें" हैं, जिनमें एक-एक कमरे के 31 घर हैं और उस पर ऐसा दोमंजिला भवन बना हुआ है, जिसमें प्रत्येक मंजिल पर चार-चार कमरे हैं। पिटीशनरों ने 1964 और 1970 के बीच वे भवन सन्निर्मित किए थे। दोमंजली संरचना पिटीशनरों के अधिभोग में है, जबकि उन्होंने एक-एक कमरे वाले घर को किराए पर उठा दिया था। चूंकि पिटीशनरों ने इन संरचनाओं का परिनिर्माण अपेक्षित अनुज्ञा के बिना किया है, इसलिए मुम्बई नगर निगम ने उन्हें उन संरचनाओं को गिरा देने का आदेश

दिया। तदुपरान्त सर्वेक्षण सं० 154 में समाविष्टि विभिन्न भूखण्डों के स्वामियों ने एक संगम (एशोसिएशन) बनाया, जिसके माध्यम से उन्होंने मुम्बई नगर निगम की स्थायी समिति से यह प्रार्थना की कि वह उन सन्निर्माणों को विनियमित कर दे। तथापि, संगम (एसोसिएशन) को यह इत्तिला दी गई कि उसका निवेदन इसलिए स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि सरकार औद्योगिक संपदा के प्रयोजनार्थ भूमि के अर्जन के लिए एक प्रस्ताव पर विचार कर रही है। उसके बाद संगम ने विशेष भूमि अर्जन अधिकारी से यह प्रार्थना करते हुए समावेदन किया कि वह भूमि अर्जन से निर्मुक्त कर दी जाए। भूमि अर्जन अधिकारी ने संगम (एसोसिएशन) को यह इत्तिला दी कि सर्वेक्षण सं० 154 को तारीख 14 सितम्बर, 1964 वाली अधिसूचना द्वारा अर्जन से निर्मुक्त कर दिया गया है। पिटीशनरों की दलीलों से यह स्पष्ट है कि भूखण्ड सं० 154 में समाविष्ट क्षेत्र में तारकोल की बनी हुई दो मुख्य सड़कें, तारकोल से बनी हुई दो गलियां, दो नगरपालिक प्राथमिक पाठशालाएं, एक उच्चतर विद्यालय और एक नगरपालिक औषधालय है। इसके अलावा केन्द्रीय उपभोक्ता सहकारी सोसायटी का प्रधान कार्यालय भी उस भूखण्ड पर स्थित भवनों में से एक में स्थित है। उस भूखण्ड पर परिनिर्मित संरचना के बारे में यह अभिकथन किया गया है कि वह स्थायी प्रकृति की है। किसी भी स्थिति में, यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उनमें जल और विद्युत जैसी आवश्यक नागरिक प्रसुविधाएं दी गई हैं। सक्षम प्राधिकारी ने पिटीशनरों की भूमि की बाबत महाराष्ट्र रिक्त भूमि (अप्राधिकृत अधिभोग का प्रतिषेध और संक्षिप्त बेदखली) अधिनियम [महाराष्ट्र वेकेंट लैंड्स (प्रोहिबिशन आफ अनअथराइज्ड ओकुपेशन एण्ड समरी इविक्शन) ऐक्ट], 1975 की धारा 2(च)(ख) द्वारा उसे प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग करते हुए यह घोषणा की थी कि वह "रिक्त भूमि" है। प्रत्यर्थियों ने संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन मुम्बई उच्च न्यायालय में अधिनियम की सांविधानिकता को इस आधार पर चुनौती दी कि उससे संविधान के अनुच्छेद 14, 19 (1) (च) और 31 द्वारा उन्हें प्रदत्त मूल अधिकारों का अतिक्रमण होता है; यह कि राज्य विधानमण्डल को अधिनियम पारित करने की विधायी सक्षमता प्राप्त नहीं है और यह कि अधिनियम ने कार्यपालिका को उसके उपबंधों के अधीन आदेश पारित करने की आधिक्यपूर्ण और अनियंत्रित शक्तियां प्रत्यायोजित की हैं। मुम्बई उच्च न्यायालय ने रिट पिटीशनों को मंजूर कर लिया। महाराष्ट्र राज्य और बृहत्तर मुम्बई नगर निगम ने उच्च न्यायालय के उसी निर्णय के विरुद्ध उच्चतम न्यायालय में अपीलें फाइल की हैं। अपीलें खारिज करते हुए,

अभिनिर्धारित—महाराष्ट्र वेकेंट लैंड्स (प्रोहिबिशन आफ अनअथराइज्ड ओकुपेशन एण्ड समरी इविक्शन) ऐक्ट [महाराष्ट्र रिक्त भूमि (अप्राधिकृत अधिभोग का प्रतिषेध और संक्षिप्त बेदखली) अधिनियम], 1975 की धारा 2 (च) रिक्त भूमियों का चार प्रवर्गों में विभाजन करती हैं : (1) ऐसी भूमियां जोकि वास्तव में रिक्त हैं, अर्थात् यह कि जिन पर कुछ नहीं बना है; (2) ऐसी भूमियां जिन पर ऐसी संरचनाएं, ऐसी संरचनाओं के सन्निर्माण को विनियमित करने वाली किसी विधि के अनुसार सन्निर्मित करने से अन्यथा, सन्निर्मित की गई हैं या की जा रही हैं, और जिन्हें सक्षम प्राधिकारी डोंडी पीट कर या अन्य उपयुक्त साधन द्वारा ऐलान करके रिक्त भूमि विनिर्दिष्ट और घोषित करे; (3) अधिनियम की अनुसूची में विनिर्दिष्ट भूमियां; और (4) ऐसी भूमियां जिन्हें राज्य सरकार ने अनुसूची को संशोधित करते हुए आदेश द्वारा अनुसूची में सम्मिलित की हो। उच्च न्यायालय में उसी प्रश्न के सम्बन्ध में कुछ अनावश्यक संविवाद के बावजूद यह स्पष्ट है कि अधिनियम की धारा 2 (च) में आई हुई "भूमि" अभिव्यक्ति से निश्चित की गई सीमाओं सहित भूमि के ऐसे खण्ड अभिप्रेत हैं, जो कि राजस्व के सर्वेक्षण के प्रयोजनों के लिए साधारण रूप से मान्य हैं। धारा 2 (च) (ख) इस बात की अपेक्षा करती है कि इस दृष्टि से दो शर्तें पूरी की जानी चाहिएं जिससे कि किसी भूमि को "रिक्त भूमि" के रूप में वर्णित किया जा सके : पहली शर्त यह है कि भूमि पर अप्राधिकृत संरचना होनी चाहिए और दूसरी बात यह है कि सक्षम प्राधिकारी को लिखित रूप में आदेश निकाल कर यह विनिर्दिष्ट और घोषित करना पड़ता है कि वह भूमि रिक्त भूमि है। (पैरा 17)

अधिनियम सक्षम प्राधिकारी को कोई भूमि, विवेकाधिकार को नियंत्रित करने के किन्हीं मार्गदर्शक सिद्धांतों को अधिकथित किए बिना, रिक्त भूमि के रूप में घोषित करने का विवेकाधिकार प्रदत्त करता है। सक्षम प्राधिकारी को इस बात की स्वतंत्रता होती है कि वह ऐसी भूमियां चुने, जिन पर अप्राधिकृत संरचनाएं हैं और उनमें से कुछ को रिक्त भूमि घोषित करे और उसी प्रकार स्थित अन्य भूमियों को अछूता छोड़ दे। अधिनियम में किसी भी प्रकार का ऐसा कोई भी उपबन्ध मौजूद नहीं है, जिससे लोक स्वास्थ्य और स्वच्छता या संबंधित परिक्षेत्र के निवासियों का शान्तिपूर्ण जीवन सुनिश्चित होता हो। वास्तव में कोई भी बात इन बातों की बनिस्बत अधिनियम के वास्तविक प्रयोजन और उद्देश्य से अधिक दूर नहीं है। अधिनियम की अनुसूची में जो अंतिम पद है, उसमें बृहत्तर मुम्बई में की सभी सार्वजनिक सड़कें और राजपथ सम्मिलित हैं। निश्चित रूप से इन्हें यह नहीं माना जा सकता

कि वे लोक स्वास्थ्य, स्वच्छता या नागरिकों के शान्तिपूर्ण जीवन के लिए गम्भीर खतरा हैं। (पैरा 18)

यह भी स्पष्ट है कि वह बुराई जिस का उपचार उस अध्यादेश द्वारा, जिसका स्थान बाद में इस अधिनियम ने ले लिया था, करने की कोशिश की गई थी, लोक स्वास्थ्य या स्वच्छता के लिए या मुम्बई महानगर के निवासियों के शान्तिपूर्ण के जीवन लिए खतरा नहीं है। अप्राधिकृत संरचनाओं के सन्निर्माण के परिणामस्वरूप जो खतरा उत्पन्न हो गया है, वह ऐसी बुराई है, जिसका उपचार यह अधिनियम करना चाहता है। (पैरा 19)

इस अधिनियम में रिक्त भूमि के रूप में किसी भूमि को घोषित करने के लिए सक्षम प्राधिकारी को प्रदत्त विवेकाधिकार के मनम ने प्रयोग के विरुद्ध किसी भी रक्षोपाय के लिए उपबंध नहीं किया गया है। यह सच है कि शक्ति के दुरुपयोग को अगम्भीरता के साथ नहीं लिया जाना चाहिए, बल्कि अनुभव इस आशा को झुठलाता है कि वैवेकिक शक्तियों का प्रयोग सदैव उचित रूप से और वस्तुपरक रूप से किया जाता है। वास्तव में सक्षम प्राधिकारी द्वारा की गई विभेदक घोषणाओं के उदाहरण उच्च न्यायालय में पुरोधृत किए गए थे, जिसका कोई भी समाधानकारी उत्तर, उच्च न्यायालय के मतानुसार, राज्य सरकार की ओर से फाइल की गई विवरणी में नहीं दिया गया। अधिनियम ऐसी कोई प्रक्रिया विहित नहीं करता जिसके बारे में सक्षम प्राधिकारी से यह अपेक्षित है कि वह किसी भूमि को रिक्त भूमि के रूप में घोषित करने से पूर्व उसे अपनाए। अधिनियम में ऐसा कोई उपबन्ध नहीं है जो सक्षम प्राधिकारी से इस बात की अपेक्षा करता हो कि वह कानूनी घोषणा करने के पूर्व नैसर्गिक-न्याय के आधारिक मानकों का पालन करे। प्राधिकारी किसी को भी सूचना देने के लिए बाध्य नहीं है और उसे किसी ऐसे व्यक्ति की सुनवाई करने की शक्ति है, जिस पर इस घोषणा का प्रभाव पड़ना संभाव्य है। राज्य सरकार भी अनुसूची को संशोधित करने से पूर्व किसी निश्चित प्रक्रिया का अनुसरण करने के लिए इस प्रकार बाध्य नहीं है जिससे कि उसमें नई भूमियां शामिल की जा सकें। उसी प्रकार से अधिनियम की धारा 3(1) और 4(1) द्वारा प्रदत्त शक्ति अनियंत्रित और मनमानी है। वास्तव में गलत ढंग से कल्पित उस विधान का प्रमाण-चिह्न यह है—"कोई सूचना नहीं और कोई सुनवाई नहीं"। ऐसे मामले हो सकते हैं, यद्यपि न्यायालय को उनके प्रवर्ग में वृद्धि नहीं करनी चाहिए, जिनमें प्रतिकूल विनिश्चय किए जाने के पूर्व सुनवाई करने में हुई असफलता के परिणामस्वरूप वह विनिश्चय आवश्यक रूप से दूषित नहीं भी हो सकता। किन्तु पेश किए गए उन मामलों में,

विनिश्चय किए जाने के पूर्व सुनवाई करना इस मामले का सार है। जैसा कि अध्यादेश के उद्देश्यों और कारणों से दर्शित होता है, यह महत्वपूर्ण है कि मुम्बई में गन्दी बस्ती के पेशेवर मालिकों ने जो कि अपने-आप में कानून बन गए हैं, खाली भूमियों का अतिचार कर लिया है। कदाचित्, वे राजनैतिक आवश्यकताओं और दबाओं के अनुसार सहायता करते हैं, किन्तु यह बात मुद्दे से हटकर है। प्राइवेट समितियों पर बड़े पैमाने पर कब्जा करने के परिणामस्वरूप उन समितियों के आधिकारिक स्वामियों को उनके हक से वस्तुतः वंचित कर दिया गया है। अधिनियम ऐसे स्वामियों को उनके किसी कसूर के बिना ही और वह भी उन्हें सुनवाई का कोई अवसर दिए बिना दण्डित करता है। इस तथ्य से कि अधिनियम के अधीन अपेक्षित घोषणा करने की शक्ति उच्चतर पंक्ति के अधिकारियों में निहित है, इस स्थिति में कोई अन्तर नहीं पड़ता और उससे उस प्रतिकूल प्रभाव का उपशमन नहीं होता जोकि ऐसी स्थिति में अन्तर्निहित होता है। (पैरा 20)

अपीलार्थी की ओर से इस बात पर जोर दिया गया कि वह कमजोरी, यदि कोई रही हो, जो कि अधिनियम में उसके अस्तित्व में आने के समय से ही थी, महाराष्ट्र वेकेंट लैंड्स (प्रोहिबिशन आफ अनअथोराइज्ड आकुपेशन एण्ड समरी इविक्शन) (सर्विस आफ नोटिस) रूल्स [महाराष्ट्र रिक्त भूमि (अप्राधिकृत अधिभोग का प्रतिषेध और संक्षिप्त बेदखली)(सूचना की तामील) नियम], 1979 के पारित करने के कारण दूर हो गई है। इन नियमों द्वारा अधिनियम की धारा 2 (च) (ख) के अधीन या धारा 4 (1) के अधीन कोई आदेश निकालने के पूर्व सक्षम प्राधिकारी से यह अपेक्षित होता है कि वह ऐसे आदेश से संभाव्यत: प्रभावित होने वाले किसी व्यक्ति पर उसको यह आदेश देते हुए लिखित सूचना तामील करे कि वह ऐसी कालावधि के भीतर, जैसी कि सूचना में विनिर्दिष्ट की जाए, यह कारण बताए कि प्रस्तावित आदेश क्यों न जारी कर दिया जाए। इसके अलावा सक्षम प्राधिकारी से यह अपेक्षित है कि वह सूचना में विनिर्दिष्ट कालावधि के भीतर किसी ऐसे व्यक्ति द्वारा उसके समक्ष प्रस्तुत किन्ही भी आक्षेपों पर विचार करे। नियम 3(2) में ऐसी सूचनाओं की तामील के लिए उपबंध किया गया है। यह स्वीकार नहीं किया जा सकता कि अधिनियम की असांविधानिकता अधिनियम के पारित होने के 3-1/2 वर्ष बाद बनाए गए नियमों को विरचित करके दूर की जा सकती है। इसके अलावा नियमों में धारा 2(च) (ख) और 4(1) के अधीन आदेश पारित करने के पूर्व दी जाने वाली सूचना और विचार किए जाने वाले आक्षेपों के संबंध में ही उपबंध किया गया है। उनमें अधिनियम की धारा 3 (1) के

अधीन अनुज्ञा दिए जाने या उससे इन्कार किए जाने के पूर्व उसी प्रकार का उपबंध किया गया है। किन्तु जो बात अधिक महत्व की है, वह यह है कि नियमों में भी विवेकाधिकार के प्रयोग के लिए कोई मार्गदर्शक सिद्धांत अधिकथित नहीं किए गए हैं, जो कि अधिनियम की धारा 2(च)(ख) या धारा 4 (1) द्वारा सक्षम प्राधिकारी को प्रदत्त किया गया है। (पैरा 22)

धारा 2(च)(ख) में एक दूसरी बुराई भी मौजूद है अर्थात् यह कि उसके अधीन, इस बात को विचार में लाए बिना कि ऐसे सभी व्यक्तियों की स्थिति अप्राधिकृत संरचनाओं के सन्निर्माण में उनके अन्तर्वलित होने के और उनमें उनके हित के विषय में क्या है, उनके साथ समान रूप से व्यवहार किया गया है। वर्गीकरण ऐसे वर्गों में विभाजन की अपेक्षा करता है, जिनमें समान गुण मौजूद रहते हैं। ऐसे विभाजन को तर्कसंगत आधार पर आधारित होना पड़ता है और उसका उद्देश्य कानून के प्रयोजनों को सिद्ध करना होना चाहिए। अधिनियम की धारा 2(च) (ख) और अन्य असमान उपबंधों में भूमि के ऐसे स्वामियों के, जिन्होंने स्वयं ही अप्राधिकृत संरचनाएं सन्निर्मित की हैं और उन अन्य लोगों के जिनकी भूमियों पर अतिचारियों ने अप्राधिकृत संरचनाएं सन्निर्मित की हैं, बीच बिलकुल भी प्रभेद नहीं किया गया है। पश्चात्-कथित वर्ग के ऐसे स्वामियों को जोकि अपनी सम्पत्ति के हक से बलात् और अविधिपूर्ण रूप से वंचित किए जाने पर मूक दर्शक बने रहते हैं, अधिनियम के अधीन ऐसे अतिचारियों के समान ठहराया गया है, जोकि विधि को अपने हाथ में लेते हुए न केवल प्राइवेट स्वामियों को, बल्कि लोक प्राधिकारियों को भी चुनौती देते हैं। (पैरा 23)

कुछ भी हो, चूंकि अधिनियम से संविधान के अनुच्छेद 14 का अतिक्रमण होता है, इसीलिए इस प्रश्न पर विचार करना अनावश्यक है कि जहां तक कि उससे अनुच्छेद 19(1) (च) का अतिक्रमण होता है, वहां तक क्या वह संविधान (चवालीसवां संशोधन) अधिनियम, 1978 द्वारा उस अनुच्छेद के लुप्त किए जाने पर पुनरुज्जीवित हो गया। न्यायालय ने इस प्रश्न के संबंध में कोई भी विचार व्यक्त नहीं किया कि क्या "ग्रसन का सिद्धांत" (डाक्ट्रिन आफ एक्लिप्स) संविधान-पूर्व और संविधानोत्तर विधियों दोनों, को लागू होता है या यह कि वह सिद्धांत केवल संविधान पूर्व की विधियों को ही लागू होता है। (पैरा 34)

अधिनियम से संविधान के अनुच्छेद 31(1) के उपबंधों का अतिक्रमण नहीं होता। उसमें राज्य को या राज्य के स्वामित्वाधीन या उसके द्वारा

नियंत्रित निगम को रिक्त भूमियों के स्वामित्व के अंतरण के लिए कोई उपबंध नहीं किया गया है और न ही वह राज्य में ऐसी भूमियों के उपयोग या अधिभोग के लिए किराया या प्रतिकर वसूल करने के संबंध में रिक्त भूमियों के स्वामियों या अधिभोगियों में कोई अधिकार निहित करता है। (पैरा 31)

यह अधिनियम राज्य को, उसके अभिकर्ताओं को या उसके अभिकरणों को रिक्त भूमियों के कब्जे का अधिकार अंतरित नहीं करता। अतः अधिनियम संविधान के अनुच्छेद 31(2) के उपबंधों का उल्लंघन नहीं करता। चूंकि वह अधिनियम लागू नहीं होता, इसलिए अनुच्छेद 31(5) में उल्लिखित आधार पर, अर्थात् इस आधार पर कि अधिनियम को राष्ट्रपति की अनुमति नहीं मिली थी, अधिनियम के अविधिमान्य होने का कोई प्रश्न ही नहीं उत्पन्न हो सकता। (पैरा 32)

जहां तक कि विधायी सक्षमता के प्रश्न का संबंध है, उच्च न्यायालय का यह निष्कर्ष इस सीमा तक कायम रखे जाने लायक है कि राज्य विधान-मण्डल को सूची 2 की प्रविष्टि 18, 64 और 65 के अधीन अधिनियम पारित करने की सक्षमता प्राप्त थी। (पैरा 33)

सिविल अपीली अधिकारिता : 1980 की सिविल अपील सं० 386, 529 और 532.

1977 की प्रकीर्ण पिटीशन सं० 141, 1340 और 1976 की 1535 में मुम्बई उच्च न्यायालय के तारीख 8 फरवरी, 1980 वाले निर्णय और आदेश के विरुद्ध अपीलें।

अपीलार्थी की ओर से (1980 की सिविल अपील सं० 386 में)	डा० एल० एम० सिंघवी, सर्वश्री ओ० पी० राना, आर० पी० व्यास, एम० एन० श्राफ और अभिषेक मनु सिंघवी
प्रत्यर्थी की ओर से (1980 की सिविल अपील सं० 386 में)	सर्वश्री के० के० सिंघवी, अनिल गुप्ता और बृज भूषण
अपीलार्थियों की ओर से (1980 की सिविल अपील सं० 529 में)	सर्वश्री हरीश साल्वे, जे० बी० दादा-चन्जी और डी० एन० मिश्र

प्रत्यर्थी की ओर से (1980 की सिविल अपील सं० 529 में)	सर्वश्री एस० बी० भस्मे, एस० एस० खंडूजा और ए० के० गुलाटी
प्रत्यर्थी की ओर से (1980 की सिविल अपील सं० 532 में)	सर्वश्री वाई० एच० मोचला, बी० पी० सिंह और रणजीत कुमार

न्यायालय का निर्णय मुख्य न्यायाधिपति वाई० वी० चन्द्रचूड़ ने दिया।

मुख्य न्यायाधिपति चन्द्रचूड़—

महाराष्ट्र राज्य द्वारा की गई ये अपीलें इन रिट पिटीशनों के समूह में जो कि संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन फाइल किए गए थे, मुम्बई उच्च न्यायालय के तारीख 8 फरवरी, 1980 वाले निर्णय के विरुद्ध उद्‌भूत हुई हैं। उन रिट पिटीशनों द्वारा पिटीशनरों ने, जो कि यहां पर प्रत्यर्थी हैं, महाराष्ट्र वेकेंट लैंड्स (प्रोहिबिशन आफ अनअथोराइज्ड ओकुपेशन एण्ड समरी इविक्शन) ऐक्ट [महाराष्ट्र रिक्त भूमि (अप्राधिकृत अधिभोग का प्रतिषेध और संक्षिप्त बेदखली) अधिनियम], 1975 (1975 का अधिनियम सं० 66) की विधिमान्यता और उसके अधीन पारित किए गए कतिपय आदेशों की वैधता को चुनौती दी है। हम पूर्वोक्त अधिनियम के प्रति "अधिनियम" के रूप में निर्देश करेंगे। इस अधिनियम ने उस अध्यादेश का स्थान लिया, जिसका नाम समरूप है, और जिसे 11 नवम्बर, 1975 को महाराष्ट्र के राज्यपाल ने प्रख्यापित किया था। उस अधिनियम का संशोधन दो बार किया गया, पहला संशोधन 1976 के अधिनियम सं० 37 द्वारा और उसके बाद 1977 के अधिनियम सं० 77 द्वारा किया गया। हम इन अधिनियमों के प्रति "प्रथम संशोधन अधिनियम" और "द्वितीय संशोधन अधिनियम" के रूप में निर्देश करेंगे।

2. मुम्बई उच्च न्यायालय में अधिनियम और उसके अधीन पारित किए गए आदेशों की विधिमान्यता को चुनौती देने के लिए अनेक रिट पिटीशन फाइल किए गए, जिनके तथ्य मोटे तौर से एक ही प्रकार के हैं। इन अपीलों में संविवाद की प्रकृति को समझने की दृष्टि से हमारे प्रयोजन के लिए यह पर्याप्त होगा कि उन पिटीशनों में से एक, अर्थात् 1977 का रिट पिटीशन सं० 1340, के तथ्य उपवर्णित कर दिए जाएं। उस पिटीशन में जो पिटीशनर हैं, वे उस भूखण्ड के स्वामी हैं, जो बृहत्तर मुम्बई स्थित बान्द्रा के सर्वेक्षण सं० 154 का

भाग है और जिसका माप लगभग 1,100 वर्गमीटर है । यद्यपि पिटीशनरों ने विक्रय-करार के अधीन लगभग 1964 में उस भूखण्ड का कब्जा प्राप्त कर लिया था, तथापि वे तारीख 20 सितम्बर, 1964 वाले विक्रय-विलेख के अधीन उसके स्वामी हो गए। मुम्बई नगर निगम ने उस भूखण्ड का निर्धारण, अकृषिक निर्धारण और सम्पत्ति-कर के लिए किया है । उस भूखण्ड पर ऐसी चार "चालें" हैं, जिनमें एक-एक कमरे के 31 घर हैं और उस पर ऐसा दोमंजिला भवन बना हुआ है, जिसमें प्रत्येक मंजिल पर चार-चार कमरे हैं । पिटीशनरों ने 1964 और 1970 के बीच वे भवन सन्निर्मित किये थे। दोमंजिली संरचना पिटीशनरों के अधिभोग में है, जबकि उन्होंने एक-एक कमरे वाले घर को किराए पर उठा दिया था। चूंकि पिटीशनरों ने इन संरचनाओं का परिनिर्माण अपेक्षित अनुज्ञा के बिना किया है, इसलिए मुम्बई नगर निगम ने उन्हें उन संरचनाओं को गिरा देने का आदेश दिया। तदुपरान्त, सर्वेक्षण सं० 154 में समाविष्ट विभिन्न भूखण्डों के स्वामियों ने एक संगम (एसोसिएशन) बनाया, जिसके माध्यम से उन्होंने मुम्बई नगर निगम की स्थायी समिति से यह प्रार्थना की कि वह उन सन्निर्माणों को विनियमित कर दे। तथापि, संगम (एसोसिएशन) को यह इत्तिला दी गई कि उसका निवेदन इसलिए स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि सरकार औद्योगिक संपदा के प्रयोजनार्थ भूमि के अर्जन के लिए एक प्रस्ताव पर विचार कर रही है। उसके बाद संगम ने विशेष भूमि अर्जन अधिकारी से यह प्रार्थना करते हुए समावेदन किया कि वह भूमि अर्जन से निर्मुक्त कर दी जाए। भूमि अर्जन अधिकारी ने संगम (एसोसिएशन) को यह इत्तिला दी कि सर्वेक्षण सं० 154 तारीख 14 सितम्बर, 1964 वाली अधिसूचना द्वारा अर्जन से निर्मुक्त कर दिया गया है ।

3. पूर्वोक्त रिट पिटीशनों के पिटीशनरों की दलीलों से यह प्रतीत होता है कि भूखण्ड सं० 154 में समाविष्ट क्षेत्र में तारकोल की बनी हुई दो मुख्य सड़कें, तारकोल से बनी हुई दो गलियां, दो नगरपालिक प्राथमिक पाठशालाएं, एक उच्चतर विद्यालय और एक नगरपालिक औषधालय है। इसके अलावा केन्द्रीय उपभोक्ता सहकारी सोसायटी का प्रधान कार्यालय भी उस भूखण्ड पर स्थित भवनों में से एक में स्थित है। उस भूखण्ड पर परिनिर्मित संरचना के बारे में यह अभिकथन किया गया है कि वह स्थायी प्रकृति की है। किसी भी स्थिति में ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है कि उनमें जल और विद्युत जैसी आवश्यक नागरिक प्रसुविधाएं दी गई हैं। सक्षम प्राधिकारी ने पिटीशनरों की भूमि की बाबत अधिनियम की धारा 2(च)(ख) द्वारा

उसे प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग करते हुए यह घोषणा की थी कि "वह रिक्त भूमि" है।

4. प्रत्यर्थियों ने अधिनियम की सांविधानिकता को इस आधार पर चुनौती दी कि उससे संविधान के अनुच्छेद 14, 19(1)(च) और 31 द्वारा उन्हें प्रदत्त मूल अधिकारों का अतिक्रमण होता है; यह कि राज्य विधानमण्डल को अधिनियम पारित करने की विधायी सक्षमता प्राप्त नहीं है और यह कि अधिनियम ने कार्यपालिका को उसके उपबन्धों के अधीन आदेश पारित करने की आधिक्यपूर्ण और अनियंत्रित शक्तियां प्रत्यायोजित की हैं।

5. अधिनियम के लम्बे नाम से यह दर्शित होता है कि वह महाराष्ट्र राज्य के शहरी क्षेत्रों में की रिक्त भूमियों के अप्राधिकृत अधिभोग को प्रतिषिद्ध करने के लिए और ऐसी भूमियों से व्यक्तियों की संक्षिप्त बेदखली के लिए तथा उससे संबंधित बातों के लिए उपबंध करने की दृष्टि से पारित किया गया था। अधिनियम की उद्देशिका के अनुसार कतिपय अभ्युपाय करना आवश्यक हो गया था, क्योंकि शहरी क्षेत्र में की रिक्त भूमियों पर अप्राधिकृत अधिभोगियों की संख्या तेजी से बढ़ रही थी और उससे लोक स्वास्थ्य तथा स्वच्छता के लिये और उन क्षेत्रों के निवासियों के शान्तिपूर्ण जीवन के लिए गम्भीर खतरा उत्पन्न हो रहा था।

6. वह अधिनियम समस्त महाराष्ट्र को लागू था, किन्तु, प्रथमत: 11 नवम्बर, 1975 को जोकि ऐसी तारीख थी, जिसको अध्यादेश प्रख्यापित किया गया था, मुम्बई के महानगरीय क्षेत्र में प्रवृत्त किया गया था। अधिनियम राज्य सरकार को शहरी क्षेत्र से भिन्न ऐसे क्षेत्रों में जैसे कि अधिसूचना द्वारा विनिर्दिष्ट किए जाएं, उसके उपबंधों को प्रवृत्त करने का शक्ति प्रदत्त करता है। बाद में वह अधिनियम शोलापुर, औरंगाबाद, नागपुर और कोल्हापुर के शहरी क्षेत्रों में प्रवृत्त किया गया।

7. अधिनियम की धारा 3 और 4, जिस पर दलील का अधिकांश भाग केन्द्रित है, निम्नलिखित रूप में हैं—

***"3. रिक्त भूमि के अप्राधिकृत अधिभोग के विरुद्ध प्रतिषेध।**

---

*अंग्रेजी में यह इस प्रकार है —

"3. Prohibition against unauthorised occupation of vacant land.

(1) कोई भी व्यक्ति, नियत दिन या उसके बाद नगर निगम क्षेत्र में नगरपालिका आयुक्त की, नगरपालिक क्षेत्र में मुख्य अधिकारी की और अन्यत्र कलक्टर की लिखित रूप में अभिव्यक्त अनुज्ञा के बिना या ऐसे शहरी क्षेत्र में तत्समय प्रवृत्त किसी विधि के अनुसार करने के सिवाय, निवास के प्रयोजन के लिए या अन्यथा किसी शहरी क्षेत्र में की कोई रिक्त भूमि अधिभोग में नहीं रखेगा या ऐसे शहरी क्षेत्र की कोई रिक्त भूमि अधिभोग में नहीं बनाए रखेगा या ऐसी भूमि पर कोई आश्रय-स्थल या हाता या अन्य संरचना परिनिर्मित नहीं करेगा।

(2) कोई भी व्यक्ति नियत दिन या उसके बाद उपधारा (1) के उपबंधों का उल्लंघन करते हुए किसी शहरी क्षेत्र में की कोई रिक्तभूमि अधिभोग में रखने के लिए या ऐसा अधिभोग बनाए रखने के लिए या ऐसी भूमि पर कोई आश्रय-स्थल, हाता या अन्य संरचना परिनिर्मित करने के लिए किसी व्यक्ति को दुष्प्रेरित नहीं करेगा, या ऐसी रिक्त भूमि के अधिभोगी से ऐसी कोई रकम, वह

---

(1) No person shall, on or after the appointed date, occupy any vacant land or continue in occupation of any vacant land in any urban area or erect any shelter or enclosure or other structure on such land for the purposes of residence or otherwise without the express permission in writing of the Municipal Commissioner in a corporation area, of the Chief Officer in a municipal area and elsewhere, of the Collector, or except in accordance with any law for the time being in force in such urban area.

(2) No person shall on or after the appointed date abet any person in occupying any vacant land or in continuing to occupying such land in any urban area, or in erecting any shelter, enclosure or other structure on such land for the purposes of residence or otherwise in contravention of the provisions of sub-section (1), or shall receive or collect from the occupier of such vacant

चाहे किराए के प्रतिकर के तौर पर हो या अन्यथा, प्राप्त या संगृहीत नहीं करेगा, या किसी भी प्रकार से ऐसी रिक्त भूमि के अप्राधिकृत अधिभोग के संबंध में क्रियाशील नहीं होगा :

परन्तु राज्य सरकार या इस निमित्त उसके द्वारा विनिर्दिष्ट किसी अधिकारी या किसी प्राधिकारी को ऐसी रिक्त भूमि के अधिभोगी से दाण्डिक प्रभार के तौर पर ऐसी युक्तियुक्त रकम, जैसी सरकार साधारण या विशेष आदेश द्वारा अवधारित करे, प्राप्त करने या संगृहीत करने का अधिकार ऐसे समय तक रहेगा जब तक कि उपधारा (1) के उपबन्धों के उल्लंघन में परिनिर्मित संरचना उस भूमि से हटा नहीं ली जाती। ऐसी किसी रकम का संदाय, अप्राधिकृत अधिभोगी के पक्ष में या को ऐसी भूमि या संरचना के अधिभोग का कोई अधिकार न तो सृष्ट करेगा और न ही प्रदत्त करेगा। यदि ऐसी रकम मांग करने पर संदत्त न की जाये, तो वह भू-राजस्व की बकाया के रूप में वसूलनीय होगी। इस प्रकार संगृहीत रकम का उपयोग, यावत्संभव, रिक्त भूमियों के अप्राधिकृत

---

land any amount whether by way of rent compensation or otherwise or shall in any manner whatsoever operate in relation to the unauthorised occupation of such vacant land :

Provided that, the State Government or any officer or authority specified by it in this behalf, shall have a right to receive or collect from the occupier or such vacant land such reasonable amount by way of penal charges as may be determined, by general or special order by the State Government, till such time as the structure erected in contravention or the provisions of sub-section (1) is removed from the land. Payment of any such amount shall not create or confer on the unauthorised occupant any right or occupation of such land of structure. Such amount if not paid on demand shall be recoverable as an arrear of land revenue. The amount so collected shall, as far as possible, be utilised for

अधिभोगियों की बेदखली, उनके पुनर्वास और उनकी दशा को सुधारने से संबंधित प्रयोजन के लिए किया जाएगा।"

"4. रिक्त भूमियों के अप्राधिकृत अधिभोग से व्यक्तियों को बेदखल करने विषयक सक्षम प्राधिकारी की शक्ति :

(1) तत्समय प्रवृत्त किसी विधि में अंतर्विष्ट किसी बात के होते हुए भी, यदि सक्षम प्राधिकारी के पास या तो आवेदन करने से या स्वप्रेरणा से यह विश्वास करने का कोई कारण है कि कोई व्यक्ति धारा 3 के उपबन्धों का उल्लंघन करते हुए किसी शहरी क्षेत्र में की कोई रिक्त भूमि अपने अधिभोग में रख रहा है, तो वह ऐसे व्यक्ति से, आदेश द्वारा, तुरन्त या ऐसे व्यक्ति को सूचित किए गए कतिपय समय तक वह भूमि रिक्त करने की और उससे सभी सम्पत्ति हटाने की अपेक्षा कर सकेगा, और यदि ऐसा व्यक्ति वह भूमि रिक्त करने के आदेश का अनुपालन करने में और उससे सभी सम्पत्ति हटाने में असफल रहता है, तो सक्षम प्राधिकारी उसे ऐसी भूमि से संक्षिप्ततः

---

purposes connected with the eviction, rehabilitation and improvement of conditions of unauthorised occupants of vacant lands."

"4. **Power of Competent "Authority to evict persons from unauthorised occupation of vacant lands.**

(1) Notwithstanding anything contained in any law for the time being in force, if the Competent Authority, either on application or **Suo motu**, has reason to believe that any person is occupying any vacant land in an urban area in contravention of the provisions of section 3, it may by order require such person to vacate the land forthwith or by certain time intimated to such person, and to remove all property therefrom, and if such person fails to comply with the order to vacate the land and to remove all property therefrom, he may be summarily evicted from such land by the Competent Authority, and any property which may be found

बेदखल कर सकेगा और ऐसा सक्षम प्राधिकारी किसी ऐसी सम्पत्ति के बारे में जो उस पर पाई जाए, यह आदेश कर सकेगा कि वह ऐसे प्राधिकारी के पक्ष में, जो राज्य सरकार साधारण या विशेष आदेश द्वारा विनिर्दिष्ट करे, समपहृत की जाए और रिक्त भूमि पर से हटा दी जाए। बेदखली और किसी ऐसी सम्पत्ति के हटाने के प्रयोजन के लिए सक्षम प्राधिकारी ऐसा कदम उठा सकेगा या उठवा सकेगा और ऐसे बल का उपयोग कर सकेगा या करवा सकेगा और पुलिस अधिकारियों की, ऐसी सहायता ले सकेगा, जैसी कि मामले की परिस्थितियों के अधीन अपेक्षित हो।

स्पष्टीकरण—संदेह निवारण की दृष्टि से, एतद्द्वारा यह घोषित किया जाता है कि इस उपधारा के अधीन कदम उठाने की शक्ति के अन्तर्गत किसी प्रकार की भूमि या किसी भी अन्य सम्पत्ति में प्रवेश करने की शक्ति आती है।

(2) उप धारा (1) के अधीन किसी रिक्त भूमि से किसी व्यक्ति की बेदखली या उस पर की किसी सम्पत्ति के समपहरण

---

thereon, may be ordered by the Competent Authority to be forfeited to such authority as the State Government may by general or special order specify and be removed from the vacant land. For purposes of eviction and removal of any such property, the Competent Authority may take, or cause to be taken such steps and use or cause to be used, such force, and may take such assistance of the police officers as the circumstances of the case may require.

Explanation—For the voidance of doubt, it is hereby declared that the power to take steps under this sub-section includes the power to enter upon any land or other property whatsoever.

(2) The order of eviction of any person from any vacant land or forfeiture of any property thereon or removal of any property therefrom under sub-section (1)

या उससे किसी सम्पत्ति को हटाने का आदेश अन्तिम और निश्चायक होगा, और उसे किसी भी न्यायालय में प्रश्नगत नहीं किया जाएगा।

(3) किसी ऐसे व्यक्ति के बारे में, जिसे किसी अन्य व्यक्ति की या उसमें निहित किसी रिक्त भूमि पर पाया जाए, जब तक कि वह सक्षम प्राधिकारी के समाधानाकूल उसको तत्प्रतिकूल साबित न कर दे, यह समझा जाएगा कि ऐसी रिक्त भूमि धारा 3 के उपबंधों का उल्लंघन करते हुए उसके अधिभोग में है।"

8. धारा 4-क, 4-ख और 4-ग द्वितीय संशोधन अधिनियम द्वारा इसमें अन्त:स्थापित की गई थीं। वे धाराएं निम्नलिखित रूप में हैं --

***"4-क. कतिपय परिस्थितियों में अस्थायी अध्युपाय के रूप में रिक्त भूमियों पर संरचनाओं के नवीकरण के लिए अनुज्ञा।**

(1) धारा 3 और 4 में अन्तर्विष्ट किसी बात के होते हुए भी, जहां कि किसी रिक्त भूमि पर की किसी ऐसी संरचना का कोई अधिभोगी, जिसकी बाबत दाण्डिक प्रभार धारा 3 के अधीन उससे संगृहीत किए जाते हैं या ऐसे किसी अधिभोगी से, धारा 4 की उपधारा (1) के अधीन किए गए आदेश द्वारा, कोई रिक्त भूमि

---

shall be final and conclusive, and shall not be called in question in any Court.

(3) A person who is found to be on any vacant land belonging to, or vesting in another person shall, unless contrary is proved by him to the satisfaction of the Competent Authority, be deemed to be in occupation of such vacant land in contravention of the provisions of section 3."

***"4-A. Permission for renovation of structures on vacant lands as a temporary measure in certain circumstances.**

(1) Notwithstanding anything contained in sections 3 and 4, where any occupier of a structure on a vacant land, in respect of which penal charges are collected from him under section 3, or any occupier is by an order

खाली करने की और उससे सभी सम्पत्ति (जिसके अन्तर्गत संरचनाएं भी हैं) हटाने की अपेक्षा की जाती है, अस्थायी अध्युपाय के रूप में अपनी जोखिम और व्यय पर उस संरचना का नवीकरण करना चाहता है, वहां वह ऐसा करने के लिए गन्दी बस्तियों (स्लम) के नियंत्रक की पूर्व-अनुज्ञा प्राप्त कर सकेगा। ऐसी अनुज्ञा के लिए कोई आवेदन प्राप्त होने पर, यदि गन्दी बस्तियों के नियंत्रक का, ऐसी जांच के बाद जैसी करनी वह ठीक समझे, यह समाधान हो जाता है कि वह संरचना मानव-निवास के लिए उपयुक्त नहीं है और प्रस्तावित नवीकरण उसे अस्थायी रूप से उपयुक्त बनाने के लिए आवश्यक है, तो वह ऐसी शर्तों के अध्यधीन रहते हुए, जैसी की वह अधिरोपित करे, अपेक्षित अनुज्ञा अनुदत्त कर सकेगा।

(2) जहां कि किसी संरचना का नवीकरण उपधारा (1) के अधीन अनुदत्त अनुज्ञा के अनुसार किया जाता है, वहां सक्षम प्राधिकारी इस प्रकार नवीकृत संरचना के अधिभोगी को ऐसे समय तक बेदखल नहीं करेगा जैसा कि गन्दी बस्तियों का नियंत्रक विनिर्दिष्ट करे :

---

made under sub-section (1) of section 4 required to vacate any vacant land and to remove all property (including any structures) therefrom, desires to renovate the structure at his risk and expense as a temporary measure, he may seek the previous permission of the Controller of Slums to do so. On receipt of any application for such permission, if the Controller of Slums is, after such inquiry as he deems fit to make, satisfied that the structure is not fit for human habitation and the proposed renovation is necessary to make it so fit temporarily, he may, subject to such conditions as he may impose, grant the required permission.

(2) Where any structure is renovated in accordance with the permission granted under sub-section (1), the Competent Authority shall not evict the occcupier of the structure so renovated, till such time as the Controller of Slums may specify :

परन्तु यदि, गन्दी बस्तियों के नियंत्रक की राय में, अधिभोगी ने किसी भी समय, किन्हीं ऐसी शर्तों में से, जिनके अध्यधीन अनुज्ञा अनुदत्त की गई थी, किसी का भंग किया है, तो वह अनुदत्त की गई अनुज्ञा रद्द कर सकेगा और सक्षम प्राधिकारी को यह निदेश दे सकेगा कि वह उसकी बेदखली के लिए और उसकी संपत्ति के समपहरण और हटाने के लिए धारा 4 के अधीन उस अधिभोगी के विरुद्ध आवश्यक कार्रवाई तुरन्त करे।

4-ख. वित्त की व्यवस्था करने वाली ऐसी संस्थाओं को जो कि संरचनाओं के नवीकरण के लिए सहायता देती हैं, देय रकमों की वसूली।

(1) जहां कि धारा 4-क में निर्दिष्ट किसी संरचना के अधिभोगी ने इस निमित्त राज्य सरकार द्वारा मान्य वित्त की सहायता करने वाली किसी संस्था से किसी संरचना के नवीकरण के लिए किसी वित्तीय सहायता का लाभ उठाया है, वहां गंदी बस्तियों का नियंत्रक,

---

Provided that if, in the opinion of the Controller of Slums, the occupier has at any time committed a breach of any of the conditions subject to wihch the permission was granted, he may cancel the permission granted and direct the Competent Authority to take necessary action against the occupier under section 4 forthwith for his eviction and forfeiture and removal of his property.

4-B. Recovery of dues of financing instructions, which render asssitance for renovation of structures.

(1) Where an occupier of any structure referred to in section 4-A has availed of any financial assistance for renovation of the structure from any financing institution recognised by the State Government in this behalf, the Controller of Slums may, at the request of the financing institution, collect on behalf of that institution the

वित्तीय सहायता देने वाली संस्था के निवेदन पर, उस संस्था की ओर से उस संस्था द्वारा अधिभोगी को उधार दी गई रकम ऐसी किस्तों में और ऐसे अंतरालों में संगृहीत कर सकेगा और इस प्रकार संगृहीत रकम संस्था को ऐसी रीति से दे सकेगा, जैसी कि राज्य सरकार निदेश दे।

(2) यदि ऐसा कोई अधिभोगी देय तारीख को या उसके पूर्व वित्तीय सहायता देने वाली संस्था को देय कोई रकम संदत्त करने में असफल रहता है, तो गन्दी बस्तियों का नियंत्रक कलक्टर के पास अपने हस्तलेख में एक प्रमाण-पत्र भेजेगा जिसमें वित्तीय सहायता देने वाली संस्था को देय रकम उपदर्शित की जाएगी। तदुपरान्त, कलक्टर या उसके द्वारा प्राधिकृत कोई अधिकारी देय रकम की वसूली भू-राजस्व की बकाया के रूप में करेगा :

परन्तु कलक्टर के पास ऐसा कोई प्रमाण पत्र तब तक नहीं भेजा जाएगा, जब तक कि गन्दी बस्तियों के नियंत्रक ने अधिभोगी पर यह सूचना तामील न की हो कि वह विनिर्दिष्ट तारीख तक देय रकम का संदाय कर दे।

---

amount of loan advanced to the occupier by that institution in such instalments and at such intervals, and remit the amount so collected to the institution in such manner, as may be directed by the State Government.

(2) If any such occupier fails to pay amount due to the financing institution on or before the due date, the Controller of Slums may send to the Collector, a certificate under his hand indicating therein the amount which is due to the financing institution. Thereupon, the Collector or any officer authorised by him shall recover the amount due as an arrear of land revenue :

Provided that no such certificate shall be sent to the Controller, unless the occupier has been served with a notice by the Controller of Slums calling upon him to pay the amount due by a specified date.

4-ग. धारा 4-क और 4-ख के अधीन गन्दी बस्तियों के नियंत्रक की प्राधिकृत अधिकारी द्वारा भी प्रोज्य शक्ति ।

धारा 4क और 4ख के प्रयोजनों के लिए "गन्दी बस्तियों का नियंत्रक" अभिव्यक्ति के अन्तर्गत उसका अधीनस्थ अधिकारी भी है, जिसे उसने उस निमित्त लिखित रूप में प्राधिकृत किया है ।"

9. अधिनियम की धारा 5 में धारा 3 (1) के उपबंधों के उल्लंघन के लिए या धारा 4 के अधीन सक्षम प्राधिकारी द्वारा किये गए आदेश के अनुपालन में हुई असफलता के लिए या उस अधिनियम द्वारा सक्षम प्राधिकारी को प्रदत्त किसी शक्ति के प्रयोग में उसके रास्ते में बाधा उत्पन्न करने के लिए शास्ति विहित की गई है । शास्ति के रूप में तीन वर्ष तक का कारावास और जुर्माना अधिरोपित किया गया है । अधिनियम की धारा 8 में यह उपबंध किया गया है कि किसी भी न्यायालय को अधिनियम के अधीन किसी रिक्त भूमि से किसी व्यक्ति की बेदखली की बाबत या अधिनियम द्वारा प्रदत्त शक्तियों के प्रयोग में सक्षम प्राधिकारी द्वारा किए गए किसी आदेश या की गई किसी कार्यवाही की बाबत कोई कार्यवाही, चाहे सिविल हो या दाण्डिक, करने की अथवा ऐसे आदेश या कार्यवायी की बाबत कोई रोक या व्यादेश अनुदत्त करने की अधिकारिता नहीं होगी । इसके अलावा इस धारा में यह उपबंध किया गया है कि यदि किसी रिक्त भूमि से किसी व्यक्ति की बेदखली की बाबत कोई वाद या अन्य कोई कार्यवाही किसी न्यायालय में नियत दिन को लम्बित है, तो उसका उपशमन हो जाएगा ।

10. अधिनियम की धारा 2 (च) में "रिक्त भूमि" अभिव्यक्ति की परिभाषा दी गयी है । प्रथम संशोधन अधिनियम द्वारा मूल परिभाषा प्रतिस्थापित कर दी गई थी, जिसके बाद वह धारा निम्नलिखित रूप में है—

4-C. Power of Controller of Slums under sections 4-A and 4-B excercisable by authorised officer also.

For the purposes of section 4-A, and section 4-B "Controller of Slums" includes any officer subordinate to him, who is authorised by him in writing in that behalf."

*"2 (च) किसी शहरी भूमि के संबंध में 'रिक्त भूमि' से अभिप्रेत है—

(क) ऐसे क्षेत्र में की ऐसी सभी भूमियां, चाहे कृषिक हों या अकृषिक, जोकि रिक्त हैं और जिन पर नियत दिन को सन्निर्माण नहीं हुआ है;

(ख) ऐसे क्षेत्रों में की ऐसी सभी भूमियां, जिन पर कोई संरचना, ऐसी संरचना के सन्निर्माण को विनियमित करने वाली किसी विधि के अनुसार सन्निर्मित करने से अन्यथा, सन्निर्मित की गई है या सन्निर्मित की जा रही है, और जिन्हें सक्षम प्राधिकारी, समय-समय पर लिखित रूप में आदेश द्वारा, ऐसी भूमि के आसपास डोंडी पिटवा कर या अन्य उपयुक्त साधन द्वारा, रिक्त भूमियां विनिर्दिष्ट और घोषित करे और इस प्रकार की गई घोषणा के बारे में यह समझा जाएगा कि वह उन सभी के लिए, जिनके अधिभोग में ऐसी भूमियां हैं, यह सूचना समझी जाएगी कि ऐसी सभी भूमियां इस अधिनियम के प्रयोजनों के लिए रिक्त भूमियां हैं;

---

*अंग्रेजी में यह इस प्रकार है—

"2 (f) 'vacant land', in relation to any urban area, means—

(a) all lands in such area, whether agricultural, or non-agricultural, which are vacant and are not built upon on the appointed date ;

(b) all lands in such area on which any structure has been or is being constructed otherwise than in accordance with any law regulating the construction of such structure and which the Competent Authority may, from time to time, by an order in writing, specify and declare to be vacant lands by announcing by beat of drum or other suitable means on or in the vicinity of such lands, and the declaration so made shall be deemed to be notice to all those who are occupying such lands that all such lands shall be vacant lands for the purposes of this Act ;

और उसके अन्तर्गत विशिष्टतः इस अधिनियम की अनुसूची में विनिर्दिष्ट सभी भूमियां हैं।

राज्य सरकार, समय-समय पर, राजपत्र में प्रकाशित आदेश द्वारा उस अनुसूची में उस आदेश में विनिर्दिष्ट कोई भूमि या भूमियां जोड़कर या उस अनुसूची में की किसी प्रविष्टि को उपान्तरित या अन्तरित करके उस अनुसूची को संशोधित कर सकेगी।"

11. 3 दिसम्बर, 1971 को भारत के राष्ट्रपति ने संविधान के अनुच्छेद 352 के अधीन इस आधार पर आपात की उद्घोषणा की कि गम्भीर आपात स्थिति विद्यमान है, जिसके कारण बाह्य आक्रमण से भारत की सुरक्षा को खतरा उत्पन्न हो गया है। आपात की दूसरी उद्घोषणा उसी अनुच्छेद के अधीन 25 जून, 1975 को इस आधार पर की गई कि आंतरिक अशान्ति के कारण भारत की सुरक्षा को खतरा उत्पन्न हो गया है। 27 जून, 1975 को राष्ट्रपति ने अनुच्छेद 359 (1) के अधीन उस कालावधि के लिए, जिसके दौरान आपात की पूर्वोक्त दोनों उद्घोषणाएं प्रवृत्त थीं, अनुच्छेद 14, 21 और 22 द्वारा प्रदत्त मूल अधिकारों के प्रवर्तन के लिए किसी न्यायालय में समावेदन करने विषयक अधिकार को निलम्बित करते हुए आदेश जारी किया। 1 अगस्त, 1975 को संविधान (अड़तीसवां संशोधन) अधिनियम, 1975 पारित किया गया, जिसके द्वारा अनुच्छेद 359 में खण्ड 1-क भूतलक्षी प्रभाव से अन्तःस्थापित किया गया। प्रस्तुत मामले में, जो अध्यादेश अधिनियम के पारित किए जाने के पहले निकाला गया था, वह 11 नवम्बर, 1975 को पारित किया गया, जबकि अधिनियम 24 दिसम्बर 1975 को पारित किया गया। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, अधिनियम, 11 नवम्बर, 1975 से मुम्बई के महानगर क्षेत्र में भूतलक्षी प्रभाव से प्रवृत्त हुआ था।

---

and includes, in particular, all lands specified in the schedule to this Act.

The State Government may, from time to time, by an order, published in the Official Gazette amend that Schedule by adding thereto any land or lands specified in that order or by modifying or transferring any entry in that Schedule."

12. 8 जनवरी, 1976 को भारत के राष्ट्रपति ने संविधान के अनुच्छेद 359 (1) के अधीन उस कालावधि के लिए, जिसके दौरान आपात की उक्त दोनों घोषणाएं प्रवृत्त थीं, संविधान के अनुच्छेद 19 द्वारा प्रदत्त मूल अधिकारों में से किसी के प्रवर्तन के लिए किसी न्यायालय में समावेदन करने विषयक किसी व्यक्ति के अधिकार को निलम्बित करते हुए एक दूसरा आदेश जारी किया। प्रथम संशोधन अधिनियम 3 अगस्त, 1976 को पारित किया गया, जबकि द्वितीय संशोधन अधिनियम 25 जनवरी, 1977 को पारित किया गया।

13. भारत के राष्ट्रपति ने आंतरिक आपात् की उद्घोषण 21 मार्च, 1977 को प्रतिसंहृत की जबकि 27 मार्च, 1977 को बाह्य आपात् की उद्घोषणा प्रतिसंहृत कर दी गई।

14. 30 अप्रैल, 1979 को संविधान (चवालीसवां संशोधन) अधिनियम, 1978 पारित किया गया। उक्त अधिनियम की धारा 2 (क) (ii) द्वारा अनुच्छेद 19 के खण्ड (i) के उपखण्ड (च) को संविधान से लुप्त कर दिया गया और धारा 2 (ख) द्वारा अनुच्छेद 19 के खण्ड (5) में पारिणामिक संशोधन किए गए। उक्त अधिनियम की धारा 8 द्वारा संविधान से अनुच्छेद 31 को लुप्त कर दिया गया। धारा 34 द्वारा एक नया अध्याय अर्थात अध्याय IV, जिसका शीर्षक "सम्पत्ति का अधिकार" है, संविधान के भाग XII में अन्तःस्थापित किया गया, जिसमें अनुच्छेद 300-क अन्तर्विष्ट है।

15. इन सांविधानिक उपबंधों के परिणामस्वरूप अधिनियम, 27 मार्च, 1977 से शून्य हो जाएगा और उसका प्रभाव उस दशा में नहीं रह जाएगा, यदि उससे संविधान के अनुच्छेद 14 और 19 द्वारा प्रदत्त मूल अधिकारों का अतिलंघन होता है। यदि उससे संविधान के अनुच्छेद 31 (1) का इस आधार पर अतिलंघन होता है कि अनुच्छेद 19 (1) (च) के उपबंधों का अतिक्रमण हुआ है, तो अधिनियम 27 मार्च, 1977 से शून्य हो जाएगा और उसका कोई प्रभाव नहीं रह जाएगा। यदि राज्य विधान-मंडल को अधिनियम पारित करने की कोई सक्षमता नहीं थी या अधिनियम के द्वारा अनुच्छेद 31 के खण्ड (2) या (3) के उपबंधों का अतिलंघन हुआ था, तो वह अधिनियम अपने अस्तित्व के समय से ही शून्य हो जाएगा। इसी बात को यदि संक्षेप में कहा जाये, तो अधिनियम या उसके उपबंधों में से उन विभिन्न तारीखों से जो बात उसमें अन्तर्ग्रस्त संविधान के विशिष्ट अनुच्छेद या

अनुच्छेद के अतिक्रमण पर निर्भर होगी, यथास्थिति शून्य हो जाएगा या उसका प्रभाव नहीं रह जाएगा।

16. चूंकि अधिनियम की धारा 2 (च) में यथापरिभाषित "रिक्त भूमि" की कानूनी संकल्पना समस्त अधिनियम में छायी हुई है और जैसा कि वह है, वह अधिनियम का सार है, इसलिए प्रत्यर्थियों ने उच्च न्यायालय में, उस परिभाषा की शक्तियों और वैधता को चुनौती देने पर ही अपना ध्यान केन्द्रित किया। वे उन महत्वपूर्ण कारणों से जो कि उच्च न्यायालय ने बताए हैं, उस चुनौती में सफल नहीं हुए, जिन्हें हम भी कुछ छोटे-छोटे परिवर्तनों को छोड़कर अपनाते हैं। वास्तव में यदि प्रारूपकार उच्च न्यायालय द्वारा संकेत की गई सावधानी और सतर्कता का एक अंश भी अधिनियम विरचित करने में बरतते, यद्यपि उतनी सीमा तक नहीं, तो अधिनियम की विधिमान्यता को कायम रखने में जो अनेक बाधाएं है, वे अधिक कठिनाई के बिना समाप्त हो सकती थीं। यदि हमें अधिनियम की विधिमान्यता को दी गई बहुत सी चुनौ-तियों पर पुनः विचार करना हो, तो हम न्यूनाधिक रूप से उन्हीं बातों को दोहराएंगे जोकि उच्च न्यायालय ने कही हैं। अतः हम कुछ मूल आक्षेपों पर ही विचार करना चाहते हैं, जोकि अधिनियम पर किए गए हैं और अधिक गम्भीर कमजोरियों में से कुछ पर विचार करना चाहते हैं, जोकि उसके उपबंध में मौजूद हैं।

17. पहले "रिक्त भूमि" की परिभाषा पर विचार किया जाए; जैसा कि प्रथम संशोधन अधिनियम द्वारा भूतलक्षी प्रभाव से संशोधन किया गया है, धारा 2 (च) रिक्त भूमियों का चार प्रवर्गों में विभाजन करती है: (1) ऐसी भूमियां जोकि वास्तव में रिक्त हैं, अर्थात् यह कि जिन पर कुछ नहीं बना है; (2) ऐसी भूमियां जिन पर ऐसी संरचनाएं, ऐसी संरचनाओं के सन्निर्माण को विनियमित करने वाली किसी विधि के अनुसार सन्निर्मित करने से अन्यथा, सन्निर्मित की गई हैं या की जा रही हैं, और जिन्हें सक्षम प्राधिकारी डोंडी पीट कर या अन्य उपयुक्त साधन द्वारा ऐलान करके रिक्त भूमि विनिर्दिष्ट और घोषित करे; (3) अधिनियम की अनुसूची में विनिर्दिष्ट भूमियां; और (4) ऐसी भूमियां जिन्हें राज्य सरकार ने अनुसूची को संशोधित करते हुए आदेश द्वारा अनुसूची में सम्मिलित की हो। उच्च न्याया-लय में उसी प्रश्न के संबंध में कुछ अनावश्यक संविवाद के बावजूद यह स्पष्ट है कि अधिनियम की धारा 2 (च) में आई हुई "भूमि" अभिव्यक्ति से निश्चित की गई सीमाओं सहित भूमि के ऐसे खण्ड अभिप्रेत हैं, जो कि राजस्व के सर्वेक्षण के प्रयोजनों के लिए साधारण रूप से मान्य हैं।

धारा 2 (च) (ख) इस बात की अपेक्षा करती है कि इस दृष्टि से दो शर्तें पूरी की जानी चाहिए जिससे कि किसी भूमि को "रिक्त भूमि" के रूप में वर्णित किया जा सके : पहली शर्त यह है कि भूमि पर अप्राधिकृत संरचना होनी चाहिए और दूसरी बात यह है कि सक्षम प्राधिकारी को लिखित रूप में आदेश निकाल कर यह विनिर्दिष्ट और घोषित करना पड़ता है कि यह भूमि रिक्त भूमि है।

18. अधिनियम सक्षम प्राधिकारी को कोई भूमि, विवेकाधिकार को नियंत्रित करने के किन्हीं मार्गदर्शक सिद्धांतों को अधिकथित किए बिना, रिक्त भूमि के रूप में घोषित करने का विवेकाधिकार प्रदत्त करता है। सक्षम प्राधिकारी को इस बात की स्वतंत्रता होती है कि वह ऐसी भूमियां चुने, जिन पर अप्राधिकृत संरचनाएं हैं और उनमें से कुछ को रिक्त भूमि घोषित करे और उसी प्रकार स्थित अन्य भूमियों को अछूता छोड़ दे। अधिनियम की उद्देशिका में एक दूसरे परिवर्णन से, जिसका अवलम्ब राज्य सरकार ने इस प्रकार लिया है कि उससे यह घोषणा करने के लिए सक्षम प्राधिकारी को मार्गदर्शक सिद्धांत प्राप्त होता है कि कतिपय भूमि रिक्त भूमि है, वह प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता। वह परिवर्णन इस प्रकार है—

> "और यतः राज्य में शहरी क्षेत्र में की रिक्त भूमियों पर अप्राधिकृत अधिभोगियों की संख्या तेजी से बढ़ रही थी और लोक स्वास्थ्य तथा स्वच्छता और उससे ऐसे क्षेत्र के निवासियों के शान्तिपूर्ण जीवन के लिए गम्भीर खतरा पैदा हो रहा था।"

अधिनियम में किसी भी प्रकार का ऐसा कोई भी उपबन्ध मौजूद नहीं है, जिससे लोक स्वास्थ्य और स्वच्छता या संबंधित परिक्षेत्र के निवासियों का शान्तिपूर्ण जीवन सुनिश्चित होता हो। वास्तव में कोई भी बात इन बातों की बनिस्बत अधिनियम के वास्तविक प्रयोजन और उद्देश्य से अधिक दूर नहीं है। अधिनियम की अनुसूची में जो अंतिम पद है, उसमें वृहत्तर मुम्बई में की सभी सार्वजनिक सड़कें और राजपथ सम्मिलित हैं। निश्चित रूप से इन्हें यह नहीं माना जा सकता कि वे लोक स्वास्थ्य, स्वच्छता या नागरिकों के शान्तिपूर्ण जीवन के लिए गम्भीर खतरा है।

19. वे परिस्थितियां, जिनके परिणामस्वरूप यह अधिनियम पारित किया गया था, उनका उल्लेख अध्यादेश के उद्देश्यों और कारणों के कथन में किया गया है, जोकि निम्नलिखित रूप में हैं—

"यह पाया गया कि वृहत्तर मुम्बई और उसी प्रकार के अन्य शहरी क्षेत्रों में रिक्त भूमियां अनुचित रूप से अधिकार करने वाले व्यक्तियों और भूमियों के सौदागरों के अनधिकृत अधिभोग में तेजी से आती चली जा रही हैं। भिन्न-भिन्न विधियों और इन विधियों के अधीन गठित विभिन्न प्राधिकरण तथा इन विधियों द्वारा अधिकथित भिन्न-भिन्न प्रक्रियाएं अप्राधिकृत झोपड़ियों को तुरन्त गिराने की अनुज्ञा नहीं देती थीं या अप्राधिकृत संरचनाओं में वृद्धि को नहीं रोकती थीं। इन विधियों में अधिकथित लम्बी प्रक्रिया भी प्राधिकारियों को तुरन्त निवारक कार्रवाई करने से रोकती थी। ऐसी विधि के बारे में, जोकि प्रक्रिया को सरल बनाए और मुकदमेबाजी की संभावना को कम करे तथा नगरपालिक अधिकारियों, पुलिस अधिकारियों, राजस्व अधिकारियों और सरकारी विभाग के अन्य अधिकारियों जैसे विधि को प्रवृत्त करने वाले प्राधिकारियों को ऐसे अप्राधिकृत झोपड़ियों और मकानों को गिराने के लिए पर्याप्त रूप से लैस करे, यह पाया गया कि उसका तुरन्त अस्तित्व में होना आवश्यक है। इसके अलावा, उन व्यक्तियों के विरुद्ध जोकि अप्राधिकृत झोपड़ियां या अस्थायी छप्पर की कालोनियां सन्निर्मित करते हैं और भूमियों और ऐसी संरचनाओं की सौदेबाजी करते हैं या ऐसी संरचनाओं को किराये पर देकर किराया वसूलते हैं, कड़ी दाण्डिक कार्रवाई करना भी आवश्यक था।"

इस कथन से यह भी स्पष्ट है कि वह बुराई जिसका उपचार उस अध्यादेश द्वारा, जिसका स्थान बाद में इस अधिनियम ने ले लिया था, करने की कोशिश की गई थी, लोक स्वास्थ्य या स्वच्छता के लिए या मुम्बई महानगर के निवासियों के शान्तिपूर्ण जीवन के लिए खतरा नहीं है। अप्राधिकृत संरचनाओं के सन्निर्माण के परिणामस्वरूप जो खतरा उत्पन्न हो गया है, वह ऐसी बुराई है, जिसका उपचार यह अधिनियम करना चाहता है।

20. इस अधिनियम में रिक्त भूमि के रूप में कोई भूमि घोषित करने के लिए सक्षम प्राधिकारी को प्रदत्त विवेकाधिकार के मनमाने प्रयोग के विरुद्ध किसी भी रक्षोपाय के लिए उपबंध नहीं किया गया है। यह सच है कि शक्ति के दुरुपयोग को अगम्भीरता के साथ नहीं लिया जाना चाहिए, बल्कि अनुभव इस आशा को झुठलाता है कि वैवेकिक शक्तियों का प्रयोग सदैव उचित रूप से और वस्तुपरक रूप से किया जाता है। वास्तव में, सक्षम प्राधिकारी द्वारा की गई विभेदक घोषणाओं के उदाहरण उच्च न्यायालय में प्रोद्धृत किए गए

थे, जिसका कोई भी समाधानकारी उत्तर, उच्च न्यायालय के मतानुसार, राज्य सरकार की ओर से फाइल की गई विवरणी में नहीं दिया गया। अधिनियम ऐसी कोई प्रक्रिया विहित नहीं करता जिसके बारे में सक्षम प्राधिकारी से यह अपेक्षित है कि वह किसी भूमि को रिक्त भूमि के रूप में घोषित करने से पूर्व उसे अपनाए। अधिनियम में ऐसा कोई उपबन्ध नहीं है जो सक्षम प्राधिकारी से इस बात की अपेक्षा करता हो कि वह कानूनी घोषणा करने के पूर्व नैसर्गिक न्याय के आधारिक मानकों का पालन करे। प्राधिकारी किसी को भी सूचना देने के लिए बाध्य नहीं है और उसे किसी ऐसे व्यक्ति की सुनवाई करने की शक्ति है, जिस पर इस घोषणा का प्रभाव पड़ना संभाव्य है। राज्य सरकार भी अनुसूची को संशोधित करने के पूर्व किसी निश्चित प्रक्रिया का अनुसरण करने के लिए इस प्रकार बाध्य नहीं है जिसमें कि उसमें नई भूमियां शामिल की जा सकें। उसी प्रकार से अधिनियम की धारा 3(1) और 4 (1) द्वारा प्रदत्त शक्ति अनियंत्रित और मनमानी है। वास्तव में गलत ढंग से कल्पित इस विधान का प्रमाण-चिह्न यह है—"कोई सूचना नहीं और कोई सुनवाई नहीं"। ऐसे मामले हो सकते हैं, यद्यपि न्यायालय को उनके प्रवर्ग में वृद्धि नहीं करनी चाहिए, जिनमें प्रतिकूल विनिश्चय किए जाने के पूर्व सुनवाई करने में हुई असफलता के परिणामस्वरूप वह विनिश्चय आवश्यक रूप से दूषित नहीं भी हो सकता। किन्तु उन मामलों में, जो हमारे समक्ष पेश किए गए हैं, विनिश्चय किए जाने के पूर्व सुनवाई करना इस मामले का सार है। जैसा कि अध्यादेश के उद्देश्यों और कारणों से दर्शित होता है, यह महत्वपूर्ण है कि मुम्बई में गन्दी बस्ती के पेशेवर मालिकों ने जो कि अपने-आप में कानून बन गए हैं, खाली भूमियों का अतिचार कर लिया है। कदाचित्, वे राजनैतिक आवश्यकताओं और दबाओं के अनुसार सहायता करते हैं, किन्तु यह बात मुद्दे से हटकर है। प्राइवेट समितियों पर बड़े पैमाने पर कब्जा करने के परिणामस्वरूप उन समितियों के आधिकारिक स्वामियों को उनके हक से वस्तुतः वंचित कर दिया गया है। अधिनियम ऐसे स्वामियों को उनके किसी कसूर के बिना ही और वह भी उन्हें सुनवाई का कोई अवसर दिए बिना दण्डित करता है। इस तथ्य से कि अधिनियम के अधीन अपेक्षित घोषणा करने की शक्ति उच्चतर पंक्ति के अधिकारियों में निहित है, इस स्थिति में कोई अंतर नहीं पड़ता और उससे उस प्रतिकूल प्रभाव का उपशमन नहीं होता जोकि ऐसी स्थिति में अन्तर्निहित होता है।

21. उच्च न्यायालय के निर्णय में ऐसे मनमाने और अवांछनीय परिणामों के स्पष्ट उदाहरण प्रोद्धृत किए गए हैं, जो कि उन आदेशों के बाद

होते हैं जो एकपक्षीय रूप से अर्थात् आदेश द्वारा प्रभावित पक्षकारों की सुनवाई किए बिना पारित किए जाते हैं। उच्च न्यायालय के समक्ष पिटीशनरों में से एक नाकेश पंजाब होटल नाम से ज्ञात होटल का स्वामी था। उसके पास विभिन्न अनुज्ञप्तियां (लाईसेंस) थीं जोकि होटल चलाने के लिए उसे प्राधिकृत करती थीं। उसके और राजस्व प्राधिकारियों के बीच निर्धारण की मात्रा में वृद्धि करने के संबंध में विवाद था, जिसके आधार पर उसने मुम्बई के नगर सिविल न्यायालय से अंतरिम व्यादेश अभिप्राप्त कर लिया। इसी बीच सक्षम प्राधिकारी ने अधिनियम की धारा 2(च) (ख) के अधीन उस भूखण्ड को जिस पर होटल बना हुआ था, रिक्त भूमि के रूप में घोषित करते हुए घोषणा जारी की। उसके बाद थोड़ी ही अवधि के भीतर होटल गिरा दिया गया।

22. राज्य सरकार की ओर से इस बात पर जोर दिया गया कि वह कमजोरी, यदि कोई रही हो, जोकि अधिनियम में उसके अस्तित्व में आने के समय से ही थी, महाराष्ट्र वेकेंट लैंड्स (प्रोहिबिशन आफ अनअथोराइजड ओकुपेशन एण्ड समरी इविक्शन) (सर्विस आफ नोटिस) रूल्स [महाराष्ट्र रिक्त भूमि (अप्राधिकृत अधिभोग का प्रतिषेध और संक्षिप्त बेदखली) (सूचना की तामील) नियम], 1979 के पारित करने के कारण दूर हो गई है। इन नियमों द्वारा अधिनियम की धारा 2(च)(ख) के अधीन या धारा 4(1) के अधीन कोई आदेश निकालने के पूर्व सक्षम प्राधिकारी से यह अपेक्षित होता है कि वह ऐसे आदेश से संभाव्यत: प्रभावित होने वाले किसी व्यक्ति पर उसको यह आदेश देते हुए लिखित सूचना तामील करे कि वह ऐसी कालावधि के भीतर, जैसी कि सूचना में विनिर्दिष्ट की जाए, यह कारण बताए कि प्रस्तावित आदेश क्यों न जारी कर दिया जाए। इसके अलावा सक्षम प्राधिकारी से यह अपेक्षित है कि वह सूचना में विनिर्दिष्ट कालावधि के भीतर किसी ऐसे व्यक्ति द्वारा उसके समक्ष प्रस्तुत किन्ही भी आक्षेपों पर विचार करे। नियम 3 (2) में ऐसी सूचनाओं की तामील के लिए उपबंध किया गया है। हम यह स्वीकार करने में असमर्थ हैं कि अधिनियम की असांविधानिकता अधिनियम के पारित होने के 3-1/2 वर्ष बाद बनाए गए नियमों को विरचित करके दूर की जा सकती है। इसके अलावा नियमों में धारा 2(च) (ख) और 4(1) के अधीन आदेश पारित करने के पूर्व दी जाने वाली सूचना और विचार किए जाने वाले आक्षेपों के संबंध में ही उपबंध किया गया है। उनमें अधिनियम की धारा 3(1) के अधीन अनुज्ञा दिए जाने या उससे इन्कार किए जाने के पूर्व उसी प्रकार का उपबंध किया गया है। किन्तु जो बात अधिक महत्व की है, वह यह है कि नियमों में भी विवेकाधिकार के प्रयोग के लिए कोई मार्गदर्शक सिद्धांत

अधिकथित नहीं किए गए हैं, जो कि अधिनियम की धारा 2(च)(ख) या धारा 4(1) द्वारा सक्षम प्राधिकारी को प्रदत्त किया गया है।

23. धारा 2(च) (ख) में एक दूसरी बुराई भी मौजूद है अर्थात् यह कि उसके अधीन, इस बात को विचार में लाए बिना कि ऐसे सभी व्यक्तियों की स्थिति अप्राधिकृत संरचनाओं के सन्निर्माण में उनके अन्तर्वलित होने के और उनमें उनके हित के विषय में क्या है, उनके साथ समान रूप से व्यवहार किया गया है। वर्गीकरण ऐसे वर्गों में विभाजन की अपेक्षा करता है, जिनमें समान गुण मौजूद रहते हैं। ऐसे विभाजन को तर्कसंगत आधार पर आधारित होना पड़ता है और उसका उद्देश्य कानून के प्रयोजनों को सिद्ध करना होना चाहिए। अधिनियम की धारा 2(च) (ख) और अन्य असमान उपबंधों में भूमि के ऐसे स्वामियों के, जिन्होंने स्वयं ही अप्राधिकृत संरचनाएं सन्निर्मित की हैं और उन अन्य लोगों के जिनकी भूमियों पर अतिचारियों ने अप्राधिकृत संरचनाएं सन्निर्मित की हैं, बीच बिलकुल भी प्रभेद नहीं किया गया है। पश्चात्-कथित वर्ग के ऐसे स्वामियों को जोकि अपनी सम्पत्ति के हक से बलात् और अविधिपूर्ण रूप से वंचित किए जाने पर मूक दर्शक बने रहते हैं, अधिनियम के अधीन ऐसे अतिचारियों के समान ठहराया गया है, जोकि विधि को अपने हाथ में लेते हुए न केवल प्राइवेट स्वामियों को, बल्कि लोक प्राधिकारियों को भी चुनौती देते हैं।

24. धारा 2(च) (ख) में भी असमान के साथ समान व्यवहार करने की कमजोरी मौजूद है। एक साधारण उदाहरण लीजिए: वास्तविक अर्थ में कोई भूखण्ड रिक्त हो सकता है अर्थात् यह कि उस पर पूर्णतः कुछ भी सन्निर्मित न हो । एक दूसरे भू-खण्ड पर ऐसी छोटी संरचना हो सकती है, जोकि नगरपालिक नियमों और विनियमों के अनुसार उस पर बनाई गई हो। प्रथम प्रकार के भू-खण्ड को मात्र इस तथ्य के कारण कि उस पर कुछ भी नहीं बनाया गया है, अधिनियम के उपबंध कड़ाई के साथ लागू होते हैं, जबकि दूसरे प्रकार का भूखण्ड इस कारण अधिनियम की परिधि के बाहर पूरी तरह से है क्योंकि कोई छोटी संरचना उस पर बनी हुई है। ऐसे वर्गीकरण में तर्काधार की कमी है।

25. अधिनियम की धारा 2(च) में आई हुई "रिक्त भूमि" अभि-व्यक्ति की परिभाषा के दूसरे भाग द्वारा रिक्त भूमि के अन्तर्गत "अधिनियम की अनुसूची में विनिर्दिष्ट" विशिष्टतः सभी भूमियां आती हैं। अनुसूची के अन्त-र्गत ऐसी विभिन्न भूमियां हैं, जिन पर कुछ बना हुआ है, जैसे कि बी.ई.एस.टी.

डिपो (प्रविष्टि 73), नवाबवाडी स्थित स्वास्थ्य केन्द्र (प्रविष्टि 75), वल्लभभाई पटेल नगर स्थित पंम्पिग स्टेशन (प्रविष्टि 82), मुलन्द ग्राम में विद्यालय (प्रविष्टि 130) और अंत में ऐसी सभी भूमियां जिन पर वृहत्तर मुम्बई में सार्वजनिक सड़कें और जनपथ बने हुए हैं (प्रविष्टि 1555)। अनुसूची की स्कीम को समझना या उसके पीछे किसी तर्कसंगत आधार का पता लगाना असंभव है। यह भी समझना कठिन है कि कतिपय ऐसी भूमियां, जोकि महाराष्ट्र आवास बोर्ड और मुम्बई नगर निगम के प्रयोजनों के लिए अर्जनाधीन हैं, अनुसूची में क्यों शामिल की गई हैं और ऐसी अन्य भूमियों को, जो समान रूप से स्थित हैं, इस प्रकार क्यों नहीं शामिल किया गया है। अनुसूची में की कुछ प्रविष्टियों से यह दर्शित होता है कि अप्राधिकृत संरचनाएं कदाचित् उनमें उल्लिखित भूमियों पर सन्निर्मित नहीं की जा सकती थीं। मोटे तौर से यह अनुसूची अधिनियम के वास्तविक उद्देश्य से परे है।

26. अधिनियम की धारा 2(च) का अंतिम भाग राज्य सरकार को इस बात की शक्ति प्रदत्त करता है कि वह समय-समय पर राजपत्र में प्रकाशित आदेश द्वारा अनुसूची में संशोधन कर सकेगी। इस शक्ति के अंतर्गत अन्य बातों के साथ-साथ अनुसूची में "कोई भूमि या भूमियां" जोड़ने की शक्ति शामिल है। आदेश में ऐसा कोई सिद्धांत या मानक अधिकथित नहीं किया गया है, जिससे कि राज्य सरकार वस्तुपरक रूप से यह अवधारित करने में समर्थ हो सके कि अनुसूची में कौन-सी भूमियां जोड़ी जा सकती हैं। अनुसूची में जोड़ने की शक्ति विधायी शक्ति की प्रकृति में है, जोकि जैसी कि स्थिति है, संशोधन से प्रभावित व्यक्तियों को सूचना की तामील करने के लिए अनुबद्ध नहीं कर सकती। अनुसूची के संशोधन की यह शक्ति इस तथ्य पर आधारित नहीं है कि अनुसूची में जोड़ी गई भूमियों पर ऐसी अप्राधिकृत संरचनाएं अवश्य ही होनी चाहिए, जोकि उन पर बनी हुई हों। राज्य सरकार कोई भूमि चुनने के लिए और अनुसूची में उसे रखने के लिए स्वतंत्र है। अनियंत्रित विवेकाधिकार को इस प्रकार प्रदत्त करने की बात सम्पूर्ण अधिनियम में मौजूद है।

27. इस प्रकार अधिनियम की धारा 2 (च) में आई हुई "रिक्त भूमि" अभिव्यक्ति की परिभाषा के प्रत्येक भाग से संविधान के अनुच्छेद 14 और 19 (1) (च) के उपबंधों का अतिक्रमण होता है। अनुच्छेद 19 (1)(च) संविधान (चवालीसवां संशोधन) अधिनियम, 1978 के पारित किए जाने के बाद, जिसके द्वारा खण्ड (च) लुप्त कर दिया गया था, सुसंगत नहीं रह गया है। किन्तु अधिनियम को उस खण्ड की अपेक्षाओं की तब तक पूर्ति करनी थी, जब तक कि वह संविधान का भाग था।

28. इस प्रक्रम में इस बात पर विचार करना सुसंगत हो सकता है कि उन भूमियों का अन्तिम हश्र क्या है, जो धारा 2 (च) के अधीन रिक्त भूमियां घोषित की गई हैं। जब तक कि धारा 4 (1) के अधीन अधिभोगी को यह निदेश देते हुए सक्षम प्राधिकारी आदेश पारित न कर दे कि वह भूमि रिक्त कर दे, तब तक वह भूमि अतिचारी या अप्राधिकृत अधिभोगी के कब्जे में भी बनी रह सकेगी। यदि उसे धारा 3 (1) के अधीन भूमि को अधिभोग में रखने की अनुज्ञा दी जाती है, तो उसे मात्र इस कारण से बेदखल नहीं किया जा सकता कि धारा 4 (1) के अधीन बेदखली का आदेश केवल तभी पारित किया जा सकता है, यदि वह भूमि धारा 3 के उपबंधों के प्रतिकूल उस व्यक्ति के अधिभोग में है। भूमि से अतिचारी की बेदखली से भी उसके आधिकारिक स्वामी को कोई राहत नहीं मिल सकती, क्योंकि अधिनियम में ऐसा कोई उपबन्ध मौजूद नहीं है, जिसके द्वारा भूमि उसे अप्राधिकृत अधिभोग से मुक्त करने के बाद लौटाई जा सके। यदि स्वयं स्वामी ने अप्राधिकृत संरचना परिनिर्मित की है, तो अधिनियम में इस बात की बाबत कोई भी उपबन्ध नहीं किया गया है कि उसे उससे बेदखल किए जाने के बाद भूमि के संबंध में क्या किया जाना है।

29. धारा 3 (2) के परन्तुक के अधीन जो कि प्रथम संशोधन अधिनियम द्वारा अन्तःस्थापित किया गया था, राज्य सरकार को या इस निमित्त विनिर्दिष्ट किसी अधिकारी को यह शक्ति प्रदत्त की गई है कि वह रिक्त भूमियों के अधिभोगियों से दाण्डिक प्रकार के तौर पर उतनी युक्ति-युक्त रकम प्राप्त और संगृहीत करे जितनी राज्य सरकार अवधारित करे। ऐसा दाण्डिक प्रभार तब तक वसूल किया जा सकता है जब तक कि अधिनियम की धारा 3 (1) का उल्लंघन करते हुए उस भूमि पर परिनिर्मित संरचना न हटा ली जाए। प्रथम संशोधन के उद्देश्यों और कारणों के कथन से यह दर्शित होता है कि शास्ति उद्गृहीत करने संबंधी उपबन्ध अधिनियम में इस दृष्टि से पुरःस्थापित किया गया था कि लोक प्राधिकारी उन भूमियों के जिन पर अप्राधिकृत संरचनाएं थीं, उन अधिभोगियों को जिन्हें संरचनाओं का कब्जा बनाए रखने की इजाजत दी गई है, किसी रकम का संदाय किए बिना उन भूमियों का अधिभोग नहीं बनाए रखने देंगे। ऐसा प्रतीत होता है कि धारा 4 (1) के अधीन आदेश पारित किए जाने के परिणामस्वरूप संरचनाओं को समपहृत करने के बाद भी राज्य सरकार अप्राधिकृत अधिभोगियों से प्रतिकर की वसूली करती आ रही है। हमें यह बिलकुल बेतुका प्रतीत होता है कि जहां कि वास्तविक स्वामी उन व्यक्तियों से, जिन्होंने उसकी

भूमि का अतिचार किया था, कोई किराया या प्रतिकर वसूल करने संबंधी कोई विधिक कार्यवाही करने से निवारित हैं, वहीं राज्य सरकार अतिचारियों से दाण्डिक प्रभार वसूल कर सकती है।

30. द्वितीय संशोधन अधिनियम द्वारा, अधिनियम में नवीन धारा 4-क पुर:स्थापित की गई थी। उस धारा में यह उपबन्ध किया गया है कि यदि किसी रिक्त भूमि पर किसी संरचना का ऐसा कोई अधिभोगी, जिससे धारा 3 के अधीन दाण्डिक प्रभार संगृहीत किये जाते हैं, या यदि ऐसा कोई अधिभोगी जिससे धारा 4 (1) के अधीन किए गए आदेश द्वारा यह अपेक्षित है कि वह ऐसी रिक्त भूमि खाली कर दे, अस्थायी अध्युपाय के तौर पर, अपने ही जोखिम पर, उस संरचना का नवीकरण करना चाहता है, तो वह अपेक्षित अनुज्ञा के लिए गन्दी बस्तियों के नियंत्रक को आवेदन कर सकेगा। नियंत्रक को ऐसी जांच करने के बाद, जैसी वह ठीक समझता है, अनुज्ञा देने की शक्ति उस दशा में है, यदि उसका समाधान हो जाता है कि वह संरचना मानव-निवास के लिए उपयुक्त नहीं है और प्रस्तावित नवीकरण उस संरचना को अस्थायी रूप से उपयुक्त बनाने के लिए आवश्यक है। यदि ऐसी अनुज्ञा दे दी जाती है और उस संरचना का नवीकरण हो जाता है, तो सक्षम प्राधिकारी संरचना के अधिभोगी की बेदखली करने के लिए ऐसे समय तक के लिए शक्तिहीन हो जाता है, जो गन्दी बस्तियों का नियंत्रक विनिर्दिष्ट करे। धारा 4-ख के अधीन जो कि द्वितीय संशोधन अधिनियम द्वारा अन्त:स्थापित की गई थी, राज्य सरकार द्वारा मान्यताप्राप्त वित्तीय संस्थाएं संरचनाओं का नवीकरण करने के लिए वित्तीय सहायता उपलभ्य करा सकती हैं। उन मामलों में, जिनमें ऐसी वित्तीय सहायता का लाभ उठाया जाता है, तो वित्तीय संस्थाएं गन्दी बस्तियों के नियंत्रक से इस बात का निवेदन कर सकती हैं कि वह उनकी ओर से अधिभोगियों को दिए गए उधार की रकम संगृहीत करे। द्वितीय संशोधन अधिनियम के उद्देश्यों और कारणों के कथन से यह दर्शित होता है कि सरकार ने रिक्त भूमियों पर पर्याप्त रूप से पर्यावरण संबंधी सुधार किए हैं और उन पर अर्धस्थायी मकान बनाने की स्कीम प्रायोजित की थी। उनका आशय ऐसी संरचनाओं के अधिभोगियों को कतिपय अवधि की सुरक्षा प्रदान करना था जो कि इस शर्त के अध्यधीन था कि वे वित्तीय संस्थाओं द्वारा दी गई उधार रकमों का पुनरसंदाय नियमित रूप से करते रहेंगे। प्रस्तुत स्कीम में भूमियों के वास्तविक स्वामियों की उपेक्षा पूरी तरह से की गई है, भले ही वे उससे पीड़ित क्यों न हों, किन्तु अप्राधिकृत सन्निर्माणों के करने वालों की उपेक्षा नहीं की गई है। न तो उच्च

न्यायालय ने और न ही हमारे समक्ष इस संबंध में कोई विवाद उठाया गया कि चार वर्ष से अधिक की कालावधि तक, जिसके दौरान अधिनियम प्रवृत्त रहा है, प्राइवेट व्यक्ति के स्वामित्वाधीन किसी भी रिक्त भूमि के ऐसे एक भी अधिभोगी को, जिसने अप्राधिकृत रूप से और बलात् कब्जा किया था, बेदखल नहीं किया गया है और न ही कोई ऐसी एकल भूमि, जिस पर अधिक्रमण किया गया था, उसके आधिकारिक स्वामी को वापस ही की गई।

31. हम उच्च न्यायालय से इस बाबत सहमत हैं कि अधिनियम से संविधान के अनुच्छेद 31 (1) के उपबन्धों का अतिक्रमण नहीं होता। उसमें राज्य को या राज्य के स्वामित्वाधीन या उसके द्वारा नियंत्रित निगम को रिक्त भूमियों के स्वामित्व के अंतरण के लिए कोई उपबन्ध नहीं किया गया है और न ही वह राज्य में ऐसी भूमियों के उपयोग या अधिभोग के लिए किराया या प्रतिकर वसूल करने के संबंध में रिक्त भूमियों के स्वामियों या अधिभोगियों में कोई अधिकार निहित करता है।

32. तथापि, हम उच्च न्यायालय के इस मत को स्वीकार करने में असमर्थ हैं कि अधिनियम अधिग्रहण के अध्युपाय की कोटि में आता है और वह इस कारण से अवैध है कि उसमें प्रतिकर के संदाय के बिना अधिग्रहण के लिए उपबन्ध किया गया है। यह तो अधिनियम की भाषा को इस प्रकार खींचने के समान है जिससे यह अभिनिर्धारित किया जा सके कि उसमें प्रत्यक्षत: या अप्रत्यक्षत: प्राइवेट सम्पत्ति के अधिग्रहण के लिए उपबन्ध किया गया है। यह अधिनियम राज्य को, उसके अभिकर्ताओं को या उसके अभिकरणों को रिक्त भूमियों के कब्जे का अधिकार अन्तरित नहीं करता। अत: अधिनियम संविधान के अनुच्छेद 31 (2) के उपबंधों का उल्लंघन नहीं करता। चूंकि वह अधिनियम लागू नहीं होता, इसलिए अनुच्छेद 31 (5) में उल्लिखित आधार पर, अर्थात इस आधार पर कि अधिनियम को राष्ट्रपति की अनुमति नहीं मिली थी, अधिनियम के अविधिमान्य होने का कोई प्रश्न ही नहीं उत्पन्न हो सकता।

33. जहां तक कि विधायी सक्षमता के प्रश्न का संबंध है, हम उच्च न्यायालय के इस निष्कर्ष को इस सीमा तक कायम रखते हैं कि राज्य विधानमण्डल की सूची 2 की प्रविष्टि 18, 64 और 65 के अधीन अधिनियम पारित करने की सक्षमता प्राप्त थी।

34. कुछ भी हो, चूंकि अधिनियम से संविधान के अनुच्छेद 14 का अतिक्रमण होता है, इसीलिए इस प्रश्न पर विचार करना अनावश्यक है कि जहां तक कि उससे अनुच्छेद 19 (1) (च) का अतिक्रमण होता है, वहां

तक क्या वह संविधान (चवांलीसवां संशोधन) अधिनियम, 1978 द्वारा उस अनुच्छेद के लुप्त किए जाने पर पुनरुज्जीवित हो गया। हम इस प्रश्न के संबंध में कोई भी विचार व्यक्त नहीं कर सकते हैं कि क्या "ग्रसन का सिद्धांत" (डॉक्ट्रिन आफ एकलिप्स) संविधान-पूर्व और संविधानोत्तर विधियों, दोनों, को लागू होता है या यह कि वह सिद्धांत केवल संविधान-पूर्व की विधियों को ही लागू होता है।

35. इन कारणों से जो कि सारवान रूप से उच्च न्यायालय द्वारा बताए गए कारणों के समरूप हैं, हम उच्च न्यायालय के निर्णय की अभिपुष्टि करते हैं और ये अपीलें खर्चे सहित खारिज करते हैं। हम प्रत्येक अपील में खर्चे की रकम दो हजार रुपए नियत करते हैं।

36. समाप्त करने के पूर्व, हम यह बताना चाहेंगे कि अधिनियम पारित करने में राज्य विधानमण्डल का उद्देश्य असंदिग्ध रूप से प्रशंसनीय था। यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि यह विधान उस उद्देश्य से बहुत परे चला गया है। राज्य सरकार इन कार्यवाहियों में इस कारण असफल नहीं हुई है, क्योंकि राज्य विधानमण्डल में वह अधिनियम पारित करने की विधायी सक्षमता की कमी थी, बल्कि मुख्यतः इसलिए क्योंकि अधिनियम के उपबन्ध विभेदक हैं अधिनियम आपात-काल के दौरान उस समय पारित किया गया था, जबकि संविधान के अध्याय 3 के अधीन उपलभ्य रक्षोपायों में से कुछ को निलम्बित कर दिया गया था। आपात के प्रतिसंहरण पर, उस अधिनियम को संशोधित कर दिया जाना चाहिए था। यह इससे भी अधिक अच्छा होता कि नवीन विधान पुरःस्थापित किया जाता, जिससे कि संविधान के उपबन्धों का अनुपालन हो सकता। हमें विश्वास है कि हमारे निर्णय और उच्च न्यायालय के निर्णय को देखते हुए, विधानमण्डल शीघ्र ही उस विषय के संबंध में सावधानी के साथ विचारित विधान पुरःस्थापित करेगा। गन्दी बस्तियों के ऐसे मालिकों को, जिन्होंने लोक और प्राइवेट सम्पत्तियों का अतिचार किया है, अवश्य ही बेदखल कर दिया जाना चाहिए और उन्हें समुदाय के ऐसे असहाय व्यक्तियों का जो कि वस्तुतः उनकी दया पर हैं, आगे शोषण करने से रोकने के लिए शीघ्र कदम उठाए जाने चाहिएं। चुनौती देने वाले विधि के इन तोड़ने वालों ने न केवल प्राइवेट और लोक सम्पत्तियों पर अप्राधिकृत संरचनाएं सन्निर्मित की हैं, बल्कि, जैसा कि अधिनियम के उद्देश्यों और कारणों में बताया गया है, वे ऐसी सम्पत्तियों के किरायेदारों

से बलात किराया संगृहीत करते आ रहे हैं। राज्य सरकार जितनी ही जल्दी कार्रवाई करेगी, उतना ही अच्छा होगा।

अपीलें खारिज की गईं।

श्री०

नरेन्द्र कुमार और अन्य

बनाम

पंजाब राज्य और अन्य

(29 नवम्बर, 1984)

(मुख्य न्यायाधिपति वाई० वी० चन्द्रचूड़ और न्यायाधिपति ई० एस० वेंकटरमय्या)

शिक्षु अधिनियम, 1961 (1961 का 52)—धारा 22(2) (सपठित विद्युत इंजीनियरिंग के डिप्लोमा प्राप्त शिक्षुओं के शिक्षुता-नियुक्तिपत्र का पैरा 2)–शिक्षुता प्रशिक्षण समाप्ति के बाद रोजगार–नियोजक द्वारा रोजगार दिए जाने का लिखित आश्वासन दिया जाना—पंजाब राज्य विद्युत बोर्ड द्वारा ऐसे शिक्षुओं को नियोजन (रोजगार) न दिया जाना—सम्बद्ध उपबंधों का उद्देश्य विद्यमान रिक्तियों की सीमा तक यह गारन्टी देना है कि शिक्षुता प्रशिक्षण की सफलतापूर्ण समाप्ति पर ऐसे शिक्षुओं को नियोजन रहित नहीं रहने दिया जाएगा।

पंजाब राज्य विद्युत बोर्ड, पटियाला के तकनीकी शिक्षा संस्थान के प्रिंसीपल ने, जो कि इस मामले में प्रत्यर्थी संख्या 3 है, पिटीशनरों को, उनके द्वारा एक वर्ष की शिक्षुता सफलतापूर्वक पूरी करने पर अपेक्षित प्रमाणपत्र जारी किए थे। इन प्रमाण-पत्रों को प्राप्त करने के पश्चात् अपीलार्थियों ने अपने नाम पंजाब में रोजगार कार्यालयों में दर्ज करा दिए थे। श्रम और पुनर्वास मंत्रालय, श्रम विभाग, भारत सरकार, नई दिल्ली ने विभिन्न कार्यालयों को यह कहते हुए अनुदेश जारी किए थे कि प्रशिक्षित शिक्षु सीधी भर्ती की रिक्तियों के कम से कम 50 प्रतिशत तक के पदों पर उद्योगों में आमेलित कर लिए जाएं। प्रत्यर्थी संख्या 2 ने अपने स्थापना कार्यालय में कनिष्ठ अभियन्ता-II (विद्युत) के 50 पद विज्ञापित किए, जिन पदों के लिए पिटीशनरों ने एक वर्ष की शिक्षुता (अप्रेन्टिसशिप) सफलतापूर्वक पूरी कर ली थी किन्तु उन्हें रोजगार नहीं दिया गया।

अपीलार्थियों ने पंजाब और हरियाणा उच्च न्यायालय में एक रिट पिटीशन (1983 का संख्या 4839) उक्त विज्ञापन को इस आधार पर

जिसमें शिक्षु नियुक्त किया जा सके। यह अभिनिर्धारित करना नियुक्ति-पत्रों के पैरा 2 के शब्दों और उसकी भावना के प्रतिकूल होगा कि, भले ही ऐसी कोई रिक्ति है जिसमें शिक्षु को उसके प्रशिक्षण को सफलतापूर्वक समाप्त करने के पश्चात् नियुक्त किया जा सके, नियोजक शिक्षु को नियुक्त न करने के लिए और किसी बाहर के व्यक्ति को उस रिक्ति में नियुक्त करने के लिए स्वतंत्र है। पैरा 2 में अंतर्विष्ट आश्वासन का इस प्रकार अर्थ लगाना विधान-मण्डल द्वारा अधिनियम की धारा 22 (2) में किए गए उपबन्ध के उद्देश्य को ही विफल करने के समान होगा। इस उपबन्ध का उद्देश्य, जहां तक रिक्तियां विद्यमान हैं वहां तक, इस बात की गारण्टी देना है कि शिक्षुओं को उनके प्रशिक्षण के समाप्त करने के पश्चात् नियोजन रहित नहीं रहने दिया जायेगा। (पैरा 9)

सिविल अपीली अधिकारिता : 1984 की सिविल अपील संख्या 4720.

संविधान के अनुच्छेद 136 के अधीन 1983 के सिविल प्रकीर्ण रिट पिटीशन संख्या 4839 में पंजाब-हरियाणा उच्च न्यायालय के 24 नवम्बर, 1983 के निर्णय और आदेश के विरुद्ध विशेष इजाजत से की गई अपील।

अपीलार्थियों की ओर से सर्वश्री वी० एम० तारकुन्डे और ए० के० गोयल

प्रत्यर्थियों की ओर से सर्वश्री अश्वनी कुमार और ए० के० पण्डा

न्यायालय का निर्णय मुख्य न्यायाधिपति वाई० वी० चन्द्रचूड़ ने दिया।

मु० न्या० चन्द्रचूड़—

प्रत्यर्थियों की संख्या 22 है; इन्होंने पंजाब राज्य तकनीकी शिक्षा बोर्ड से विद्युत इंजीनियरिंग पाठ्यक्रम में तीन वर्ष का डिप्लोमा प्राप्त किया है और इन्हें अगस्त, 1981 में शिक्षु नियुक्त किया गया था। पंजाब राज्य विद्युत बोर्ड, पटियाला के तकनीकी शिक्षा संस्थान के प्रिंसीपल ने, जो कि इस मामले में प्रत्यर्थी संख्या 3 हैं, पिटीशनरों को, उनके द्वारा एक वर्ष की शिक्षुता सफलतापूर्वक पूरी करने पर अपेक्षित प्रमाण-पत्र जारी किये थे। इन प्रमाण-पत्रों को प्राप्त करने के पश्चात् अपीलार्थियों ने अपने नाम पंजाब में

रोजगार कार्यालयों में दर्ज करा दिए थे। श्रम और पुनर्वास मंत्रालय, श्रम विभाग, भारत सरकार, नई दिल्ली ने पंजाब राज्य विद्युत बोर्ड, पटियाला (जो कि इस मामले में प्रत्यर्थी संख्या 2 है) को शामिल करते हुए, विभिन्न कार्यालयों को यह कहते हुए अनुदेश जारी किए थे कि इस बात को सुनिश्चित करने के लिए आवश्यक कार्यवाही की जानी चाहिए कि प्रशिक्षित शिक्षु सीधी भर्ती की रिक्तियों के कम से कम 50 प्रतिशत तक के पदों पर उद्योगों में आमेलित कर लिए जाएं। ये अनुदेश 23 मार्च, 1983 को अधिसूचित किए गए थे। 27 जुलाई, 1984 को प्रत्यर्थी संख्या 2 ने अपने स्थापन कार्यालय में कनिष्ठ अभियन्ता-II (विद्युत) के 50 पद विज्ञापित किए, जिन पदों के लिए पिटीशनरों ने एक वर्ष की शिक्षुता (अप्रेन्टिसशिप) सफलतापूर्वक पूरी कर ली थी।

2. अपीलार्थियों ने पंजाब और हरियाणा उच्च न्यायालय में एक रिट पिटीशन (1983 का संख्या 4839) उक्त विज्ञापन को इस आधार पर चुनौती देते हुए फाइल किया था कि उनके अपने-अपने नियुक्ति-पत्रों के अधीन वे उन पदों के 50 प्रतिशत पदों पर नियुक्त किए जाने के हकदार थे जो प्रत्यर्थी संख्या 2 द्वारा विज्ञापित किए गए थे। उच्च न्यायालय ने इस रिट पिटीशन को इस आधार पर खारिज कर दिया था कि अपीलार्थियों को जारी किए गए नियुक्ति-पत्रों में ऐसा कोई वचन या आश्वासन नहीं दिया गया था कि उन्हें पंजाब राज्य विद्युत बोर्ड की सेवा में आमेलित कर लिया जाएगा, यह कि रिक्तियों में से 43 प्रतिशत रिक्तियां पहले ही अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जन जातियों, पिछड़े वर्गों, भूतपूर्व सैनिकों आदि के लिए आरक्षित थी, और यह कि यदि उक्त पदों के 50 प्रतिशत पद शिक्षु-प्रशिक्षणार्थियों के लिए आरक्षित कर दिए जाते हैं तो इस प्रकार से लगभग 100 प्रतिशत पदों को आरक्षित वर्ग में रखना होगा जो कि विधि के प्रतिकूल है। उच्च न्यायालय के इसी निर्णय के विरुद्ध विशेष इजाजत से यह अपील की गई है।

3. शिक्षु अधिनियम, 1961 (का 52) की धारा 22 (1) में यह उपबंध किया गया है कि नियोजक के लिए ऐसे किसी भी शिक्षु को नियोजन प्रदान करना बाध्यकर नहीं होगा जिसने उसके स्थापन में शिक्षुता के प्रशिक्षण की अवधि पूरी कर ली है और न शिक्षु के लिए ही ऐसे नियोजक के अधीन नियोजन स्वीकार करने की कोई बाध्यता है तथापि, यह उपबन्ध धारा 22 की उपधारा (2) में दिए गए अध्यारोही खण्ड के अधीन है, जो इस प्रकार है—

"उपधारा (1) में किसी बात के होते हुए भी, जहां शिक्षु-संविदा में यह शर्त हो कि शिक्षु, शिक्षुता प्रशिक्षण सफलतापूर्वक समाप्त कर लेने के पश्चात् नियोजक की सेवा करेगा, वहां ऐसी समाप्ति पर नियोजक शिक्षु को समुचित नियोजन देने की प्रस्थापना करने के लिए आबद्ध होगा और शिक्षु ऐसी कालावधि के लिए और ऐसे पारिश्रमिक पर जो संविदा में विनिर्दिष्ट हो, उस हैसियत में नियोजक की सेवा करने के लिए आबद्ध होगा।"

(इस उप-धारा का परन्तुक हमारे प्रयोजन के लिए सुसंगत नहीं है)

4. यह उपधारा, उपधारा (1) में अन्तर्विष्ट उपबंध के बावजूद भी इस बारे में कोई संदेह नहीं छोड़ती कि नियोजक शिक्षु को समुचित नियोजन की प्रस्थापना करने की बाध्यता के अधीन है, यदि शिक्षुता की संविदा में यह शर्त है कि शिक्षु प्रशिक्षण के सफलतापूर्वक समाप्त करने के पश्चात् नियोजक की सेवा करेगा। निःसंदेह जब ऐसी प्रस्थापना की जाती है तो शिक्षु उस हैसियत में नियोजक की सेवा करने के लिए आबद्ध है जिस हैसियत में वह शिक्षु के रूप में कार्य कर रहा था।

5. अत: विचार के लिए जो प्रश्न उद्भूत होता है वह यह है कि क्या अपीलार्थियों की शिक्षुता की संविदा में ऐसी कोई शर्त है कि वे शिक्षुता-प्रशिक्षण सफलतापूर्वक समाप्त करने के पश्चात् नियोजक की सेवा करेंगे। इस बारे में उन नियुक्ति-पत्रों का पैरा 2 महत्वपूर्ण है जिनके अधीन अपीलार्थियों को शिक्षु के रूप में नियुक्त किया गया था। यह पैरा इस प्रकार है—

*"यह भली-भांति समझ लिया जाना चाहिए कि आप एक वर्ष के लिए वृत्तिकाग्राही (स्टीपेंडरी) प्रशिक्षण पर रहेंगे और इस प्रशिक्षण को सफलतापूर्वक समाप्त करने के पश्चात् आपको, यदि विभाग में रिक्तियां हैं तो, बिना किसी वचनबद्धता के, इस अनुबंध

---

*अंग्रेजी में यह इस प्रकार है—

"It should be clearly understood that you shall be on stipendary training for a period of one year and on successful completion of this training, you shall be absorbed in the department if there are vacancies,
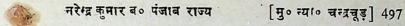
के अधीन विभाग में आमेलित कर लिया जाएगा कि एक वर्ष की शिक्षुता के पश्चात् प्रतीक्षा अवधि के दौरान आपको कोई पारिश्रमिक संदाय नहीं किया जाएगा।"

6. प्रत्यर्थियों की ओर से यह दलील दी गई है कि शिक्षुता की संविदा में इस विशिष्ट निबंधन को ऐसी शर्त नहीं समझा जा सकता कि शिक्षुता-प्रशिक्षण को सफलतापूर्वक समाप्त करने के पश्चात् शिक्षु नियोजक की सेवा करेंगे। हम इस दलील को स्वीकार करना कठिन समझते हैं। नियुक्ति-पत्रों के पैरा 2 के आशय से यह अर्थ निकलता है कि प्रशिक्षण को सफलतापूर्वक समाप्त करने के पश्चात् शिक्षु नियोजक की सेवा करने की बाध्यता के अधीन हैं। यद्यपि यह शर्त बहुत भली-भांति व्यक्त नहीं की गई है किन्तु ऐसे मामलों में जैसा कि यह हमारे सामने है, नियोजन के निबंधनों का एक व्यापक और सामान्य अर्थ लिया जाना चाहिए। ऐसे मामलों में बाल की खाल निकालने और कर्मचारियों के अधिकारों को असफल बनाने का कोई रास्ता ढूंढ निकालने का प्रयास नहीं किया जाना चाहिए। जब पैरा 2 में यह कहा गया है कि शिक्षु "विभाग में आमेलित किया जाएगा", तो एकमात्र युक्तियुक्त निर्वचन इस अभिव्यक्ति का यह है कि यह अभिव्यक्ति शिक्षुता की संविदा के पक्षकारों अर्थात कर्मचारी और नियोजक पर परस्पर अधिकार और दायित्व सृजित करती है। "आपको आमेलित किया जाएगा" संविदा की एक दुधारी शर्त है। यह शिक्षु को नियोजन प्रदान करने के लिए नियोजक को आबद्ध करती है (यदि कोई रिक्ति है) तथा समान रूप से, यह शिक्षु को नियोजन की प्रस्थापना स्वीकार करने के लिए भी आबद्ध करती है।

7. निःसंदेह, इसीलिए, इस दलील को आगे बढ़ाने की बजाए जो कि हमारे समक्ष दी गई थी, पंजाब राज्य ने उच्च न्यायालय में यह पक्षकथन अपनाया था कि कार्यकारी अभियन्ता को, जिसने नियुक्ति-पत्र जारी किए थे इन नियुक्ति-पत्रों में आक्षेपित शर्त शामिल करने का कोई प्राधिकार नहीं था। इस दलील में कोई सार नहीं है और साथ ही इसे सिद्ध भी नहीं किया गया है। इस बात को स्वीकार करना बहुत कठिन है कि कार्यकारी अभियन्ता की

---

without any commitment subject to the stipulation that during the waiting period after one year's apprenticeship, you will not be paid any remuneration".

हैसियत का एक वरिष्ठ अधिकारी शिक्षुता की संविदा में कोई ऐसी विनिर्दिष्ट शर्त ऐसे प्राधिकृत किए बिना ऐसे ही शामिल कर सकता है।

8. इसीलिए पंजाब सरकार की ओर से अपीलार्थियों की दलील के उत्तर में एक दूसरी प्रतिरक्षा अपनाई गई थी। यह प्रतिरक्षा यह थी कि "बिना किसी वचनबद्धता के" शब्द जो नियुक्ति पत्रों के पैरा 2 में हैं, यह दर्शित करते हैं कि नियोजक पर शिक्षुओं को प्रशिक्षण की अवधि समाप्त होने के पश्चात् नियोजित करने की कोई बाध्यता नहीं है। इस दलील में भी कोई सार नहीं है क्योंकि जिस संदर्भ में "बिना किसी वचनबद्धता के" शब्द दिए गए हैं इससे मात्र यह अभिप्रेत है कि नियोजक पर नियोजन की प्रस्थापना करने की बाध्यता है और शिक्षु की नियोजक की सेवा करने की तत्संबंधी बाध्यता केवल तब उद्भूत होती है यदि ऐसी कोई रिक्ति है जिसमें शिक्षु को नियुक्त किया जा सकता है। यह बात इस खण्ड से स्पष्ट हो जाती है कि "आपको, यदि रिक्तियां हैं तो, विभाग में आमेलित किया जाएगा" जो "बिना किसी वचनबद्धता के" अभिव्यक्ति से पहले आता है। यह बड़ी सामान्य बात है कि यदि ऐसी कोई रिक्ति नहीं है जिसमें शिक्षु को नियुक्त किया जा सकता है तो उसे नियुक्त करने की कोई बाध्यता नहीं हो सकती। और स्पष्टतः शिक्षु पर नियोजक की सेवा करने की भी कोई बाध्यता नहीं हो सकती। अतः ये पारस्परिक अधिकार और बाध्यताएं अर्थात सेवा करना और नियोजन की प्रस्थापना करना, ऐसी रिक्ति के होने से ही उद्भूत होते है जिसमें शिक्षु को नियुक्त किया जा सके।

9. हमारी यह भी राय है कि शिक्षु अधिनियम, 1961 की धारा 22 (2) से उद्भूत होने वाली विवक्षाओं के अतिरिक्त, नियुक्ति-पत्रों का पैरा 2 शिक्षुओं को प्रशिक्षण अवधि सफलतापूर्वक समाप्त करने पर विभाग में आमेलित करने की नियोजक की बाध्यता सृजित करता है, परन्तु यह तब जबकि ऐसी कोई रिक्ति हो जिसमें शिक्षु नियुक्त किया जा सके। यह अभिनिर्धारित करना नियुक्ति-पत्रों के पैरा 2 के शब्दों और उसकी भावना के प्रतिकूल होगा कि, भले ही ऐसी कोई रिक्ति है जिसमें शिक्षु को उसके प्रशिक्षण को सफलतापूर्वक समाप्त करने के पश्चात् नियुक्त किया जा सके, नियोजक शिक्षु को नियुक्त न करने के लिए और किसी बाहर के व्यक्ति को उस रिक्ति में नियुक्त करने के लिए स्वतंत्र है। पैरा 2 में अन्तर्विष्ट आश्वासन का इस प्रकार अर्थ लगाना विधानमण्डल द्वारा अधिनियम की धारा 22 (2) में किए गए उपबन्ध के उद्देश्य को ही विफल करने के समान

होगा। इस उपबन्ध का उद्देश्य, जहां तक रिक्तियां विद्यमान हैं वहां तक, इस बात की गारण्टी देना है कि शिक्षुओं को उनके प्रशिक्षण के समाप्त करने के पश्चात् नियोजन रहित नहीं रहने दिया जायेगा।

10. हमारे समक्ष प्रत्यर्थियों की ओर से और कोई दलील नहीं दी गई। तथापि, हम यह उपदर्शित करना चाहेंगे कि उच्च न्यायालय के समक्ष प्रत्यर्थियों द्वारा दी गई इस दलील में कोई सार नहीं है कि 50 प्रतिशत पदों की सीमा तथा अपीलार्थियों द्वारा नियोजन की प्रस्थापना करने से उस विधि का अतिक्रमण होगा जो इस न्यायालय द्वारा पदों के आरक्षण के संबंध में अधिकथित की गई है। अपीलार्थी उपलब्ध रिक्तियों में नियुक्त किए जाने के लिए उनके पक्ष में पदों के किसी आरक्षण के कारण हकदार नहीं हैं अपितु शिक्षु अधिनियम की धारा 22 (2) के उपबन्धों तथा नियुक्ति-पत्रों के पैरा 2 के अधीन सांविदिक बाध्यताओं के कारण हकदार हैं।

11. इन कारणों से हम यह अपील मंजूर करते हैं और उच्च न्यायालय के निर्णय को अपास्त करते हैं। प्रत्यर्थियों को यह निदेश देते हुए एक रिट जारी किया जाए कि वे अपीलार्थियों को उन 22 रिक्तियों में कनिष्ठ अभियन्ता-II (विद्युत) के रूप में आमेलित करें, जो रिक्तियां उन 50 रिक्तियों का भाग हैं जो प्रत्यर्थी संख्या 2 अर्थात पंजाब राज्य विद्युत बोर्ड, पटियाला द्वारा विज्ञापित की गई हैं। अपीलार्थी इस न्यायालय तथा उच्च न्यायालय में किये गए अपने खर्चे प्राप्त करेंगे जो कुल मिलाकर पांच हजार रुपए बनते हैं।

अपील मंजूर की गई।

श०

———

हरचरण सिंह (सरदार)

बनाम

सज्जन सिंह (सरदार) और अन्य

(29 नवम्बर, 1984)

(न्यायाधिपति ए० मुर्तजा फज़ल अली, ए० वरदराजन और सव्यसाची मुखर्जी)

लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951 (1951 का 43)—धारा 123(3) और 100 (1) (ख)—भ्रष्ट आचरण तथा निर्वाचन को शून्य घोषित करने के आधार—निर्वाचन में धर्म के नाम में अपील (दुहाई) द्वारा मत संयाचना का भ्रष्ट आचरण किया जाना—निर्वाचन अभ्यर्थी का नाम श्री अकाल तख्त द्वारा प्रायोजित किया जाना और उसके पक्ष में मत देने के लिए श्री अकाल तख्त द्वारा हुकुमनामे जैसा पत्र जारी किया जाना—अकाली समाचार पत्रों और अकाली नेताओं द्वारा सिख पंथ के नाम में मत देने के लिए अपील किया जाना—अभ्यर्थी या उसके निर्वाचन अभिकर्ता द्वारा या उनकी सम्मति से किसी अन्य व्यक्ति द्वारा किसी व्यक्ति के धर्म, मूलवंश, जाति या समुदाय आदि के आधार पर मत देने या देने से विरत रहने की एक मात्र अपील भी भ्रष्ट आचरण है।

लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951 (1951 का 43)—धारा 123(3) और (100(i) (ख)—निर्वाचन में धर्म के नाम में अपील (दुहाई) किए जाने के भ्रष्ट आचरण का स्वरूप—यह बात धर्म के नाम में अपील (दुहाई) नहीं होगी यदि किसी अभ्यर्थी को यह कह कर निर्वाचन में खड़ा किया जाता है कि 'उसके पक्ष में इसलिए मत दो' क्योंकि वह एक अच्छा सिख या मुसलमान या क्रिश्चियन है, किन्तु यह बात धर्म के नाम में अपील (दुहाई) किए जाने का भ्रष्ट आचरण होगी यदि यह प्रचारित किया जाता है कि उस अभ्यर्थी के पक्ष में मत न देना सिख या क्रिश्चियन या हिन्दू धर्म के विरुद्ध होगा या उसके विरोधी के पक्ष में मत देना किसी धर्म विशेष के विरुद्ध होगा।

सन् 1980 में पंजाब विधान सभा के निर्वाचन के दौरान अपीलार्थी और प्रत्यर्थी सं० 3 ने मुक्तसर विधान सभा क्षेत्र से चुनाव लड़ा था। अपीलार्थी, इन्दिरा कांग्रेस पार्टी का अभ्यर्थी था और प्रत्यर्थी संख्या 3, अकाली दल का। इस विधान सभा क्षेत्र में सिख मतदाताओं की काफी संख्या है। निर्वाचन के परिणामस्वरूप, प्रत्यर्थी सं० 3 को विजयी घोषित किया गया। प्रत्यर्थी के इसी निर्वाचन को अपीलार्थी ने निर्वाचन अर्जी (पिटीशन) फाइल करके इस आधार पर चुनौती दी कि प्रत्यर्थी सं० 3 का निर्वाचन लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951 की धारा 100(1) (ख) और धारा 123(3) के अन्तर्गत भ्रष्ट आचरण के अपराध के कारण अपास्त किए जाने योग्य है और उसे निर्रहित घोषित किया जाना चाहिए।

प्रत्यर्थी सं० 3 के विरुद्ध यह अभिकथन किया गया था कि उसके निर्वाचन अभिकर्ता तथा उसके अन्य समर्थकों ने उसकी सम्मति से विधानसभा क्षेत्र के मतदाताओं को धर्म, अर्थात् सिख धर्म के नाम में उसके पक्ष में मत देने तथा अपीलार्थी के पक्ष में मत देने से विरत रहने की अपील की थी। संक्षेप में, यह अभिकथन किया गया है कि मतदाताओं को प्रत्यर्थी सं० 3 के पक्ष में मत देने की और अपीलार्थी के पक्ष में मत न देने की अपील करते हुए श्री अकाल तख्त द्वारा "हुकुमनामे" जारी किए गए थे। यह और अभिकथन किया गया था कि, अन्य बातों के साथ मुक्तसर, खोखर और हरिका-कलां गांवों में प्रसिद्ध व्यक्तियों द्वारा भाषण दिए गए थे जिनमें मतदाताओं से यह अपील की गई थी कि चूंकि प्रत्यर्थी सं० 3 अकाल तख्त का उम्मीदवार है और उसका नाम अकाल तख्त के हुकुमनामे के द्वारा समर्थित है इसलिए लोगों को उसके पक्ष में मत देना चाहिए और उसके पक्ष में मत न देना सिख धर्म के सिद्धान्तों के विरुद्ध होगा तथा उसको मत न देना सिख धर्म की दृष्टि से पाप कार्य होगा। "अकाली टाइम्स" समाचार पत्र में प्रकाशित लेखों का ऐसी सभाओं में उल्लेख किया गया था जिनमें भी इसी मत की प्रतिपादना की गई थी और यह उपदर्शित किया गया था कि कांग्रेस (इ) सदैव सिख धर्म और सिख लोगों के विरुद्ध रही है और इसलिए इसके पक्ष में मत देना सिख धर्म के विरुद्ध मत होगा। न्यायालय के समक्ष इस बात पर बल दिया गया है कि एक सिख के लिए "हुकुमनामा" बहुत ही महत्व का होता है और इसकी अवज्ञा उसके लिए बहुत दुर्भाग्यपूर्ण होती है।

पंजाब और हरियाणा उच्च न्यायालय के विद्वान न्यायाधीश ने "हुकुमनामे" की प्रकृति का विश्लेषण करने पर और उनके समक्ष पेश किए गए साक्ष्य की परीक्षा करने पर यह निष्कर्ष निकाला कि न तो यही सिद्ध हुआ

था कि प्रत्यर्थी सं० 3 ने अधिनियम की धारा 123 के अर्थान्तर्गत धर्म के नाम में कोई अपील की थी और न विद्वान एकल न्यायाधीश का अपीलार्थियों की ओर से पेश किए गए उस साक्ष्य की सत्यता और शुद्धता के बारे में यह समाधान ही हुआ था कि उक्त तीन गांवों की सभाओं में क्या कुछ हुआ था। तदनुसार विद्वान एकल न्यायाधीश ने यह निष्कर्ष निकाला कि अपीलार्थी, प्रत्यर्थी संख्या 3 के विरुद्ध अधिकथित भ्रष्ट आचरण को साबित करने में असफल हो गया था। विद्वान एकल न्यायाधीश ने इस बात पर बल दिया था कि निर्वाचन अर्जी में भ्रष्ट आचरण के अभिकथनों की प्रकृति दांडिकवत आरोपों की होती है और इन्हें युक्तियुक्त संदेह से परे साबित किया जाना चाहिए। विद्वान एकल न्यायाधीश की यह राय थी कि अपीलार्थी उक्त आरोपों को युक्तियुक्त संदेह से परे साबित करने में सफल नहीं हुआ है। तदनुसार इन्होंने उक्त निर्वाचन अर्ज़ी को खारिज कर दिया। विद्वान न्यायाधीश के उक्त विनिश्चय और निर्णय से व्यथित होकर अपीलार्थी द्वारा उक्त अधिनियम की धारा 116(क) के अधीन यह अपील की गई है।

अपीलार्थी की ओर से यह अभिकथन किया गया था कि 1 मर्च, 1980 को श्री अकाल तख्त की मोहर और प्रतीक वाले शासकीय कागज पर एक यह "हुकुमनामा" जारी किया गया था कि प्रत्यर्थी सं० 3 श्री अकाल तख्त द्वारा नियुक्त सात-सदस्यीय समिति द्वारा नाम-निर्दिष्ट अभ्यर्थी है। अतः वह श्री अकाल तख्त का ही अभ्यर्थी है और उसके पक्ष में मत देना प्रत्येक सिख का धार्मिक कर्त्तव्य है तथा उसके पक्ष में मत न देना सिख धर्म के सिद्धान्तों का अतिक्रमण है।

16 मई, 1980 के "अकाली टाइम्स" समाचार पत्र में प्रधान संपादक श्री सुरजीत सिंह द्वारा लेख लिखे गए थे। इन लेखों में यह कहा गया था कि अकाली दल के पक्ष में या अकाली दल द्वारा समर्थित अभ्यर्थी के पक्ष में मत देना प्रत्येक सिख का धार्मिक कर्तव्य है। लेख में किए गए अनेक कथनों में से एक कथन यह था कि इन्दिरा कांग्रेस सिख समुदाय की विरोधी है। 18 मई, 1980 को उक्त अकाली टाइम्स में यह और कहा गया था कि सिख ऐसी संस्था के समर्थक नहीं हो सकते और कांग्रेस का समर्थन करना सिख समुदाय के हित के विरुद्ध एक पाप था।

अपीलार्थी की ओर से यह दलील दी गई थी कि प्रत्यर्थी सं० 3 द्वारा अधिनियम की धारा 123(3) का तीन विभिन्न कारणों से अतिक्रमण किया गया है — (क) अकाल तख्त द्वारा प्रत्यर्थी सं० 3 की प्रायोजित उम्मीदवारी से और विधान सभा निर्वाचन के लिए उसे निर्वाचन टिकट देने से, क्योंकि अकाल तख्त सिखों की उच्चतम धार्मिक सत्ता है। अपीलार्थी का काउन्सेल कहता है

कि अकाल तख्त द्वारा निर्वाचन के लिए प्रत्यर्थी सं० 3 की उम्मीदवारी प्रायोजित करने के कार्य में ही धर्म के प्रति अपील विवक्षित है क्योंकि अकाल तख्त एक अनन्य धार्मिक हैसियत रखता है और यह एक भारी धार्मिक सत्ता है तथा सिखों पर इसका व्यापक प्रभाव है। (ख) विधान सभा निर्वाचनों के सम्बन्ध में अकाल तख्त के जत्थेदार द्वारा हुकुमनामा (प्रदर्श पी-4) जारी करना जो उन परिस्थितियों को ध्यान में रखने पर, जिन परिस्थितियों में यह जारी किया गया था, यह उपदर्शित करता है कि इस विनिश्चय को धार्मिक सत्ता का रूप देने के लिए अकाल तख्त की मंजूरी प्राप्त कर ली गई थी। (ग) यह और कहा गया है कि मुक्तसर, खोखर और हरीका-कलां में आयोजित चुनाव सभा में हुकुमनामे के प्रति, और "अकाली टाइम्स" के लेखों के प्रति निर्देश करके मतदाताओं को अपील करना तथा मतदाताओं की धार्मिक भावनाओं की दुहाई देकर प्रत्यर्थी सं० 3 के पक्ष में उन्हें मत देने के लिए आदेश करना तथा ऐसा न करने पर परिणामों के बारे में उन्हें चेतावनी देना धर्म के प्रति की गई अपील (दुहाई) के अन्तर्गत आता है।

चाहे यह हुकुमनामा था या नहीं और भले ही इस मामले में प्रत्यर्थी सं० 3 के पक्ष में मत देने का निदेश देते हुए श्री अकाल तख्त द्वारा समुचित रूप में हुकुमनामा जारी किया गया था अथवा नहीं और अगर जारी किया गया था तो ऐसे हुकुमनामे के क्या परिणाम थे—ये सब प्रश्न ही न्यायालय के समक्ष उठाए गए हैं।

यह एक तकनीकी प्रश्न नहीं है कि प्रदर्श पी-4 एक हुकुमनामा था अथवा नहीं। वर्तमान विवाद में यही प्रश्न है जिसका निर्णय एक व्यापक दृष्टिकोण से किया जाना है। ऐसे मामलों में न्यायालय को अभ्यर्थी द्वारा अपनी ओर से किए गए कथनों का इस देश के औसत और साधारण मतदाताओं के मन और मस्तिष्क पर पड़ने वाले प्रभाव की परीक्षा करनी होती है। अपील मंजूर करते हुए,

अभिनिर्धारित—भ्रष्ट आचरण किसी निर्वाचन को लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951 की धारा 100(1) (ख) के अधीन अपास्त करने योग्य बना देता है। कौन से आचरण भ्रष्ट आचरण समझे गए हैं, यह अधिनियम की धारा 123 में उपदर्शित किया गया है। उक्त धारा की उपधारा (3) के अनुसार किसी अभ्यर्थी या उसके अभिकर्ता द्वारा या अभ्यर्थी अथवा उसके निर्वाचन अभिकर्ता की सम्मति से किसी अन्य व्यक्ति द्वारा किसी व्यक्ति के धर्म, मूलवंश अथवा वर्ण के आधार पर मत देने या देने से विरत रहने की "अपील" (दुहाई) भ्रष्ट आचरण है। अतः किसी अभ्यर्थी अथवा उसके अभिकर्ता द्वारा या अभ्यर्थी अथवा उसके निर्वाचन अभिकर्ता की सम्मति से किसी अन्य व्यक्ति द्वारा किसी व्यक्ति के

धर्म, मूलवंश, जाति या समुदाय आदि के आधार पर मत देने या मत देने से विरत रहने की एकमात्र अपील भी भ्रष्ट आचरण होगी।
(पैरा 1, 2, 4 और 5)

अधिनियम की धारा 123(2) और (3) तथा (3क), निर्वाचन प्रक्रिया में से उन विघटनात्मक तत्वों को दूर करने के लिए अधिनियमित की गई है जो ऐसी तर्कहीन भावनाओं को बढ़ाते हैं जो संविधान के मूल तत्वों के विरुद्ध जाती हैं। अन्य नागरिकों के धार्मिक विश्वासों और आचरणों, मूलवंश, पंथ, संस्कृति तथा भाषा आदि के प्रति सम्यक सम्मान दर्शाना जनतांत्रिक पद्धति की मूल शर्तें हैं। न्यायालय को इन दो बातों के बीच एक रेखा खींचनी होती है कि प्रत्येक मामले के तथ्यों और परिस्थितियों को ध्यान में लेने के पश्चात् और उनका निर्वचन उस संदर्भ में करने के पश्चात्, जिस संदर्भ में प्रतिवादित कथन या कार्य किए गए थे, क्या अनुज्ञेय है और क्या प्रतिषिद्ध है? न्यायालय को, अभ्यर्थी द्वारा किए गए कथनों द्वारा इस देश के औसत और सामान्य मतदाताओं के मन और मस्तिष्क पर पड़ने वाले प्रभाव की परीक्षा करनी होती है। (पैरा 14)

इस बात का अवधारण करने के लिए कि क्या कतिपय कार्यकलाप धारा 123(3) में उल्लिखित रिष्टि के अन्तर्गत आते हैं अथवा नहीं, इस धारा के मात्र रूप अथवा शब्दावली की तुलना में इसकी विषयवस्तु के सार पर ध्यान दिया जाना चाहिए। धारा 123(3) के प्रतिषेध को प्रत्यक्ष रूप से अथवा गोलमोल अथवा बारीक तरकीबों से तोडने-मरोड़ने के लिए अनुज्ञात नहीं किया जाना चाहिए। न्यायालय को परिवादित कार्यों के प्रभाव और दबाव को महत्व देना चाहिए तथा सदैव ही धारा 123(3) के प्रयोजन को ध्यान में रखना चाहिए अर्थात् निर्वाचन क्षेत्र में धार्मिक प्रभाव को प्रविष्ट होने से रोकना चाहिए। किसी कार्य की प्रकृति और उसका परिणाम प्रथम-दृष्टया प्रकट न होता हो किन्तु इसकी विवक्षा कथन जारी करने वाले व्यक्ति की भाषा, संदर्भ, हैसियत और उसकी सामाजिक स्थिति से, अभ्यर्थी के ऊपरी दिखावे और उसके सुज्ञात धर्म से और उन व्यक्तियों के वर्ग से की जा सकती है जिनके प्रति कथन या कार्य किया गया है। (पैरा 25)

यह बात धर्म के प्रति अपील (दुहाई) की कोटि में नहीं आएगी यदि कोई प्रत्यर्थी यह कह कर निर्वाचन में खड़ा किया जाता है कि "उसके लिए मत दो" क्योंकि वह एक अच्छा सिख है या वह एक अच्छा क्रिश्चियन है या वह एक अच्छा मुसलमान है, किन्तु यह कहना धर्म के प्रति अपील (दुहाई) होगा यदि यह प्रचारित किया जाता है कि उसके लिए मत न देना सिख धर्म

अथवा क्रिश्चियन धर्म अथवा हिन्दू धर्म के विरुद्ध होगा या दूसरे अभ्यर्थी के लिए मत देना एक धर्म विशेष के विरुद्ध कार्य होगा। वस्तुतः ऐसी अपील के सम्पूर्ण प्रभाव को यह विनिश्चित करने के लिए ध्यान में रखना होगा कि क्या धर्म के प्रति ही अपील की गई थी अथवा नहीं। अतः ऐसे मामले में सामग्री के सार पर विचार करना होगा। (पैरा 42)

इस तथ्य की पृष्ठभूमि में साक्ष्य की सम्पूर्णता को ध्यान में रखते हुए कि अकाल तख्त से कुछ पत्र इत्यादि, जिन्हें हुकुमनामा या और कुछ नाम दिया जा सकता है, जारी किए गए थे और "अकाली टाइम्स" के अंकों में प्रकाशित सम्पादकीय लेखों को देखते हुए, इस मामले में धर्म के नाम में अपील (दुहाई) प्रत्यर्थी सं०3 की ओर से की गयी थी। यद्यपि, सभाओं से सम्बन्धित मौखिक साक्ष्य में उल्लिखित कुछ तथ्यों का उल्लेख पिटीशन में नहीं किया गया था किन्तु जब साक्ष्य पेश किया गया और वह साक्ष्य प्रतिपरीक्षा में नहीं डगमगाया तथा अन्य तथ्यों की पृष्ठभूमि में उक्त साक्ष्य में सच्चाई का पुट पाया गया है इसलिए न्यायालय की राय है कि प्रत्यर्थी सं० 3 द्वारा धर्म के नाम में की गई अपील (दुहाई) इस मामले में साबित हो गई है। (पैरा 63)

अवलम्बित निर्णय

पैरा

[1975] 1975 सप्लीमेंट एस० सी० आर० 281 :
जियाउद्दीन बुरहानुद्दीन बुखारी बनाम **बृजमोहन राम दास मेहरा और अन्य ;** 12, 41 और 65

[1969] [1969] 3 एस० सी० आर० 492 :
अम्बिकाशरण सिंह बनाम **महन्त महादेव और गिरी और अन्य ;** 9

निर्दिष्ट निर्णय

[1980] 1980 की सिविल अपील सं० 892 (एन०सी०ई०):
रामशरण यादव बनाम **ठाकुर मुनेश्वर नाथ सिंह और अन्य ;** 63

[1977] [1977]1 एस० सी० आर० 490 :
एम०नारायण राव बनाम **जी०वेंकट रेड्डी और अन्य ;** 62

[1976] [1976]3 एस० सी० आर० 808 :
कन्हैयालाल बनाम **मन्ना लाल और अन्य ;** 62

[1975] [1975]1 एस० सी० आर० 643 :
रहीम खां बनाम **खुरशीद अहमद और अन्य ;** 61

[1975] ए० आई० आर० 1975 एस० सी० 567 :
चौधरी रिजक राम बनाम चौधरी जे० एस० चौहान और अन्य ; 61

[1972] [1972]2 एस० सी० आर० 742 :
हरद्वारी लाल बनाम कंवलसिंह ; 65

[1964] [1964]7 एस० सी० आर० 790 :
कुलतार सिंह बनाम मुख्तयार सिंह ; 44

[1960] [1960]1 एस० सी० आर० 953 :
शुभनाथ देवगम बनाम रामनारायण प्रसाद और अन्य ; 43

[1959] [1959] सप्लीमेंट 2 एस० सी० आर० 748 :
रामदयाल बनाम शांति लाल और अन्य ; 44

[1910] आई०एल०आर० (1910) 37 कलकत्ता, पृ० 259-60 :
पदमावली दासी बनाम रसिक लाल धर. 85

सिविल अपीली अधिकारिता : 1981 की सिविल अपील सं० 3419.

1980 के निर्वाचन पिटीशन सं० 40 में पंजाब और हरियाणा उच्च न्यायालय के 14 अक्तूबर, 1981 के आदेश और निर्णय के विरुद्ध अपील।

अपीलार्थी की ओर से सर्वश्री साली जे० सोरावजी, के० पी० भंडारी एस० सी० पटेल और डा० रुखसाना स्वामी

प्रत्यर्थी की ओर से सर्वश्री जी० एस० ग्रेवाल और आर० ए० गुप्ता।

न्यायालय का निर्णय न्यायाधिपति सव्यसाची मुखर्जी ने दिया।

न्यायाधिपति मुखर्जी—

अपीलार्थी और प्रत्यर्थियों ने मई, 1980 में आयोजित पंजाब विधान, सभा का निर्वाचन मुक्तसर विधानसभा क्षेत्र से लड़ा था। मतदान 31 मई, 1980 को हुआ था और इसका परिणाम 1 जून, 1980 को घोषित किया गया था जिसमें अपीलार्थी ने 29,600 मत प्राप्त किए थे और प्रत्यर्थी सं० 3 ने 30,003 मत प्राप्त किए थे। अन्य उम्मीदवारों को केवल नाम मात्र मत मिले थे। इस प्रकार से प्रत्यर्थी सं० 3 के पक्ष में 403 मतों का अन्तर था। प्रत्यर्थी सं० 3 को इस प्रकार से निर्वाचित घोषित कर दिया गया था। प्रत्यर्थी सं० 3 के निर्वाचन को यह अभिकथन करते हुए एक निर्वाचन अर्जी (पिटीशन) के द्वारा चुनौती दी गयी थी कि प्रत्यर्थी सं० 3 ने उक्त निर्वाचन में भ्रष्ट आचरण किया था और इस प्रकार से उसका निर्वाचन अपास्त किए जाने योग्य था और वह भ्रष्ट आचरण के लिए निर्रहित किए जाने योग्य है। भ्रष्ट आचरण

किसी निर्वाचन को लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951 की धारा 100(1)(ख) के अधीन अपास्त करने योग्य बना देता है। इस अधिनियम की उक्त धारा इस प्रकार है—

> 100. **निर्वाचन को शून्य घोषित करने के आधार :**
>
> (1) उपधारा (2) के उपबंधों के अध्यधीन रहते हुए यह कि यदि उच्च न्यायालय की यह राय है कि
>
> (क) ....
>
> (ख) निर्वाचित अभ्यर्थी या उसके निर्वाचन अभिकर्ता द्वारा या निर्वाचित अभ्यर्थी या उसके निर्वाचन अभिकर्ता की सम्मति से किसी अन्य व्यक्ति द्वारा कोई भ्रष्ट आचरण किया गया है; अथवा"

2. कौन से आचरण भ्रष्ट आचरण समझे गए हैं, यह अधिनियम की धारा 123 में उपदर्शित किया गया है। उक्त धारा की उपधारा (3) इस प्रकार है—

> "किसी व्यक्ति के धर्म, मूलवंश, जाति, समुदाय या भाषा के आधार पर किसी व्यक्ति के लिए मत देने या मत देने से विरत रहने की अभ्यर्थी या उसके अभिकर्ता द्वारा या अभ्यर्थी या उसके निर्वाचन अभिकर्ता की सम्मति से किसी अन्य व्यक्ति द्वारा अपील या उस अभ्यर्थी के निर्वाचन की सम्भाव्यताओं को अग्रसर करने के लिए या किसी अभ्यर्थी के निर्वाचन पर प्रतिकूल प्रभाव डालने के लिए धार्मिक प्रतीकों का उपयोग या उनकी दुहाई या राष्ट्रीय प्रतीकों, यथा राष्ट्र-ध्वज या राष्ट्रीय सम्प्रतीक, का उपयोग या दुहाई :
>
> परन्तु इस अधिनियम के अधीन किसी अभ्यर्थी को आवंटित कोई प्रतीक इस खण्ड के प्रयोजनों के लिए धार्मिक प्रतीक या राष्ट्रीय प्रतीक नहीं समझा जाएगा।"

3. यहां यह उल्लेखनीय है कि 1961 के संशोधन अधिनियम सं० 40 से पूर्व जो 12 सितम्बर, 1964 को प्रभावी हुआ था, अधिनियम की धारा 123 की उपधारा (3) इस प्रकार थी—

> "किसी व्यक्ति के मूलवंश, जाति, समुदाय या धर्म के आधार पर किसी व्यक्ति के लिए मत देने या मत देने से विरत रहने की अभ्यर्थी या उसके अभिकर्ता द्वारा या किसी अन्य व्यक्ति द्वारा अपील या अभ्यर्थी के निर्वाचन की सम्भाव्यताओं को अग्रसर करने के लिए धार्मिक प्रतीकों का प्रयोग या दुहाई या राष्ट्रीय प्रतीकों यथा राष्ट्रध्वज या राष्ट्रीय सम्प्रतीकों का प्रयोग या सुव्यवस्थित अपील।"

4. इस संशोधन के परिणामस्वरूप, अन्य बातों के साथ-साथ, "सुव्य-

वस्थित" पद इस धारा में से हटा दिया गया है और केवल किसी अभ्यर्थी या उसके अभिकर्ता द्वारा या अभ्यर्थी अथवा उसके निर्वाचन अभिकर्ता की सम्मति से किसी अन्य व्यक्ति द्वारा किसी व्यक्ति के धर्म, मूलवंश अथवा वर्ण के आधार पर मत देने या मत देने से विरत रहने की "अपील" भ्रष्ट आचरण (बना हुआ) है। 1961 के अधिनियम की धारा 123, 125, 139 और 141 में संशोधन अंत:स्थापित करने के लिए उद्देश्यों के कथन में, अन्य बातों के साथ-साथ, निम्नलिखित कहा गया है—

"देश में साम्प्रदायिक और अलगाववादी प्रवृत्तियों को दबाने के लिए 1951 के अधिनियम की धारा 123 के खण्ड (3) में उल्लिखित भ्रष्ट आचरण की व्याप्ति को व्यापक बनाना और एक अन्य भ्रष्ट आचरण का [देखिए—धारा 123 की उपधारा (3) और (3क)] और धर्म, मूलवंश, जाति, समुदाय अथवा भाषा (देखिए—नई धारा 125) के आधार पर घृणा और शत्रुता की भावनाओं को बढ़ाने के बारे में एक नए निर्वाचन अपराध का उपबन्ध करना, प्रस्थापित है।"

5. अत: किसी अभ्यर्थी अथवा उसके अभिकर्ता द्वारा या अभ्यर्थी अथवा उसके निर्वाचन अभिकर्ता की सम्मति से किसी अन्य व्यक्ति द्वारा किसी व्यक्ति के धर्म, मूलवंश, जाति या समुदाय आदि के आधार पर मत देने या मत देने से विरत रहने की एकमात्र अपील भी भ्रष्ट आचरण होगी।

6. प्रत्यर्थी सं० 3 के विरुद्ध यह अभिकथन किये गए थे कि उसके निर्वाचन अभिकर्ता तथा अन्य व्यक्ति ने उसकी सम्मति से विधानसभा क्षेत्र के मतदाताओं को धर्म, अर्थात सिख धर्म के नाम में उसके पक्ष में मत देने तथा अपीलार्थी के पक्ष में मत देने से विरत रहने की अपील कीं थी। संक्षेप में यह अभिकथन किया गया है कि मतदाताओं को प्रत्यर्थी सं० 3 के पक्ष में मत डालने की और अपीलार्थी के पक्ष में मत न देने की अपील करते हुए "हुकुमनामे" जारी किए गए थे जिनकी प्रकृति, अन्तर्वस्तु और प्रभाव की परीक्षा हम बाद में करेंगे। यह और अभिकथन किया गया था कि, अन्य बातों के साथ, मुक्तसर, खोखर और हरिका-कलां में प्रसिद्ध व्यक्तियों द्वारा भाषण दिए गए थे जिनमें मतदाताओं से यह अपील की गयी थी कि चूंकि प्रत्यर्थी सं० 3 अकाल तख्त का उम्मीदवार है और उसका नाम अकाल तख्त के हुकमनामे के द्वारा समर्थित है इसलिए लोगों को उसके पक्ष में मत देना चाहिए और उसके पक्ष में मत न देना सिख धर्म के सिद्धान्तों के विरुद्ध होगा तथा उसको मत न देना सिख धर्म की दृष्टि से पाप कार्य होगा। "अकाली टाइम्स" समाचारपत्र में प्रकाशित लेखों का ऐसी सभाओं में उल्लेख किया गया था जिनमें इसी मत की प्रतिपादना की गयी थी और यह उपदर्शित किया गया था

कि कांग्रेस (इ) सदैव से सिख धर्म और सिख लोगों के विरुद्ध रही है और इसलिए इसके पक्ष में मत देना सिख धर्म के विरुद्ध मत होगा। हमारे समक्ष इस बात पर बल दिया गया है कि एक सिख के लिए हुकुमनामा बहुत ही महत्वपूर्ण है और इसकी अवज्ञा उसके लिए बहुत दुर्भाग्यपूर्ण होती है। तथापि, इन अभिकथनों के समर्थन में पेश किए गए वास्तविक साक्ष्य की विस्तार से परीक्षा करना आवश्यक है। पंजाब और हरियाणा उच्च न्यायालय के विद्वान न्यायाधीश ने "हुकुमनामे" की प्रकृति का विश्लेषण करने पर और उनके समक्ष पेश किए गए साक्ष्य की परीक्षा करने पर यह निष्कर्ष निकाला कि न तो यही सिद्ध हुआ था कि प्रत्यर्थी सं० 3 ने अधिनियम की धारा 123 के अर्थान्तर्गत धर्म के नाम में कोई अपील की थी और न विद्वान एकल न्यायाधीश का अपीलार्थियों की ओर से पेश किए गए उस साक्ष्य की सत्यता और शुद्धता के बारे में यह समाधान ही हुआ था कि उक्त तीन सभाओं में क्या कुछ हुआ था। तदनुसार विद्वान एकल न्यायाधीश ने यह निष्कर्ष निकाला कि अपीलार्थी, प्रत्यर्थी सं० 3 के विरुद्ध अधिकथित भ्रष्ट आचरण को साबित करने में असफल हो गया था। विद्वान एकल न्यायाधीश ने इस बात पर बल दिया कि निर्वाचन अर्जी में भ्रष्ट आचरण के अभिकथनों की प्रवृति दांडिकवत आरोपों की होती है और इन्हें युक्तियुक्त सन्देह से परे साबित किया जाना चाहिए। विद्वान एकल न्यायाधीश की यह राय थी कि अपीलार्थी उक्त आरोपों को युक्तियुक्त सन्देह से परे साबित करने में सफल नहीं हुआ है। तदनुसार इन्होंने उक्त निर्वाचन अर्जी को खारिज कर दिया।

7. विद्वान न्यायाधीश के उक्त विनिश्चय और निर्णय से व्यथित होकर अपीलार्थी द्वारा उक्त अधिनियम की धारा 116(क) के अधीन यह अपील की गई है।

8. इससे पहले कि हम वास्तविक दलीलों और साक्ष्य की परीक्षा करें, अधिनियम की धारा 123 (3) में अन्तर्विष्ट सिद्धान्तों पर इस न्यायालय के दो विनिश्चयों में प्रतिपादित सिद्धान्तों को ध्यान में रखना उचित होगा।

9. **अम्बिकाशरण सिंह बनाम महन्त महादेव और गिरी तथा अन्य**[1] वाले मामले में पटना उच्च न्यायालय के उस आदेश के विरुद्ध एक अपील थी जिसमें बरहड़ा विधान सभा क्षेत्र, बिहार से अपीलार्थी के निर्वाचन को अधिनियम की धारा 100 (1) के अधीन शून्य घोषित कर दिया गया था। फरवरी, 1967 के आम चुनाव के समय अपीलार्थी बिहार राज्य के वित्त विभाग में राज्य मंत्री था। कुल मिलाकर बरहड़ा विधान सभा क्षेत्र से 8 उम्मीदवार चुनाव लड़ रहे थे। मतदान 15 फरवरी, 1967 को हुआ था।

[1] (1969) 3 एस० सी० सी० 492.

प्रत्यर्थी सं० 1 द्वारा प्राप्त 20,243 मतों की तुलना में 21,791 मत प्राप्त करने पर अपीलार्थी को निर्वाचित घोषित कर दिया गया था।

10. तत्पश्चात् प्रत्यर्थी सं० 1 द्वारा फाइल की गई निर्वाचन अर्जी में उसने विभिन्न भ्रष्ट आचरणों के अनेक अभिकथन किए थे और उनकी विशिष्टियों को 10 से अधिक अनुसूचियों में उल्लिखित किया गया था। अपीलार्थी ने इन सभी अभिकथनों से इन्कार किया और अधिनियम की धारा 197 के अधीन एक प्रत्यारोपी अर्जी फाइल की। उच्च न्यायालय ने साक्ष्य की परीक्षा करने के पश्चात् अपीलार्थी को 3 भ्रष्ट आचरणों के लिए दोषी पाया अर्थात् विभिन्न गांवों में हरिजन मतदाताओं को धन वितरण करके रिश्वत देने, अपनी जाति अर्थात् राजपूत के आधार पर मत संयाचना करने और अर्जी में उल्लिखित चार राजपत्रित अधिकारियों की सहायता प्राप्त करने के लिए। हमारा सम्बन्ध अभिकथित द्वितीय भ्रष्ट आचरण अर्थात अपनी जाति के आधार पर मतों की संयाचना करने से है। इस न्यायालय के समक्ष प्रश्न यह अन्तर्वलित था कि क्या उच्च न्यायालय ने तीन भ्रष्ट आचरणों के लिए अपीलार्थी को दोषी अभिनिर्धारित करके सही निर्णय दिया था या नहीं। उच्च न्यायालय ने साक्ष्य पर विचार करने के पश्चात् अन्य बातों के साथ-साथ, यह अभिनिर्धारित किया कि यह दर्शित करने के लिए पर्याप्त साक्ष्य था कि निर्वाचन अभियान जाति के आधार पर अनेक स्थानों पर चलाया गया था और कुछ स्थानों पर स्वयं अपीलार्थी द्वारा ऐसा किया गया था तथा कुछ अन्य स्थानों पर उसकी उपस्थिति में कुछ अन्य व्यक्तियों द्वारा और अन्य स्थानों पर अपीलार्थी के अनेक कार्यकर्ताओं द्वारा किया गया था, जिनमें उसका निर्वाचन अभिकर्ता भी शामिल है। उच्च न्यायालय ने यह महसूस किया कि यह निष्कर्ष निकालना अनिवार्य था कि यह सब अपीलार्थी की प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष सम्मति से किया गया था। इस न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया था कि उच्च न्यायालय का निष्कर्ष सही था और यह साबित हो गया था कि अपीलार्थी ने अधिनियम की धारा 123 (3) के अन्तर्गत आने वाला भ्रष्ट आचरण किया था। धर्म के नाम में की गई अपील में किये गये अभिकथनों पर विचार करते समय इस न्यायालय ने रिपोर्ट के पृष्ठ 497 पर पैरा 12 और 13 में यह मत व्यक्त किया :—

> "पैरा 12 :—भारतीय नेतृत्व ने जाति और समुदाय के आधार पर किये जाने वाले निर्वाचन प्रचार अभियानों की यह कह कर निन्दा की है कि ऐसे अभियान देश की अखण्डता और पंथ निरपेक्ष जनतंत्र की विचारधारा के लिए विध्वंसक है जो कि हमारे संविधान का आधार है। यह निन्दा अधिनियम की धारा 123 (3) में परिलक्षित

होती है। बार-बार व्यक्त इस निन्दा के बावजूद भी अनुभव से यह देखा गया है कि जहां ऐसा कोई निर्वाचन क्षेत्र हो वहां दुर्भाग्यत: अभ्यर्थी के लिए जाति के आधार पर मतदान करने के लिए क्षेत्रीय तत्वों को अपील न करने का लोभ संवरण करना बहुत कठिन हो जाता है। तथापि, काउन्सेल की दलील यह थी कि, दूसरी ओर, यह भी खतरा होता है कि हताश अभ्यर्थी अपने अनेक अनुयायियों को संदिग्धत: यह मिथ्या प्रमाणित करने के लिए एकत्रित कर सकेगा कि उसके विरोधी ने अपनी जाति या समुदाय के आधार पर निर्वाचन अभियान चलाया था। अत: इससे पूर्व कि अभिकथन स्वीकार किये जाएं, न्यायालय को ऐसी सम्भावना से सावधान होना चाहिए और पर्याप्त विशिष्टियों की मांग करनी चाहिए। ऐसे अभिकथन का अभिसाक्ष्य देने वाले साक्षी को यह बताना चाहिए कि कब, कहां और किन व्यक्तियों को अपील की गई थी। काउन्सेल ने यह और कहा कि ऐसा नहीं किया गया था और इसलिए साक्षियों का साक्ष्य चाहे उनकी संख्या कितनी ही क्यों न हो, स्वीकार नहीं किया जाना चाहिए था।

पैरा 13 :—किन्तु जहां अभिकथन यह हो कि ऐसी संयाचना बहुत व्यापक थी और अनेक स्थानों पर निर्वाचन अर्जीदार से उन व्यक्तियों के नाम स्पष्ट करने के लिए कहना असंभव होगा जिनसे ऐसी अपील की गई थी और उन प्रत्येक से वस्तुत: क्या शब्द कहे गए थे। उदाहरण के लिए, यदि किसी सभा में ऐसी अपील की जाती है तो साक्षी के लिए उन व्यक्तियों का नाम बताना कठिन होगा जिनसे ऐसी अपील की गई थी। इसी कारण से इंग्लैण्ड में न्यायालयों ने मतदाताओं को रिश्वत देने और उनका मनोरंजन करने के बीच भेद किया है। पश्चातवर्ती वर्ग के मामलों में उन व्यक्तियों के नामों के उल्लेख की मांग नहीं की गई है जिनका अभ्यर्थी द्वारा मनोरंजन किया गया था। यद्यपि निर्वाचन अर्जीदार से अभिकथित भ्रष्टाचार की प्रकृति और उसकी व्यापकता को विनिर्दिष्ट करने के लिए कहा जायेगा। ऐसा तब भी है, यद्यपि निर्वाचन सम्बन्धी आंग्ल विधि असम्यक् प्रभाव डालने के व्यक्तिगत पहलू पर बल देती है, जबकि हमारी विधि के अधीन ऐसा कार्य करना एक तात्विक बात है जो (कार्य) भ्रष्ठ आचरण के अन्तर्गत आता है। (देखिए-हेल्सबरीज लॉज आफ इंग्लैंड, तृतीय संस्करण, जिल्द 14 पृ०278) किसी धार्मिक मुखिया द्वारा अपने अनुयायियों को दिया गया यह आदेश कि किसी अभ्यर्थी विशेष को समर्थन देना उनका प्राथमिक कर्तव्य है, निर्वाचन

को दूषित करने के लिए पर्याप्त माना गया था और उन व्यक्तियों के नाम देना आवश्यक नहीं समझा गया था जिन्हें ऐसा आदेश दिया गया था ।"

11. इस न्यायालय के समक्ष उस मामले में साक्षी पर अधिक्षेप करने और अपीलार्थी के विरुद्ध मामले की अधिसंभाव्यताएं उपदर्शित करने की अन्य दलीलें भी दी गईं थीं । इस न्यायालय ने विस्तृत विचार विमर्श के पश्चात् यह निष्कर्ष निकाला था कि धर्म के नाम में अपील करने अर्थात् जाति के आधार पर अपील करने का अभिकथन उस मामले के तथ्यों और परिस्थितियों में साबित हो गया था । यह कहा गया था कि बरहड़ा निर्वाचन क्षेत्र एक समेकित निर्वाचन क्षेत्र था और इसलिए यदि अपीलार्थी और उसका अभिकर्ता जाति के आधार पर निर्वाचन अभियान चलाते तो अन्य जातियों के मतदाता उसके विरुद्ध हो जाते और ऐसी अपील उसके हित को बढ़ाने की बजाए उसके लिए हानिकारक साबित होती । इस न्यायालय ने इस दलील को चलने योग्य नहीं माना क्योंकि यह असंभव नहीं था कि जाति के आधार पर अभियान चलाने का इच्छुक अभ्यर्थी अपने मतों पर ही ध्यान देगा और शेष मतदाताओं के बीच प्रचार करने का कार्य अपने दल के प्रचार संगठन के लिए छोड़ देगा । अतः यह कहना सही नहीं होगा कि ऐसा प्रचार अनधिसंभाव्य होगा और इसलिए उस साक्ष्य को नामंजूर कर देना चाहिए था कि ऐसी मत संयाचना की गई थी ।

12. हमारे समक्ष इस मामले में भी ऐसी ही दलीलें दी गई थीं अर्थात् यह कि मुक्तसर एक मिलाजुला (समेकित) निर्वाचन क्षेत्र है अर्थात् यहां हिन्दू और सिख मतदाता, एक गणना के अनुसार, लगभग बराबर-बराबर हैं । यह निवेदन किया गया था कि अपीलार्थी द्वारा सिख धर्म के नाम में, ऐसी परिस्थितियों में, अपील नहीं की जा सकती थी । जैसा कि इस न्यायालय के पूर्वोक्त विनिश्चय में कहा गया है, यदि इस बारे में कोई निश्चायक साक्ष्य है तो इस प्रकार की संकल्पना, साबित किए गए तथ्यों से भारी नहीं पड़ेगी । तत्पश्चात्, यह निवेदन किया गया था कि अकाली दल का कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी) के साथ गठजोड़ था यह बहुत ही अनधिसंभाव्य बात थी कि जब गठजोड़ वाली पार्टियों में से एक मार्क्सवादी पार्टी थी तो अकाली दल का अभ्यर्थी धर्म के नाम पर अपील करेगा । ऊपर पहले ही उपदर्शित कारणों से यह भी स्वीकार करने योग्य दलील नहीं है । यह तो परिस्थिति की केवल सभाव्यताएं हैं किन्तु यदि किसी निर्वाचन में अभ्यर्थी द्वारा धर्म के नाम में किए गये प्रोपेगंडा अथवा प्रचार का प्रत्यक्ष साक्ष्य है तो ऐसी अधिसंभाव्यताएं कि ऐसा प्रचार अन्य सम्बन्धित परिस्थितियों के कारण नहीं किया गया था,

उस प्रत्यक्ष साक्ष्य से भारी नहीं हो सकती, यदि न्यायालय अन्यथा ऐसे प्रत्यक्ष साक्ष्य को स्वीकार करना चाहता है।

12. **जियाउद्दीन बरहानुद्दीन बुखारी बनाम बृजमोहन रामदास मेहरा और अन्य**[1] में अपीलार्थी ने, जो मुस्लिम लीग का अभ्यर्थी था, महाराष्ट्र के विधान सभा निर्वाचन में कांग्रेस के अभ्यर्थी, प्रत्यर्थी सं०3, शौकत छागला को पराजित कर दिया था। प्रत्यर्थी सं० 1, एक मतदाता ने, अन्य बातों के साथ-साथ, यह अभिकथन करते हुए निर्वाचन अर्जी फाइल की थी कि अपीलार्थी ने धर्म के आधार पर मतदाताओं को प्रत्यर्थी सं० 3 के लिए मत देने से विरत रहने के लिए अपील की थी और यह कि अपीलार्थी ने धर्म के आधार पर भारत के नागरिकों के विभिन्न वर्गों के बीच शत्रुता या घृणा की भावना को प्रोन्नत किया था।

13. अपीलार्थी द्वारा धर्म के आधार पर मतदाताओं को की गई विभिन्न अपीलें विभिन्न उप-पैराओं में उल्लिखित की गई थीं। उस मामले में किए गए वास्तविक अभिकथनों का विस्तार से उल्लेख करना आवश्यक नहीं है क्योंकि वे अभिकथन केवल उस मामले के प्रयोजन के लिए ही सुसंगत थे। तथापि, यह उल्लेख किया जा सकता है कि छागला के बारे में यह कहा गया था कि "इस समय हम ऐसे युद्ध के बीच में हैं जिसमें हमारा विरोधी ऐसा व्यक्ति है जो हमारे धार्मिक मामलों से खिलवाड़ कर रहा है। वह हमें ऐसा समुदाय समझता है जिसकी अन्तरात्मा मर चुकी है।" यह और अभिकथन किया गया था कि छागला की पत्नि नलिनी एक हिन्दू थी और उसका पुत्र अशोक छागला मन्दिर और मस्जिद दोनों में जाया करता था और इसलिए उसे मुस्लिम इलाकों से निष्कासित कर दिया जाना चाहिए। यह और अभिकथन किया गया था कि वह न तो एक सच्चा हिन्दू था और न सच्चा मुसलमान और इसलिए उससे न तो 'खुदा' ही खुश था और न 'भगवान' ही।

14. इस न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया था कि हमारे संविधान निर्माताओं का आशय पंथनिरपेक्ष जनतंत्रात्मक गणराज्य स्थापित करना था। हमारे राजनैतिक इतिहास ने यह विशेष रूप से आवश्यक बना दिया था कि धर्म, मूल वंश, जाति, समुदाय संस्कृति, पंथ और भाषा का आधार, जो लोगों के तार्किक कार्यकलाप की शक्तियों से उन्हें वंचित करके स्वयं शक्तिशाली भावना जागृत करा सकता है, का दुरुपयोग करने की इजाज़त नहीं दी जानी चाहिए जिससे कि जनतांत्रिक स्वतंत्रता के प्ररिरक्षण की अनिवार्य परिस्थितियां विक्षुब्ध न हो जाएं। धारा 123(2) और तथा (3क), निर्वाचन प्रक्रिया में

[1] [1975] सप्ली० एस० सी० आर० 28.

से उन विघटनात्मक तत्वों को दूर करने के लिए अधिनियमित की गई थी जो ऐसी तर्कहीन भावनाओं को बढ़ाते हैं जो हमारे संविधान के मूल तत्वों के विरुद्ध जाती हैं। अन्य नागरिकों के धार्मिक विश्वासों और आचरणों, मूल वंश, पंथ, संस्कृति तथा भाषा आदि के प्रति सम्यक सम्मान दर्शाना हमारी जनतांत्रिक पद्धति की मूल शर्तें हैं। न्यायालय को इन दो बातों के बीच एक रेखा खींचनी होती है कि प्रत्येक के तथ्यों और परिस्थितियों को ध्यान में लेने के पश्चात् और उनका निर्वचन उस संदर्भ में करने के पश्चात् जिस संदर्भ में प्रतिवादित कथन या कार्य किए गए थे, क्या अनुज्ञेय है और क्या प्रतिषिद्ध है। न्यायालय को, अभ्यर्थी द्वारा किए गए कथनों द्वारा इस देश के औसत और सामान्य मतदाताओं के मन और मस्तिष्क पर पड़ने वाले प्रभाव की परीक्षा करनी होती है।

15. इस न्यायालय ने उस विनिश्चय में रिपोर्ट के पृष्ठ 297 पर निम्नलिखित मत को दोहराया है—

> "एक पंथ निरपेक्ष राज्य धार्मिक मतभेदों से ऊपर उठकर सभी नागरिकों के कल्याण की प्राप्ति के लिए प्रयास करता है, भले ही उनके धार्मिक विश्वास और आचरण कुछ भी हों। ऐसा राज्य सभी जातियों और संप्रदायों को लाभ पहुंचाने में तटस्थ और निष्पक्ष होता है। मेटलेंड ने यह कहा है कि ऐसे राज्य को अपने कानूनों के द्वारा यह सुनिश्चित करना होता है कि राजनैतिक या सिविल अधिकार या राज्य के अधीन कोई पद या स्थान धारण करने का अधिकार या क्षमता या राज्य से सम्बन्धित कोई लोक कर्त्तव्य पालन करना किसी धर्म विशेष के मानने या आचरण करने पर निर्भर नहीं करता है। अतः विधानमण्डल के जो कि 'राज्य' का एक भाग होता है, निर्वाचन के अभ्यर्थी को मतादाताओं को यह कहने के लिए अनुज्ञात नहीं किया जा सकता कि उसके विरोधी उनकी अपनी धार्मिक मान्यताओं तथा आरचणों के आधार पर उनके प्रतिनिधि के रूप में कार्य करने के लिए अयोग्य हैं। ऐसे प्रचार को अनुज्ञात करना न केवल सम्बन्धित अभ्यर्थी पर असम्मानजनक व्यक्तिगत आक्षेप अनुज्ञात करना ही नहीं होगा अपितु यह हमारे जनतांत्रिक राज्य के मूल ढांचे को बनाये रखने वाले तत्वों पर आघात करना होगा।"

16. इन सिद्धान्तों को पृष्ठभूमि में रखते हुए हमारे लिए अभिकथनों, साक्ष्य तथा उच्च न्यायालय के द्वारा इस मुद्दे पर निकाले गए निष्कर्षों के प्रति, इस अपील का निश्चय करने के लिए, निर्देश करना आवश्यक होगा। यह अभिकथन किया गया था कि 1 मार्च, 1980 को श्री अकाल तख्त द्वारा इसके

शासकीय पत्र पर, जिस पर अकाल तख्त का प्रतीक और मोहर थी, एक "हुकुमनामा" जारी किया गया था जिसके अनुसार अकाल तख्त की कार्यकारिणी समिति का विघटन कर दिया गया था और श्री हरचन्द सिंह लौंगोवाल की अध्यक्षता में एक सात सदस्यीय तदर्थ समिति नियुक्त की गई थी जिसे अकाली दल की सभी शक्तियां प्रदान की गई थीं। श्री अकाल तख्त हरमन्दिर साहब (स्वर्ण मन्दिर) के परिसर में स्थित है। हरमन्दिर साहब में स्थापित गुरु ग्रंथा साहब प्रत्येक दिन सायंकाल को सुखासन के लिए श्री अकाल तख्त में लाया जाता है। यह और कहा गया था कि 6 अक्तूबर, 1979 को एक दूसरा हुकुमनामा भी जारी किया गया था। उक्त हुकुमनामे में, जो कि "पेपर बुक" के भाग 2 के पृष्ठ 17 और 18 पर "प्रदर्श-पी" है, यह कहा गया था कि श्री अकाल तख्त के जत्थेदार द्वारा 27 सितम्बर, 1979 को दिए गए त्यागपत्रों के कारण कुछ विनिश्चय किए गए थे। इसमें उल्लिखित मदों में से एक मद में यह और कहा गया था कि आने वाले संसदीय निर्वाचन को देखते हुए तथा पंथ और उसके धर्म गुरुओं की एकता को देखते हुए, प्रतिनिधियों की सूची की समीक्षा करने के पश्चात्, वे अपने ही अधीक्षण में शिरोमणि अकाली दल के अध्यक्ष का निर्वाचन आयोजित करेंगे। सम्पूर्ण सिख समुदाय में इस बात का प्रचार किया गया था कि शिरोमणि अकाली दल को सिख पंथ की "उच्चतम सत्ता" समझा जाना चाहिए। यह और कहा गया कि पंथ के टिकट पर निर्वाचित विधायकों को मुख्यमन्त्री सरदार प्रकाश सिंह बादल के नेतृत्व में एक जुट होकर पंजाब सरकार चलाने के और पंथ की प्रतिष्ठा बनाये रखने के लिए अनुदेश दिये गए थे। यह और कहा गया कि शिरोमणि समिति के सभी सदस्यों को गुरुद्वारों की उत्तम व्यवस्था के लिए तथा सिख धर्म के आदेशों के प्रचार के लिए जत्थेदार गुरुचरण सिंह टोहड़ा के नेतृत्व में एकजुट होकर कार्य करना होगा। उक्त दस्तावेज में यह और कहा गया है कि 7-सदस्यों की समिति टिकटों के वितरण के लिए तथा आने वाले लोक सभा निर्वाचनों में अन्य दलों के साथ समायोजन करने के लिए गठित की गई थी। इन 7-सदस्यों के नाम इसमें दिए गए थे जिसमें सन्त हरचन्द सिंह लौंगोवाल, सरदार जगदेव सिंह तलवंडी, सरदार प्रकाश सिंह बादल और अन्य व्यक्तियों के नाम शामिल थे। सन्त हरचन्द सिंह लौंगोवाल को समिति का अध्यक्ष नियुक्त किया गया था। इसमें यह और अनुबंधित था कि जो सिख अकाल तख्त के आदेश की अवज्ञा करेगा तथा "अरदास" करेगा उसे दण्डित किया जायेगा। ऐसे सिख को अकाल तख्त के समक्ष अपने आप को हाजिर करना चाहिए और अपने को आरोपों से मुक्त कराना चाहिए: तथा यह और निदेश दिया गया था कि उपर्युक्त विनिश्चय का विरोध करने वाले व्यक्ति के साथ, जो विनिश्चय पंथ

की एकता को बनाये रखने के लिए किया गया है, कड़ाई से बरता जायेगा। यह और अभिकथन किया गया है कि 16 नवम्बर, 1979 को अकाल तख्त द्वारा इसके शासकीय पत्र पर, जिस पर धार्मिक प्रतीक और मोहर थी, एक और हुकुमनामा जारी किया गया था जिसमें अकाल तख्त द्वारा जत्थेदार जगदेव सिंह तलवंडी और जत्थेदार उमरानांगल पर दण्ड अधिरोपित किया गया था। यह दस्तावेज पेपर बुक के भाग 2 के पृष्ठ 19 और 20 पर "प्रदर्श-पी-2" के रूप में है।

17. 29 फरवरी, 1980 को एक पत्र लिखा गया था जो कि पेपर बुक के भाग 2 के पृष्ठ 21 पर 'प्रदर्श-पी-3' के रूप में है। इस पत्र में अकाली दल के कुछ नेताओं की 7-सदस्यीय तदर्थ समिति बनाने और अकाली दल की कार्यकारिणी समिति को समाप्त करने की प्रस्थापना है। यह अभिकथन किया गया है कि 1 मार्च, 1980 को अकाल तख्त द्वारा अपने शासकीय पत्र पर, जिस पर धार्मिक प्रतीक और मोहर थी, एक हुकुमनाम जारी किया गया था जो पेपर बुक के भाग 2 के पृष्ठ 22 पर "प्रदर्श-पी-4" है। यह हुकुमनामा पूर्वोक्त प्रस्थापना को मंजूरी देता है और इसमें यह शासकीय घोषणा की गई थी कि उस तारीख से 7-सदस्यीय तदर्थ समिति शिरोमणि अकाली दल के सभी उत्तरदायित्व संभालेगी।

18. अधिनियम की धारा 15 की उपधारा (2) के अधीन पंजाब राज्य के सभी विधानसभा क्षेत्रों से विधान सभा सदस्य चुने जाने के लिए एक अधिसूचना जारी की गई थी।

19. प्रत्यर्थी सं० 3 अपने साक्ष्य में यह कहता है कि वह मूलतः अकाली दल का अभ्यर्थी नहीं था किन्तु बाद में उसकी उम्मीदवारी पर विचार किया गया और उसे 7-सदस्यीय समिति द्वारा निर्वाचन में खड़े होने के लिए टिकट दिया गया था। इस बात की अभिपुष्टि "प्रदर्श-पी-29/ए" द्वारा होती है क्योंकि 2 मई, 1980 नामांकन-पत्र पेश करने के की अन्तिम तारीख थी और 3 मई, 1980 को प्रत्यर्थी सं० 3 को 7-सदस्यीय तदर्थ समिति द्वारा मुक्तसर विधान सभा क्षेत्र से टिकट दिया गया था : देखिए— पेपर बुक के भाग 3 के पृष्ठ 90-92, जो कि दयाल सिंह का कथन है। श्री दयाल सिंह ने अपीलार्थी की ओर से साक्ष्य दिया और वह उस अकाली दल का सचिव होने का दावा करता है जिसके अध्यक्ष श्री जगदेव सिंह तलवंडी थे। उसके अनुसार हरचंद सिंह का नाम सूची में शामिल किया गया था अर्थात् प्रदर्श पी० डब्ल्यू 29/ए तथा प्र० पी-4/ए में नहीं था।

20. उम्मीदवारों का नाम वापस लेने की तारीख 5 मई, 1980 को समाप्त हो गई थी। 14 मई, 1980 को ग्राम थंडवाला में अकाल तख्त द्वारा

नियुक्त 7-सदस्यीय तदर्थ समिति के सदस्य श्री प्रकाश सिंह बादल तथा निर्वाचित उम्मीदवार प्रत्यर्थी सं० 3 द्वारा एक चुनाव सभा को संबोधित किया गया था। 16 मई, 1980 के "अकाली टाइम्स" समाचार पत्र में प्रधान संपादक श्री सुरजीत सिंह द्वारा लेख लिखे गए थे। इन लेखों में यह कहा गया था कि अकाली दल के पक्ष में या अकाली दल द्वारा समर्थित अभ्यर्थी के पक्ष में मत देना प्रत्येक सिख का धार्मिक कर्त्तव्य है। लेख में किए गए अनेक कथनों में से एक कथन यह था कि इन्दिरा कांग्रेस सिख समुदाय की विरोधी है। 18 मई, 1980 को उक्त अकाली टाइम्स में यह और कहा गया था कि सिख ऐसी संस्था के समर्थक नहीं हो सकते और कांग्रेस का समर्थन करना सिख समुदाय के हित के विरुद्ध एक पाप था।

21. इस अपील में उठाए गए मुद्दों की प्रकृति को देखते हुए "अकाली टाइम्स" में लिखे गए लेखों में उन कुछ अंशों के प्रति निर्देश करना समुचित होगा जिनके बारे में यह अभिकथन किया गया है कि उन मुद्दों को प्रत्यर्थी सं० 3 द्वारा अनेक चुनाव सभाओं में विशेष रूप से उजागर किया गया था। इन लेखों में से एक लेख उपाबंध 'पी-5' है जो पेपर बुक के भाग 2 के पृष्ठ 23 पर है। इसका शीर्षक इस प्रकार है :—"इन्दिरा कांग्रेस का समर्थक सिख नहीं हो सकता।" इसमें अन्य बातों के साथ-साथ यह भी कहा गया है : "प्रत्येक सिख के लिए यह एक धार्मिक कर्त्तव्य बन जाता है कि वह अपने मत को अकाली दल की सम्पत्ति समझे और हर प्रकार से इस पर डटा रहे। सिख होना गुरु के प्रति निष्ठावान होना है। सिख धर्म का पालन करना कोई मामूली बात नहीं है : यह सर्वशक्तिमान "वाहेगुरु" द्वारा दिया गया एक तोहफा है। जिन लोगों को सिख धर्म में शामिल किया जाता है वे अपनी जान की बाजी लगाकर भी इस धर्म की रक्षा करते हैं। इन्दिरा कांग्रेस में ऐसे कुछ नेता हैं जो देखने में सिख लगते हैं और वे अपने मतलब और राजनैतिक उद्देश्यों के लिए सिख होने का दावा करते हैं। ऐसे लोगों की कोई कमी नहीं है जो अपने आपको पंजाब, पंजाबी भाषा और इसकी संस्कृति का समर्थक बताते हैं तथा वे सिख हितों के संरक्षक होने का भी बहाना करते हैं। "किन्तु वस्तुत: वे भेड़ के भेस में भेड़िये हैं।"

22. इसी प्रकार के अनेक अन्य लेख भी थे जो सबके सब पेपर बुक में प्रदर्शित किए गए हैं। यह स्पष्ट है कि धार्मिक आधार पर प्रचार किया गया था। इन विभिन्न लेखों की सभी सामग्री का विस्तार से उल्लेख करना आवश्यक नहीं है। उदाहरणस्वरूप, एक लेख का उल्लेख किया जा सकता है जिसका शीर्षक था :—"सिख इन्दिरा कांग्रेस का समर्थक नहीं हो सकता।" इस लेख में अन्य बातों के साथ-साथ निम्नलिखित बातें कही गई हैं—

"प्रैस रिपोर्टों के अनुसार पुलिस जांच करने के बहाने सन्त भिण्डरांवाले को परेशान कर रही है, ऐसा निरंकारियों के कारण किया जा रहा है क्योंकि वे सिख नेताओं को परेशान करने के लिए दबाव डाल रहे हैं। दूसरी ओर शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक समिति के कार्यालय में प्राप्त धमकी भरे पत्रों के बारे में, जिनके सम्बन्ध में सभी भारतीय समाचार पत्रों ने रिपोर्ट प्रकाशित की है और जिनकी निन्दा सभी सिखों द्वारा की जा रही है, इन्दिरा कांग्रेस के किसी नेता ने कोई उल्लेख नहीं किया। दूसरी ओर, पुलिस का उच्चतम अभिकर्ता अर्थात् सी० बी० आई० बाबा गुरुवचन सिंह की हत्या के बारे में जांच कर रहा है और यदि निरंकारी इस जांच से संतुष्ट नहीं होंगे तो एक विशेष समिति गठित की जायेगी किन्तु दूसरी ओर, पंजाब के राज्यपाल श्री हाथी 13 सिखों की हत्या के विरुद्ध केन्द्रीय सरकार की प्रेरणा पर उच्च न्यायालय में अपील नहीं कर रहे हैं। यह ऐसी राजनैतिक नीति है जिसका अर्थ है सिखों का विरोध तथा सिख धर्म के साथ भेदभाव। मुझे अनेक बार मेरे मित्रों ने यह बताया है कि भूतपूर्व प्रधान मन्त्री श्री मोरारजी देसाई की धारणा भी सिख विरोधी थी। यह सही है और 'अकाली टाम्इस' ने कई बार इस बात के बारे में लिखा है। किन्तु मोरारजी देसाई का विरोध मेरी दलील की पुष्टि करता है क्योंकि मोरारजी देसाई भी कांग्रेस के उसी पुराने दल के हैं जिसकी इन्दिरा गांधी है। भारत में शासन के बारे में इन्दिरा गांधी और मोरारजी देसाई के बीच अनेक मतभेद हो सकते हैं किन्तु उनकी सिख विरोधी प्रवृत्ति दोनों में सामान्य है। श्रीमती इन्दिरा गांधी ने कभी भी यह साबित करने का प्रयत्न नहीं किया कि उसे सिखों से कोई शत्रुता नहीं है।

ऐसी स्थिति को देखते हुए पंजाब के अन्दर और पंजाब से बाहर रहने वाले सिखों को गम्भीरता से यह सोचना चाहिए कि उनका राजनैतिक और धार्मिक जीवन केवल तभी सुरक्षित रह सकता है जब कि पंजाब में अकाली दल का शासन हो। आने वाले निर्वाचनों में किसी भी सिख द्वारा इन्दिरा कांग्रेस का समर्थन सिख हितों की पीठ में छुरा भोंकने के समान होगा।"

23. यह अभिकथन किया गया है कि 24 मई, 1980 को प्रत्यर्थी सं 3 अर्थात् निर्वाचित अभ्यर्थी ने खोखर और हरीका कलां गांव में चुनाव सभा को सम्बोधित किया। प्रत्यर्थी सं० 3 ने एकत्रित लोगों से इस बात का उल्लेख० किया कि वह अकाल तख्त का अभ्यर्थी है। यह और अभिकथन किया गया कि

25 मई, 1980 को एक निर्वाचन सभा मुक्तसर में भी आयोजित की गई थी। स्वीकृत रूप से इस सभा में श्री प्रकाश सिंह बादल और प्रत्यर्थी सं० 3 द्वारा भाषण दिया गया था। वहां कुछ कथन किये गये थे जिनके बारे में हम बाद में विचार करेंगे।

24. मतदान का दिन 31 मई, 1980 था। परिणाम 1 जून, 1980 को घोषित किया गया था। पिटीशनर अपीलार्थी ने 16 जुलाई, 1980 को निर्वाचन अर्जी फाइल की और 14 अक्तूबर, 1980 को (उच्च न्यायालय द्वारा) यह अर्जी खारिज कर दी गई थी।

25. इस अपील में दी गई दलीलों के समर्थन में काउन्सेल द्वारा यह अभिकथन किया गया था कि पंथ निरपेक्ष जनतंत्र की विचारधारा ही भारतीय संविधान का आधार है। अधिनियम की धारा 123 (3) में अन्तर्निहित परम और मूल प्रयोजन पंथ निरपेक्ष जनतंत्र की विचारधारा है। धारा 123 (3) इसलिए अधिनियमित की गई थी कि निर्वाचन प्रक्रिया में से धर्म, जाति आदि विघटनात्मक तत्वों के संबंध में जाने वाली अपील को समाप्त किया जा सके, जो अपील अतार्किक भावनाओं को उत्प्रेरित करती है। यह अनिवार्य है कि धर्मजनित शक्तिशाली भावनाओं को निर्वाचन के दौरान नहीं उठने दिया जाना चाहिए तथा लोगों के विनिश्चय और उनके विकल्प पर किसी प्रकार का भी कुप्रभाव नहीं डालने दिया जाना चाहिए। धर्म, जाति आदि के आधार पर निर्वाचन प्रचार की निन्दा, आवश्यक रूप से अधिनियम की धारा 123 (3) की भाषा में अन्तर्निहित है। परिणामत: इस धारा का अर्थान्वयन रिष्टि को दबाने तथा उपचार को बढ़ाने के लिए किया जाना चाहिए। इस धारा का विधायी इतिहास इसी दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण है। संशोधन अधिनियम, 1961 के उद्देश्यों के कारणों के कथन में उक्त संशोधन के उद्देश्य का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। यह उद्देश्य था : "देश में साम्प्रदायिक और अलगाववादी प्रवृत्ति को दबाने के लिए 1951 के अधिनियम की धारा 123 के खण्ड (3) में उल्लिखित भ्रष्ट आचरण की व्याप्ति को विस्तृत बनाना और एक नये भ्रष्ट आचरण का उपवंध करना प्रस्थापित है।" इस बात का अवधारण करने के लिए कि क्या कतिपय कार्यकलाप धारा 123 (3) में उल्लिखित रिष्टि के अन्तर्गत आते हैं अथवा नहीं, धारा के मात्र रूप अथवा शब्दावली की तुलना में इसकी विषयवस्तु के सार पर ध्यान दिया जाना चाहिए। धारा 123 (3) के प्रतिषेध को प्रत्यक्ष रूप से अथवा गोलमोल अथवा बारीक तरकीबों से तोड़ने-मरोड़ने के लिए अनुज्ञात नहीं किया जाना चाहिए। न्यायालय को परिवादित कार्यों के प्रभाव और दबाव को महत्व देना चाहिए तथा सदैव ही धारा 123 (3) के प्रयोजन को ध्यान में रखना चाहिए अर्थात् निर्वाचन क्षेत्र

में धार्मिक प्रभाव को प्रविष्ट होने से रोकना चाहिए। किसी कार्य की प्रकृति और उसका परिणाम प्रथमदृष्टया प्रकट न होता हो किन्तु इसकी विवक्षा कथन जारी करने वाले व्यक्ति की भाषा, सन्दर्भ, हैसियत और उसकी सामाजिक स्थिति से, अभ्यर्थी के ऊपरी दिखावे और उसके सुज्ञात धर्म से और उन व्यक्तियों के वर्ग से की जा सकती है जिनके प्रति कथन या कार्य किया गया है।

26. हमें इन सिद्धान्तों की पृष्ठभूमि में इस मामले के तथ्यों की समीक्षा करनी है। अपीलार्थी की ओर से यह दलील दी गई थी कि अधिनियम की धारा 123 (3) का तीन विभिन्न कारणों से अतिक्रमण किया गया है—

(क) अकाल तख्त द्वारा प्रत्यर्थी सं० 3 की प्रायोजित उम्मीदवारी से और विधान सभा निर्वाचन के लिए उसे निर्वाचन टिकट देने से, क्योंकि अकाल तख्त सिखों की उच्चतम धार्मिक सत्ता है (इस सम्बन्ध में देखिए—ज्ञानी प्रताप सिंह पिटीशनर साक्षी सं०25 का कथन जो पेपर बुक के भाग 3 के पृष्ठ 69 पर है) अपीलार्थी का काउन्सेल कहता है कि अकाल तख्त द्वारा निर्वाचन के लिए प्रत्यर्थी सं० 3 की उम्मीदवारी प्रायोजित करने के कार्य में ही धर्म के प्रति अपील विवक्षित है क्योंकि अकाल तख्त एक अनन्य धार्मिक हैसियत रखता है और यह एक भारी धार्मिक सत्ता है तथा सिखों पर इसका व्यापक प्रभाव है।

(ख) विधान सभा निर्वाचनों के सम्बन्ध में अकाल तख्त के जत्थेदार द्वारा हुकुमनामा (प्रदर्श पी-4) जारी करना जो उन परिस्थितियों को ध्यान में रखने पर, जिन परिस्थितियों में यह जारी किया गया था, यह उपदर्शित करता है कि इस विनिश्चय को धार्मिक सत्ता का रूप देने के लिए अकाल तख्त की मंजूरी प्राप्त कर ली गई थी (इस सम्बन्ध में देखिये—ज्ञानी प्रतापसिंह, पिटीशनर-साक्षी सं० 25 का साक्ष्य जो पेपर बुक के भाग 3 के पृष्ठ 70 पर है)।

(ग) यह और कहा गया है कि मुक्तसर, खोखर और हरीका कलां में आयोजित चुनाव सभा में हुकुमनामे के प्रति, और 'अकाली टाइम्स' के लेखों के प्रति निर्देश करके मतदाताओं को अपील करना तथा मतदाताओं की धार्मिक भावनाओं की दुहाई देकर प्रत्यर्थी सं० 3 के पक्ष में उन्हें मत देने के लिए आदेश करना तथा ऐसा न करने पर परिणामों के बारे में उन्हें चेतावनी देना धर्म के प्रति की गई अपील (दुहाई) के अन्तर्गत आता है।

27. चूंकि ये दलीलें विद्वान विचारण न्यायाधीश द्वारा स्वीकार नहीं

की गई थीं इसलिए इस अपील में दी गई दलीलों का अवधारण करने के लिए, विद्वान विचारण न्यायालय द्वारा इसे स्वीकार न करने के कारणों तथा साक्ष्य का विश्लेषण करना आवश्यक है।

28. चाहे यह हुकुमनामा था या नहीं और भले ही इस मामले में प्रत्यर्थी सं० 3 के पक्ष में मत देने का निदेश देते हुए श्री अकाल तख्त द्वारा समुचित रूप में हुकुमनामा जारी किया गया था अथवा नहीं और अगर जारी किया गया था तो ऐसे हुकुमनामे के क्या परिणाम थे—यही सब प्रश्न हमारे समक्ष उठाये गये हैं। धारा 123 की उपधारा (3) किसी व्यक्ति के धर्म, मूलवंश, जाति, समुदाय या भाषा के आधार पर किसी व्यक्ति के लिए मत देने या मत देने से विरत रहने की अभ्यर्थी या उसके अभिकर्ता द्वारा या अभ्यर्थी या उसके निर्वाचन अभिकर्ता की सम्मति से किसी अन्य व्यक्ति द्वारा, अपील करना प्रतिषिद्ध करती है। धारा 123 की उपधारा (3) का दूसरा भाग जो भ्रष्ट आचरण को परिभाषित करता है, वर्तमान प्रयोजन के लिए सुसंगत नहीं है।

29. इस मामले में सिखों में श्री अकाल तख्त की संकल्पना की विस्तृत परीक्षा करना आवश्यक होगा। इस मामले **में हमा**रे समक्ष विद्वान प्राध्यापकों तथा इस प्रश्न पर विचार करने वाली कतिपय विख्यात पुस्तकों का साक्ष्य है।

30. प्रत्यर्थी सं० 3 की ओर से यह कहा गया था कि समुचित हुकुमनामे के लिए कुछ पुरोभाव्य शर्तें हैं जिन्हें पूरा किया जाना अपेक्षित है अर्थात् यह कि "सरबत खालसा" अर्थात् सभी सिखों की एक सभा होनी चाहिए और दूसरे एक मत से विनिश्चय किया जाना चाहिए और तत्पश्चात् इसका अनुमोदन शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक समिति द्वारा किया जाना चाहिए और इस विनिश्चय की घोषणा श्री अकाल तख्त द्वारा की जानी चाहिए। प्रत्यर्थी सं० 3 का काउन्सेल यह निवेदन करता है कि यदि ये शर्तें पूरी हो जाती हैं तो सिख द्वारा की गई अवज्ञा के परिणाम सहित, एक ऐसा समुचित हुकुमनामा, जारी किया गया कहा जा सकता है।

31. प्रत्यर्थी सं० 3 की ओर से यह दलील दी गई थी कि अपीलार्थी के लिए यह दलील देने की छूट नहीं थी क्योंकि निर्वाचन पिटीशन में यह कहा गया था कि हुकुमनामा जारी किया गया था। प्रत्यर्थी सं० 3 ने अपने लिखित कथन में यह नहीं कहा है कि कोई समुचित हुकुमनामा जारी किये जाने से पूर्व यह शर्तें पूरी की जानी अपेक्षित हैं। यह दलील दी गई कि प्रत्यर्थी सं० 3 स्वयं एक सिख है और वह अकाली दल का सदस्य है और इसलिए उसे सभी शर्तों का ज्ञान अवश्य होना चाहिए था, फिर भी उसने इन शर्तों के बारे में प्रश्न नहीं उठाया। दूसरी ओर, प्रत्यर्थी सं० 3 की ओर से यह निवेदन किया

गया कि प्रत्यर्थी सं० 3 द्वारा फाइल किये गये लिखित कथन के पैरा 9 में इस प्रश्न को उठाया गया था और यह कहा गया था कि प्रत्यर्थी सं० 3 के पक्ष में कोई हुकुमनामा जारी नहीं किया गया था।

32. "ग्लोरी आफ दी अकाल तख्त" नामक पुस्तक के लेखक हरजिंदर सिंह दिलगीर ने अपनी पुस्तक के पृष्ठ 97 पर इतिहासकार सी० एच० ल्यौहलिन की पुस्तक "दि सिख एण्ड देयर स्क्रिपचर" के पृष्ठ 1 से निम्नलिखित कथन उद्धृत किया है—

> "अकाल तख्त एक धर्म प्रचार का केन्द्र है तथा राजनैतिक और धार्मिक सम्मेलनों का स्थान भी है—वस्तुतः आज अकाल तख्त सिखों के राजनैतिक कार्यकलापों का प्रतीक है। सिखों के सभी बड़े सिख अभियान इस स्थान से चलाये गये हैं।

33. उपाबंध-2 के पृष्ठ 99 पर लेखक ने "सरबत" का उल्लेख किया है जिसका अर्थ है "सम्पूर्ण"। सरबत खालसा से सभी सिख लोगों का समूह अभिप्रेत है। यह धार्मिक-राजनैतिक सिद्धान्त है जिसके द्वारा सिख अपने लोगों की केन्द्रीकृत अन्तरात्मा और इच्छा की शक्ति और हैसियत धारण कर लेते हैं। सर्वप्रथम "सरबत खालसा" का प्रयोग अकाल तख्त, अमृतसर में दीवाली और बैसाखी के दिनों सभी सिखों के एकत्रित होने के लिए किया गया था। सन् 1721 के पश्चात् वर्ष में एक बार सम्पूर्ण खालसा लोग श्री अकाल तख्त के समक्ष इकट्ठे होते थे। "सरबत खालसा" ऐसे सम्मेलनों में पंथ के हितों के प्रश्न पर विचार करते थे और एक मत से "गुरुमते" पारित किये जाते थे। इस पुस्तक के लेखक ने यह लिखा है कि "सरबत खालसा" ने ऐसे अनेक महत्वपूर्ण विनिश्चय किये हैं जिन्होंने पंजाब के इतिहास को बदल दिया है। इन विनिश्चयों में जागीर स्वीकार करना (1973), अमृतसर में एक दुर्ग का निर्माण करना (1747), "दल खालसा" का गठन करना (1748), लाहौर पर आक्रमण करना (1760) आदि आदि शामिल हैं। "सरबत खालसा" पद का प्रयोग 18वीं शताब्दी के मध्य में प्रारम्भ हुआ। लेखक के अनुसार पहले प्रत्येक व्यक्ति "सरबत खालसा" के सम्मेलनों में भाग ले सकता था। बाद में यह अधिकार मिसलों के नेताओं में ही निहित हो गया। लेखक के अनुसार सरबत खालसा का अन्तिम सम्मेलन सन् 1805 में हुआ था। इसमें लार्ड लेक और महाराजा होलकर के विवाद पर विचार विमर्श किया गया था। इसके पश्चात्, लेखक के अनुसार, महाराजा रणजीत सिंह ने राजनैतिक सम्मेलनों को बन्द कर दिया था और केवल अपने मंत्रियों की सलाह पर ही विनिश्चय करना प्रारम्भ कर दिया था। लेखक यह कहता है कि 20वीं शताब्दी में भी जुख्य सिख संगठनों (अकाली दल और शिरोमणि गुरुद्वारा

प्रबन्धक समिति) ने इस संस्था को पुनरुज्जीवित नहीं किया है और ये मुख्य सिख प्रश्नों का विनिश्चय अखिल सिख पार्टी सम्मेलनों में करते हैं।

34. इसी लेखक के अनुसार पृष्ठ 102 पर उपाबंध-4 में "हुकुमनामा" शब्द का प्रयोग मुगल राजाओं द्वारा जारी किये गये "शाही फर्मानों" के लिए किया गया है किन्तु सिखों के लिए इसका व्यापक अर्थ है। जब कि मुगल आदेशों का पालन बाध्यता के अधीन किया जाता था, सिखों के लिए हुकुमनामे का पालन गर्व का विषय था। केवल गुरु के आदेश का पालन ही नहीं अपितु गुरु के हुकुमनामे का दर्शन मात्र भी एक प्रतिष्ठा का विषय समझा जाता था। उक्त पुस्तक के उपाबंध-4 में लेखक ने जारी किये गये अनेक हुकुमनामों का उदाहरण दिया है।

35. लेखक के अनुसार इतिहासकारों का विश्वास है कि हरमन्दिर साबित के निकट अकाल तख्त का निर्माण करने का कदम लौकिक और आध्यात्मिक केन्द्रों को एक दूसरे के निकट रखने के गुरु के विचार के कारण था ताकि दोनों एक दूसरे को प्रभावित कर सकें। लेखक का यह निर्देश है कि अकाल तख्त के निर्माण के पश्चात् गुरु हरगोबिन्द सिंह ने एक हुकुमनामा जारी किया था (इस सम्बन्ध में यह भी देखिए—"दि सिख रिलीजन" जिल्द 4, पृष्ठ 3 : लेखक मकौलिफ)।

36. खुशवंत सिंह ने अपनी पुस्तक "दि हिस्ट्री आफ दि सिख", जिल्द 1 (1469—1839) के पृ० 63 पर गुरु हरगोबिन्द सिंह के अकाल तख्त की निम्नलिखित विवेचना की है—

> "हरमन्दिर के उस पार उन्होंने अकाल तख्त (अनन्त प्रभु का सिंहासन) का निर्माण किया जहां शांति के भजन गाए जाने के बजाय एकत्रिक समूह वीरता के कार्यों की प्रशंसा करने वाली बीर गाथाएं सुना करता था और धार्मिक उपदेश सुनाने के बजाए सैनिक विजय की योजनाओं पर विचार किया करता था।"

37. उन्होंने यह और उल्लेख किया है कि वस्तुतः गुरु का निवास स्थान महाराजा के निवास स्थान जैसा हो गया था। गुरु महाराज सिंहासन पर बैठते थे और दरबार लगाते थे। वे सब जगह अपने सिर पर एक शाही छत्तर के साथ जाते थे और उनके साथ सदैव ही शसत्र सेवादार होते थे। यह कहा गया है कि अब तक "अकाल तख्त" एक आध्यात्मिक स्थान, एक सैनिक केन्द्र, एक राजनैतिक कार्यालय, एक न्यायालय, सम्मेलनों का स्थान, और एक दरबार बन गया था जहां से हुकुमनामे जारी किए जाते थे (शाही फरमान) उक्त पुस्तक के पृष्ठ 32 पर यह कहा गया है कि वर्ष में सिख एक बार "अकाल तख्त" के समक्ष इकट्ठे हुआ करते थे और यह इकट्ठे ही "सरबत

खालसा" (सम्पूर्ण खालसा) कहा जाता था तथा सरबत खालसा के विनिश्चय को "गुरुमत" कहा जाता था।

38. विद्वान ऐकल न्यायाधीश के समक्ष अपीलार्थी की ओर से यह दलील दी गई थी कि प्रदर्श पी-1, पी-2 और पी-4 वाले दस्तावेज "अकाल तख्त" द्वारा जारी किए गए थे और इसलिए ये हुकुमनामे थे। यह भी दलील दी गई थी कि इन दस्तावेजों से यह दर्शित होता है कि अभ्यर्थियों का नाम-निर्देशन "अकाल तख्त" द्वारा नियुक्त 7-सदस्यीय समिति द्वारा किया जाता था और वे अकाल तख्त के अभ्यर्थी कहे जाते थे। यह और कहा गया था कि "अकाल तख्त" उच्चतम धार्मिक सत्ता है और सभी सिखों का यह अनिवार्य कर्त्तव्य है कि वे "अकाल तख्त" द्वारा नाम-निर्दिष्ट उम्मीदवारों के पक्ष में मतदान करें। उसके अनुसार सिख मतदाता "अकाल तख्त" के आदेशों की अवज्ञा नहीं कर सकते। दूसरी ओर, प्रत्यर्थी सं० 3 के विद्वान काउन्सेल ने यह कहा कि ऐसा हुकुमनामा "अकाल तख्त" का "हुकुमनामा" नहीं था अपितु यह "अकाल तख्त" के जत्थेदार द्वारा लिखे गए मात्र पत्र थे।

39. विद्वान एकल न्यायाधीश ने यह निष्कर्ष निकाला कि इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक नहीं कि प्रदर्श पी-1 और पी-2 हुकुमनामे थे या नहीं क्योंकि ये विधानसभा निर्वाचनों से बहुत पूर्व जारी किए गए थे और इनसे सम्बन्धित पिटीशन के अंशों को हटा देने का आदेश दिया गया था। प्रदर्श पी-4 हुकुमनामा था या नहीं, इस बारे में कुछ विवाद था और विद्वान न्यायाधीश ने पंजाब विश्वविद्यालय, पटियाला के इतिहास के प्राध्यापक डा० फौजा सिंह के मौखिक साक्ष्य के प्रति निर्देश किया जिनकी परीक्षा 1980 के निर्वाचन पिटीशन सं० 32 (सरदार सतनाम सिंह बाजवा बनाम सुजागर सिंह सखवां और एक अन्य, जिसका 24 मार्च, 1981 को विनिश्चय किया गया था) में की गई थी। उन्होंने यह अभिसाक्ष्य दिया था कि "अकाल तख्त" की स्थापना गुरु गोबिन्द सिंह साहब द्वरा सन् 1606 में की गई थी जो सिखों के छठे गुरु हैं। उस अवसर पर उन्होंने दो तलवारों की स्थापना की थी। एक तलवार "मीरी" और दूसरी "पीरी" कहलाती थी। "मीरी" और "पीरी" फारसी भाषा के शब्द हैं और यह क्रमशः लौकिक सत्ता और आध्यात्मिक सत्ता के द्योतक हैं। इन दो तलवारों की स्थापना का महत्व धर्म और इसके आचरण में घनिष्ठ सम्बन्ध उपदर्शित करना था चूंकि सिखों के पांचवें गुरु, गुरु अर्जुनदेव सिंह को मुगल महाराजा जहांगीर ने बहुत यन्त्रणा पहुंचाई थी इसलिए सिखों में इस अत्याचार के विरुद्ध बहुत भारी प्रतिक्रिया दिखाई गई थी। इसी पृष्ठभूमि के कारण सिखों के गुरु ने धार्मिक प्रचार जारी रखने के साथ साथ सिख समुदाय के सैन्यकरण का विनिश्चय किया था। श्री "अकाल तख्त" की स्थापना के

समय से ही सिख धर्म और सिख इतिहास में इसका अद्वितीय स्थान है। 18वीं शताब्दी के दौरान सरबत खालसा के सम्मेलन प्रायः वर्ष में दो बार अर्थात् बैसाखी और दीवाली के दिन श्री अकाल तख्त के समक्ष किए जाते थे। इन सम्मेलनों में एक मत से संकल्प पारित किये जाते थे जिन्हें "गुरुमते" कहा जाता है। यह सब पहले भी उल्लिखित किया जा चुका है और इसकी और विस्तार से परीक्षा करने की आवश्यकता नहीं है। यह बात निर्विवाद है कि श्री "अकाल तख्त" सिखों के बीच एक अद्वितीय स्थान रखता है। तथापि, इसकी शक्तियों के बारे में डा० फौजा सिंह और ज्ञानी प्रताप सिंह के बीच मतभेद है, जैसा कि विद्वान विचारण न्यायाधीश ने उल्लेख किया है। डा० फौजा सिंह ने यह कहा है कि अकाल तख्त राजनैतिक और धार्मिक, दोनों शक्तियों का प्रतीक, जबकि ज्ञानी प्रताप सिंह ने यह कहा है कि यह मात्र उच्चतम धार्मिक सत्ता है। डा० फौजा सिंह सन् 1967 से 1978 तक पंजाब विश्वविद्यालय में सिख इतिहास विभाग के प्राध्यापक और अध्यक्ष रहे हैं और सन् 1978 से पंजाब ऐतिहासिक अध्ययन संस्थान के निदेशक हैं। ये बहुत ही प्रख्यात विद्वान है और सिख इतिहास से भलीभांति परिचित हैं। ये बहुत दिनों से इसी विषय का अध्यापन कर रहे हैं। विद्वान न्यायाधीश ने यह महसूस किया कि उनके कथन को वरीयता दी जानी चाहिए और यह निष्कर्ष निकाला कि अकाल तख्त राजनैतिक और धार्मिक शक्तियों का प्रतीक है। विद्वान न्यायाधीश के अनुसार साक्ष्य के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला गया कि प्रदर्श पी-4 "गुरुमत" के रूप में पारित नहीं समझा गया था। दूसरी ओर यह फतहगढ़ साहिब में अकाली दल के नेताओं द्वारा किया गया विनिश्चय और श्री अकाल तख्त के शासकीय पत्र पर जत्थेदार साधू सिंह द्वारा लिखा गया था और अकाल तख्त द्वारा इसकी घोषणा की गई थी।

40. विद्वान न्यायाधीश ने यह निष्कर्ष निकाला कि अभ्यर्थियों के चयन के बारे में कोई विनिश्चय नहीं था। विद्वान न्यायाधीश का यह मत था कि यदि डा० फौजा सिंह के मत को पढ़ा जाता है तो यह अभिनिर्धारित नहीं किया जा सकता कि उक्त विनिश्चय "श्री अकाल तख्त" का हुकुमनामा था। विद्वान एकल न्यायाधीश ने 1980 के निर्वाचन पिटीशन सं० 32 में न्या० पी० सी० जैन द्वारा अपनाए गए मत के प्रति भी निर्देश किया।

41. हमारी राय में यह एक तकनीकी प्रश्न नहीं है कि पी०-4 एक हुकुमनामा था अथवा नहीं। वर्तमान विवाद में यही प्रश्न है जिसका निर्णय एक व्यापक दृष्टिकोण से किया जाना है। जैसाकि पहले उल्लेख किया जा चुका है ऐसे मामलों में न्यायालय को अभ्यर्थी द्वारा अपनी ओर से किए गए कथनों का इस देश के औसत और साधारण मतदाताओं के मन और मस्तिष्क

पर पड़ने वाले प्रभाव की परीक्षा करनी होती है। (देखिए—**जियाउद्दीन बुरहानुद्दीन बुखारी** बनाम **व्रजमोहन रामदास मेहरा और अन्य**[1])। यह निर्विवाद है कि "श्री अकाल तख्त" का सिखों में एक अपूर्व महत्व है। यह बात भी संदेह रहित है कि "श्री अकाल तख्त" से हुकुमनामे के रूप में जारी की गयी किसी भी सामग्री का, जिसमें अकाल तख्त में सिख समुदाय के विद्वान सदस्य होते हैं, महान् धार्मिक प्रेरणात्मक मूल्य होता है, भले ही स्पष्ट शब्दों में चाहे यह "हुकुमनामा" हो या न हो। इस अपील के प्रयोजन के लिए हमारे लिए इस बात का विनिश्चय करना आवश्यक नहीं है कि क्या कड़ी शाब्दिक दृष्टि से और सिख समुदाय के कड़े नियमों के अनुसार प्र०-4 "हुकुमनामा" था अथवा नहीं। यह अधिकथित किया गया था कि सरदार प्रकाश सिंह बादल ने इसे "हुकुमनामा" व्यपदिष्ट किया था और स्वयं अभ्यर्थी द्वारा भी इसे ऐसा ही व्यपदिष्ट किया गया था। तथा पृष्ठभूमि को ध्यान में रखते हुए यह नहीं कहा जा सकता कि इसका व्यापक सिख समुदाय पर हुकुमनामे के रूप में उन्हें यह विश्वास करने के लिए उत्प्रेरित करने का प्रभाव हुआ था कि "श्री अकाल तख्त" द्वारा नामनिर्दिष्ट अभ्यर्थी के दावे की अवहेलना करना और जिसके बारे में यह व्यपदिष्ट किया गया था कि उसका समर्थन हुकुमनामे द्वारा किया गया है, एक सच्चे सिख के लिए सिख धर्म का अतिक्रमण करना होगा।

42. इन प्रश्नों पर मोटे तौर से विनिश्चय किया जाना चाहिए। यह बात धर्म के प्रति अपील (दुहाई) की कोटि में नहीं आयेगी यदि कोई प्रत्यर्थी यह कह कर निर्वाचन में खड़ा किया जाता है कि "उसके लिए मत दो" क्योंकि वह एक अच्छा सिख है या वह एक अच्छा क्रिश्चियन है या वह एक अच्छा मुसलमान है। किन्तु यह कहना धर्म के प्रति अपील (दुहाई) होगा यदि यह प्रचारित किया जाता है कि उसके लिए मत न देना सिख धर्म अथवा क्रिश्चियन धर्म अथवा हिन्दू धर्म के विरुद्ध होगा या दूसरे अभ्यर्थी के लिए मत देना एक धर्म विशेष के विरुद्ध कार्य होगा। वस्तुतः ऐसी अपील के सम्पूर्ण प्रभाव को यह विनिश्चित करने के लिए ध्यान में रखना होगा कि क्या धर्म के प्रति ही अपील की गयी थी अथवा नहीं। अतः ऐसे मामले में सामग्री के सार पर विचार करना होगा।

43. **शुभनाथ देवगम** बनाम **राम नारायण प्रसाद और अन्य**[2] के मामले में इस न्यायालय ने इस बात को दोहराया था कि सारतः धर्म के आधार पर ऐसी बात (सामग्री) अपील होगी यदि प्रश्नगत कार्य का प्रभाव यह छवि उत्पन्न करना है कि किसी दल या व्यक्ति विशेष के लिए मत न

---

1 [1975] सप्ली० एस० सी० आर० प्र० 281.

2 [1660] 1 एस० सी० आर० प्र० 953.

देना धर्म के विरुद्ध होगा। तथापि, न्या० सुब्बाराव ने मामले के तथ्यों की परीक्षा करने पर इस बहुमत से विसम्मति प्रकट की थी।

44. तथापि, इस प्रश्न को उचित सीमाओं के भीतर ही ध्यान में रखना होगा और धार्मिक नेताओं को निर्वाचन लड़ने वाले अभ्यर्थियों के तुलनात्मक गुणों पर अपनी राय स्वतन्त्र रूप से व्यक्त करने और उनमें से एक अभ्यर्थियों के लिए मत की संयाचना करने का अधिकार है जिन्हें वे मतदाताओं के विश्वासपात्र समझते हैं। (देखिए **रामदयाल** बनाम **शान्तिलाल और अन्य**[1] के मामले में इस न्यायालय का मत) **कुलतार सिंह** बनाम **मुख्तयार सिंह**[2] के मामले में इस न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया था कि इस बात पर विचार करते हुए कि किसी अभ्यर्थी द्वारा की गयी कोई अपील विशेष, अधिनियम की धारा 123(3) की रिष्टि के अन्तर्गत आती है या नहीं, न्यायालय को अपील में प्रयुक्त शब्दों का उससे अधिक अर्थ नहीं लगाना चाहिए जो अपील के उचित और युक्तियुक्त अर्थान्वयन से उन शब्दों पर आरोपित किया जा सकता है।

45. इस अपील के प्रयोजन के लिए उक्त विचार विमर्श को ध्यान में रखते, अन्य तथ्यों और परिस्थितियों पर विचार किए बिना और इस बात पर विचार किए बिना कि किस प्रकार से अभ्यर्थी को जनता अथवा मतदाताओं के समक्ष पेश किया गया था, हुए अपीलार्थी की ओर से की गयी इन दलीलों को स्वीकार करना आवश्यक नहीं कि प्रत्यर्थी सं० 3 को अकाली दल द्वारा प्रत्यायोजित किया जाना और उस प्रकार से विधानसभा निर्वाचन के लिए उसे निर्वाचन टिकट देना, जैसा कि साबित हो चुका है, धर्म के प्रति अपील की कोटि में आयेगा। इस प्रयोजन के लिए तीन स्थानों पर हुई सभाओं के साक्ष्य के प्रति निर्देश करना आवश्यक होगा।

46. थंडवाल के स्थान पर हुई सभा के बारे में अपीलार्थी के काउन्सेल ने हमारे समक्ष कोई जोर नहीं दिया। प्रथम सभा जिसके बारे में हमें विचारण करना है वह मुक्तसर में हुई थी। पिटीशनर के साक्षी सं० 12 हरदम सिंह ने मुक्तसर के बारे में साक्ष्य दिया है। उसका गांव मुक्तसर निर्वाचन क्षेत्र में आता है और उसने यह कहा कि मतदान की तारीख से 5 या 6 दिन पूर्व प्रत्यर्थी सं० 3 के समर्थकों द्वारा मुक्तसर में लगभग सायंकाल 5·00 बजे एक सभा आयोजित की गयी थी। वह इस सभा में उपस्थित था। उसके अनुसार इस सभा में पंजाब के भूतपूर्व मुख्यमंत्री, श्री प्रकाश सिंह बादल ने, श्री हरचंद सिंह लौंगोवाल और स्वयं प्रत्यर्थी सं० 3 ने भाषण दिए थे। यह कहा गया था

[1] [1959] सप्ली० 2 एस० सी० आर० प्र० 748.

[2] [1964] 7 एस० सी० आर० प्र० 790.

कि श्री बादल ने लगभग 6·30 बजे सायंकाल भाषण दिया था। उन्होंने श्रोताओं को प्रत्यर्थी सं० 3 के पक्ष में इसलिए वोट डालने की बात पर जोर दिया कि वह एक गुरु सिख है। उन्होंने कहा कि उसे "श्री अकाल तख्त" के आदेश के अनुसार अभ्यर्थी के रूप में पेश किया गया है और उसके पक्ष में मत देना सिखों का एक धार्मिक कर्त्तव्य है। उन्होंने श्रोताओं को एक कागज भी दिखाया जो, उनके अनुसार, "श्री अकाल तख्त" द्वारा जारी किया गया एक हुकुमनामा था। उन्होंने यह और कहा कि प्रत्यर्थी सं० 3 ने अच्छा काम किया था और वह, यदि निर्वाचित हो जाता है तो अच्छा कार्य करता रहेगा। पिटीशनर के साक्षी सं० 12 ने यह अभिसाक्ष्य दिया है कि हरचंद सिंह लौंगोवाल ने भी ऐसा ही भाषण दिया था। तत्पश्चात् प्रत्यर्थी सं० 3 ने भाषण दिया और यह कहा कि वह "अकाल तख्त" का अभ्यर्थी है और उसके पक्ष में मत देना सिखों का कर्त्तव्य है। उसकी प्रतिपरीक्षा की गयी थी किन्तु इससे कोई सारवान बात सामने नहीं आयी। उसने अपनी प्रतिपरीक्षा में इस बात को दोहराया कि श्री बादल ने श्रोताओं को यह कहा था कि उन्हें प्रत्यर्थी सं०3 के पक्ष में इसलिए मत देना चाहिए क्योंकि उसे अकाल तख्त के अभ्यर्थी के रूप में खड़ा किया गया है। श्री लौंगोवाल और प्रत्यर्थी सं० 3 ने भी भाषण दिए। उसने इस सुझाव से इन्कार किया कि वह उस सभा में उपस्थित नहीं था।

47. पिटीशनर-साक्षी सं० 13 ने मुक्तसर की सभा के बारे में भी साक्ष्य दिया। उन्होंने यह अभिपुष्टि की कि श्री प्रकाश सिंह बादल, हरचंद सिंह लौंगोवाल और प्रत्यर्थी सं० 3 ने सभा को सम्बोधित किया। उसका साक्ष्य उसी बात की और सम्पुष्टि करता है जिसका पहले उल्लेख किया गया है। तथापि, उसने प्रत्यर्थी सं० 3 का भाषण नहीं सुना था क्योंकि वह उसके भाषण से पूर्व सभा से चला गया था। उसने अपनी प्रतिपरीक्षा में यह कहा कि उसके गांव के 4-5 व्यक्ति उसके साथ उसी सभा में गये थे। तथापि, जो कुछ उल्लिखित किया जा चुका है उसमें कोई विशेष बात नहीं थी।

48. अपीलार्थी की ओर से इस साक्ष्य के विपरीत, तीन व्यक्तियों अर्थात् प्रत्यर्थी साक्षी सं० 1, प्रत्यर्थी साक्षी सं० 2 और प्रत्यर्थी साक्षी सं० 8 ने साक्ष्य दिया। प्रत्यर्थी साक्षी सं० 1 ने यह कहा कि मुक्तसर में मतदान से लगभग एक सप्ताह पूर्व लगभग 8 बजे सायंकाल में एक सभा हुई थी जो रात्रि 11 बजे तक चली। उसके अनुसार सभा में श्री प्रकाश सिंह बादल और हरचरण सिंह फाटनवालिया ने भाषण दिये थे। इस साक्षी के अनुसार, जिसका नाम कश्मीरी लाल था, संत लौंगोवाल न तो वहां उपस्थित ही था और न उसने सभा को सम्बोधित ही किया। उसके अनुसार श्री प्रकाश सिंह बादल ने

केवल अपनी सरकार की उपलब्धियों के बारे में ही भाषण दिया और यह तथ्य कि किसी निरीक्षक को मतदाताओं को, विशेषकर नगर के मतदाताओं को परेशान करने के लिए अनुज्ञात नहीं किया गया था। अन्य जिन व्यक्तियों ने सभा को सम्बोधित किया था वे जनता पार्टी, कम्युनिस्ट पार्टी, भारतीय जनता पार्टी के थे। उसके अनुसार सभा में बहुसंख्यक श्रोता हिन्दू थे क्योंकि मुक्तसर नगर में हिन्दुओं की जनसंख्या लगभग 70 प्रतिशत है। प्रतिपरीक्षा में उसने यह कहा कि वह मुक्तसर नगरपालिका का सदस्य है और भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी का भी सदस्य है और भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने अकाली दल के साथ गठजोड़ किया था। उसके द्वारा बताये गये अन्य तथ्य इस मुद्दे से संगत नहीं हैं।

49. श्री जगन्नाथ का पुत्र श्री कृष्ण कुमार प्रत्यर्थी साक्षी सं० 2 था और वह भी मुक्तसर नगरपालिका का सदस्य था तथा उसने प्रत्यर्थी साक्षी सं० 3 के पक्ष में बयान दिया। उसके अनुसार श्री फाटनवालिया और बादल ने भाषण दिये थे किन्तु उन्होंने अपनी पार्टी की उपलब्धियों के बारे में ही भाषण दिये और अकाल तख्त के नाम में या धर्म के नाम में कोई अपील नहीं की थी। उसके अनुसार हिन्दुओं की संख्या सिखों से तिगुनी थी। उसने यह स्वीकार किया कि वह भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सिस्ट) का सदस्य था।

50. प्रत्यर्थी साक्षी सं० 8 स्वयं प्रत्यर्थी सं० 3 था और वह अपने समर्थन में साक्ष्य देने वाला अगला व्यक्ति था। उसने यह कहा कि श्री प्रकाश सिंह बादल 25 मई, 1980 को मुक्तसर गये थे और उन्होंने वहां एक सभा को सम्बोधित किया था। जनसभा में चमनलाल जोगी, राजकुमार गिरधर, रोशन लाल जोशी, परशराम बग्गा, जगरूप सिंह और उसने स्वयं भी भाषण दिये। उपर्युक्त हिन्दू नेता जनता पार्टी के थे जब कि जगरूप सिंह कम्युनिस्ट पार्टी का नेता था। उसके अनुसार श्रोताओं में 75 प्रतिशत हिन्दू थे और 25 प्रतिशत सिख। श्री बादल ने सिर्फ यह कहा था कि वे राज्य के मुख्य मंत्री लम्बे समय तक रहे हैं और यदि वह निर्वाचित हुआ तो वह लोगों की भली भांति सेवा करेगा। उसने स्वीकार किया कि वह स्वयं श्री प्रकाश सिंह बादल का सम्बन्धी है—उसकी पुत्री का विवाह श्री बादल के छोटे भाई से हुआ था।

51. विद्वान न्यायाधीश ने साक्ष्य को अनधिसंभाव्यता के आधार पर तथा इस आधार पर नामंजूर कर दिया है कि साक्ष्य इसलिए समाधानजनक नहीं था क्योंकि साक्षियों ने अपीलार्थी से उपर्युक्त वर्णन नहीं कहा था और न यह अभिकथन निर्वाचन अर्जी में उल्लिखित किये गये थे। विद्वान न्यायाधीश की यह और राय थी कि ऐसे निर्वाचन क्षेत्र अथवा स्थान में जहां कि हिन्दुओं

की जनसंख्या सिखों की जनसंख्या से अधिक थी, यह बात असम्भव थी कि सिखों से धर्म के नाम में अपील की जा सकती। इसके विपरीत, निम्नलिखित तथ्यों पर भी ध्यान देना होगा।

52. श्री प्रकाश सिंह बादल ने साक्षी के रूप में उपस्थित होने और अभिकथनों से इन्कार करने का प्रयास नहीं किया। निर्विवाद रूप से वे सभा में उपस्थित थे। सभा के बारे में किये गये अभिकथनों से इन्कार करने वाले वही सबसे सही व्यक्ति होते। मात्र यह प्रश्न प्रतिकूल उपधारणा के द्वारा इस तथ्य को साबित करने का नहीं है। ऐसी दशा में जहां कि किसी तथ्य को साबित करने के लिए सकारात्मक साक्ष्य उपलब्ध है और जहां उस व्यक्ति द्वारा कोई इन्कार नहीं किया गया है जो कि उस तथ्य से इन्कार करने के लिए सबसे सक्षम व्यक्ति है और साक्ष्य यहीं देने का उसने कोई कारण नहीं दिया है—विशेषकर उसकी ख्याति और उसकी हैसियत की पृष्ठभूमि को देखते हुए, प्रत्यर्थी सं० 3 के साथ उसका सम्बन्ध विशेषकर इस तथ्य को देखते हुए कि प्रत्यर्थी सं० 3 को वस्तुत: उसी ग्रुप द्वारा सिख समुदाय की ओर से नाम निर्दिष्ट किया गया था जिस ग्रुप के साथ श्री बादल का बहुत निकट का सम्बन्ध है—इन सब बातों से यह निष्कर्ष निकलता है कि अपीलार्थी द्वारा पेश किये गये साक्ष्य को स्वीकार किया जाना चाहिए। यदि इसे स्वीकार कर लिया जाता है तो निम्नलिखित तथ्य प्रकट होते हैं :—

(1) मतदाताओं को यह व्यपदिष्ट किया गया था कि प्रत्यर्थी सं० 3 अकाल तख्त का नामनिर्दिष्ट व्यक्ति था और यह व्यपदेशन स्वयं अभ्यर्थी की उपस्थिति में राज्य के भूतपूर्व मुख्यमंत्री जैसे व्यक्ति द्वारा किया गया था।

(2) स्वयं अभ्यर्थी ने भी उक्त कथन किया था।

53. अत: यह परिणाम निकलता है कि प्रत्यर्थी सं० 3 के पक्ष में वोट देने के लिए अकाल तख्त के नाम में अपील, अकाल तख्त के हुकुमनामे के सभी परिणामों सहित, मतदाताओं के समक्ष विशेष रूप से पेश की गई थी।

54. अगली सभा जो कि एक सारवान तत्व है, खोखर में हुई थी। यहां भी पिटीशनर साक्षी सं० 17, मक्खन सिंह ने साक्ष्य दिया। उसका गांव, मुक्तसर निर्वाचन क्षेत्र में पड़ता है। उसने यह कहा कि प्रत्यर्थी सं० 3 के समर्थकों ने खोखर में मतदान से लगभग 6 या 7 दिन पूर्व दोपहर लगभग 12 बजे एक सभा आयोजित की। यह सभा गांव के गुरुद्वारा में की गई थी। श्री बलदेव सिंह सीबिया तथा चार-पांच अन्य व्यक्तियों के साथ प्रत्यर्थी सं० 3 उस सभा में पहुंचा था। सर्वप्रथम प्रत्यर्थी सं० 3 ने सभा को सम्बोधित किया। प्रारम्भ में उसने श्रोताओं से क्षमा मांगी और कहा कि उसने इस सभा

को सम्बोधित करने के लिए श्री प्रकाश सिंह बादल को लाने का वचन दिया था किन्तु वे नहीं आ सके हैं क्योंकि वे अन्य निर्वाचन क्षेत्र में निर्वाचन कार्य में व्यस्त हैं। प्रत्यर्थी सं० 3 ने एक कागज दिखाया और इसे अकाल तख्त द्वारा जारी किया गया हुकुमनामा बताया। उसने यह कहा कि उसे टिकट इसलिए दिया गया था क्योंकि वह एक गुरु सिख था और "उसके पक्ष में वोट देना प्रत्येक सिख का धार्मिक कर्त्तव्य है।" तथा उसने अकाली टाइम्स के कुछ पुराने अंक भी दिखाये थे और यह कहा था कि इन अंकों में बहुत सी बातें लिखी हुई हैं किन्तु वह इन सब का एक सारांश पेश करना चाहता है। उसने यह कहा कि कोई भी सिख जो इन्दिरा कांग्रेस के पक्ष में वोट डालेगा वह सिख कहलाने का अधिकारी नहीं होगा। उसने यह भी कहा कि उसके पक्ष में मत देना पंथ के पक्ष में दर्शाया गया पवित्र विश्वास है। जो भी पंथ द्वारा जारी किया गया आदेश के विरुद्ध इस अधिकार का प्रयोग करेगा वह पंथ का गद्दार माना जायेगा। उसने गुरुओं के नाम का भी उल्लेख किया। प्रतिपरीक्षा में उसने यह कहा कि उसके पास 30 एकड़ भूमि है और उसका ग्राम खोखर से दो मील के फासले पर है। उसके अनुसार 10 या 12 हिन्दू भी सभा में उपस्थित थे। उसने यह कहा कि उसे यह पता नहीं है कि क्या धर्म के आधार पर लोगों को मत देने के लिए कहना कोई अपराध है अथवा नहीं।

55. अगला साक्षी पिटीशनर साक्षी सं० 18, मलकियत सिंह था। उसका गांव भी मुक्तसर निर्वाचन क्षेत्र में पड़ता है और उसने यह कहा कि खोखर गांव के गुरुद्वारा में एक सभा लगभग 12 बजे की गई थी। उसने इस बात की भी अभिपुष्टि की कि प्रत्यर्थी सं० 3 और श्री बलदेव सिंह सीबिया ने सभा को सम्बोधित किया था। इस साक्षी के साक्ष्य की भी अभिपुष्टि हो गई थी। प्रतिपरीक्षा में उसके परिसाक्ष्य को बहुत कुछ हानि नहीं हुई थी।

56. अगला साक्षी पिटीशनर साक्षी सं० 19, श्री गुरुनदित्ता सिंह था। उसने मतदान की तारीख से लगभग 5-6 दिन पूर्व एक सभा किये जाने की बात कही और यह सभा खोखर गांव के गुरुद्वारा में लगभग दोपहर में आयोजित की गई थी। प्रत्यर्थी सं० 3 और बलदेव सिंह सीबिया ने सभा को सम्बोधित किया था। उसने लगभग वे ही बातें दोहराईं जो अन्य साक्षियों द्वारा कही गई प्रतिपरीक्षा में उसने यह कहा कि लगभग 10 से 15 तक हिन्दू वहां उपस्थित थे। उसने यह और कहा कि सभा के 2-3 दिन बाद अपीलार्थी ने गांव का दौरा किया था और अपने पक्ष में मत के लिए संयाचना की थी किन्तु उसने यह उत्तर दिया था कि उसने पंथिक अभ्यर्थी के साथ 2-3 गांव का दौरा किया था और इस कारण से वह उसके पक्ष में मत देने का वचन देने की स्थिति में नहीं था।

57. प्रत्यर्थी सं० 3 का एक और साक्षी, प्रत्यर्थी साक्षी सं० 6 थी जो मलकियत सिंह की पत्नि श्रीमती गुरमीत कौर है। उसने इस बात से इन्कार किया कि उनके गांव में कोई सभा हुई थी और यह कि वह निर्वाचन अवधि के दौरान सदैव गांव में ही रही थी।

58. विद्वान न्यायाधीश ने उसके साक्ष्य पर विश्वास करना कठिन समझा। हम उसके परिसाक्ष्य को स्वीकार करने में कोई अन्तर्निहित अनधिसंभावयता नहीं देखते—विशेषकर जब कि इसका खण्डन करने वाला अच्छा साक्ष्य नहीं।

59. अगला गांव हरीका कलां है जिसके बारे में पिटीशनर साक्षी सं०19, गुरंदत्ता सिंह ने साक्ष्य दिया। हरीका कलां गांव में हुई सभा को साबित करने के लिए तीन साक्षी अर्थात् पिटीशनर साक्षी 19, गुरंदत्ता सिंह, पिटीशनर साक्षी 20, संत सिंह पुत्र अर्जुन सिंह और पिटीशनर साक्षी सं० 21 गुरुदेव सिंह पुत्र भजन सिंह के कथनों का अवलंब लिया गया था। अंतिम दो साक्षी हरीका कलां गांव के ही हैं। पहले साक्षी ने हरीका कलां तथा खोखर गांव में हुई सभाओं के बारे में कथन किया है। पिटीशनर साक्षी सं० 20 ने यह अभिसाक्ष्य दिया कि प्रत्यर्थी सं० 3 के समर्थकों द्वारा मतदान की तारीख से 5/6 दिन पूर्व हरीका कलां गांव के गुरुद्वारे में एक सभा आयोजित की गई थी। ऐसा ही कथन खोखर में हुई सभा के बारे में पिटीशनर साक्षी सं० 17, मक्खन सिंह ने किया था। प्रतिपरीक्षा में उसने यह स्वीकार किया कि उसकी पिटीशनर से उसके साक्ष्य की तारीख तक भेंट नहीं हुई थी और उससे कोई भी व्यक्ति यह जानने के लिए नहीं मिला था कि वह सभा में उपस्थित हुआ था अथवा नहीं। प्रत्यर्थी सं० 3 ने एक व्यक्ति बाला सिंह को, जो कि हरीका कलां में रहने वाला सरपंच है (पिटीशनर साक्षी सं० 5) और खोखर की निवासी श्रीमती गुरमीत कौर (पिटीशनर साक्षी सं० 6) को साक्षी के रूप में बुलाया। ये दोनों ही साक्षी प्रत्यर्थी सं० 3 में हितबद्ध थे।

60. विद्वान न्यायाधीश ने इन के प्रतिसाक्ष्य को स्वीकार करना सम्भव नहीं समझा।

61. इस प्रकार के मामले में, स्वाभाविकत: साक्ष्य मुख्यत: मौखिक होता है। अत: विशेषकर वहां जहां कि आरोप बहुत गम्भीर हों। जैसे कि भ्रष्ट आचरण का आरोप, जो यदि साबित हो जाता है तो यह अभ्यर्थी को भविष्य में कुछ समय के लिए निर्वाचन में खड़े होने से निर्रहित कर देता है—ऐसे मामलों में न्यायालय को सावधानी से आगे कार्यवाही करनी चाहिए। एक बार आयोजित निर्वाचन को बहुत कम महत्व वाला नहीं समझा जाना चाहिए और पराजित व्यक्ति को मात्र निर्वाचन पिटीशन फाइल करके ही सफल नहीं

होने दिया जाना चाहिए । इस संबंध में **रहीम खां** बनाम **खुरशीद अहमद और अन्य**[1] के मामले में न्या० कृष्ण अय्यर के मत देखिए । **चौधरी रिजक राम** बनाम **चौधरी जे० एस० चौहान और अन्य**[2] के मामले में दिए गए विनिश्चय को भी देखें ।

62. **कन्हैया लाल** बनाम **मन्नालाल और अन्य**[3] और **एस० नारायण राव** बनाम **जी० वेंकट रेड्डी और अन्य**[4] के मामलों में इस न्यायालय की राय के प्रति भी निर्देश किया गया था ।

63. इस तथ्य की पृष्ठभूमि में साक्ष्य की सम्पूर्णता को ध्यान में रखते हुए कि अकाल तख्त से कुछ पत्र इत्यादि, जिन्हे हुकुमनामा या और कुछ नाम दिया जा सकता है, जारी किए गए थे और "अकाली टाइम्स" के अंकों में प्रकाशित सम्पादकीय लेखों को देखते हुए, जिनका उल्लेख श्री प्रकाश सिंह बादल द्वारा किया गया था जैसा कि अपीलार्थी की ओर से साक्षी के द्वारा भी कहा गया है और जिसका प्रत्याख्यान श्री प्रकाश सिंह बादल द्वारा नहीं किया गया है, हमारी राय यह है कि इस मामले में धर्म के नाम में अपील (दुहाई)......प्रत्यर्थी सं० 3 की ओर से की गई थी । यद्यपि, सभाओं से संबंधित मौखिक साक्ष्य में उल्लिखित कुछ तथ्यों का उल्लेख पिटीशन में नहीं किया गया था किन्तु जब साक्ष्य पेश किया गया और वह साक्ष्य प्रतिपरीक्षा में नहीं डगमगाया तथा अन्य तथ्यों की पृष्ठभूमि में उक्त साक्ष्य में सच्चाई का पुट पाया गया है इसलिए हमारी राय है कि प्रत्यर्थी सं०3 द्वारा धर्म के नाम में की गई अपील (दुहाई) इस मामले में साबित हो गई है । अतः, श्री प्रकाश सिंह बादल के द्वारा किसी अभिव्यक्त प्रत्याख्यान न किए जाने और इस मुद्दे के बारे में उन्हे साक्षी के रूप में न बुलाए जाने के लिए किसी स्पष्टीकरण के अभाव में यह निष्कर्ष निकालना अनिवार्य हो जाता है । इस न्यायालय के अनेक विनिश्चयों ने भ्रष्ट आचरण को सिद्ध करने के लिए अपेक्षित सबूत का स्तर अवधारित करने के लिए विभिन्न कसौटियां अभिकथित की हैं । कड़े सबूत के स्तर का आग्रह करते समय न्यायालय को इस सिद्धांत को इतना व्यापक और उस सीमा तक नहीं खींचना चाहिए जिससे कि भ्रष्ट आचरण के अभिकथन को साबित करना लगभग असम्भव हो जाए । ऐसा दृष्टिकोण निर्वाचन प्रक्रिया में शुद्धता बनाये रखने के बारे में अधिनियम के बहुत प्रशंसनीय और स्वच्छ उद्देश्य को विफल कर देगा और निष्फल

---

[1] 1975 (1) एस० सी० आर० प्र० 643.

[2] ए० आई० आर० 1975 एस० सी० प्र० 567.

[3] 1976 (3) एस० सी० आर० पृ० 808.

[4] 1977 (1) एस० सी० आर० पृ० 490.

बना देगा (देखिए—**राम शरण यादव** बनाम **ठाकुर मनेश्वर नाथ सिंह और अन्य**[1] के मामले में व्यक्त किए गए मत)।

64. निष्कर्ष यह कि प्रत्यर्थी सं० 3 अधिनियम की धारा 123 की उपधारा (3) में यथा उल्लिखित भ्रष्ट आचरण के लिए दोषी है। परिणामतः उसका निर्वाचन अपास्त किया जाता है और यह स्थान रिक्त घोषित किया जाता है। प्रत्यर्थी सं० 3 के भ्रष्ट आचरण के बारे में इस न्यायालय के निष्कर्ष अधिनियम की धारा 8-क के अधीन समुचित कार्यवाही के लिए भारत के राष्ट्रपति को भेज दिए जाएं।

65. इस बारे में एक मुद्दा उठाया गया था कि यह पिटीशन समुचित रूप से सत्यापित नहीं किया गया था क्योंकि सूचना के स्रोत का उल्लेख नहीं किया गया था। अपीलार्थी की ओर से काउन्सेल ने हमारा ध्यान लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951 की धारा 83 की ओर आकृष्ट किया। इस मुद्दे की समीक्षा **पदमावती दासी** बनाम **रसिक लाल धर**[2] के मामले में कलकत्ता उच्च न्यायालय की एक खण्ड न्यायपीठ द्वारा की गई थी। मेरी यह राय है कि उक्त विनिश्चय को उचित रूप से पढ़ने पर यह उपदर्शित होगा कि किसी शपथपत्र के अथवा किसी सूचना पर आधारित पिटीशन के उचित सत्यापन के लिए स्रोत उपदर्शित किया जाना चाहिए; किन्तु मैं प्रश्न की और समीक्षा नहीं करना चाहता क्योंकि विचारण के प्रक्रम पर कोई आपत्ति नहीं की गई थी, और विशेष-कर **जियाउद्दीन बुरहानुद्दीन बुखारी** बनाम **ब्रजमोहन रामदास मेहरा और अन्य**[3] और **हरद्वारी लाल** बनाम **कंवल सिंह**[4] के मामले में इस न्यायालय के विनिश्चयों को देखते हुए किसी समुचित अवसर पर इस प्रश्न पर व्यापक विचार किया जाना अपेक्षित हो सकता है।

66. विद्वान विचारण न्यायाधीश का विनिश्चय अपास्त किया जाता है और अपील मंजूर की जाती है। प्रत्यर्थी सं० 3 इस अपील के खर्चों का संदाय करेगा।

श० अपील मंजूर की गई।

———

[1] 1980 की सिविल अपील स० 892 (एन० सी० ई०).

[2] आई० एल० आर० (1910) 37 कलकत्ता, प्र० 259-60.

[3] 1975 सप्ली० एस० सी० आर० प्र० 281.

[4] 1972 (2) एस० सी० आर० प्र० 742.

सहायक कलक्टर, केन्द्रीय उत्पाद शुल्क, चंदन नगर, पश्चिमी बंगाल

बनाम

डनलप इन्डिया लिमिटेड और अन्य

(30 नवम्बर, 1984)

(न्यायाधिपति ओ० चिन्नप्पा रेड्डी, ए० पी० सेन और ई० एस० वेंकटरमैया)

संविधान, 1950—अनुच्छेद 226—उच्च न्यायालय की असाधारण अधिकारिता का प्रयोग—राजस्व वसूली के मामले में सरकारी आदेश के विरुद्ध उच्च न्यायालय द्वारा अनुच्छेद 226 के अधीन रिट में रोक-आदेश पारित किया जाना—अनुच्छेद 226 कानूनी प्रक्रिया को प्रवंचित करने या इसे लघु बनाने के लिए नहीं है—जहां वैकल्पिक कानूनी उपचार मामले की असाधारणता को देखते हुए उपयुक्त नहीं हैं केवल ऐसे ही मामलों में अनुच्छेद 226 के अधीन न्यायालय को रोक आदेश द्वारा अन्तरिम अनुतोष मंजूर करना चाहिए—किन्तु राजस्व वसूली के ऐसे मामले जहां कि वैकल्पिक कानूनी उपचार उपलब्ध होते हैं, जैसा कि प्रस्तुत मामले में है, ऐसे मामले नहीं होते हैं जहां कि कानून द्वारा उपबंधित वैकल्पिक उपचार की अनदेखी करके अनुच्छेद 226 के अधीन अनुतोष दिया जा सके।

प्रत्यर्थी, डनलप इंडिया लिमिटेड टायर, ट्यूब तथा ऐसे ही विभिन्न रबड़ के उत्पाद के विनिर्माता हैं। केन्द्रीय उत्पाद नियमावली, 1944 के नियम 8(1) द्वारा प्रदत्त शक्तियों के प्रयोग में भारत सरकार, वित्त मन्त्रालय (राजस्व विभाग) द्वारा 6 अप्रैल, 1984 को जारी की गई अधिसूचना द्वारा केन्द्रीय उत्पाद और लवण अधिनियम, 1944 की प्रथम अनुसूची के मद संख्या 16 के अन्तर्गत आने वाले टायर इस सीमा तक उत्पाद शुल्क के कुछ प्रतिशत तक छूट प्राप्त थे कि निर्माता ने कतिपय अन्य पूर्ववर्ती अधिसूचनाओं के अधीन मन्जूर की गई छूट का लाभ नहीं उठाया था। विभाग का यह मत था कि कम्पनी इस छूट के लिए हकदार नहीं थी क्योंकि इसने पहले अपना माल केन्द्रीय उत्पाद शुल्क संदाय किए बिना ही छुड़वा लिया था किन्तु यह सब न्यायालयों द्वारा पारित विभिन्न अन्तरिम आदेशों के अधीन बैंक गारन्टी पेश

करने पर किया गया था । कम्पनी ने 6.05 करोड़ रुपए की छूट के लाभ का दावा किया था और कलकत्ता उच्च न्यायालय में एक रिट पिटीशन फाइल किया तथा केन्द्रीय प्राधिकारियों को उत्पाद शुल्क के उद्ग्रहण को एकत्रित करने से अवरुद्ध करते हुए अन्तरित आदेश की मांग की थी । विद्वान् एकल न्यायाधीश ने यह मत अपनाया कि कम्पनी के पक्ष में एक प्रथमदृष्टया मामला सिद्ध कर दिया गया था और एक अन्तरिम आदेश के द्वारा छूट का लाभ अनुज्ञात कर दिया था । केन्द्रीय उत्पाद के सहायक कलक्टर द्वारा लेटर्स पेटेन्ट के खण्ड 10 के अधीन एक अपील फाइल की गई थी और कलकत्ता उच्च न्यायालय की एक खण्ड न्यायपीठ ने विद्वान् एकल न्यायाधीश के आदेश की पुष्टि कर दी थी । इसी निर्णय के विरुद्ध केन्द्रीय उत्पाद शुल्क के सहायक कलक्टर ने विशेष इजाजत से उच्चतम न्यायालय में यह अपील फाइल की ।

इस मामले में मुख्य प्रश्न यह उठता है कि राजस्व वसूली के मामलों में क्या वैकल्पिक कानूनी उपचार उपलब्ध होते हुए भी, उच्च न्यायालय अनुच्छेद 226 के अधीन मात्र इसलिए रोक आदेश द्वारा अन्तरिम अनुतोष मंजूर कर सकता है कि पिटीशनर ने प्रत्यर्थी के आदेश के विरुद्ध प्रथमदृष्टया मामला सिद्ध कर दिया है । अपील मंजूर करते हुए,

अभिनिर्धारित—जहां कानून में स्वयं ही पिटीशनरों के लिए, विहित प्राधिकारी को अपील करने के, अधिकरण को एक दूसरी अपील करने के और तत्पश्चात् उच्च न्यायालय के समक्ष मामले को पेश करवाने के रूप में एक प्रभावकारी और वैकल्पिक उपचार किया गया हो, वहां उच्च न्यायालय को संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन अपनी असाधारण अधिकारिता का प्रयोग इस प्रकार नहीं करना चाहिए, मानो कि सम्पूर्ण कानूनी प्रक्रिया की अनदेखी कर दी गई हो । अनुच्छेद 226 कानूनी प्रक्रिया को प्रवंचित करने और उसे लघु बनाने के लिए नहीं है । अनुच्छेद 226 केवल उस स्थिति के लिए है जबकि उपलब्ध कानूनी उपचार असाधारण परिस्थितियों की मांग को पूरा करने के लिए बिल्कुल ही समुचित नहीं है —जैसे कि ऐसी दशा में जहां कि कानून की शक्तियों को ही चुनौती दी गई हो या जहां प्राइवेट अथवा पब्लिक दोष अविच्छिन्न रूप से मिले हुए हों तथा लोक क्षति का निवारण और लोक न्याय का प्रतिपादन संविधान के अनुच्छेद 226 का अवलम्ब लेना अपेक्षित बनाते हों । किन्तु फिर भी न्यायालय के पास कानून द्वारा उपबन्धित वैकल्पिक उपचार को दर गुजर करने के लिए पर्याप्त कारण होना चाहिए । निःसन्देह राजस्व वाले मामले, जहां कि कानूनी उपचार उपलब्ध होते हैं, ऐसे मामले नहीं हैं । इस तथ्य की भी न्यायिक अवेक्षा की जा सकती है कि संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन अनेक संख्या में पिटीशन मात्र अन्तरिम आदेश प्राप्त

करने के प्रयोजन के लिए ही फाइल किए जाते हैं और तत्पश्चात् एक या अन्य युक्ति के द्वारा कार्यवाही को लम्बा बना दिया जाता है। निःसन्देह इस परिपाटी को दृढ़ता से रोका जाना चाहिए। (पैरा 3)

उच्चतम न्यायालय के समक्ष ऐसे भी मामले आए हैं जहां कि भूमि सुधार और कल्याणकारी विधान न्यायालयों द्वारा रोक दिया गया है ऐसे अन्तरिम आदेशों द्वारा अपूरणीय हानि की गई है। यह सब कुछ कहने का अर्थ यह नहीं है कि लोक प्राधिकारियों के विरुद्ध अन्तरिम आदेश कभी भी पारित नहीं किए जाने चाहिए। निःसन्देह ऐसे मामले होते हैं जो यह मांग करते हैं कि न्याय के हित में अन्तरिम आदेश पारित किए जाने चाहिए। जहां विधि का गम्भीर अतिक्रमण और अन्याय होता हो या अन्याय किए जाने की सम्भावना हो वहां मध्यक्षेप करना और समुचित अन्तरिम अनुतोष देना न्यायालय का कर्त्तव्य है। ऐसे मामलों में जहां कि अन्तरिम अनुतोष न दिए जाने से लोक रिष्टि कारित होती हो, गम्भीर अपूरणीय प्राइवेट क्षति होती हो या लोक प्रशासन की निष्पक्षता में नागरिकों का विश्वास हिल जाता हो वहां न्यायालय लोक प्राधिकारियों के विरुद्ध अन्तरिम अनुतोष मंज़ूर करने में न्यायोचित कार्य करता है। चूंकि विधि यह पूर्वानुमान लगाती है कि लोक प्राधिकारी सम्यक् लोकहित को ध्यान में रखते हुए उचित तथा सद्‌भाविक रूप से कार्य करते हैं वहां दूरगामी प्रभाव वाले अथवा प्रशासनिक और भारी असुविधा कारित करने वाले या लोक राजस्व एकत्रित करने को रोकने वाले आदेश मात्र इसी कारण से मन्जूर करने में न्यायालय को सतर्क रहना चाहिए कि पक्षकारों ने न्यायालय में प्रतिकूल प्रभाव, असुविधा या हानि का अभिकथन किया है और यह कि प्रथमदृष्टया मामला साबित कर दिया है। किन्तु प्रज्ञा, विवेक और सतर्कता की ऐसे मामलों में आवश्यकता है। प्रथमदृष्टया मामले के विद्यमान होने के अतिरिक्त भी अनेक अन्य महत्त्वपूर्ण विचारणाएं हैं। एक तो सुविधा का प्रश्न भी होता है। अपूरणीय क्षति का प्रश्न भी होता है; और लोकहित का प्रश्न भी होता है। ऐसे ही अनेक कारण विचार में लिए जाने योग्य होते हैं। (पैरा 5)

जहां लोक राजस्व के मामलों का सम्बन्ध है, इस बात को ध्यान में रखना महत्त्वपूर्ण है कि अन्तरिम आदेश मात्र इसलिए ही पारित नहीं कर दिया जाना चाहिए क्योंकि प्रथमदृष्टया मामला सिद्ध कर दिया गया है। इससे भी कुछ अधिक अपेक्षित है। सुविधा का संतुलन स्पष्ट रूप से अन्तरिम आदेश पारित प्राप्त करने वाले पक्षकार के पक्ष में होनी चाहिए और लोक हित पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ने की नाममात्र भी संभावना नहीं होनी चाहिए। उच्च न्यायालय ने इन विचारणाओं को बिल्कुल ही ध्यान में नहीं रखा है

और इतना व्यापक अन्तरिम आदेश मात्र प्रार्थना करने पर ही पारित कर दिया गया। (पैरा 7)

अवलम्बित निर्णय

		पैरा
[1984]	1984 की सिविल अपील संख्या 4416 : **समरियास ट्रेडिंग कम्पनी प्राइवेट लि० बनाम एस० सैमुअल और अन्य ;**	1
[1984]	[1984] 2 एस० सी० सी० 646 : **भारत संघ बनाम ओसवाल वूलन मिल्स लिमिटेड;**	1,3,4
[1984]	[1984] 2 एस० सी० सी० 436 : **सिलीगुड़ी नगर पालिका बनाम अमलेन्दू दास;**	1,2,6
[1983]	1983 की सिविल अपील संख्या 11450 : **भारत संघ बनाम जैन शुद्ध वनस्पति लिमिटेड;**	1 और 5
[1983]	[1983] 2 एस० सी० सी० 433 : **टीटागढ़ पेपर मिल्स कम्पनी लिमिटेड बनाम उड़ीसा राज्य;**	1
[1972]	[1972] ए० सी० 1027 : **कैसल एण्ड कं० बनाम ब्रूम ;**	6
[1964]	[1964] ए० सी० 1129 : **रूक्स बनाम बरनार्ड**	6

सिविल अपीली अधिकारिता : 1984 की विशेष सिविल अपील सं० 4742 जिसके साथ सिविल अपील सं० 4743 की भी सुनवाई की गई।

संविधान के अनुच्छेद 136 के अधीन 1984 के मामले संख्या 2139 और 2023 में कलकत्ता उच्च न्यायालय के 9 अगस्त, 1984 के निर्णय और आदेश के विरुद्ध विशेष इजाजत से की गई अपील।

अपीलार्थियों की ओर से — सर्वश्री पराशरन, वी० जे० फ्रांसिस, चन्द्रशेखरन तथा एन० एम० पोपली और कुमारी सविता शर्मा

प्रत्यर्थियों की ओर से — सर्वश्री एफ० एन० नरीमन, डी० एन० गुप्त तथा हरीश साल्वे

न्यायालय का निर्णय न्यायाधिपति ओ० चिन्नप्पा रेड्डी ने दिया।

न्यायाधिपति रेड्डी—

नि:सन्देह यह बहुत खेद का विषय है, और हमारी इच्छा है कि हम

ऐसा न कहें किन्तु अगर हम ऐसा नहीं कहते हैं तो हम बिल्कुल ही अपना कर्त्तव्यपालन नहीं करेंगे, कि कुछ दिनों से कुछ न्यायालयों ने अन्तरिम आदेश मंजूर करने की एक अवांछनीय प्रवृत्ति को अपना लिया है; इन अन्तरिम आदेशों में लोक रिष्टि की भारी संभावना है और यह आदेश मात्र प्रार्थना करने पर ही मंजूर कर दिए जाते हैं। हम इस बात से बहुत विक्षुब्ध हैं। यह इसलिए भी बहुत दुखदायी है कि ऐसे अन्तरिम आदेश जो कि प्रायः एकपक्षीय होते है और इनमें कारण नहीं दिए होते, उच्च न्यायालयों द्वारा संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन रिट पिटीशन ग्रहण किए जाते समय ही पारित कर दिए जाते हैं, और कलकत्ता उच्च न्यायालय में ऐसा मौखिक आवेदन पर ही कर दिया जाता है। हाल ही में **सम्भरियास ट्रेडिंग कम्पनी प्राइवेट लिमिटेड** बनाम **एस० सैमुअल और अन्य** वाले मामले में हमें संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन मौखिक आवेदन ग्रहण करने तथा उन पर अन्तरिम आदेश पारित करने की इस प्रथा की भर्त्सना करने और इसे प्रतिषिद्ध करने का अवसर प्राप्त हुआ था। अनेक दूसरे मामलों में अर्थात **सिलीगुड़ी नगर पालिका** बनाम **अमलेन्दू दास**[2], **टीटागढ़ पेपर मिल्स कम्पनी लिमिटेड** बनाम **उड़ीसा राज्य**[3], **भारत संघ** बनाम **ओसवाल वूलन मिल्स लिमिटेड**[4], भारत संघ बनाम **जैन शुद्ध वनस्पति लिमिटेड**[5] में इस न्यायालय को यह बताने के लिए बाध्य होना पड़ा था कि आवेदन पेश किए जाने के तुरन्त पश्चात् अन्तरिम आदेश पारित करना कितना गलत है, जबकि एक क्षण दूसरा विचार करने पर ऐसा करने में लोकहित की हानि स्पष्ट हो जाती है और एक समुचित वैकल्पिक उपचार का पता लग जाता है। इस तथ्य के बावजूद कि हमने उच्च न्यायालयों द्वारा पारित अन्तरिम आदेशों में हस्तक्षेप न करने की नीति अपनाई है और व्यावहारिकतः हमने इस प्रकार हस्तक्षेप न करने का एक कठोर नियम बनाया है, फिर भी हमें उक्त मामलों में हस्तक्षेप करने के लिए बाध्य होना पड़ा था।

2. **सिलीगुड़ी नगर पालिका** बनाम **अमलेन्दू दास**[2] में न्या० ए० पी० सेन और न्या० एम० पी० ठक्कर को कलकत्ता उच्च न्यायालय द्वारा पारित एक ऐसे अन्तर्वर्ती आदेश पर विचार करना पड़ा था जिसमें बंगाल म्युनिसिपल ऐक्ट के संशोधित उपबन्धों के निबन्धनों के अनुसार भवनों के वार्षिक मूल्य

---

[1] 1984 की सिविल अपील संख्या 4416.
[2] (1984) 2 एस० सी० सी० 436.
[3] (1983) 2 एस० सी० सी० 433.
[4] (1984) 2 एस० सी० सी० 646.
[5] 1983 की सिविल अपील संख्या 11450.

पर क्रमिक समेकित मूल्य वसूल करने से सिलीगुड़ी नगर पालिका को अवरुद्ध किया गया था। हम इस मामले में किए गए निम्नलिखित विचारों को यहां दोहराते हैं :—

"हम निम्नलिखित मत व्यक्त करने के लिए बाध्य हैं क्योंकि कुछ उच्च न्यायालयों द्वारा मात्र प्रार्थना करने पर ही अन्तर्वर्ती आदेश मंजूर करने की प्रवृत्ति से हम बहुत दुखी अनुभव करते हैं। सामान्यत: उच्च न्यायालय को नियमत: संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन कार्यवाही में, बहुत हीं आपवादिक परिस्थितियों को छोड़कर, कर की वसूली पर रोक नहीं लगानी चाहिए। ऐसे मामलों में रोक आदेश पारित करना नियम नहीं बल्कि एक अपवाद होना चाहिए।"

"इस बात पर बल देना आवश्यक है कि उद्ग्रहण अथवा शुल्क, मात्र उसी समय अवैध नहीं बन जाता जबकि उद्ग्रहण की विधिमान्यता पर आक्षेप करने के लिए रिट पिटीशन संस्थित किया जाता है। इसी प्रकार से यह अनुमान लगाने का भी कोई कारण नहीं कि कार्यवाही के प्रारम्भ में ही उद्ग्रहण की अवैधता का अनुमान लगा लिगा जाना चाहिए। ऐसे समय में एकमात्र विचारण यह सुनिश्चित करना है कि शुल्क संदायकर्ता पर उस समय कोई प्रतिकूल प्रभाव न पड़े यदि अन्ततः वे कार्यवाही की समाप्ति पर सफल हो जाते हैं। इस उद्देश्य को, यथास्थिति शुल्क उद्ग्रहण करने वाले निकाय या प्राधिकारी से भावी संदेय रकम, कर या शुल्क के उद्ग्रहण या उसके किसी भाग के साथ प्रतिदाय करने या समायोजन करने का वचनपत्र देना अपेक्षित बना दिया जाए—ऐसा उस दशा में जबकि सम्पूर्ण उद्ग्रहण या उसका कोई भाग न्यायालय द्वारा अन्ततः अविधिमान्य कर दिया जाता है और जबकि करदाता को न्यायालय द्वारा उनसे पहले ही वसूल की गई रकम का दावा करने के लिए सिविल वाद संस्थित करने के लिए नहीं कहा जाता। दूसरी ओर, न्यायालय कर उद्ग्रहण करने वाले प्राधिकारी की सुरक्षा करने की आवश्यकता से भी अनभिज्ञ नहीं हो सकता क्योंकि उस प्रक्रम पर न्यायालय को इस धारणा के आधार पर आगे कार्यवाही करनी होती है कि दी गई चुनौती सफल हो सकती है और नहीं भी हो सकती। न्यायालय को इस तथ्य के प्रति अपनी जागरूकता दिखानी होती है कि प्रस्तुत मामले जैसे मामले में कोई नगर पालिका अपनी वित्तीय बाध्यताओं को पूरा नहीं कर सकती, या कार्य नहीं कर सकती, यदि इसके राजस्व के स्रोत को आक्षेपित उपबन्ध के अनुसार कर वसूल करने से नगरपालिका को

अवरुद्ध करते हुए अन्तरिम आदेश द्वारा रोक दिया जाता है। और यह कि नगर पालिका को जलप्रदाय, सड़कों को प्रकाशित करने तथा लोक सड़कें बनाए रखने जैसी अनिवार्य नागरिक सेवाओं को, स्कूल, डिस्पेंसरी, पुस्तकालय आदि लोक संस्थानों को चलाने के अलावा, बनाए रखना होता है। इसके अतिरिक्त आपूर्तियां खरीदनी होती हैं और कर्मचारियों को वेतन का संदाय किया जाना होता है। इस प्रकार के अन्तर्वर्ती आदेश मंजूर किए जाने से प्रशासन पंगु हो जाता है और नगरपालिका का सम्पूर्ण कार्य अस्तव्यस्त हो जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि मामले के इन गंभीर प्रभावों पर आक्षेपित आदेश पारित करते समय ध्यान नहीं दिया गया था।"

3. **टीटागढ़ पेपर मिल्स कम्पनी लिमिटेड** बनाम **उड़ीसा राज्य**[1] के मामले में न्या० ए० पी० सेन, न्या० एस० वेंकटरमैया और न्या० आर० बी० मिश्र ने यह अभिनिर्धारित किया है कि जहां कानून में स्वयं ही पिटीशनरों के लिए, विहित प्राधिकारी को अपील करने के, अधिकरण को एक दूसरी अपील करने के और तत्पश्चात् उच्च न्यायालय के समक्ष मामले को पेश करवाने के रूप में प्रभावकारी और वैकल्पिक उपचार किया गया हो, वहां उच्च न्यायालय को संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन अपनी असाधारण अधिकारिता का प्रयोग इस प्रकार नहीं करना चाहिए, मानो कि सम्पूर्ण कानूनी प्रक्रिया की अनदेखी कर दी गई हो। अब भी हमारे लिए इस भर्त्सना को दोहराना आवश्यक बन गया है— यह हमारे लिए बहुत दुख और चिन्ता का विषय है। अनुच्छेद 226 कानूनी प्रक्रिया को प्रवंचित करने और उसे लघु बनाने के लिए नहीं है। अनुच्छेद 226 केवल उस स्थिति के लिए है जबकि उपलब्ध कानूनी उपचार असाधारण परिस्थितियों की मांग को पूरा करने के लिए बिल्कुल ही समुचित नहीं है— जैसे कि ऐसी दशा में जहां कि कानून की शक्तियों को ही चुनौती दी गई हो या जहां प्राइवेट अथवा पब्लिक दोष अविच्छिन्न रूप से मिले हुए हों तथा लोक क्षति का निवारण और लोक न्याय का प्रतिपादन संविधान के अनुच्छेद 226 का अवलम्ब लेना अपेक्षित बनाते हों। किन्तु फिर भी न्यायालय के पास कानून द्वारा उपबन्धित वैकल्पिक उपचार को दर गुजर करने के लिए पर्याप्त कारण होना चाहिए। निःसन्देह राजस्व वाले मामले, जहां कि कानूनी उपचार उपलब्ध होते हैं, ऐसे मामले नहीं हैं। हम इस तथ्य की भी न्यायिक अवेक्षा कर सकते हैं कि संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन अनेक संख्या में पिटीशन मात्र अन्तरिम आदेश प्राप्त करने के प्रयोजन के लिए

---

1 (1983) 2 एस० सी० सी० 646.

ही फाइल किए जाते हैं और तत्पश्चात् एक या अन्य युक्ति के द्वारा कार्यवाही को लम्बा बना दिया जाता है। निःसन्देह इस परिपाटी को दृढ़ता से रोका जाना चाहिए।

4. भारत संघ बनाम **ओसवाल वूलन मिल्स लिमिटेड**[1] के मामले में हमें ऐसे मामले के सम्बन्ध में कलकत्ता उच्च न्यायालय द्वारा पारित अन्तरिम आदेश पर विचार करने का अवसर प्राप्त हुआ था जिसमें वाद-हेतुक का कोई भी भाग कलकत्ता उच्च न्यायालय की अधिकारिता के भीतर उद्भूत नहीं हुआ था। इस मामले में वस्तुतः अन्तरिम आदेश के माध्यम से मात्र उसी प्रार्थना को मंजूर कर लिया गया था जो कि रिट पिटीशन में की गई थी। उस मामले में हमें यह मत व्यक्त करना पड़ा था :—

> "यह स्पष्ट है कि अन्तरिम आदेश महज भावी रिष्टि वाला एक बड़ा भारी कदम है। रिट पिटीशन की मुख्य प्रार्थना आयात नियन्त्रण आदेश के खण्ड 8-ख के अधीन पारित या प्रस्थापित आदेश को चुनौती है। आदेश के खण्ड (ञ) और (ट) के निबन्धनों के अनुसार अन्तरिम आदेश का प्रभाव वस्तुतः रिट पिटीशन को, विरोधी पक्षकार की सुनवाई किए जाने के बिना ही, ग्रहण किए जाने के प्रक्रम पर मंजूर करना है। हम यद्यपि यह नहीं कहना चाहते कि एक प्रबल अन्तर्वर्ती आदेश विरोधी पक्षकार की सुनवाई किए बिना कभी भी पारित नहीं किया जाना चाहिए, भले ही परिस्थितियां इसको ऐसा करना न्यायोचित बनाती हों किन्तु फिर भी हमारा यह दृढ़ मत है कि आयात नियन्त्रण आदेश के खण्ड 8-ख के अधीन प्रस्तुत मामले में पारित किया गया कानूनी आदेश कम से कम उन पक्षकारों की सुनवाई किए बिना, जिन्होंने आदेश पारित किया था, पारित नहीं किया जाना चाहिए था। ऐसे रोक आदेश से भयानक परिणाम निकलते है और इसके कारण हुई रिष्टि को समाप्त करने का कोई रास्ता नहीं रह जाता है। जहां किसी कानून के अन्तर्गत व्यापक शक्ति दी जाती है जिसका प्रयोजन गंभीर परिस्थितियों से निपटना होता है वहां यह कहना कोई सही उत्तर नहीं कि शक्ति की प्रकृति और इससे उद्भूत होने वाले परिणाम स्वयं में ही आदेश के बारे में रोक—आदेश मंजूर करने का पर्याप्त औचित्य है, जब तक कि निःसन्देह इस दृढ़ और प्रत्यक्ष अनुमान को न्यायोचित ठहराने वाली पर्याप्त परिस्थितियां विद्यमान न हों कि आदेश कानून द्वारा प्रदत्त शक्ति का दुरुपयोग करते हुए पारित किया गया था। खण्ड 8-ख के अधीन पारित आदेश

1 (1984) 2 एस० सी० सी० 646.

जैसे कानूनी आदेश का तात्पर्य लोकहित में किया जाना है जब तक कि लोकहित के ऐसे और अधिक आधार न हों तब तक एकपक्षीय अन्तरिम आदेश पारित करना न्यायोचित न होगा। ऐसे मामलों में केवल समुचित आदेश प्रत्यर्थियों को नोटिस जारी करना है और उसका शीघ्रातिशीघ्र उत्तर मांगना है। ऐसा विशेषकर उस दशा में होना चाहिए जहां कि मुख्य प्रत्यर्थियों के कार्यालय और सुसंगत अभिलेख न्यायालय की सामान्य अधिकारिता से बाहर हैं। एकदम सीधे अन्तरिम उपचार मंजूर करना और अन्तरिम आदेश को अपास्त करने के लिए प्रत्यर्थियों को (सिविल) न्यायालय का अवलम्ब लेने के लिए विवश करना लोकहित को खतरे में डाल सकता है। यह बड़ी कुप्रसिद्ध बात है कि यदि एक बार न्यायालय द्वारा अन्तरिम आदेश पारित कर दिया जाता है तो पक्षकार किस प्रकार से भी आवेदन की अन्तिम सुनवाई को टालने के लिए प्रत्येक युक्ति और चाल का प्रयोग करते हैं। अतः न्यायालयों को अन्तरिम अनुतोष मंजूर करने के मामले में बहुत सतर्क रहना आवश्यक है—विशेषकर ऐसे मामलों में जहां कि अन्तरिम अनुतोष ऐसे लोक अधिकारियों के आदेशों अथवा कृत्यों के विरुद्ध मांगा गया हो जो कानूनी शक्तियों के प्रयोग में और अपने लोक कर्त्तव्य के निर्वहन में कार्य कर रहे हों। प्रस्तुत मामले के तथ्यों और परिस्थितियों के आधार पर हमारा यह समाधान हो गया है कि उच्च न्यायालय द्वारा इस प्रकार से ऐसा कोई अन्तरिम अनुतोष मंजूर नहीं किया जाना चाहिए था, जैसा कि किया गया है।"

5. हम ऐसा अन्तरिम आदेश मंजूर करने की इस प्रथा की भर्त्सना करते हैं और इसे फिर दोहराते हैं कि जो आदेश पिटीशन में मांगे गए मुख्य अनुतोष को वस्तुतः मात्र इसी कारण से मंजूर कर देता है कि प्रथमदृष्टया मामला साबित हो गया है और इस बात के बारे में कोई ध्यान नहीं दिया जाता कि सुविधा का पलड़ा किस तरफ झुकता है या लोकहित में क्या उचित है तथा ऐसी ही अन्य अनेक सुसंगत विचारणाओं पर ध्यान नहीं दिया जाता है, वह उचित नहीं है। सन्देहास्पद अधिकारिताओं वाले दूरस्थ न्यायालयों में रिट पिटीशन फाइल करने की कुछ चालाक मुकदमेबाजों की आदत के सम्बन्ध में हमें यह कहना पड़ा :—

"..........इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कि कम्पनी का रजिस्ट्रीकृत कार्यालय लुधियाना में है और वे मुख्य प्रतिवादी दिल्ली में हैं जिनके विरुद्ध आरम्भिक अनुतोष की मांग की गई है, यह आशा की जा सकती थी कि रिट पिटीशन या तो पंजाब और हरियाणा

उच्च न्यायालय में फाइल किया जाता अथवा दिल्ली उच्च न्यायालय में। तथापि, रिट पिटीशनरों ने कलकत्ता उच्च न्यायालय को संभवतः इसलिए चुना क्योंकि अन्तर्वर्ती अनुतोषों में से एक अनुतोष जिसकी मांग की गई है वह गाय की उस चर्बी के उस परेषण (कन्साइनमेंट) के बारे में है जो कलकत्ता पत्तन पर पहुंची है। उस स्थान से भिन्न जहां कि प्रत्यर्थियों के सम्बन्धित कार्यालय और सुसंगत अभिलेख हैं, अन्य स्थानों पर रिट पिटीशन फाइल करने का अनिवार्य परिणाम तुरन्त उत्तर फाइल किए जाने और प्रतिवाद किए जाने में विलम्ब कारित करना है। हम इस प्रश्न की आगे जांच नहीं करना चाहते कि क्या रिट पिटीशन कलकत्ता उच्च न्यायालय में जानबूझकर या अनायास ही फाइल किया गया, जबकि कम्पनी का कार्यालय पंजाब राज्य में है और सभी प्रत्यर्थी दिल्ली में हैं। किन्तु हम इस बात से बहुत विक्षुब्ध हैं कि ऐसे रिट पिटीशन प्रायः जानबूझकर दूर के उच्च न्यायालयों में कानूनी लड़ाई में चालबाजी के तौर पर इसलिए फाइल किए जाते हैं ताकि दिल्ली में स्थित अधिकारियों के लिए रोक आदेशों को प्रभावोन्मुक्त कराने के लिए आवेदन फाइल करना कठिन बना दिया जाए, जहां कि ऐसा आवेदन फाइल करना आवश्यक हो जाता है।"

भारत संघ बनाम **जैन शुद्ध वनस्पति लिमिटेड**[1] में मु० न्या० चन्द्रचूड़ और न्या० ए० पी० सेन तथा न्या० आर० एन० मिश्र ने निम्नलिखित मत व्यक्त करते हुए अन्तरिम आदेश के विरुद्ध फाइल की गई अपील को मंजूर कर लिया था।

"विरोधी पक्षकारों के विद्वान् काउन्सेल की सुनाई करने के पश्चात् हमारी यह राय है कि उच्च न्यायालय द्वारा 29 नवम्बर, 1983 को पारित अन्तरिम आदेश इसलिए आवश्यक नहीं था क्योंकि यह आदेश वस्तुतः प्रत्यर्थियों को रिट पिटीशन में उनके द्वारा मांगे हुए अनुतोष का पर्याप्त भाग मंजूर कर देता है। तदनुसार हम उक्त आदेश को अपास्त करते हैं।"

हमारे सामने ऐसे मामले भी आए हैं जहां न्यायालयों द्वारा अन्तरिम आदेश पारित किए जाने के परिणामस्वरूप लोक राजस्व को एकत्रित करना गम्भीर रूप से खतरे में पड़ गया है और सरकारों तथा स्थानीय प्राधिकरणों के बजट खतरे के बिन्दु तक निश्चित रूप से कुप्रभावित हुए हैं। वस्तुतः हमारी

---

[1] 1983 की सिविल अपील संख्या 11450.

जानकारी में ऐसे उदाहरण भी आए हैं जहां कि न्यायालयों द्वारा मंजूर किए गए रोक आदेशों के कारण सरकारों को राजस्व एकत्रित करने के लिए अन्य स्रोतों का पता लगाने के लिए बाध्य होना पड़ा है—ऐसे स्रोत जिन्हें वे सरकारें लोकहित में प्रयोग में नहीं लातीं। हमारे समक्ष ऐसे मामले भी आए हैं जहां न्यायालयों द्वारा पारित अन्तरिम आदेशों के कारण सम्पूर्ण सेवा अव्यवस्था और अस्थिरता की स्थिति में बना दी गई है, और उस कार्य को स्थगित करना पड़ा है जो उनके द्वारा किया जाना प्रस्थापित था। हमारे समक्ष ऐसे मामले भी आए हैं जहां बसें और लारियां न्यायालयों के आदेशों के अधीन चलाई जा रही हैं, यद्यपि उन्हें या तो परमिट से वंचित किया गया है या उनके परमिट यातायात प्राधिकरण द्वारा रद्द कर दिए गए हैं अथवा निलम्बित कर दिए गए हैं। हमारे समक्ष ऐसे मामले भी आए हैं जहां कि न्यायालयों के अन्तरिम आदेशों के अधीन शराब की दुकानें चलाई जा रही हैं। ऐसे मामले भी हमारे सामने आए हैं जहां कि उत्पाद शुल्क ठेकेदारों द्वारा संदेय मासिक किराए की वसूली रोक दी गई है और इसका परिणाम यह हुआ कि वर्ष के अन्त में ठेकेदार ने कुछ भी संदाय नहीं किया अपितु दुकान से कुछ लाभ ही कमाया। हमारे समक्ष ऐसे मामले भी आए हैं जहां कि खाद्यानों और आवश्यक वस्तुओं के व्यापारियों को उनसे अभिगृहीत स्टाक वापस लेने के लिए अनुज्ञात कर दिया गया है मानों कि उन्हें वे कार्य करने के लिए अनुज्ञात कर दिया गया हो जो अभिग्रहण द्वारा निवारित किए गए थे। हमारे समक्ष ऐसे भी मामले आए हैं जहां कि भूमि सुधार और कल्याणकारी विधान न्यायालयों द्वारा रोक दिया गया है। ऐसे अन्तरिम आदेशों द्वारा अपूरणीय हानि की गई है। यह सब कुछ कहने का अर्थ यह नहीं है कि लोक प्राधिकारियों के विरुद्ध अन्तरिम आदेश कभी भी पारित नहीं किए जाने चाहिए। निःसन्देह ऐसे मामले होते हैं जो यह मांग करते हैं कि न्याय के हित में अन्तरिम आदेश पारित किए जाने चाहिए। जहां विधि का गम्भीर अतिक्रमण और अन्याय होता हो या अन्याय किए जाने की सम्भावना हो वहां मध्यक्षेप करना और समुचित अन्तरिम अनुतोष देना न्यायालय का कर्त्तव्य है। ऐसे मामलों में जहां कि अन्तरिम अनुतोष न दिए जाने से लोक रिष्टि कारित होती हो, गम्भीर अपूरणीय प्राइवेट क्षति होती हो या लोक प्रशासन की निष्पक्षता में नागरिकों का विश्वास हिल जाता हो वहां न्यायालय लोक प्राधिकारियों के विरुद्ध अन्तरिम अनुतोष मंजूर करने में न्यायोचित कार्य करता है। चूंकि विधि यह पूर्वानुमान लगाती है कि लोक प्राधिकारी सम्यक् लोकहित को ध्यान में रखते हुए उचित तथा सद्भाविक रूप से कार्य करते हैं वहां दूरगामी प्रभाव वाले अथवा प्रशासनिक और भारी असुविधा कारित करने

वाले या लोक राजस्व एकत्रित करने को रोकने वाले आदेश मात्र इसी कारण से मंजूर करने में न्यायालय को सतर्क रहना चाहिए कि पक्षकारों ने न्यायालय में प्रतिकूल प्रभाव, असुविधा या हानि का अभिकथन किया है और यह कि प्रथमदृष्टया मामला साबित कर दिया है। किन्तु प्रज्ञा, विवेक और सतर्कता की ऐसे मामलों में आवश्यकता है। प्रथमदृष्टया मामले के विद्यमान होने के अतिरिक्त भी अनेक अन्य महत्वपूर्ण विचारणएं हैं। एक तो सुविधा का प्रश्न भी होता है। अपूरणीय क्षति का प्रश्न भी होता है; और लोक हित का प्रश्न भी होता है। ऐसे ही अनेक कारण विचार में लिए जाने योग्य होते हैं। हम प्राय: आश्चर्य करते हैं कि अप्रत्यक्ष कराधन के मामले में जहां कि सबूत का भार पहले ही उपभोक्ता पर अन्तरित हो गया है, किसी भी विनिमाता, व्यापारी अथवा ऐसे ही व्यक्ति को अन्तरिम अनुतोष दिया ही क्यों जाता है।

6. एक और भी बात है जो हम कहना चाहेंगे। **सिलीगुड़ी** बनाम **असलेन्दू दास**[1] के मामले में न्यायालय को निम्नलिखित मत व्यक्त करने की आवश्यकता पड़ी थी :—

> "हम यदि उस बात की ओर निर्देश नहीं करते हैं, जो हमें कष्ट और निराशा कारित करती है तो हम अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं करेंगे। एक पूर्ववर्ती अवसर पर, खण्ड न्यायपीठ ने ऐसी ही स्थिति में और ऐसे ही तथ्यों पर विद्वान् एकल न्यायाधीश द्वारा पारित अन्तरिम आदेश को प्रभावोन्मुक्त किया था। फिर भी जब ऐसा ही मामला सामने आया जिसके विरुद्ध यह वर्तमान अपील की गई है, तो उसी विद्वान् एकल न्यायाधीश ने, जिसके आदेश को पहले उलट दिया गया था, पूर्वोक्त प्रकार का ऐसा अन्तर्वर्ती आदेश पारित कर दिया जिसमें कारण नहीं दिए गए थे। इसके पश्चात् खण्ड न्यायपीठ ने भी रोक आदेश मंजूर करने के लिए स्पष्ट कारणों वाला सकारण आदेश पारित किए बिना ही उक्त आदेश की पुष्टि कर दी जबकि पूर्ववर्ती खण्ड पीठ ने रोक आदेश को प्रभावोन्मुक्त कर दिया था। नैतिकता और एकरूपता बनाए रखने की आवश्यकता जैसी भारी संस्थागत विचारणाओं का पालन करते हुए ऐसे मामलों में स्वत: अधिरोपित अनुशासन की आवश्यकता पर बल देते हुए हमारा अभिप्राय उच्च न्यायालय का कोई निरादर करना नहीं है। इसी प्रकार से इस बात की आवश्यकता पर बल देते हुए भी हमारा अभिप्राय उच्च न्यायालय का कोई निरादर करना नहीं है कि अन्तरिम आदेश मंजूर करने के

---

[1] (1984) 2 एस० सी० सी० 436.

बारे में उच्च न्यायालय की शक्तियों की व्यापकता और सीमा के प्रश्न पर विचार किए बिना ही अन्तरिम आदेश पारित करने में उच्च न्यायालय को स्वयं ही अनुशासन का पालन करना चाहिए। अन्तरिम आदेश पारित करने का मुख्य प्रयोजन विधान की सांविधानिकता और चुनौती की कमजोरी से सम्बन्धित पूर्वधारणा को ध्यान में रखते हुए, स्थिति को देखते हुए एक काम चलाऊ सूत्र या व्यवस्था, जहां तक यह स्थिति की आवश्यकता को देखते हुए ठीक है, पैदा करना है ताकि अपूरणीय क्षति कारित न हो जाए। अतः न्यायालय को मामले के गुणागुण पर ध्यान देने के पश्चात् एक नाजुक सन्तुलन बनाए रखना होता है ताकि लोकहित खतरे में न पड़े और संस्थागत परेशानी से बचा जा सके।"

हम यह और कहना चाहते हैं, और जैसा कि **कैसल एण्ड कं० लि०** बनाम **ब्रूम**[1] में कहा गया है तथा हम यह आशा करते हैं कि हमें यह बात फिर से कहने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी कि "न्यायालयों की प्रक्रमबद्ध पद्धति में जैसी यह हमारे देश में विद्यमान है, उच्च न्यायालय सहित, प्रत्येक अवर क्रम के न्यायालय के लिए उच्च क्रम के न्यायालयों के विनिश्चयों को निष्ठापूर्वक स्वीकार करना आवश्यक है। न्यायालय की प्रक्रमबद्ध पद्धति में यह अनिवार्य है कि उच्चतम अपील अधिकरण के ऐसे भी विनिश्चय होते हैं जिन्हें न्यायपालिका के सभी सदस्यों का अनुमोदन एकमत से प्राप्त नहीं होता······किन्तु न्यायिक व्यवस्था केवल तभी कार्य कर सकती है यदि कम से कम किसी एक (न्यायालय) को अन्तिम निर्णय देने के लिए अनुज्ञात किया जाए और उस अन्तिम निर्णय को जब एक बार दे दिया जाता है तो निष्ठापूर्वक स्वीकार किया जाए।"[2] अवर न्यायालयों की अच्छी बुद्धिमतता उच्च न्यायालयों की उच्च बुद्धिमतता के सामने झुकनी चाहिए। प्रक्रमबद्ध न्यायिक पद्धति की यही तो शक्ति है। **कैसल** बनाम **ब्रूम**[1] में कोर्ट ऑफ अपील के इस मत पर टिप्पणी करते हुए कि **रूक्स** बनाम **बरनार्ड**[3] का निर्णय अनवधानता से दिया गया था, लार्ड डिप्लॉक ने यह मत व्यक्त किया कि,

"कोर्ट ऑफ अपील ने **रूक्स** बनाम **बरनार्ड**[3] में इस न्यायालय (हाउस आफ लार्ड्स) के विनिश्चय को अस्वीकार करने में अनावधानता की युक्ति से अपने आपको समर्थ बना लिया है। यह युक्ति अपने से पूर्ववर्ती विनिश्चयों का अनुसरण करने से इन्कार करने में

---

1 (1972) ए० सी० 1027.

2 ब्रूम बनाम कैसल में लार्ड हैलशम और लार्ड डिप्लोक के मत देखें।

3 (1964) ए० सी० 1129.

किसी अपील न्यायालय के अधिकार के लिए ही सुसंगत है, उच्चतर अपील न्यायालय के विनिश्चय को न मानने या कोर्ट आफ अपील के विनिश्चय को न मानने में उच्च न्यायालय के न्यायाधीश के अधिकार के लिए सुसंगत नहीं है।"

यह कहना अनावश्यक है कि भारत में संविधान के अनुच्छेद 141 के अधीन उच्चतम न्यायालय द्वारा घोषित विधि भारत राज्यक्षेत्र के अन्तर्गत सभी न्यायालयों पर आबद्ध होगी और अनुच्छेद 144 के अधीन भारत राज्यक्षेत्र में सभी सिविल और न्यायिक प्राधिकारी उच्चतम न्यायालय की सहायता करेंगे।

7. अब प्रस्तुत मामले के तथ्यों पर विचार करते हुए, प्रत्यर्थी डनलप इण्डिया लिमिटेड टायर, ट्यूब तथा ऐसे ही विभिन्न रबड़ के उत्पाद का विनिर्माता है। केन्द्रीय उत्पाद नियमावली, 1944 के नियम 8 (1) द्वारा प्रदत्त शक्तियों के प्रयोग में भारत सरकार, वित्त मंत्रालय (राजस्व विभाग) द्वारा 6 अप्रैल, 1984 को जारी की गई अधिसूचना द्वारा केन्द्रीय उत्पाद और लवण अधिनियम, 1944 की प्रथम अनुसूची के मद संख्या 16 के अन्तर्गत आने वाले टायर इस सीमा तक उत्पाद शुल्क के कुछ प्रतिशत तक छूट प्राप्त थे कि निर्माता ने कतिपय अन्य पूर्ववर्ती अधिसूचनाओं के अधीन मंजूर की गई छूट का लाभ नहीं उठाया था। विभाग का यह मत था कि कम्पनी इस छूट के लिए हकदार नहीं थी क्योंकि इसने पहले अपना माल केन्द्रीय उत्पाद शुल्क संदाय किए बिना ही छुड़वा लिया था किन्तु यह सब न्यायालयों द्वारा पारित विभिन्न अन्तरिम आदेशों के अधीन बैंक गारण्टी पेश करने पर किया गया था। कम्पनी ने 6·05 करोड़ रुपए की छूट के लाभ का दावा किया था और कलकत्ता उच्च न्यायालय में एक रिट पिटीशन फाइल किया तथा केन्द्रीय प्राधिकारियों को उत्पाद शुल्क के उद्ग्रहण को एकत्रित करने से अवरुद्ध करते हुए अन्तरिम आदेश की मांग की थी। विद्वान् एकल न्यायाधीश ने यह मत अपनाया कि कम्पनी के पक्ष में एक प्रथमदृष्टया मामला सिद्ध कर दिया गया था और एक अन्तरिम आदेश के द्वारा 2 करोड़, 93 लाख और 85 हजार रुपए की छूट का लाभ अनुज्ञात कर दिया था—और इस रकम के लिए कम्पनी से बैंक की गारंटी पेश करने के लिए निदेश दिया गया था अर्थात् यह कि माल बैंक गारंटी पेश किए जाने पर छोड़ दिए जाने का निदेश दे दिया गया था। केन्द्रीय उत्पाद के सहायक कलक्टर द्वारा लेटर्स पेटेंट के खण्ड 10 के अधीन एक अपील फाइल की गई थी और कलकत्ता उच्च न्यायालय की एक खण्ड न्यायपीठ के विद्वान् एकल न्यायाधीश के आदेश की पुष्टि कर दी थी, किन्तु इसमें एक मामूली सा यह उपान्तरण कर दिया था कि केन्द्रीय उत्पाद

शुल्क कलक्टर को बैंक गारंटी का 30 प्रतिशत भुनाने के लिए अनुज्ञात कर दिया गया था। केन्द्रीय उत्पाद शुल्क के सहायक कलक्टर ने विशेष इजाजत से यह अपील फाइल की है। 15 नवम्बर, 1984 के अन्तरिम आदेश के द्वारा हमने विद्वान् एकल न्यायाधीश द्वारा तथा खण्ड न्यायपीठ द्वारा पारित आदेशों को प्रभावोन्मुक्त कर दिया था। हमने कम्पनी को प्रत्युत्तर फाइल करने के लिए दो सप्ताह का समय दिया था। तथापि, प्रत्यर्थी की ओर से विद्वान् काउन्सेल श्री एफ० एस० नरीमन हाजिर हुए थे किन्तु कोई उत्तर फाइल नहीं किया गया। हमें इस बारे में लेशमात्र भी सन्देह नहीं है कि विद्वान् एकल न्यायाधीश तथा खण्ड न्यायपीठ द्वारा पारित आदेश बिल्कुल ही कायम रखने योग्य नहीं है और ये आदेश पारित ही नहीं किए जाने चाहिए थे। यह मान लेते हुए भी कि कम्पनी ने प्रथमदृष्टया मामला सिद्ध कर दिया था, जिसके बारे में हम कोई राय व्यक्त नहीं करते, हम यह नहीं समझते कि इस मामले में अन्तरिम आदेश जैसा कि उच्च न्यायालय द्वारा किया गया था, पारित करने के लिए पर्याप्त न्यायौचित्य था। सुविधा के सन्तुलन का भी प्रत्यर्थी कम्पनी के पक्ष में होने का कोई कारण नहीं था। सुविधा का सन्तुलन निःसन्देह भारत सरकार के पक्ष में था। सरकारें बैंक गारंटी के आधार पर नहीं चलाई जाती हैं। हम यह देखते हैं कि प्रायः न्यायालय इस प्रकार कार्य करते हैं मानो कि बैंक की गारंटी पेश करने से न्याय के उद्देश्य की पूर्ति हो जाएगी। कोई भी सरकारी कार्य बल्कि किसी प्रकार का भी कोई कारबार केवल बैंक गारंटी के आधार पर नहीं लाया जा सकता। नकद रुपया सरकार चलाने के लिए ही नहीं बल्कि किसी भी समुत्थान को चलाने के लिए आवश्यक है। हमारा यह विचार है कि जहां लोक राजस्व के मामलों का सम्बन्ध है, इस बात को ध्यान में रखना बहुत महत्वपूर्ण है कि अन्तरिम आदेश मात्र इसलिए ही पारित नहीं कर दिया जाना चाहिए क्योंकि प्रथमदृष्टया मामला सिद्ध कर दिया गया है। इससे भी कुछ अधिक अपेक्षित है। सुविधा का सन्तुलन स्पष्ट रूप से अन्तरिम आदेश पारित प्राप्त करने वाले पक्षकार के पक्ष में होना चाहिए और लोकहित पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ने की नाममात्र भी सम्भावना नहीं होनी चाहिए। हमें बड़े खेद से यह कहना पड़ रहा है कि उच्च न्यायालय ने इन विचारणाओं को बिल्कुल ही ध्यान में नहीं रखा है और इतना व्यापक अन्तरिम आदेश मात्र प्रार्थना करने पर ही पारित कर दिया गया। यह अपील खर्चे सहित मंजूर की जाती है।

अपील मंजूर की गई।

श०

———

लक्ष्मी नारायण गुई और अन्य

बनाम

निरंजन मोदक

(3 दिसम्बर, 1984)

(न्यायाधिपति आर० एस० पाठक और ओ० चिनप्पा रेड्डी)

वैस्ट बंगाल प्रेमिसेज टेनेन्सी ऐक्ट, 1956—धारा 13(1)—विधि में परिवर्तन का फायदा—बेदखली और बकाया किराये के एक वाद में अपील—अपील लम्बित रहने के दौरान प्रस्तुत अधिनियम में परिवर्तन करके इसका विस्तार प्रश्नगत सम्पत्ति तक किया जाना—मकान-मालिक द्वारा किराएदार पर तामील की गई बेदखली की सूचना का एक मास से कम की सूचना होना—प्रथम अपील लम्बित रहते हुए किराएदार द्वारा उक्त धारा 13(1) का सहारा लिया जाना—विचारण न्यायालय की डिक्री के विरुद्ध फाइल की गई अपील वाद के क्रम में होती है और अपीली डिक्री ही अन्तिम तथा प्रभावी होती है—अतः किराएदार उक्त धारा 13(1) का सहारा ले सकता है।

वैस्ट बंगाल प्रेमिसेज टेनेन्सी ऐक्ट, 1956—धारा 13(1)—व्याप्ति—बेदखली और बकाया किराए का वाद अधिनियम के प्रश्नगत स्थान तक विस्तारित किए जाने से पहले संस्थित किया जाना—किराएदार-प्रत्यर्थी द्वारा उक्त धारा 13(1) का सहारा लिया जाना—धारा 13(1) के अनुसार न्यायालय कुछ कानूनी अपवादों को छोड़कर कब्जे का कोई आदेश या डिक्री नहीं दे सकता—किराएदार धारा 13(1) का संरक्षण पाने का हकदार है, भले ही वाद अधिनियम के प्रवृत्त होने से बहुत पहले संस्थित किया गया हो

अपीलार्थी पश्चिमी बंगाल के बर्दवान जिले में मौजा मेमरी में स्थित मकान के मालिक हैं। मकान मालिक-अपीलार्थियों ने किराए की बकाया और बेदखली के लिए प्रत्यर्थी-किराएदार के विरुद्ध वाद फ़ाइल किया। वाद 12 जून, 1967 को फाइल किया गया था। विचारण न्यायालय ने वाद 17 फरवरी, 1969 को डिक्री किया था। प्रथम अपील के लम्बित रहते हुए पश्चिमी बंगाल सरकार ने वैस्ट बंगाल प्रेमिसेज़ टेनेन्सी ऐक्ट, 1956 का विस्तार मेमरी तक कर दिया, जिसमें प्रश्नगत सम्पत्ति स्थित है। प्रथम

अपील न्यायालय ने प्रत्यर्थी द्वारा फाइल की गई अपील खारिज कर दी किन्तु उच्च न्यायालय ने प्रत्यर्थी की दूसरी अपील मंजूर कर ली। उच्च न्यायालय का निष्कर्ष था कि प्रत्यर्थी पर अपीलार्थियों द्वारा तामील की गई बेदखली की सूचना एक मास से कम की सूचना थी और इस प्रकार उक्त धारा 13 की उपधारा (6) का पालन नहीं किया गया था। उच्च न्यायालय के निर्णय और डिक्री के विरुद्ध विशेष इजाज़त लेकर उच्चतम न्यायालय में अपील फाइल की गई। अपील खारिज करते हुए,

अभिनिर्धारित—वैस्ट बंगाल प्रेमिसेज़ टेनेन्सी ऐक्ट, 1956 की धारा 13 बेदखली के विरुद्ध किराएदार को सीमित संरक्षण प्रदान करती है क्योंकि यह धारा 13 की उपधारा (1) में वर्णित सीमित आधारों के सिवाए कब्जे के प्रत्युद्धरण के लिए मकान-मालिक द्वारा फाइल किए गए वाद में न्यायालय को कोई आदेश या डिक्री पारित करने से निषिद्ध करती है। उपधारा (6) में उपबन्धित है कि खण्ड (ञ) और (ट) में वर्णित आधारों के सिवाए उप-धारा (1) में वर्णित किसी आधार पर कब्जे के प्रत्युद्धरण के लिए कोई वाद या कार्यवाही मकान-मालिक द्वारा तब तक फाइल नहीं की जा सकती "जब तक कि एक मास की सूचना किराएदार को न दे दी गई हो, जो किराएदारी के मास के साथ-साथ अवसित होती हो"। (पैरा 6)

अधिनियम की धारा 13 की उपधारा (1) में उपबन्धित है कि किराएदार के विरुद्ध मकान-मालिक के वाद में किसी न्यायालय द्वारा कब्जे के प्रत्युद्धरण के लिए कोई आदेश या डिक्री कतिपय प्रगणित आधारों के सिवाए नहीं की जाएगी। क्या यहां डिक्री के प्रति निर्देश विचारण न्यायालय की डिक्री से है अथवा, जहां अपील फाइल की जा चुकी है, अपीली डिक्री से है? यह स्पष्ट है कि यह निर्देश उस डिक्री के प्रति आशयित है जो वाद का निपटारा अन्तिम रूप से करती है। यह सुस्थिर है कि जब विचारण न्यायालय वाद डिक्री कर देता है और एक सक्षम अपील द्वारा डिक्री को चुनौती दी जाती है तो वह अपील वाद के क्रम में मानी जाती है और जब अपीली डिक्री गुणागुण के आधार पर उस डिक्री की पुष्टि कर देती है, उपान्तरित कर देती है या उसे उलट देती है, तो विधि की दृष्टि से यह कहा जाता है कि विचारण न्यायालय की डिक्री अपीली डिक्री में विलीन हो जाती है और तब अपीली डिकी प्रभावी होती है। धारा 13 की उपधारा (1) का उद्देश्य, उपधारा में विनिर्दिष्ट अपवादों के अधीन रहते हुए किराएदार के कब्जे की रक्षा करना है और वह संरक्षण तभी सुनिश्चित होता है जब इस उपधारा का अर्थ इस रूप में किया जाए। उन अपवादों के अधीन रहते हुए किराएदार के विरुद्ध मकान-मालिक के कब्जे के वाद में विचारण न्यायालय कोई कारगर

या प्रभावी आदेश या डिक्री नहीं कर सकता। अतः किराएदार विचारण न्यायालय की डिक्री के विरुद्ध फाइल की गई अपील के लम्बित रहते हुए अधिनियम की धारा 13 की उपधारा (1) का सहारा ले सकता है। (पैरा 7)

धारा 13 की उपधारा (1) न्यायालय को यह निदेश देती है कि कब्जे का कोई आदेश या डिक्री न की जाए, जोकि निस्सन्देह कुछ कानूनी अपवादों के अधीन है। विधायी समादेश वस्तुतः न्यायालय को ऐसा आदेश या डिक्री करने की उसकी असीमित अधिकारिता से वंचित करता है। यह सच है कि जब वाद संस्थित किया गया था तो न्यायालय के पास ऐसी अधिकारिता थी और वह कब्जे की डिक्री पारित कर सकता था किन्तु जब अधिनियम प्रवृत्त किया गया तो उससे यह अधिकारिता छीन ली गई। यह उपधारा की भाषा से प्रचुर स्पष्ट हो जाता है। अतः उसके उद्देश्य को ध्यान में रखना होगा। (पैरा 8)

अवलम्बित निर्णय

		पैरा
[1964]	[1964] 6 एस० सी० आर० 876 : **मुसम्मात रफ़ीकुन्निसा बनाम लाल बहादुर चेत्री**	8
[1962]	[1962] 2 एस० सी० आर० 159 : **शाह भोज कुवरजी आयल मिल्स एण्ड गिन्निंग फैक्टरी बनाम सुभाष चन्द्र योगराज सिन्हा**	8

निर्दिष्ट निर्णय

[1975]	[1975] 1 उम० नि० प० 30=[1975] 1 एस० सी० आर० 605 : **अमरजीत कौर बनाम प्रीतम सिंह और अन्य**	9
[1970]	[1970] 3 उम० नि० प० 185=[1970] 2 एस० सी० आर० 129 : **मूला और अन्य बनाम गोधू और अन्य**	9
[1966]	[1966] 3 एस० सी० आर० 275 : **दयावती और एक अन्य बनाम इन्द्रजीत और अन्य**	9
[1963]	[1963] 3 एस० सी० आर० 858 : **राम सरूप बनाम मुन्शी और अन्य**	9
[1940]	[1940] एफ० सी० आर० 84 : **लक्ष्मेश्वर प्रसाद शुक्ल बनाम केशवर लाल चौधरी**	9

[1902] आई० एल० आर० (1902) 26 मद्रास 91 (एफ० बी०) :
कृष्णम्मा चेरियर बनाम अंगम्माल 9

सिविल अपीली अधिकारिता : 1977 की सिविल अपील सं० 439.

1970 की अपीली डिक्री सं० 1195 के विरुद्ध फाइल की गई अपील में कलकत्ता उच्च न्यायालय के तारीख 28 जनवरी, 1976 के निर्णय और आदेश के विरुद्ध विशेष इजाज़त लेकर की गई अपील।

अपीलार्थी की ओर से सर्वश्री पंकज कालरा, डी० एन० मुकर्जी और रथीन दास

प्रत्यर्थी की ओर से डा० शंकर घोष और श्री जी० एस० चटर्जी

न्यायालय का निर्णय न्यायाधिपति आर० एस० पाठक ने दिया।

न्यायाधिपति पाठक—

वादियों की यह अपील कलकत्ता उच्च न्यायालय के निर्णय और डिक्री के विरुद्ध विशेष इजाज़त लेकर फाइल की गई है। कलकत्ता उच्च न्यायालय ने बेदखली और किराए की बकाया का उनका वाद खारिज कर दिया था।

2. अपीलार्थी पश्चिमी बंगाल के बर्दवान जिले में मौज़ा मेमरी में स्थित मकान के मालिक हैं। प्रत्यर्थी 100 रुपए मासिक किराए पर उक्त सम्पत्ति के कुछ कमरों का किराएदार है। अपीलार्थियों ने एक वाद फाइल किया, जिसके फलस्वरूप वर्तमान अपील की गई है। वाद में उन्होंने यह दावा किया था कि प्रत्यर्थी पर किराया बकाया है, जो उसने मांगने पर भी नहीं दिया और यह कि वह आवास गिराए जाने के लिए चाहिए जिससे कि अपीलार्थी अपने कारबार के लिए अलग-अलग मकान बना सकें।

3. प्रत्यर्थी ने वाद का प्रतिरोध किया। उसने अभिकथन किया कि यह परिसर उसे शिशुबाला बिसायी नामक एक महिला ने किराए पर दिया था, कि अपीलार्थियों के पास सम्पत्ति का कोई हक नहीं है और उन्होंने उससे कुछ दस्तावेज कपटपूर्वक ले लिए थे, जिनके कारण यह लम्बित वाद उत्पन्न हुआ है। इस बात का भी प्रत्याख्यान किया गया कि ये परिसर पुराने हैं और गिराए जाने के लिए चाहिएं तथा यह कि प्रत्यर्थी पर किराया बाकी है। विचारण न्यायालय ने वाद डिक्री कर दिया। उसका निष्कर्ष था कि प्रत्यर्थी अपीलार्थियों का किराएदार है और अपीलार्थीगण कब्जे के लिए तथा बकाया किराया वसूल करने के लिए हकदार हैं। प्रथम अपील न्यायालय ने प्रत्यर्थी द्वारा फाइल की गई अपील खारिज कर दी। किन्तु उच्च न्यायालय ने 28 जनवरी, 1976 के अपने निर्णय और डिक्री द्वारा प्रत्यर्थी की दूसरी अपील

मंजूर कर ली। उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि वैस्ट बंगाल प्रेमिसेज़ टेनेन्सी ऐक्ट, 1956, चूंकि प्रथम अपील के लम्बित रहने के दौरान मेमरी तक विस्तारित है, इसलिए प्रथम अपील न्यायालय विधि के परिवर्तन को ध्यान में रखने के लिए और उसका फायदा किराएदार को देने के लिए तथा फलस्वरूप विचारण न्यायालय की डिक्री को अपास्त करने के लिए और वाद को खारिज करने के लिए आबद्ध था।

4. वैस्ट बंगाल प्रेमिसेज़ टेनेन्सी ऐक्ट, 1956 की धारा 13 की उपधारा (1), जिसका विस्तार प्रथम अपील के लम्बित रहने के दौरान मेमरी तक था, उपबन्ध करती है—

> *"किसी अन्य विधि में किसी प्रतिकूल बात के होते हुए भी किसी परिसर के कब्जे के प्रत्युद्धरण के लिए कोई आदेश या डिक्री किसी न्यायालय द्वारा किराएदार के विरुद्ध मकान-मालिक के पक्ष में एक या अधिक आधारों·· ···के सिवाए नहीं की जाएगी।"

और फिर उन विनिर्दिष्ट आधारों को अपनाने के लिए आबद्ध था, जिन पर एकमात्र मकान-मालिक अपने किराएदार को बेदखल करने के लिए हकदार था। उच्च न्यायालय के समक्ष इस बारे में काफी बहस की गई कि अधिनियम का फायदा प्रस्तुत मामले में प्रत्यर्थी को दिया जा सकता है या नहीं। अपीलार्थियों की दलील थी कि इसका सहारा ऐसे मामले में नहीं लिया जा सकता, जिसमें विचारण न्यायालय ने सम्पत्ति अंतरण अधिनियम के उपबंधों के अधीन वाद पहले ही डिक्री कर दिया है, जबकि प्रत्यर्थियों ने इस बात पर जोर दिया कि अपील अवश्यमेव परिवर्तित विधि के अनुसार चलनी चाहिए। हमारे समक्ष वही मुद्दा उठा है। आगामी बातों के आधार पर हमारा विचार है कि उच्च न्यायालय ने प्रत्यर्थी की दलील स्वीकार करके ठीक किया है। अतः यह अपील असफल होनी चाहिए।

5. वाद 12 जून, 1967 को फाइल किया गया था और विचारण न्यायालय ने 17 फरवरी, 1969 को इसे डिक्री किया था। प्रथम अपील के लम्बित रहते हुए पश्चिमी बंगाल सरकार ने वैस्ट बंगाल प्रेमिसेज टेनेन्सी ऐक्ट, 1956 का विस्तार मेमरी तक कर दिया, जिसमें यह सम्पत्ति स्थित है।

---

* अंग्रेजी में यह इस प्रकार है—

> "Notwithstanding anything to the contrary in any other law, no order or decree for the recovery of possession of any premises shall be made by any Court in favour of the landlord against a tenant except on one or more of the grounds........"

अधिनियम की धारा 13 बेदखली के विरुद्ध किराएदार को सीमित संरक्षण प्रदान करती है क्योंकि यह धारा 13 की उपधारा (1) में वर्णित सीमित आधारों के सिवाए कब्जे के प्रत्युद्धरण के लिए मकान-मालिक द्वारा फाइल किए गए वाद में न्यायालय को कोई आदेश या डिक्री पारित करने से निषिद्ध करती है। उपधारा (6) में उपबंधित है कि खण्ड (ञ) और (ट) में वर्णित आधारों के सिवाए उपधारा (1) में वर्णित किसी आधार पर कब्जे के प्रत्युद्धरण के लिए कोई वाद या कार्यवाही मकान-मालिक द्वारा तब तक फाइल नहीं की जा सकती "जब तक कि एक मास की सूचना किराएदार को न दे दी गई हो, जो कि राएदारी के मास के साथ-साथ अवसित होती हो"। इस बारे में कोई विवाद नहीं है कि खण्ड (ञ) और (ट) में वर्णित आधार प्रस्तुत मामले में लागू नहीं होते। उच्च न्यायालय का निष्कर्ष था कि प्रत्यर्थी पर अपीलार्थियों द्वारा तामील की गई बेदखली की सूचना एक मास से कम की सूचना थी। अतः धारा 13 की उपधारा (6) का पालन नहीं किया गया था। फलस्वरूप, यह अभिनिर्धारित किया गया कि वाद चलने योग्य नहीं है।

6. जैसा कि पहले कहा जा चुका है, अधिनियम की धारा 13 की उपधारा (1) में उपबंधित है कि किराएदार के विरुद्ध मकान-मालिक के वाद में किसी न्यायालय द्वारा कब्जे के प्रत्युद्धरण के लिए कोई आदेश या डिक्री कतिपत प्रगणित आधारों के सिवाए नहीं की जाएगी। क्या यहां डिक्री के प्रति निर्देश विचारण न्यायालय की डिक्री से है अथवा, जहां अपील फाइल की जा चुकी है, अपील डिक्री से है ? यह स्पष्ट है कि यह निर्देश उस डिक्री के प्रति आशयित है जो वाद का निपटारा अंतिम रूप से करती है। यह सुस्थिर है कि जब विचारण न्यायालय वाद डिक्री कर देता है और एक सक्षम अपील द्वारा डिक्री को चुनौती दी जाती है तो वह अपील वाद के क्रम में मानी जाती है और जब अपीली डिक्री गुणागुण के आधार पर उस डिक्री की पुष्टि कर देती है, उपान्तरित कर देती है या उसे उलट देती है, तो विधि की दृष्टि से यह कहा जाता है कि विचारण न्यायालय की डिक्री अपीली डिक्री में विलीन हो गई और तब अपील डिक्री प्रभावी होती है। धारा 13 की उपधारा (1) का उद्देश्य, उपधारा में विनिर्दिष्ट अपवादों के अधीन रहते हुए किराएदार के कब्जे की रक्षा करना है और वह संरक्षण तभी सुनिश्चित होता है जब हम इस उपधारा का अर्थ इस रूप में करें कि उन अपवादों के अधीन रहते हुए किराएदार के विरुद्ध मकान-मालिक के कब्जे के वाद में विचारण न्यायालय कोई कारगर या प्रभावी आदेश या डिक्री नहीं कर सकता। अतः हमारे मतानुसार किराएदार विचारण न्यायालय की डिक्री

के विरुद्ध फाइल की गई अपील के लम्बित रहते हुए अधिनियम की धारा 13 की उपधारा (1) का सहारा ले सकता है।

7. अगला मुद्दा यह है कि क्या धारा 13 की उपधारा (1) का तब सहारा लिया जा सकता है जब वाद अधिनियम के प्रवृत्त होने से पहले संस्थित कर दिया गया हो। प्रस्तुत मामले में वाद अधिनियम के मेसरी तक विस्तारित किए जाने से बहुत पहले संस्थित किया गया था। धारा 13 की उपधारा (1) न्यायालय को यह निदेश देती है कि कब्जे का कोई आदेश या डिक्री न की जाए, जोकि निस्संदेह कुछ कानूनी अपवादों के अधीन है। विधायी संदेश वस्तुतः न्यायालय को ऐसा आदेश या डिक्री करने की उसकी असीमित अधिकारिता से वंचित करता है। यह सच है कि जब वाद संस्थित किया गया था तो न्यायालय के पास ऐसी अधिकारिता थी और वह कब्जे की डिक्री पारित कर सकता था किन्तु जब अधिनियम प्रवृत्त किया गया तो उससे यह अधिकारिता छीन ली गई। यह उपधारा की भाषा से प्रचुर स्पष्ट हो जाता है। अतः उसके उद्देश्य को ध्यान में रखना होगा। **शाह भोजराज कुवरजी आयल मिल्स एण्ड गिन्निग फैक्टरी** बनाम **सुभाष चन्द्र योगराज सिन्हा**[1] वाले मामले में इस न्यायालय के पांच न्यायाधीशों के एक न्यायपीठ को बाम्बे रेंट्स होटल एण्ड लाजिंग हाउस रेट्स कंट्रोल ऐक्ट, 1947 की धारा 12 की उपधारा (1) पर विचार करने का अवसर मिला था। धारा 12 की उपधारा (1) में उपबंधित है कि—

> *"जब तक किराएदार ......मानक किराए की रकम संदत्त करता है या संदत्त करने के लिए तैयार और इच्छुक है, तब तक मकान-मालिक किसी परिसर के कब्जे के प्रत्युद्धरण के लिए हकदार नहीं होगा।"

इस प्रश्न के बारे में कि क्या कब्जे के लम्बित वाद के संबंध में यह उपबंध लागू होता है या नहीं, विद्वान् न्यायाधीशों ने उपधारा में विनिर्दिष्ट आधार पर वर्णित समय के मुद्दे की ओर ध्यान आकर्षित किया था। उनका कहना है कि यह उस समय लागू होता है "जब कब्जे के प्रत्युद्धरण की डिक्री पारित करनी होगी" और उन्होंने वाद संस्थित करने के प्रति निर्देश नहीं किया था।

---

* अंग्रेजी में यह इस प्रकार है—

> "A landlord shall not be entitled to the recovery of possession of any premises so long as the tenant pays, or is ready and willing to pay, the amount of the standard rent........"

---

[1] [1962] 2 एस० सी० आर० 159.

सर्वसम्मत निर्णय से न्यायाधीशों ने यह अभिनिर्धारित किया था कि यह उपधारा लम्बित वादों में लागू होती है। सरसरी तौर पर यह कहा जा सकता है कि न्यायाधीशों ने इस पर कुछ संकोच प्रकट किया कि क्या इस प्रकार का कोई कानूनी व्यादेश पहले से पारित की गई डिक्री के विरुद्ध अपीलों में भूतलक्षी रूप से लागू हो सकता है या नहीं। किन्तु जब **मुसम्मात रफीकुन्निसा बनाम लाल बहादुर चेत्री**[1] वाले मामले में पांच न्यायाधीशों के एक अन्य न्यायापीठ के, जिनमें न्या० जे०सी० शाह भी थे, जो पहले मामले के न्यायपीठ के भी सदस्य थे, असम नन-एग्रीकल्चरल अर्बन एरियाज टेनेन्सी ऐक्ट, 1955 की उपधारा (1) के खण्ड (क) के निर्वचन के बारे में जो किराएदार की बेदखली प्रतिषिद्ध करती थी, यह अभिनिर्धारित किया था कि अपीली प्रक्रम पर भी यह कानूनी उपबंध किराएदार की रक्षा करता है तो इस मुद्दे पर किसी भी प्रकार के संदेह के बारे में यह समझा जाना चाहिए कि उसे इस न्यायालय ने अन्तिम रूप से निवारित कर दिया था। विद्वान् न्यायाधीशों ने इस सिद्धांत का अवलम्ब लिया था कि अपील वाद के सातत्य में होती है और यह कि अपील के बारे में धारा 5 की उपधारा (1) और नवअधिनियमित खण्ड (क) लागू होगा भले ही विचारण न्यायालय की डिक्री पहले पारित कर दी गई हो।

8. अपील लम्बित रहने के दौरान विधिक परिवर्तन को ध्यान में रखना होगा और वह परिवर्तन पक्षकारों के अधिकारों के सम्बन्ध में लागू होगा। यह इस न्यायालय ने **राम सरूप बनाम मुन्शी और अन्य**[2] वाले मामले में अधिकथित किया था। **मूला और अन्य** बनाम **गोधू और अन्य**[3] वाले मामले में इस न्यायालय ने भी उपरोक्त मामले का अनुसरण किया था। हम यह उल्लेख करना चाहेंगे कि **दयावती और एक अन्य** बनाम **इन्द्रजीत और अन्य**[1] वाले मामले में इस न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया था—

> "यदि नई विधि की भाषा इस प्रकार की है, जिसके द्वारा अभिव्यक्त रूप से या स्पष्ट आशय द्वारा लम्बित मामले भी उसके अन्तर्गत आ जाते हैं, तो विचारण न्यायालय एवं अपील न्यायालय को भी इस प्रकार व्यक्त आशय को ध्यान में रखना होगा और प्रथम न्यायालय के निर्णय के बाद भी अपील न्यायालय ऐसी विधि को प्रभावी रूप दे सकता है।"

---

1 [1964] 6 एस० सी० आर० 876.

2 [1963] 3 एस० सी० आर० 858.

3 [1970] 3 उम० नि० प० 185=[1970] 2 एस० सी० आर० 129.

4 [1966] 3 एस० सी० आर० 275.

अमरजीत कौर बनाम **प्रीतम सिंह और अन्य**[1] वाले मामले में इस न्यायालय के विनिश्चय का भी हवाला दिया जा सकता है, जिसमें अपील के लम्बित रहते हुए विधिक परिवर्तन को प्रभावी रूप दिया गया था। उसमें **कृष्णम्मा चेरियर** बनाम **मंगम्माल**[2] में न्या० भाष्यम अयंगर द्वारा बहुत पहले प्रतिपादित सिद्धान्त का अवलम्ब लिया गया था कि अपील की सुनवाई इस देश की प्रक्रियात्मक विधि के अनुसार वाद की पुनः सुनवाई के रूप में होती है। **अमरजीत कौर**[1] वाले मामले में इस न्यायालय ने **लक्ष्मेश्वर प्रसाद शुक्ल** बनाम **केशवर लाल चौधरी**[3] वाले मामले का भी हवाला दिया था, जिसमें फैडरल न्यायालय ने यह अधिकथित किया था कि जब एक बार किसी न्यायालय द्वारा पारित डिक्री के विरुद्ध अपील फाइल कर दी गई हो तो वह मामला पुनः न्यायाधीन हो जाता है और तत्पश्चात् अपील न्यायालय सिवाए इस बात के कि कुछ प्रयोजनों के लिए उदाहरणार्थ, निष्पादन में डिक्री अन्तिम मानी जाती है और अधिकारिता निचले न्यायालय के पास रहती है सम्पूर्ण मामले को ग्रहण कर लेता है।

9. प्रकट है कि यह अपील सफल नहीं हो सकती।

10. अपील खर्चे सहित खारिज की जाती है।

अपील खारिज की गई।

कृ०

———

[1] [1975] 1 उम० नि० प० 30=(1975) 1 एस० सी० आर० 605.

[2] आई० एल० आर० (1902) 26 मद्रास 91 (एफ० बी०).
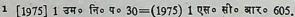
[3] (1940) एफ० सी० आर० 84.

भारत संघ और अन्य

वनाम

यूनाइटेड कोलियरीज़ लिमिटेड और अन्य

(3 दिसम्बर, 1984)

(न्यायाधिपति ओ० चिन्नप्पा रेड्डी, ए० पी० सेन और ई० एस० वेंकटरामय्या)

कोयला खान (राष्ट्रीयकरण) अधिनियम, 1973 (1973 का 26)—धारा 2(ज) —'खान' की परिभाषा में सम्मिलित आस्तियां—प्रत्यर्थी की खानों और अन्य आस्तियों का राष्ट्रीयकरण किए जाने के परिणामस्वरूप सरकार में निहित होना—राष्ट्रीयकरण के समय प्रत्यर्थी की स्टाफ कार का प्रयोग खानों से भिन्न प्रयोजनों के लिए किया जाना—मात्र इसलिए कि स्टाफ कार का प्रयोग अन्य क्रिया-कलापों के लिए किया जा रहा था, स्टाफ कार को प्रत्यर्थी की आस्तियों के वर्ग से बाहर नहीं करता क्योंकि विभिन्न प्रयोगों के लिए आस्तियों का पश्चात्वर्ती प्रयोग वस्तुतः मामले के लिए सुसंगत नहीं है—अतः स्टाफ कार धारा 2 (ज) (xii) में दी गई "खान" की परिभाषा के अन्तर्गत आती है और यह केन्द्र सरकार में निहित हो गई मानी जाएगी ।

प्रत्यर्थी एक कोयला खान के कारबार में लगी हुई कम्पनी है । कोयला खान (राष्ट्रीयकरण) अधिनियम, 1973 के अधीन इसका राष्ट्रीयकरण कर लिए जाने के कारण प्रत्यर्थी की खानें और खानों से सम्बन्धित सभी चल और अचल सम्पत्तियां/आस्तियां केन्द्र सरकार में निहित हो गई थीं । प्रत्यर्थी की एक स्टाफ कार भी थी किन्तु राष्ट्रीयकरण के समय वस्तुतः उस कार का प्रयोग प्रत्यर्थी की एक दूसरी सहयोगी कम्पनी (नार्थ चिरीमिरी कोलियरीज़) के तकनीकी सलाहकार द्वारा किया जा रहा था । इसलिए अन्य आस्तियों को केन्द्र सरकार को हस्तगत करते समय उक्त कार का हस्तान्तरण इस आधार पर नहीं किया गया था कि उक्त कार चूंकि प्रत्यर्थी की कोयला खानों सम्बन्ध में प्रयुक्त नहीं की जा रही थी और वह राष्ट्रीयकरण अधिनियम की धारा 2 (ज) में उल्लिखित "खान" की परिभाषा में नहीं आती थी और इसलिए उक्त कार ऐसी आस्ति नहीं थी जो केन्द्र सरकार में निहित हो गई हो ।

जब केन्द्रीय कोयला खान प्राधिकरण ने स्टाफ कार भी सरकार को सौंपे जाने की मांग की तो प्रत्यर्थी ने उच्च न्यायालय में रिट फाइल कर दिया। उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि यह प्रश्न कि क्या कार को भी खान के स्वामी की खान जैसी सम्पत्ति/आस्ति के भाग स्वरूप माना जाना चाहिए अथवा नहीं, कार के प्रयोग से सम्बन्धित तथ्यों का विवादास्पद प्रश्न उठाता है जिसका अवधारण साक्ष्य के आधार पर ही किया जाना होगा। यह मत अपनाने में उच्च न्यायालय ने पक्षकारों को सिविल वाद द्वारा अपने-अपने अधिकारों का न्यायनिर्णयन कराने के लिए छोड़ दिया।

मुम्बई उच्च न्यायालय की नागपुर खण्ड न्यायपीठ के 27 अक्तूबर, 1984 के इसी निर्णय और आदेश के विरुद्ध विशेष इजाजत से की गई इस अपील में यह प्रश्न उठता है कि क्या नार्थ चिरीमिरी कोलियरीज़, जिसके स्वामी प्रत्यर्थी संख्या 1—यूनाइटेड कोलियरीज़ लिमिटेड हैं, के तकनीकी सलाहकार की स्टाफ कार कोयला खान (राष्ट्रीयकरण) अधिनियम, 1973 की धारा 2 (ज) (xii) के अन्तर्गत परिभाषित "खान" पद के अन्तर्गत आती है अथवा नहीं और इस प्रकार से क्या यह केन्द्र सरकार को सभी विल्लंगमों से रहित होकर अन्तरित हो गई थी और सरकार में निहित हो गई थी अथवा नहीं। यूनाइटेड कोलियरीज़ लिमिटेड का राष्ट्रीयकरण कोयला खान (राष्ट्रीयकरण) अधिनियम, 1973 की धारा 3 की उप-धारा (1) के अधीन 1 मई, 1973 से कर दिया गया था। अपील मंजूर करते हुए,

अभिनिर्धारित—संसद् ने कोयला खान (राष्ट्रीयकरण) अधिनियम, 1973 की धारा 2 (ज) में "खान" की परिवर्धित परिभाषा के द्वारा उन सम्पत्तियों की प्रकृति उपदर्शित की है जो निहित की जाती हैं और यह प्रश्न कि क्या कोई आस्ति विशेष धारा 2 (ज) की व्याप्ति के अन्तर्गत आती है अथवा नहीं, इस बात पर निर्भर करती है कि यह इसमें दिए गए विवरण पर पूरी उतरती है अथवा नहीं। निःसन्देह प्रश्नगत स्टाफ कार नार्थ चिरीमिरी कोलियरीज़ की स्थिर आस्ति है और यह प्रत्यर्थी संख्या 1, उक्त खान के स्वामी अर्थात् यूनाइटेड कोलियरीज़ लिमिटेड की है क्योंकि यह तकनीकी सलाहकार की स्टाफ कार थी और इसलिए यह खान की एक स्थिर आस्ति है। सामान्य रूप से स्थिर आस्ति के अन्तर्गत वे आस्तियां हैं जो उन आस्तियों की तुलना में कारबार चलाने के प्रयोजन के लिए धारित की जाती हैं जिन आस्तियों को स्वत्वधारी नकद राशि में बदलने के प्रयोजन के लिए धारण करता है और इसके अन्तर्गत वास्तविक सम्पदा, भवन, मशीनरी आदि आते हैं। (पैरा 6)

यह देखा जा सकता है कि अधिनियम की धारा 2 (ज) (xi) और

(xii) में प्रयुक्त भाषा में अन्तर है। भूमियों और भवनों के सम्बन्ध में उप-धारा (xi) "यदि वे एकमात्र प्रबन्ध, विक्रय अथवा सम्पर्क कार्यालयों के अवस्थान के लिए अथवा खान के अधिकारियों और कर्मचारियों के निवास के प्रयोग में लाए जाते हैं" शब्दों का प्रयोग करती है, जबकि उप-खण्ड (xii) "खान के स्वामी की······चाहे वे जहां भी स्थित हो" शब्दों का प्रयोग करती है। "यदि वे एकमात्र······के लिए प्रयोग में लाए जाते हैं" अभिव्यक्ति में और "खान के स्वामी की" अभिव्यक्ति के बीच भाषा का अन्तर बिल्कुल स्पष्ट है। (पैरा 5)

अत: स्टाफ कार धारा 2 (ज) (xii) में दी गई "खान" की परिभाषा के अन्तर्गत आती है और यह कोयला खान (राष्ट्रीयकरण) अधिनियम, 1973 की धारा 3 की उप-धारा (1) के अधीन केन्द्र सरकार में निहित हो गई थी। मात्र इसलिए कि स्टाफ कार को थापर उद्योग समूह के विभिन्न क्रिया-कलापों के प्रयोग में भी लाया जा रहा था, सही विधिक स्थिति में अन्तर नहीं डाल सकता क्योंकि विभिन्न प्रयोजनों के लिए ऐसी आस्तियों का पश्चात्वर्ती प्रयोग वस्तुत: मामले के लिए सुसंगत नहीं है। (पैरा 6)

प्रभेदित निर्णय पैरा

[1981] [1981] 3 उम० नि० प० 415=(1980) 4 एस० सी० सी० 570 :
न्यू सतग्राम इंजीनियरिंग वर्क्स और एक अन्य बनाम भारत संघ और अन्य. 3, 4 और 5

सिविल अपीली (विशेष) अधिकारिता : 1984 की सिविल अपील संख्या 4512.

1973 की द्वितीय सिविल अपील संख्या 1021 में मुम्बई उच्च न्यायालय द्वारा 27 अक्तूबर, 1984 को पारित निर्णय और आदेश के विरुद्ध विशेष इजाज़त से की गई अपील।

अपीलार्थियों की ओर से सर्वश्री एम० एस० गुजराल, आर० एन० पोद्दार तथा दलबीर भंडारी।

प्रत्यर्थियों की ओर से सर्वश्री यू० आर० ललित, एन० एम० घटाटे और एस० वी० देशपाण्डे

न्यायालय का निर्णय न्यायाधिपति ए० पी० सेन ने दिया।

न्यायाधिपति सेन—

मुम्बई उच्च न्यायालय की नागपुर खण्ड न्यायपीठ के 27 अक्तूबर, 1984 के निर्णय और आदेश के विरुद्ध विशेष इजाज़त से की गई यह अपील

जब केन्द्रीय कोयला खान प्राधिकरण ने स्टाफ कार भी सरकार को सौंपे जाने की मांग की तो प्रत्यर्थी ने उच्च न्यायालय में रिट फाइल कर दिया। उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि यह प्रश्न कि क्या कार को भी खान के स्वामी की खान जैसी सम्पत्ति/आस्ति के भाग स्वरूप माना जाना चाहिए अथवा नहीं, कार के प्रयोग से सम्बन्धित तथ्यों का विवादास्पद प्रश्न उठाता है जिसका अवधारण साक्ष्य के आधार पर ही किया जाना होगा। यह मत अपनाने में उच्च न्यायालय ने पक्षकारों को सिविल वाद द्वारा अपने-अपने अधिकारों का न्यायनिर्णयन कराने के लिए छोड़ दिया।

मुम्बई उच्च न्यायालय की नागपुर खण्ड न्यायपीठ के 27 अक्तूबर, 1984 के इसी निर्णय और आदेश के विरुद्ध विशेष इजाजत से की गई इस अपील में यह प्रश्न उठता है कि क्या नार्थ चिरीमिरी कोलियरीज़, जिसके स्वामी प्रत्यर्थी संख्या 1—यूनाइटेड कोलियरीज़ लिमिटेड हैं, के तकनीकी सलाहकार की स्टाफ कार कोयला खान (राष्ट्रीयकरण) अधिनियम, 1973 की धारा 2 (ज) (xii) के अन्तर्गत परिभाषित "खान" पद के अन्तर्गत आती हैं अथवा नहीं और इस प्रकार से क्या यह केन्द्र सरकार को सभी विल्लंगमों से रहित होकर अन्तरित हो गई थी और सरकार में निहित हो गई थी अथवा नहीं। यूनाइटेड कोलियरीज़ लिमिटेड का राष्ट्रीयकरण कोयला खान (राष्ट्रीयकरण) अधिनियम, 1973 की धारा 3 की उप-धारा (1) के अधीन 1 मई, 1973 से कर दिया गया था। अपील मंजूर करते हुए,

अभिनिर्धारित—संसद् ने कोयला खान (राष्ट्रीयकरण) अधिनियम, 1973 की धारा 2 (ज) में "खान" की परिवर्धित परिभाषा के द्वारा उन सम्पत्तियों की प्रकृति उपदर्शित की है जो निहित की जाती हैं और यह प्रश्न कि क्या कोई आस्ति विशेष धारा 2 (ज) की व्याप्ति के अन्तर्गत आती है अथवा नहीं, इस बात पर निर्भर करती है कि यह इसमें दिए गए विवरण पर पूरी उतरती है अथवा नहीं। निःसन्देह प्रश्नगत स्टाफ कार नार्थ चिरीमिरी कोलियरीज़ की स्थिर आस्ति है और यह प्रत्यर्थी संख्या 1, उक्त खान के स्वामी अर्थात् यूनाइटेड कोलियरीज़ लिमिटेड की है क्योंकि यह तकनीकी, सलाहकार की स्टाफ कार थी और इसलिए यह खान की एक स्थिर आस्ति है। सामान्य रूप से स्थिर आस्ति के अन्तर्गत वे आस्तियां हैं जो उन आस्तियों की तुलना में कारबार चलाने के प्रयोजन के लिए धारित की जाती हैं जिन आस्तियों को स्वत्वधारी नकद राशि में बदलने के प्रयोजन के लिए धारण करता है और इसके अन्तर्गत वास्तविक सम्पदा, भवन, मशीनरी आदि आते हैं। (पैरा 6)

यह देखा जा सकता है कि अधिनियम की धारा 2 (ज) (xi) और

(xii) में प्रयुक्त भाषा में अन्तर है। भूमियों और भवनों के सम्बन्ध में उप-धारा (xii) "यदि वे एकमात्र प्रबन्ध, विक्रय अथवा सम्पर्क कार्यालयों के अवस्थान के लिए अथवा खान के अधिकारियों और कर्मचारियों के निवास के प्रयोग में लाए जाते हैं" शब्दों का प्रयोग करती है, जबकि उप-खण्ड (xii) "खान के स्वामी की······चाहे वे जहां भी स्थित हों" शब्दों का प्रयोग करती है। "यदि वे एकमात्र······के लिए प्रयोग में लाए जाते हैं" अभिव्यक्ति में और "खान के स्वामी की" अभिव्यक्ति के बीच भाषा का अन्तर बिल्कुल स्पष्ट है। (पैरा 5)

अत: स्टाफ कार धारा 2 (ज) (xii) में दी गई "खान" की परिभाषा के अन्तर्गत आती है और यह कोयला खान (राष्ट्रीयकरण) अधिनियम, 1973 की धारा 3 की उप-धारा (1) के अधीन केन्द्र सरकार में निहित हो गई थी। मात्र इसलिए कि स्टाफ कार को थापर उद्योग समूह के विभिन्न क्रिया-कलापों के प्रयोग में भी लाया जा रहा था, सही विधिक स्थिति में अन्तर नहीं डाल सकता क्योंकि विभिन्न प्रयोजनों के लिए ऐसी आस्तियों का पश्चात्वर्ती प्रयोग वस्तुत: मामले के लिए सुसंगत नहीं है। (पैरा 6)

प्रभेदित निर्णय पैरा

[1981] [1981] 3 उम० नि० प० 415=(1980) 4 एस० सी० सी० 570 :
न्यू सतग्राम इंजीनियरिंग वर्क्स और एक अन्य बनाम **भारत संघ और अन्य.** 3, 4 और 5

सिविल अपीली (विशेष) अधिकारिता : 1984 की सिविल अपील संख्या 4512.

1973 की द्वितीय सिविल अपील संख्या 1021 में मुम्बई उच्च न्यायालय द्वारा 27 अक्तूबर, 1984 को पारित निर्णय और आदेश के विरुद्ध विशेष इजाज़त से की गई अपील।

अपीलार्थियों की ओर से सर्वश्री एम० एस० गुजराल, आर० एन० पोद्दार तथा दलबीर भंडारी।

प्रत्यर्थियों की ओर से सर्वश्री यू० आर० ललित, एन० एम० घटाटे और एस० वी० देशपाण्डे

न्यायालय का निर्णय न्यायाधिपति ए० पी० सेन ने दिया।

न्यायाधिपति सेन—

मुम्बई उच्च न्यायालय की नागपुर खण्ड न्यायपीठ के 27 अक्तूबर, 1984 के निर्णय और आदेश के विरुद्ध विशेष इजाज़त से की गई यह अपील

यह प्रश्न उठाती है कि क्या नार्थ चिरीमिरी कोलियरीज़, जिसके स्वामी प्रत्यर्थी सं० 1—यूनाइटेड कोलियरीज़ लिमिटेड हैं, के तकनीकी सलाहकार की स्टाफ कार कोयला खान (राष्ट्रीयकरण) अधिनियम, 1973 की धारा 2 (ज) (xii) के अन्तर्गत परिभाषित "खान" पद के अन्तर्गत आती है अथवा नहीं और इस प्रकार से क्या यह केन्द्र सरकार को सभी विल्लंगमों से रहित होकर अंतरित हो गई थी और सरकार में निहित हो गई थी अथवा नहीं। यूनाइटेड कोलियरीज़ लिमिटेड का राष्ट्रीयकरण कोयला खान (राष्ट्रीयकरण) अधिनियम, 1973 की धारा 3 की उप-धारा (1) के अधीन 1 मई, 1973 से कर दिया गया था।

2. यह एक सामान्य आधार है कि एम्बेसडर कार संख्या एम० एच० एक्स 3771 मैसर्स करमचन्द थापर एण्ड ब्रदर्स (कोल सेल्स) लिमिटेड, दिल्ली द्वारा 1966 में खरीदी गई थी और यह कार प्रत्यर्थी संख्या 1, यूनाइटेड कोलियरीज़ लिमिटेड को अंतरित कर दी गई थी जो कि नार्थ चिरीमिरी कोलियरीज़ के स्वामी हैं और इसलिए प्रत्यर्थी संख्या 1 उक्त वाहन का मालिक था। नियत तारीख अर्थात् 1 मई, 1973 को और इस तारीख से अनुसूची में विनिर्दिष्ट कोयला खानों के सम्बन्ध में मालिकों के अधिकार, हक और हित अधिनियम की धारा 3 की उप-धारा (1) के अधीन केन्द्र सरकार में सभी विल्लंगमों से मुक्त होकर अंतरित हो गए थे और केन्द्र सरकार में अनन्य रूप से निहित हो गए थे। इस बारे में भी कोई विवाद नहीं है कि यह वाहन स्टाफ कार के रूप में प्रयोग किए जाने के लिए नार्थ चिरीमिरी कोलियरीज़ के तकनीकी सलाहकार श्री डी० डी० दिद्दी को सौंप दी गई थी। कोयला खानों के राष्ट्रीयकरण के तुरन्त पश्चात् कोयला खान प्राधिकरण लिमिटेड, नागपुर के उप महाअभिरक्षक ने पूर्वोक्त श्री डी० डी० दिद्दी को उक्त स्टाफ कार अभिरक्षक को सौंप देने की अपेक्षा करते हुए 9 मई, 1973 को एक पत्र लिखा। 25 मई, 1973 के अपने उत्तर में उन्होंने यह प्राख्यान किया कि यद्यपि उक्त कार (वाहन) प्रत्यर्थी संख्या 1 की थी और यह उसे स्टाफ कार के रूप में प्रयोग करने के लिए आवंटित की गई थी फिर भी यह अनन्य रूप से नार्थ चिरीमिरी कोलियरीज़ के लिए ही प्रयोग नहीं की जा रही थी अपितु वह इसका प्रयोग थापर उद्योग समूह के विभिन्न क्रिया-कलापों की देखभाल के लिए भी कर रहा था और यह समूह कोयला खान से भिन्न अन्य कारबार वाला समेकित समुत्थान है। हमें पक्षकारों के बीच हुए लम्बे पत्रव्यवहार के प्रति निर्देश करने की कोई आवश्यकता नहीं।

3. अन्ततः कोयला खान प्राधिकरण लिमिटेड, नागपुर, पश्चिमी प्रभाग के प्रबन्ध निदेशक ने प्रत्यर्थी संख्या 1 तथा तत्कालीन तकनीकी

सलाहकार को यह उल्लेख करते हुए 9 अगस्त, 1973 को पत्र लिखा कि अधिनियम के प्रवृत्त हो जाने पर नार्थ चिरीमिरी कोलियरीज़ के अधिकार, हक और हित अधिनियम की धारा 3 की उप-धारा (1) के अधीन केन्द्र सरकार में निहित हो गए हैं और इसलिए प्रश्नगत कार जो कि खान की एक आस्ति है, केन्द्र सरकार में निहित हो गई है। इसमें यह और कहा गया था कि यदि वे कार का कब्जा नहीं देते हैं तो वे अधिनियम के अधीन अभियोजन के लिए दायी होंगे। तत्पश्चात् प्रत्यर्थी सं० 1, यूनाइटेड कोलियरीज़ लिमिटेड ने जो कि कोयला खान के स्वामी हैं, और पूर्वोक्त श्री डी० डी० दिट्टी ने, जो कि नार्थ चिरीमिरी कोलियरीज़ के तत्कालीन तकनीकी सलाहकार थे, संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन उच्च न्यायालय की नागपुर न्यायपीठ के समक्ष एक पिटीशन फाइल किया। उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि यह प्रश्न कि क्या कार को भी खान के स्वामी की खान जैसी सम्पत्ति/आस्ति के भाग स्वरूप माना जाना चाहिए अथवा नहीं, कार के प्रयोग से सम्बन्धित तथ्यों का विवादास्पद प्रश्न उठता है जिसका अवधारण साक्ष्य के आधार पर ही किया जाना होगा। यह मत अपनाने में उच्च न्यायालय ने **न्यू सतग्राम इंजीनियरिंग वर्क्स और एक अन्य बनाम भारत संघ और अन्य**[1] में इस न्यायालय के विनिश्चय का अवलम्ब लिया और पक्षकारों को सिविल वाद द्वारा अपने-अपने अधिकारों का न्याय-निर्णयन कराने के लिए छोड़ दिया। तदनुसार उच्च न्यायालय ने सिविल वाद फाइल करके अपने दावे को सिद्ध करने के लिए प्रत्यर्थी संख्या 1 को निदेश देते हुए आदेश प्रभावोन्मुक्त कर दिया और साथ में यह निदेश दिया कि वाद फाइल किए जाने की दशा में सिविल न्यायालय इस बात को ध्यान में रखते हुए कि कोयला खान प्राधिकरण को तीन वर्ष तक के लिए स्टाफ कार से वंचित रखा गया है, पर्याप्त प्रतिभूति पेश करने की शर्त पर अंतरिम अनुतोष मंजूर करने के लिए समुचित आदेश पारित करने की बात पर विचार करेगा।

4. हमें खेद है कि उच्च न्यायालय का निर्णय कायम नहीं रखा जा सकता। इसमें इस बात को ध्यान में नहीं रखा गया है कि इस प्रश्न पर विचार करने में क्या स्टाफ कार धारा 2(ज)(xii) में "खान" शब्द की परिभाषा के अन्तर्गत आती थी अथवा नहीं, कार के प्रयोग की प्रकृति सारवान् बात नहीं थी। निःसन्देह स्टाफ कार प्रत्यर्थी संख्या 1, यूनाइटेड कोलियरीज़ लिमिटेड जो कि खान के मालिक हैं, की स्टाफ कार थी और चूंकि यह नार्थ चिरीमिरी कोलियरीज़ के तकनीकी सलाहकार की स्टाफ कार थी, इसलिए यह खान की एक आस्ति थी। अतः उच्च न्यायालय को अपीलार्थियों

---

[1] [1981] 3 उम० नि० प० 415=(1980) 4 एस० सी० सां० 570.

के पक्ष में प्रश्न का उत्तर देना चाहिए था और रिट पिटीशन को गुणागुण के आधार पर खारिज कर देना चाहिए था। निःसन्देह इसने ऐसा गलत ही सोचा कि यह मामला **न्यू सतग्राम इंजीनियरिंग वर्क्स के मामले**[1] में इस न्यायालय के विनिश्चय के अन्तर्गत आता है जहां कि यह मत व्यक्त किया गया था कि जहां इस बारे में विवाद हो कि कोई सम्पत्ति/आस्ति विशेष अधिनियम की धारा 3 की उप-धारा (1) के आधीन केन्द्र सरकार में निहित है अथवा नहीं, वहां ऐसा विवाद निःसन्देह एक सिविल विवाद होता है और इसलिए इसका अवधारण वाद द्वारा किया जाना चाहिए। **न्यू सतग्राम इंजीनियरिंग वर्क्स के मामले**[1] में न्यायालय द्वारा धारा 2(ज)(xi) के संदर्भ में यह मत व्यक्त किए गए थे।

5. अधिनियम की धारा 2(ज) में 'खान' की परिभाषा, उसके सिवाए जो सारवान् नहीं है, निम्नलिखित रूप में दी गई है—

"2. **परिभाषाएं**—इस अधिनियम में, जब तक कि संदर्भ से अन्यथा अपेक्षित न हो,—

* * * *

(ज) "खान' से कोई ऐसा उत्खात अभिप्रेत है, जहां खनिजों की तलाश या अभिप्राप्ति के प्रयोजन के लिए कोई संक्रिया चलाई जाती रही है या चलाई जा रही है, और निम्नलिखित इसके अन्तर्गत आते हैं, अर्थात्—

* * * *

(vi) खान में के या उसके पार्श्वस्थ, और खान के प्रयोजनों के लिए प्रयुक्त सब भूमि, भवन, संकर्म, एडिट, समतलिकाएं, समपथ, मशीनरी और उपस्कर, उपकरण, भंडार, यान, रेलें, ट्रामवे और साइडिंग;

* * * *

(xi) उपखंड (x) में निर्दिष्ट से भिन्न सब भूमि और भवन चाहे वे जहां भी स्थित हों, यदि वे एकमात्र खान के प्रबंध, विक्रय या सम्पर्क कार्यालयों के अवस्थान के लिए, अथवा खान के अधिकारियों और कर्मचारिवृन्द के निवास के लिए प्रयोग में लाए जाते हैं;

(xii) किसी खान के स्वामी की सब अन्य जंगम या स्थावर, स्थिर आस्तियां, चाहे जहां भी स्थित हों,

---

[1] [1981] 3 उम० नि० प० 415=(1980) 4 एस० सी० सी० 570.

तथा खान की चालू आस्तियां, चाहे वे उसके परिसर के भीतर हों या बाहर......।"

यह देखा जा सकता है कि धारा 2(ज) (xi) और (xii) में प्रयुक्त भाषा में अन्तर है। भूमियों और भवनों के संबंध में उप-धारा (xi) "यदि वे एकमात्र प्रबंध, विक्रय अथवा सम्पर्क कार्यालयों के अवस्थान के लिए अथवा खान के अधिकारियों और कर्मचारियों के निवास के लिए प्रयोग में लाए जाते हैं" शब्दों का प्रयोग करती है, जबकि उप-खण्ड (xii) "खान के स्वामी की......चाहे वे जहां भी स्थित हों" शब्दों का प्रयोग करती है। "यदि वे एकमात्र............के लिए प्रयोग में लाए जाते हैं" अभिव्यक्ति में और "खान के स्वामी की" अभिव्यक्ति के बीच भाषा का अन्तर बिल्कुल स्पष्ट है। **न्यू सतग्राम इंजीनियरिंग वर्क्स के मामले**[1] में इस न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया था कि अतः यह दलील देना सम्भव था कि कोयला खान से अनुलग्न भूमियां और भवन, यदि वे कोयला खान के प्रयोजन के लिए अनन्यतः प्रयोग में नहीं लाई जाती हैं तो ये धारा 2(ज) में "खान" की परिभाषा के अन्तर्गत नहीं आएंगे अर्थात् यह बात प्रयोग की प्रकृति पर निर्भर करेगी, और यह कि महत्वपूर्ण तारीख, निहित होने की तारीख है। न्यायालय ने इससे आगे यह भी कहा कि इन दो अभिव्यक्तियों में यह भेद यद्यपि ऊपरी है किन्तु किसी मामले विशेष के तथ्यों और परिस्थितियों में यह वास्तविक भी हो सकता है। कोयला खान के प्रयोजन के लिए आरम्भतः विनिर्मित कर्मशाला या भवन अन्य प्रयोजनों के लिए प्रयोग में आने के कारण मात्र से स्वतः ही ऐसे नहीं कहे जा सकते कि वे खान के प्रयोजन के लिए नहीं थे। तत्व की यह बात है कि क्या कर्मशाला या भवन आरम्भतः कोयला खान के अभिन्न अंग थे अथवा नहीं। न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि इनका पश्चात्वर्ती प्रयोग बहुत सारवान् बात नहीं है। उच्च न्यायालय ने स्पष्ट रूप से पक्षकारों को यह निर्देश देने में गलती की है कि वे इस मामले को सिविल वाद द्वारा तय कराएं।

6. संसद् ने अधिनियम की धारा 2(ज) में "खान" की परिवर्धित परिभाषा के द्वारा उन सम्पत्तियों की प्रकृति उपदर्शित की है जो निहित की जाती हैं और यह प्रश्न कि क्या कोई आस्ति विशेष धारा 2(ज) की व्याप्ति के अन्तर्गत आती है अथवा नहीं, इस बात पर निर्भर करती है कि यह इसमें दिए गए विवरण पर पूरी उतरती है अथवा नहीं। निःसन्देह प्रश्नगत स्टाफ कार नार्थ चिरीमिरी कोलियरीज़ की स्थिर आस्ति है और यह प्रत्यर्थी संख्या 1, उक्त खान के स्वामी अर्थात् यूनाइटेड कोलियरीज़ लिमिटेड की है क्योंकि

[1] [1981] 3 उम० नि० प० 415=(1980) 4 एस० सी० सी० 570.

यह तकनीकी सलाहकार की स्टाफ कार थी और इसीलिए यह खान की एक स्थिर आस्ति है। सही तौर पर ही यह सुझाव नहीं दिया गया है कि स्टाफ कार एक स्थिर आस्ति नहीं है। सामान्य रूप से स्थिर आस्ति के अन्तर्गत वे आस्तियां हैं जो उन आस्तियों की तुलना में कारबार चलाने के प्रयोजन के लिए धारित की जाती हैं जिन आस्तियों को स्वत्वधारी नकद राशि में बदलने के प्रयोजन के लिए धारण करता है और इसके अन्तर्गत वास्तविक संपदा, भवन, मशीनरी आदि आते है; "वर्ड्स एण्ड फ्रेजिस" स्थायी संस्करण, जिल्द 17, पृष्ठ 161; "ब्लैक्स लॉ डिक्शनरी", पांचवां संस्करण, पृष्ठ 573; "स्ट्राउड्स जुडीशियल डिक्शनरी", चौथा संस्करण, जिल्द 1, पृष्ठ 201। अतः स्टाफ कार धारा 2(ज)(xii) में दी गई "खान" की परिभाषा के अन्तर्गत आती है और यह कोयला खान (राष्ट्रीयकरण) अधिनियम, 1973 की धारा 3 की उप-धारा (1) के अधीन केन्द्र सरकार में निहित हो गई थी। मात्र इसलिए कि तकनीकी सलाहकार स्टाफ कार को अपने व्यक्ति प्रयोग में या थापर उद्योग समूह के विभिन्न क्रिया-कलापों के प्रयोग में ला रहा था, सही विधिक स्थिति में अन्तर नहीं डाल सकता, क्योंकि विभिन्न प्रयोजनों के लिए ऐसी आस्तियों का पश्चात्वर्ती प्रयोग वस्तुतः मामले के लिए सुसंगत नहीं है।

7. अतः इन कारणों से यह अपील सफल होनी चाहिए और खर्च सहित मंजूर की जाती है। उच्च न्यायालय द्वारा 27 अक्तूबर, 1980 को पारित आदेश, जिसमें पक्षकारों को सिविल वाद फाइल करने के लिए अनुदेश दिया गया था, अपास्त किया जाता है और प्रत्यर्थियों द्वारा फाइल किया गया रिट पिटीशन खारिज किया जाता है।

अपील मंजूर की गई।

श०

———

पश्चिमी बंगाल राज्य

बनाम

सुधीर डे और एक अन्य

(4 दिसम्बर, 1984)

(न्यायाधिपति पी० एन० भगवती, अमरेन्द्र नाथ सेन और रंगनाथ मिश्र)

दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 (1974 का 2)—धारा 436 और 116 (सपठित संविधान का अनुच्छेद 136)—जमानत के मामलों में विशेष इजाजत और इत्तिला की सच्चाई के बारे में जांच—उच्च न्यायालय द्वारा प्रत्यर्थियों को जमानत पर छोड़ा जाना—इस सम्बन्ध में उच्च न्यायालय द्वारा एक विशेष अधिकारी की नियुक्ति की जाना कि वह जमानत सम्बन्धी पिटीशन में लगाए गए अभिकथनों की सत्यता की जांच करे—इस प्रकार के जमानत सम्बन्धी मामले में विशेष इजाजत के लिए याचना साधारणतः ग्रहण नहीं की जाएगी।

इस मामले में प्रत्यर्थियों को उच्च न्यायालय द्वारा जमानत प्रदान की गई थी और यह निदेश दिया गया था कि यदि इस प्रकार के अभिकथन पश्चिमी बंगाल पुलिस के जिम्मेदार अधिकारियों के विरुद्ध किए जाते हैं, तो इससे सम्पूर्ण पुलिस की आकृति को धब्बा लगेगा। इन परिस्थितियों के अधीन पिटीशनरों को यह निदेश दिया गया कि वे उपाबन्धों सहित पिटीशन की एक प्रति उप-महानिरीक्षक, केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो को प्रस्तुत करेंगे जो कि उच्च न्यायालय के विशेष अधिकारी के रूप में कार्य करेगा और इस पिटीशन तथा उस के उपाबन्धों में जो अभिकथन किया गया है, उसकी जांच करेगा एवं इनमें अन्तर्विष्ट अभिकथन के सम्बन्ध में उसके सही होने के बारे में उच्च न्यायालय को रिपोर्ट पेश करेगा। यह रिपोर्ट आदेशानुसार प्रस्तुत कर दी गई और विशेष अधिकारी का निष्कर्ष यह था कि प्रत्यर्थियों के अभिकथनों में से कुछ अभिकथन सही हैं। इस पर पश्चिमी बंगाल राज्य ने मुख्य रूप से विशेष अधिकारी की नियुक्ति के सम्बन्ध में निदेश द्वारा व्यथित महसूस करते हुए प्रस्तुत पिटीशन फाइल किया। पिटीशन खारिज करते हुए,

अभिनिर्धारित—वस्तुतः, इस प्रकार के जमानत सम्बन्धी मामले में विशेष इजाज़त के लिए याचना साधारणतः ग्रहण नहीं की जाती है। तथापि, यहां आक्षेप निदेश के अन्य भाग के विषय में किया गया है, जिसका सम्बन्ध विशेष अधिकारी द्वारा जांच से है। (पैरा 2)

इस मामले द्वारा यह अपेक्षित नहीं है कि इजाज़त मंजूर की जाए क्योंकि विधि सम्बन्धी प्रश्न को 1983 की दाण्डिक अपील सं० 570 के निर्णय में पहले ही तय कर दिया गया है (4-12-84 को ही विनिश्चित) और विशेष इजाजत मंजूर करके तथ्य सम्बन्धी पहलुओं का पुनर्विलोकन करना अपेक्षित नहीं है। (पैरा 5)

दाण्डिक अपीली अधिकारिता : अपील हेतु विशेष इजाज़त के लिए 1983 का पिटीशन (दाण्डिक) सं० **1454.**

1983 के दाण्डिक प्रकीर्ण मामला सं० शून्य में दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 439 के अधीन कलकत्ता उच्च न्यायालय के तारीख 20 जून, 1983 वाले निर्णय और आदेश के विरुद्ध पिटीशन।

पिटीशनर की ओर से सर्वश्री सोमनाथ चटर्जी, एच०के० पुरी, एस० घोष और वी० के० बहल

भारत संघ की ओर से सर्वश्री के०जी०भगत, अपर सालिसिटर जनरल और आर० एन० पोद्दार तथा कुमारी हलीदा खातून

प्रत्यर्थी की ओर से सर्वश्री ए० के० सेन, शिव दास बनर्जी और श्री नारायण

न्यायालय का निर्णय न्यायाधिपति रंगनाथ मिश्र ने दिया।

न्यायाधिपति रंगनाथ मिश्र :

संविधान के अनुच्छेद 136 के अधीन विशेष इजाजत लेकर यह आवेदन तारीख 20 जून, 1983 वाले कलकत्ता उच्च न्यायालय की खण्ड न्यायपीठ के उस आदेश के विरुद्ध फाइल किया गया है, जिसमें कि प्रत्यर्थियों को जमानत प्रदान की गई है और निम्नलिखित निदेश दिया गया है—

> "निःसन्देह, यदि इस प्रकार के अभिकथन पश्चिमी बंगाल पुलिस के जिम्मेदार अधिकारियों के खिलाफ किए जाते हैं, तो इससे सम्पूर्ण पुलिस की आकृति को धब्बा लगेगा। इन परिस्थितियों के अधीन हम पिटीशनरों को यह निदेश देते हैं कि वे उपाबन्धों सहित पिटीशन की एक प्रति उप-महानिरीक्षक केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो, 13, लिंडसे स्ट्रीट, कलकत्ता को प्रस्तुत कर दें, जो कि इस न्यायालय के विशेष अधिकारी के रूप में कार्य करेगा और इस पिटीशन तथा उसके उपाबन्धों में जो अभिकथन किया गया है, उसकी जांच करेगा तथा उनमें अन्तर्विष्ट अभिकथन के सम्बन्ध में उसके सही होने के बारे में इस न्यायालय को रिपोर्ट प्रस्तुत करेगा। यह रिपोर्ट, निश्चित रूप से, 27 जून, 1983 तक प्रस्तुत कर दी जानी चाहिए।

इसी बीच हम पिटीशनरों को यह निदेश देते हैं कि उनके द्वारा 250 रुपए प्रति व्यक्ति का पेरोल पर छोड़े जाने का बन्धपत्र निष्पादित करके उन्हें तुरन्त निर्मुक्त कर दिया जाए।"

2. जहां तक प्रत्यर्थियों के जमानत पर छोड़े जाने के प्रश्न का संबंध है, पिटीशनर के काउन्सेल ने इस पर आक्षेप करने की ईप्सा नहीं की है। वस्तुतः इस प्रकार के जमानत सम्बन्धी मामले में विशेष इजाजत के लिए याचना साधारणतः इस न्यायालय में ग्रहण नहीं की जाती है। तथापि यहां आक्षेप निदेश के अन्य भाग के विषय में किया गया है, जिसका सम्बन्ध विशेष अधिकारी द्वारा जांच से है।

3. इस मामले में उच्च न्यायालय द्वारा नियुक्त विशेष अधिकारी ने तथ्यतः जांच पूरी कर ली है और अपनी रिपोर्ट भेज दी है जो कि हमारे निदेश के अधीन यहां लाई गई है और हमें उसका परिशीलन करने का अवसर प्राप्त हुआ है। विशेष अधिकारी इस निष्कर्ष पर पहुंचा है कि प्रत्यर्थियों के अभिकथनों में से कुछ अभिकथन सही हैं।

4. हमने दाण्डिक अपील सं० 570/83 में आज ही सुनाए गए पृथक निर्णय द्वारा उस जांच पर विचार किया है जो कि तीर्थंकर दास शर्मा और संजीव चटर्जी नामक दो युवकों की मृत्यु से सम्बन्धित है। प्रत्यर्थी सं० 1, जो कि एक सेवानिवृत्त पुलिस उपनिरीक्षक था, 'द सीक्रेट आइ' नामक एक प्राइवेट जासूसी अभिकरण द्वारा अन्वेषण अधिकारी के रूप में नियुक्त था। प्रत्यर्थी सं० 2 आनन्द बाजार पत्रिका की, जो कि कलकत्ता से प्रकाशित बंगला का एक प्रमुख समाचारपत्र है, मोटर कार का चालक है; उक्त पत्रिका ने पूर्वोक्त जासूसी अभिकरण को उपर्युक्त दोनों युवकों की मृत्यु के अन्वेषण के के प्रयोजनार्थ नियुक्त किया था। इन दोनों युवकों की मृत्यु के बारे में पुलिस द्वारा अन्वेषण के एक प्रारम्भिक प्रक्रम पर, निरंजन घोष, सहायक पुलिस उपनिरीक्षक, सामान्य रिजर्व पुलिस, बंडेल सम्बन्धित रहा था। उस मामले के अन्वेषण में कतिपय त्रुटियों के कारण निरंजन घोष को सेवा से निलम्बित कर दिया गया था। उस प्रक्रम पर निरंजन घोष तथा प्रत्यर्थी सं० 1 में जानपहचान हो गई थी और प्रत्यर्थी सं० 1 ने यह वचन दिया था कि वह निरंजन घोष के निलम्बित किए जाने के खिलाफ अभ्यावेदन तैयार करने में उसकी सहायता करेगा। तत्पश्चात्, इन दोनों में कुछ मुठभेड़ हो गई जिसके परिणामस्वरूप दाण्डिक कार्यवाही संस्थित की गई जिसमें कि प्रत्यर्थियों के लिए जमानत ग्रहण करना आवश्यक हो गया।

5. पश्चिमी बंगाल राज्य ने मुख्य रूप से विशेष अधिकारी की

नियुक्ति हेतु निदेश द्वारा व्यथित महसूस करते हुए यह आवेदन फाइल किया है। दाण्डिक अपील में हमारे निर्णय द्वारा, जिसके प्रति हमने ऊपर निर्देश किया है, विधिक पहलुओं को उपदर्शित किया गया है और इस प्रकार के मामले को लागू किए जाने वाले सिद्धान्त का भी कथन किया गया है। हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि स्वयं दाण्डिक मामला इस बीच में कलकत्ता उच्च न्यायालय द्वारा अभिखण्डित कर दिया गया है। इन सभी पहलुओं को और विशेष रूप से इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कि विशेष अधिकारी ने एक ऐसी रिपोर्ट प्रस्तुत की थी जो यह उपदर्शित करती है कि अभिकथनों का मुख्य ताना-बाना सही था, हमारी प्रवृत्ति इजाजत प्रदान करने की नहीं है। इस मामले द्वारा यह अपेक्षित नहीं है कि इजाजत मंजूर की जाए क्योंकि विधि सम्बन्धी प्रश्न को दाण्डिक अपील के निर्णय में हमने पहले ही तय कर दिया है और जहां तक तथ्य सम्बन्धी पहलुओं का सम्बन्ध है विशेष इजाज़त मंजूर करके उनका पुनर्विलोकन करना अपेक्षित नहीं है। तदनुसार, विशेष इजाज़त मंजूर किए जाने के लिए आवेदन खारिज किया जाता है।

भू०

पिटीशन खारिज किया गया।

———

आयकर आयुक्त, आन्ध्र प्रदेश

बनाम

एम० चन्द्र शेखर

(4 दिसम्बर, 1984)

(न्यायाधिपति वी० डी० तुलजापुरकर और आर० एस० पाठक)

आयकर अधिनियम, 1961 (1961 का 43)—धारा 139(1) 256(1) और 271 (1) (क)—विवरणियां फाइल करने में समय बढ़ाना—आयकर विवरणियां फाइल करने में हुए विलम्ब के कारण आयकर अधिकारी द्वारा निर्धारिती को व्यतिक्रमी मानकर उस पर शास्ति अधिरोपित किया जाना और निर्धारिती द्वारा उसे समय बढ़ाये जाने के आधार पर चुनौती दी जानी—आयकर अधिकारी निर्धारिती द्वारा बतलाए गए आधारों पर तथा स्वयं का समाधान हो जाने पर स्वेच्छया विवरणी फाइल करने के लिए समय में वृद्धि कर देने पर कोई भी आस्ति उद्गृहीत नहीं कर सकता क्योंकि अतिरिक्त कालावधि 'अनुज्ञात समय' होता है और उसके लिए शास्ति विषयक उपबन्ध बिल्कुल भी लागू नहीं होता।

प्रत्यर्थी-निर्धारिती फर्म मैसर्स माणिक राव एण्ड ब्रदर्स में भागीदार था। उसने तारीख 2 अगस्त, 1963 को निर्धारण वर्ष 1959-60, 1960-61, 1961-62 और 1962-63 के लिए स्वेच्छया विवरणियां फाइल कीं। निर्धारण वर्ष 1963-64 के लिए विवरणी तारीख 2 अगस्त, 1964 को फाइल की गई। विवरणियां फाइल करने में विलम्ब के कारण आयकर अधिकारी ने निर्धारिती को व्यतिक्रमी माना और उस पर आयकर अधिनियम 1961 की धारा 271 की उपधारा (1) के खण्ड (क) के अधीन शास्तियां अधिरोपित कीं। निर्धारिती ने सहायक आयकर आयुक्त (अपील) के समक्ष अपील में यह दलील दी कि चूंकि विवरणियां सुसंगत निर्धारण वर्ष अर्थात् अधिनियम की धारा 139 उपधारा (4) द्वारा विहित कालविधि की समाप्ति के बाद चार वर्ष पूरे होने से पहले फाइल की गई थीं, इसलिए वह किसी भी शास्ति का दायी नहीं है। किन्तु सहायक आयुक्त (अपील) ने निर्धारिती की अपील नामन्जूर कर दी। आयकर अपील अधिकरण और उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि मामले की परिस्थितियों को देखते हुए कोई भी शास्ति उद्ग्रहणीय नहीं

है। इस पर उच्चतम न्यायालय में अपील की गई। यह अपील विधि के दो प्रश्नों से सम्बन्धित है, अर्थात् (1) क्या मामले के तथ्यों और परिस्थितियों के अनुसार अपील अधिकरण का यह निष्कर्ष निकालना न्यायोचित था कि ब्याज का प्रभारित करना यह उपदर्शित करता है कि आयकर अधिकारी का यह समाधान हो गया था कि आयकर विवरणी फाइल करने में विलम्ब के लिए पर्याप्त कारण था, और (2) क्या मामले के तथ्यों और परिस्थितियों के अनुसार अधिकरण का धारा 271(1)(क) के अधीन उद्गृहीत शास्तियां रद्द करना न्यायोचित था ? अपील खारिज करते हुए,

अभिनिर्धारित—आयकर अधिनियम, 1961 की धारा 139 की उपधारा (1), उपधारा (2) और उपधारा (4) के अधीन आने वाले मामलों में आयकर अधिकारी विवरणी फाइल करने का समय देने के लिए सशक्त था और ऐसा समय दे दिए जाने पर निर्धारिती ब्याज का संदाय करने का दायी होगा। निर्धारिती ने वस्तुतः धारा 139 के खण्ड (1) के अधीन ब्याज के उद्ग्रहण और धारा 271 की उपधारा (1) के खण्ड (क) के अधीन शास्ति के उद्ग्रहण के दोनों प्रयोजनों के लिए विवरणियां फाइल करने में हुए विलम्ब के लिए अपनी ओर से कारण बताए थे। चूंकि आयकर अधिकारी ने विवरणियां फाइल करने की तारीख तक ब्याज उद्गृहीत कर दिया था, इसलिए यह उपधारणा अवश्य ही की जानी चाहिए कि आयकर अधिकारी ने स्वयं का इस बारे में समाधान करने के पश्चात् विवरणियां फाइल करने के समय में वृद्धि की थी कि वह समय में वृद्धि करने का मामला था। उपधारणा मुख्यतः इस बात पर आधारित थी कि न्यायिक या न्यायिककल्प कर्तव्यों से न्यस्त अधिकारी की बाबत यह उपधारणा करनी चाहिए उसने उचित और सद्भाविक रीति से अपने कर्तव्यों का निर्वहन किया है। (पैरा 2)

अपील अधिकरण का इस उपधारणा का अवलम्ब लेना न्यायोचित था कि शासकीय कृत्य नियमित रूप से किए गए हैं और इसलिए यह कि यह उपधारणा अवश्य ही की जानी चाहिए कि आयकर अधिकारी ने निर्धारिती द्वारा बतलाए गए आधारों पर समय में वृद्धि की थी क्योंकि अन्यथा आयकर अधिकारी ब्याज प्रभारित नहीं कर सकता था। इन परिस्थितियों में कोई भी शास्ति उद्ग्रहणीय नहीं थी। (पैरा 3)

स्वेच्छया विवरणी के मामले में धारा 139 की उपधारा (1) वह कालावधि विहित करती है जिसके भीतर ऐसी विवरणियां अवश्य ही फाइल की जानी चाहिएं। जहां विहित कालावधि के भीतर कोई विवरणी फाइल न की जा सकती हो, वहां निर्धारिती विवरणी पेश करने की तारीख बढ़ाने के लिए आयकर अधिकारी को आवेदन करने का हकदार है। आयकर अधि-

कारी अपने विवेकानुसार तारीख बढ़ाने के लिए सशक्त है। धारा 139 की उपधारा (1) के परन्तुक के खण्ड (i) के अन्तर्गत आने वाले मामले में कालावधि कोई व्याज प्रभारित किए बिना निर्धारण वर्ष के 30 सितम्बर तक बढ़ाई जा सकती है तथा परन्तुक के खण्ड (ii) के अन्तर्गत आने वाले मामले में कालावधि कोई भी व्याज प्रभारित किए बिना इसी प्रकार निर्धारण वर्ष के 31 दिसम्बर तक बढ़ाई जा सकती है। किन्तु जहां कालावधि खण्ड (i) और (ii) में उल्लिखित तारीखों से परे बढ़ाई जाती है, वहां खण्ड (iii) के अधीन निर्धारिती यथास्थिति निर्धारण वर्ष के 1 अक्तूबर या 1 जनवरी तक अर्थात्, विवरणी पेश करने की तारीख तक, संदत्त अग्रिम कर और स्रोत पर काटे गए किसी करको घटा कर कुल आय पर संदेय कर की रकम पर विवरणी पेश करने की तारीख तक व्याज संदाय करने के लिए दायी है। इसी प्रकार धारा 139 की उपधारा (2) के अधीन पेश की गई विवरणी के मामले में, आयकर अधिकारी को धारा 139 की उपधारा (1) के अधीन स्वेच्छया प्रस्तुत विवरणियों के सम्बन्ध में उल्लिखित परिस्थितियों में व्याज के संदाय के अध्यधीन विवरणी पेश करने की तारीख बढ़ाने की शक्ति हैं। तथापि जहां निर्धारिती धारा 139 की उपधारा (1) या उपधारा (2) के अधीन उसे दिए गए समय के भीतर विवरणी पेश नहीं करता है, वहां वह कोई भी निर्धारण किए जाने से पूर्व धारा 139 की उपधारा (4) के अधीन उस निर्धारण वर्ष की, जिससे विवरणी सम्बन्धित है, समाप्ति के बाद चार निर्धारण वर्षों के पूरे होने से पहले किसी भी समय किसी पूर्ववर्ती वर्ष के लिए विवरणी पेश कर सकता है और उस दशा में व्याज का संदाय करने से सम्बन्धित धारा 139 की उपधारा (1) के परन्तुक खण्ड (iii) के उपबन्ध मामले को लागू होंगे धारा 139 की उपधारा (8) तारीख 28 अप्रैल, 1963 से वित्त अधिनियम, 1963 द्वारा अन्तः स्थापित की गई थी। उसमें यह घोषणा की गई है कि धारा 139 की उपधारा (1) के परन्तुक के खण्ड (iii) में किसी बात के होते हुए भी आयकर अधिकारी कतिपय विहित दशाओं और परिस्थितियों में धारा 139 के किसी उपबन्ध के अधीन किसी व्यक्ति द्वारा संदेय व्याज को कम करने या अधित्यजन करने के लिए स्वतन्त्र था। (पैरा 4)

स्वेच्छया विवरणी फ़ाइल करने के लिए अनुज्ञात समय धारा 139 की उपधारा (1) में विनिर्दिष्ट समय है। उस उपधारा का परन्तुक आयकर अधिकारी को विवरणी पेश करने की तारीख बढ़ाने के लिए सशक्त करता है। संसद् अभिव्यक्त अधिनियमिति द्वारा वह तारीख विनिर्दिष्ट करने के लिए स्वतन्त्र थी जिस तक विवरणी अवश्य ही फाइल कर दी जानी चाहिए और आयकर अधिकारी को ऐसा करने की तारीख बढ़ाने की शक्ति प्रदत्त करने

हेतु भी स्वतन्त्र थी । जब आयकर अधिकारी तारीख बढ़ाता है, तो वह कानून द्वारा प्रदत्त प्राधिकार के प्रयोग में ऐसा करता है और ऐसी वृद्धि के परिणामस्वरूप निर्धारिती को उपलभ्य अतिरिक्त समय उसी प्रकार के सभी सुसंगत प्रयोजनों के लिए होता है और उसी प्रकार प्रभावी होता है, जिस प्रकार कि संसद् द्वारा विनिर्दिष्ट रूप से अधिनियमिति कानूनी कालावधि के लिए होता है । विवरणी पेश करने के प्रयोजन के लिए वह विवरणी पेश करने के लिए अनुज्ञात समय का अभिन्न अंग होता है । इसलिए, जब आयकर अधिकारी तारीख बढ़ाता है, तब उस तारीख तक का सब समय विवरणी पेश करने के लिए अनुज्ञात समय होता है । ऐसी वृद्धि के परिणामस्वरूप अतिरिक्त कालावधि धारा 271 की उपधारा (1) के खण्ड (क) में "अनुज्ञात समय" अभिव्यक्ति के अन्तर्गत आती है । ऐसा होने पर यह निष्कर्ष अवश्य ही निकलना चाहिए कि शास्ति विषयक उपबन्ध बिल्कुल भी लागू नहीं होता है । (पैरा 10)

प्रभेदित निर्णय

		पैरा
[1978]	(1978) 113 आई० टी० आर० 830 : **मैटल इण्डिया प्रोडक्ट्स** बनाम आयकर आयुक्त, लखनऊ	7
[1976]	(1976) 103 आई० टी० आर० 613 : **आयकर आयुक्त, उड़ीसा** बनाम **गंगाराम चपोलिया;**	7
[1975]	(1975) 99 आई० टी० आर० 41 : **पूर्णा बिस्कुट फैक्टरी** बनाम **आयकर आयुक्त, आन्ध्र प्रदेश**	7
[1975]	(1975) 99 आई० टी० आर० 32 : **एम० नागप्पा और अन्य** बनाम **आयकर अधिकारी, सैन्ट्रल सर्किल-1, बंगलौर और अन्य**	7
[1974]	(1974) 93 आई० टी० आर० 563 : **अपर आयकर आयुक्त, गुजरात** बनाम **सन्तोष इण्डस्ट्रीज;**	7
[1970]	(1970) 77 आई० टी० आर० 518 : **आयकर आयुक्त, पंजाब** बनाम **कुलु वैली ट्रांसपोर्ट कम्पनी प्राइवेट लिमिटेड**	8

सिविल अपीली अधिकारिता : 1979 की सिविल अपील सं० 1299-1303 (एन० टी०).

1970 के निर्दिष्ट मामला सं० 61 में आन्ध्र प्रदेश उच्च न्यायालय के तारीख 3 फ़रवरी, 1972 वाले निर्णय और आदेश के विरुद्ध की गई अपीलें ।

अपीलार्थी की ओर से सर्वश्री एस० टी० देसाई और एम० एन० टंडन तथा कुमारी ए० सुभाषिणी

प्रत्यर्थी की ओर से श्री ए० सुब्बा राव

न्यायालय का निर्णय न्यायाधिपति आर० एस० पाठक ने दिया।

न्यायाधिपति पाठक—

ये अपीलें आयकर अधिनियम, 1961 की धारा 256 की उपधारा (1) के अधीन किए गए निर्देश का निपटारा करने वाले आन्ध्र प्रदेश उच्च न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध विशेष इजाजत लेकर की गई हैं। ये अपीलें विधि के निम्नलिखित प्रश्नों से सम्बन्धित हैं :—

1. क्या मामले के तथ्यों और परिस्थितियों के आधार पर अपील अधिकरण का यह निष्कर्ष निकालना न्यायोचित था कि ब्याज का प्रभारित करना यह उपदर्शित करता है कि आयकर अधिकारी का यह समाधान हो गया था कि आयकर विवरणी फाइल करने में हुए विलम्ब के लिए पर्याप्त कारण था ?

2. क्या मामले के तथ्यों और परिस्थितियों के आधार पर अधिकरण का धारा 271(1)(क) के अधीन उद्गृहीत शास्तियों को रद्द करना न्यायोचित था ?

2. प्रत्यर्थी-निर्धारिती फ़र्म मैसर्स माणिक राव एण्ड ब्रदर्स में भागीदार था। उसने तारीख 2 अगस्त, 1963 को निर्धारण वर्ष 1959-60, 1960-61 और 1962-63 के लिए स्वेच्छया विवरणियां फ़ाइल कीं। निर्धारण वर्ष 1963-64 के लिए विवरणी तारीख 2 अगस्त, 1964 को फाइल की गई। विवरणियां फाइल करने में हुए विलम्ब के कारण आयकर अधिकारी ने निर्धारिती को व्यतिक्रमी माना और उस पर अधिनियम की धारा 271 की उपधारा (1) के खण्ड (क) के अधीन शास्तियां अधिरोपित कीं। निर्धारिती ने अपील में सहायक आयकर आयुक्त (अपील) के समक्ष यह दलील दी कि चूंकि विवरणियां सुसंगत निर्धारण वर्ष अर्थात् अधिनियम की धारा 139 की उपधारा (4) द्वारा विहित कालावधि की समाप्ति के बाद चार वर्ष पूरे होने से पहले फाइल की गई थीं, इसलिए वह किसी भी शास्ति का दायी नहीं है। निर्धारिती द्वारा यह भी बतलाया गया कि चूंकि ब्याज धारा 139 की उपधारा (1) के परन्तुक के खण्ड (iii) के अधीन उद्गृहीत किया गया था, इसलिए शास्ति अधिरोपित करने का कोई प्रश्न ही उद्भूत नहीं होता। सहायक आयुक्त (अपील) ने ये दोनों दलीलें नामन्जूर कर दीं। निर्धारिती ने आयकर अपील अधिकरण के समक्ष द्वितीय अपील में सारतः वही दलीलें दीं। अपील अधिकरण ने यह मत व्यक्त किया कि धारा 139 की उपधारा (1),

उपधारा (2) और उपधारा (4) के अधीन आने वाले मामलों में आयकर अधिकारी विवरणी फाइल करने का समय देने के लिए सशक्त था और ऐसा समय दे दिए जाने पर निर्धारिती ब्याज का संदाय करने का दायी होगा। उसने यह बतलाया कि निर्धारिती ने वस्तुतः धारा 139 के खण्ड (1) के अधीन ब्याज के उद्ग्रहण और धारा 271 की उपधारा (1) के खण्ड (क) के अधीन शास्ति के उद्ग्रहण के दोनों प्रयोजनों के लिए विवरणियां फाइल करने में हुए विलम्ब के लिए अपनी ओर से कारण बताए थे। उसने अभिनिर्धारित किया कि चूंकि आयकर अधिकारी ने विवरणियां फाइल करने की तारीख तक ब्याज उद्गृहीत कर दिया था, इसलिए यह उपधारणा अवश्य ही की जानी चाहिए कि आयकर अधिकारी ने स्वयं का इस बारे में समाधान करने के पश्चात् विवरणियां फाइल करने के समय में वृद्धि की थी और यह कि वह समय में वृद्धि करने का मामला था। उपधारणा मुख्यतः इस बात पर आधारित थी कि न्यायिक या न्यायिककल्प कर्तव्यों से न्यस्त अधिकारी की बाबत यह उपधारणा करनी चाहिए कि उसने उचित और सद्भाविक रीति से अपने कर्तव्यों का निर्वहन किया है। अपील अधिकरण ने अपीलें मन्जूर कर दीं और शास्तियां रद्द कर दीं।

3. आयकर आयुक्त की प्रेरणा पर अपील अधिकरण ने आन्ध्र प्रदेश उच्च न्यायालय को निर्देश किया। उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि अपील अधिकरण का इस उपधारणा का अवलम्ब लेना न्यायोचित था कि शासकीय कृत्य नियमित रूप से किए गए हैं और यह कि इसलिए यह उपधारणा अवश्य ही की जानी चाहिए कि आयकर अधिकारी ने निर्धारिती द्वारा बतलाए गए आधारों पर समय में वृद्धि की थी, क्योंकि अन्यथा आयकर अधिकारी ब्याज प्रभारित नहीं कर सकता था। यह अभिनिर्धारित करते हुए कि इन परिस्थितियों में कोई भी शास्ति उद्ग्रहणीय नहीं थी, उच्च न्यायालय ने निर्देश का उत्तर निर्धारिती के पक्ष में दिया।

4. निर्दिष्ट प्रश्नों की सही परिधि का मूल्यांकन करने के लिए आयकर अधिनियम, 1961 की धारा 139 में अधिनियमित स्कीम को समझना आवश्यक है। मोटे तौर पर स्कीम में धारा 139 की उपधारा (1) के अधीन निर्धारिती द्वारा स्वेच्छया विवरणी (का प्रस्तुतीकरण) अनुध्यात है—ऐसी विवरणी जो धारा 139 की उपधारा (2) के अधीन आयकर अधिकारी द्वारा नोटिस दिए जाने के परिणामस्वरूप विवरणी होती हैं और धारा 139 की धारा (4) में उल्लिखित परिस्थितियों में विवरणी होती है। यहां पर हमारा सम्बन्ध धारा 139 की उपधारा (3) के अधीन हानि दर्शाने वाली विवरणी से नहीं है और न ही हमारा सम्बन्ध धारा 139 की उपधारा (5) के अधीन

पुनरीक्षित विवरणी से है। स्वेच्छया विवरणी के मामले में धारा 139 की उपधारा (1) वह कालावधि विहित करती है जिसके भीतर ऐसी विवरणियां अवश्य ही फाइल की जानी चाहिएं। जहां विहित कालावधि के भीतर कोई विवरणी फाइल न की जा सकती हो, वहां निर्धारिती विवरणी पेश करने की तारीख बढ़ाने के लिए आयकर अधिकारी को आवेदन करने का हकदार है। आयकर अधिकारी अपने विवेकानुसार तारीख बढ़ाने के लिए सशक्त है। धारा 139 की उपधारा (1) के परन्तुक के खण्ड (i) के अन्तर्गत आने वाले मामले में कालावधि कोई ब्याज प्रभारित किए बिना निर्धारण वर्ष के 30 सितम्बर तक बढ़ाई जा सकती है तथा परन्तुक के खण्ड (ii) के अन्तर्गत आने वाले मामले में कालावधि कोई भी ब्याज प्रभारित किए बिना, इसी प्रकार, निर्धारण वर्ष के 31 दिसम्बर तक बढ़ाई जा सकती हैं। किन्तु जहां कालावधि खण्ड (i) और (ii) में उल्लिखित तारीखों से परे बढ़ाई जाती हैं, वहां खण्ड (iii) के अधीन निर्धारिती यथास्थिति निर्धारण-वर्ष के 1 अक्तूबर या 1 जनवरी तक अर्थात् विवरणी पेश करने की तारीख तक संदत्त अग्रिम कर और स्रोत पर काटे गए किसी कर को घटाकर कुल आय पर संदेय कर की रकम पर, विवरणी पेश करने की तारीख तक, ब्याज का संदाय करने का दायी है। इसी प्रकार धारा 139 की उपधारा (2) के अधीन पेश की गई विवरणी के मामले में, आयकर अधिकारी को धारा 139 की उपधारा (i) के अधीन स्वेच्छया प्रस्तुत विवरणियों के सम्बन्ध में उल्लिखित परिस्थितियों में ब्याज के संदाय के अध्यधीन विवरणी पेश करने की तारीख बढ़ाने की शक्ति है। तथापि जहाँ निर्धारिती धारा 139 की उपधारा (1) या उपधारा (2) के अधीन उसे दिए गए समय के भीतर विवरणी पेश नहीं करता है, वहां वह कोई भी निर्धारण किए जाने से पूर्व धारा 139 की उपधारा (4) के अधीन उस निर्धारण वर्ष की, जिससे विवरणी सम्बन्धित है, समाप्ति के बाद चार निर्धारण वर्षों के पूरे होने से पहले किसी भी समय किसी पूर्ववर्ती वर्ष के लिए विवरणी पेश कर सकता है और उस दशा में ब्याज का संदाय करने से सम्बन्धित धारा 139 की उपधारा (1) के परन्तुक के खण्ड (iii) के उपबन्ध मामले को लागू होंगे। धारा 139 की उपधारा (8) तारीख 28 अप्रैल, 1963 से वित्त अधिनियम, 1963 द्वारा अन्तःस्थापित की गई थी। उसमें यह घोषणा की गई है कि धारा 139 की उपधारा (1) के परन्तुक के खण्ड (iii) में किसी बात के होते हुए भी आयकर अधिकारी कतिपय विहित दशाओं और परिस्थितियों में धारा 139 के किसी उपबन्ध के अधीन किसी व्यक्ति द्वारा संदेय ब्याज को कम करने या अधित्यजन करने के लिए स्वतंत्र था। इस बात पर ध्यान दिया जा सकता है कि धारा 139 की उपधारा (8)

की भाषा में तारीख 1 अप्रैल, 1971 से तात्विक परिवर्तन हो गए हैं।

5. अब यह बात स्पष्ट होगी कि आय की विवरणी फाइल करने में हुए विलम्ब के परिणामस्वरूप निर्धारिती द्वारा कर का संदाय मुल्तवी हो जाता है जिसके परिणामस्वरूप राज्य विलम्ब की कलाविधि के लिए राजस्व की ततस्थानी रकम से वंचित हो जाता है। यह प्रतीत होता है कि इस प्रकार हुई हानि के लिए प्रतिकर के वास्ते संसद् ने व्याज के संदाय के लिए उपबंध किया है। परन्तुक के खण्ड (iii) की भाषा से भी यह स्पष्ट है कि व्याज विवरणी पेश करने की तारीख बढ़ाने के प्रयोजन के लिए निर्धारिती द्वारा किए गए आवेदन पर आयकर अधिकारी द्वारा कार्यवाही करने पर ही संदेय होता है। सुसंगत समय पर धारा 139 की उपधारा (1) का परन्तुक इस प्रकार है:—

"परन्तु विहित रीति में किए गए आवेदन पर आयकर अधिकारी विवरणी देने के लिए तारीख को, स्वविवेकानुसार,—

(i) ऐसे किसी व्यक्ति की दशा में, जिसकी कुल आय के अन्तर्गत कारबार या वृत्ति से कोई आय भी है, जिसके संबंध में पूर्ववर्ष की सम्पत्ति निर्धारिण वर्ष से ठीक पूर्ववर्ती वर्ष के दिसम्बर के 31वें दिन को या उससे पूर्व हो गई थी और खण्ड (ख) में निर्दिष्ट किसी व्यक्ति की दशा में, ऐसी कालावधि तक, जो निर्धारण वर्ष के दिसम्बर के 30 वें दिन से आगे न जाए, कोई व्याज प्रभारित किए बिना बढ़ा सकेगा;

(ii) ऐसे किसी व्यक्ति की दशा में जिसकी कुल आय के अन्तर्गत कारबार या वृत्ति से कोई आय भी है जिसके संबंध में पूर्ववर्ष की सम्पत्ति निर्धारण वर्ष से ठीक पूर्ववर्ती वर्ष के दिसम्बर के 31 वें दिन के पश्चात् हो गई थी, निर्धारण वर्ष के दिसम्बर के 31 वें दिन तक कोई व्याज प्रभारित किए बिना बढ़ा सकेगा; और

(iii) खण्ड (i) ओर (ii) में वर्णित तारीखों से आगे किसी कालावधि तक बढ़ा सकेगा जिस दशा में निर्धारण वर्ष के यथास्थिति अक्तूवर के प्रथम दिन या जनबरी के प्रथम दिन से लेकर विवरणी देने की तारीख तक 9 प्रतिशत प्रतिवर्ष पर व्याज—

(क) रजिस्ट्रीकृत फर्म या ऐसी अरजिस्ट्रीकृत फर्म की दशा में जो धारा 183 के खण्ड (ख) के अधीन निर्धारित की गई है, कर की उस रकम पर संदेय होगा

जो संदेय होती यदि फर्म का निर्धारण अरजिस्ट्रीकृत फर्म के रूप में किया गया होता, और

(ख) किसी अन्य दशा में, यथास्थिति अग्रिम कर को, यदि कोई हो, जो संदत्त कर लिया गया हो, या स्रोत पर कटौती किए गए किसी कर को, घटाकर आई कुल आय पर संदेय कर की रकम पर संदेय होगा।"

आयकर अधिकारी द्वारा यथास्थिति 30 दिसम्बर या 31 दिसम्बर से परे विवरणी पेश करने के लिए समय विस्तारित करने पर ही ब्याज संदेय होता है।

6. राजस्व विभाग की ओर से अब यह दलील दी गई है कि इस निष्कर्ष को न्यायोचित ठहराने के लिए कोई सामग्री नहीं है कि समय में वृद्धि करने के लिए निर्धारिती ने आवेदन किया था और ऐसा आवेदन किए जाने पर ही आयकर अधिकारी ने समय में वृद्धि की थी। यह दलील दी गई है कि ब्याज का आरोपण इस उपधारणा को न्यायोचित नहीं ठहराता है कि निर्धारिती ने समय में वृद्धि करने के लिए आवेदन किया था तथा आयकर अधिकारी ने समय मंजूर किया था। धारा 139 की उपधारा (1) का परन्तुक निर्धारिती से समय में वृद्धि करने के लिए विहित रीति से आवेदन करने की अपेक्षा करता है तथा उल्लिखित आवेदन का विहित प्ररूप आयकर नियमावली के नियम 13 के अनुसरण में प्ररूप सं० 6 है जो निर्धारिती से वे कारण उल्लिखित करने की अपेक्षा करता है जिन के आधार पर समय में वृद्धि चाही गयी है। विद्वान काउन्सेल ने यह दलील दी है कि इससे केवल यह अनुध्यात होता है कि आयकर अधिकारी को अपने विवेकाधिकार से मामले का विनिश्चय करने के पूर्व अपने समक्ष पेश की गई सुसंगत सामग्री के बारे में विवेक बुद्धि का प्रयोग करना चाहिए कि क्या समय में वृद्धि की जानी चाहिए। तथापि विद्वान काउन्सेल हमारा इस बात का समाधान करने में समर्थ नहीं रहे हैं कि अपील अधिकारण द्वारा की गई उपधारणा और उच्च न्यायालय द्वारा पृष्ठांकित उपधारणा क्यों अभिभावी नहीं रहना चाहिए। इस बारे में कोई विवाद नहीं हो सकता कि आयकर अधिकारी प्रत्येक निर्धारण वर्ष के संबंध में विवरणी पेश करने की तारीख बढ़ा सकता है। वे कानून के अधीन ऐसा करने के लिए स्वतंत्र थे और वे इस आधार पर ही ब्याज प्रभारित करने के हकदार थे कि बढ़ी हुई कालावधि यथास्थिति 30 सितम्बर या 31 दिसम्बर के बाहर पड़ती है। सामान्य बातों के अनुक्रम में आयकर अधिकारी केवल इस बात का समाधान होने पर ही तारीख बढ़ा सकता है कि ऐसा करने का पर्याप्त कारण है और वह भी निर्धारिती द्वारा अभिवचन किए गए आधारों

पर ही हो सकता है। हमारा यह विचार है कि इस मामले की परिस्थितियों को देखते हुए, जो कुछ भी किया गया था उसके बारे में विधिमान्य रूप से उपधारणा की जा सकती है। राजस्व विभाग की ओर से यह दर्शाने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया कि आयकर अधिकारी ने मनमाने ढंग से और कानून द्वारा अनुध्यात प्रक्रिया के प्रतिकूल कार्यवाही की थी। अपील अधिकरण ने सावधानीपूर्वक मामले पर विचार किया और अभिलेख की परिस्थितियों को यह उपधारणा करने के पक्ष में पाया। उच्च न्यायालय ने अपील अधिकरण द्वारा अंगीकृत मत का अनुमोदन किया और उसे विधि के प्रतिकूल नहीं पाया। हमें उच्च न्यायालय द्वारा अभिव्यक्त राय से भिन्न मत रखने का कोई कारण दिखाई नहीं पड़ता।

7. प्रस्तुत मामले में समय में वृद्धि करना धारा 139 की उपधारा (1) के अन्तर्गत आने वाला मामला था तथा निर्धारिती द्वारा पेश की गई विवरणियां उस उपबंध के कारण पेश की गई मानी जानी चाहिए। वे धारा 139 की उपधारा (4) के अधीन अनुध्यात विवरणियां नहीं थीं। इसलिए **अपर आयकर आयुक्त, गुजरात** बनाम **संतोष इण्डस्ट्रीज**[1] में गुजरात उच्च न्यायालय का विनिश्चय, **एस० नागप्पा और अन्य** बनाम **आयकर अधिकारी, सेंट्रल सर्किल-1, बंगलौर और अन्य**[2] के मामले में कर्नाटक उच्च न्यायालय का विनिश्चय, **पूर्णा बिस्कुट फैक्टरी** बनाम **आयकर आयुक्त, आन्ध्र प्रदेश**[3] के मामले में आन्ध्र प्रदेश उच्च न्यायालय का विनिश्चय, **आयकर आयुक्त, उड़ीसा** बनाम **गंगाराम चपोलिया**[4] के मामले में उड़ीसा उच्च न्यायालय का विनिश्चय और **मैटल इण्डिया प्रोडक्ट्स** बनाम **आयकर आयुक्त, लखनऊ**[5] के मामले में इलाहाबाद उच्च न्यायालय का विनिश्चय प्रस्तुत मामले को लागू नहीं किया जा सकता। धारा 139 की उपधारा (4) में उल्लिखित परिस्थितियों में फाइल की गई विवरणी से संबंधित और भी मामले हैं।

8. हमारा ध्यान **आयकर आयुक्त, पंजाब** बनाम **कुल्लु वैली ट्रांसपोर्ट कम्पनी प्राइवेट लिमिटेड**[6] के मामले में इस न्यायालय के विनिश्चय की ओर भी आकृष्ट किया गया है। वह ऐसा मामला था जिसमें इण्डियन इन्कम टैक्स

---

[1] (1974) 93 आई० टी० आर० 563.
[2] (1975) 99 आई० टी० आर० 32.
[3] (1975) 99 आई० टी० आर० 41.
[4] (1976) 103 आई० टी० आर० 613.
[5] (1978) 113 आई० टी० आर० 830..
[6] (1970) 77 आई० टी० आर० 518.

ऐक्ट, 1922 की धारा 22 की उपधारा (3) के अधीन विवरणियां फाइल की गई थीं। वे उस अधिनियम की धारा 22 की उपधारा (1) या उपधारा (2) द्वारा या उसके अधीन अनुज्ञात समय के भीतर पेश की गई विवरणियां नहीं थीं। तदनुसार, उस मामले पर भी विचार करने की आवश्यकता नहीं है।

9. परिणामस्वरूप हम निर्देश में उठाए गए प्रथम प्रश्न के बारे में उच्च न्यायालय द्वारा दिए गए उत्तर को कायम रखते हैं।

10. दूसरे प्रश्न में यह मुद्दा उद्भूत हुआ है कि क्या अपील अधिकरण का धारा 271 की उपधारा (1) के खण्ड (क) के अधीन उद्गृहीत शास्तियों को रद्द करना न्यायोचित था। वह उपबंध इस प्रकार है:—

"271. (1) यदि इस अधिनियम के अधीन किसी कार्यवाहियों के दौरान आयकर अधिकारी या सहायक आयुक्त (अपील) का किसी व्यक्ति के बारे में समाधान हो जाता है कि—

(क) युक्तियुक्त हेतुक न होते हुए, उसने कुल आय की विवरणी, जिसे देने के लिए वह धारा 139 की उपधारा (1) के अधीन या धारा 139 की उपधारा (2) या धारा 148 के अधीन दी गई सूचना से अपेक्षित है, नहीं दी है या युक्तियुक्त हेतुक न होते हुए यथास्थिति धारा 139 की उपधारा (1) द्वारा या ऐसी सूचना द्वारा अनुज्ञात समय के अन्दर और अपेक्षित रीति से नहीं दी है, अथवा

(ख) ....

(ग) ....

तो वह यह निर्दिष्ट कर सकेगा कि ऐसा व्यक्ति शास्ति के रूप में निम्नलिखित संदत्त करेगा,—

(i) ....

(ii) ....

(iii) ....

यह बात स्पष्ट है कि शास्ति तभी दी जा सकती है, जब आयकर अधिकारी का यह समाधान हो जाता है कि निर्धारिती युक्तियुक्त हेतुक के बिना "अनुज्ञात समय के अन्दर" विवरणियां पेश करने में असफल रहा है। स्वेच्छया विवरणी फाइल करने के लिए अनुज्ञात समय धारा 139 की उपधारा (1) में विनिर्दिष्ट समय है। हमने यह देखा है कि उस उपधारा का परन्तुक आयकर अधिकारी को विवरणी पेश करने की तारीख बढ़ाने के लिए सशक्त करता है। संसद् अभिव्यक्त अधिनियमिति द्वारा वह तारीख विनिर्दिष्ट करने के लिए स्वतंत्र थी जिस तक विवरणी अवश्य ही फाइल कर दी जानी चाहिए और आयकर अधिकारी को ऐसा करने के लिए तारीख बढ़ाने की शक्ति प्रदत्त करने के लिए

भी स्वतंत्र थी। जब आयकर अधिकारी तारीख बढ़ाता है, तो वह कानून द्वारा प्रदत्त प्राधिकार के प्रयोग में ऐसा करता है और ऐसी वृद्धि के परिणामस्वरूप निर्धारिती को उपलभ्य अतिरिक्त समय उसी प्रकार के सभी सुसंगत प्रयोजनों के लिए होता है और उसी प्रकार प्रभावी होता है, जिस प्रकार कि संसद द्वारा विर्निर्दिष्ट रूप से अधिनियमित कानूनी कालावधि होती है। विवरणी पेश करने के प्रयोजन के लिए वह विवरणी पेश करने के लिए अनुज्ञात समय का अभिन्न अंग होता है। इसलिए, जब आयकर अधिकारी तारीख बढ़ाता है, तब उस तारीख तक का सब समय विवरणी पेश करने के लिए अनुज्ञात समय होता है। ऐसी वृद्धि के परिणामस्वरूप अतिरिक्त कालावधि धारा 271 की उपधारा (1) के खण्ड (क) में "अनुज्ञात समय" अभिव्यक्ति के अन्तर्गत आती है। ऐसा होने पर यह निष्कर्ष अवश्य ही निकलना चाहिए कि शास्ति विषयक उपबंध बिल्कुल भी लागू नहीं होता है।

11. हमारी राय में उच्च न्यायालय का दूसरे प्रश्न का उत्तर निर्धारिती के पक्ष में देना सही था।

12. हम उच्च न्यायालय को निर्दिष्ट दोनों प्रश्नों पर उसकी राय से सहमति व्यक्त करते हैं। तदनुसार ये अपीलें असफल होती हैं और खर्चे सहित खारिज की जाती हैं।

अपीलें खारिज की गईं।

जैन श्री०
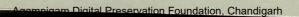
पश्चिमी बंगाल राज्य और अन्य

बनाम

सम्पत लाल और अन्य

(4 दिसम्बर, 1984)

(न्यायाधिपति पी० एन० भगवती, अमरेन्द्र नाथ सेन और रंगनाथ मिश्र)

संविधान, 1950—अनुच्छेद 226—[सपठित दिल्ली विशेष पुलिस स्थापन अधिनियम, 1946 (1946 का 25) की धारा 6] केन्द्रीय जांच ब्यूरो द्वारा जांच कराने की न्यायालय की शक्ति तथा इस संबंध में राज्य सरकार की सम्मति—उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति को दो बालकों के पता लगाने के बारे में स्थानीय पुलिस की अकर्मणयता के बारे में शिकायत किया जाना—शिकायत को रिट पिटीशन मान कर कार्यवाही किया जाना—राज्य सरकार की सम्मति के बिना न्यायालय द्वारा केन्द्रीय जांच ब्यूरो को जांच करने का निदेश दिया जाना—परिस्थितियों और अभिलेख पर सामग्री से यदि यह अनुमान लगाया जा सके कि किसी विशेष मामले में कानूनी अभिकरण ने प्रभावी ढंग से कार्य नहीं किया है या न्यायालय का यह समाधान हो गया है कि कानूनी अभिकरण सही और निष्पक्ष रूप से अन्वेषण के अपने कर्तव्य का निर्वहन नहीं कर सकेगा, तो केवल उसी दशा में प्रक्रिया को अनुपूरित किया जा सकता है अन्यथा नहीं।

कलकत्ता उच्च न्यायालय के विद्वान् कार्यकारी मुख्य न्यायमूर्ति को दो पत्र प्राप्त हुए जिनमें यह अभिकथन किया गया था कि दो जवान लड़के जो बैरकपुर क्षेत्र में रह रहे थे, गुम थे। स्थानीय पुलिस थाने को उसी दिन रात को सूचना दे दी गई थी और रेडियो तथा दूरदर्शन पर भी इसका काफी प्रचार किया गया था लेकिन काफी समय तक उनके अते-पते के बारे में सूचना नहीं मिली थी। बाद में यह पता लगा कि दो लड़कों के शव रेलवे ट्रैक पर मिले थे और स्थानीय पुलिस द्वारा उनकी पहचान का पता किए बिना उनका अंतिम संस्कार कर दिया गया है। रेलवे पुलिस द्वारा रखे गए फोटो के सत्यापन और पुलिस थाने में रखी गयी दोनों लड़कों के पहने हुए वस्त्रों से स्पष्ट रूप से इस बात का संकेत मिलता था कि ये दो शव गुम लड़कों के थे। दोनों लड़कों के माता-पिता ने कई प्राधिकारियों को पहुंच की थी किन्तु उस पर कोई ध्यान नहीं दिया गया। मुख्य मंत्री ने अन्वेषण पूरा होने के पूर्व ही इस बारे में एक कथन कर दिया था कि यह मामला आत्म-हत्या का मामला था। बंगाली समाचारपत्र में

प्रकाशित रिपोर्टों से यह पता लगता है कि दो लड़कों की हत्या की गई थी। पत्रों में यह अभिकथन किया गया था कि स्थानीय पुलिस मृतकों के माता-पिता और उस क्षेत्र में रहने वाले लोगों को डरा-धमका रही थी। इसलिए स्थानीय लोग असुरक्षित अनुभव कर रहे थे और उन्हें प्रशासन में विश्वास नहीं रहा था। अतः एक स्वतंत्र तंत्र के माध्यम से अन्वेषण की मांग की गई जिससे लोगों को विश्वास प्राप्त हो और उस क्षेत्र के निवासियों को पर्याप्त सुरक्षा देने की भी मांग की गई। विद्वान् कार्य-कारी मुख्य न्यायमूर्ति ने पत्रों को रिट पिटीशन मानने का निर्देश दिया और उन पर न्यायालय के एकल न्यायाधीश को कार्यवाही करने को कहा। एकल न्यायाधीश ने पश्चिमी बंगाल राज्य और अन्य प्राधिकारियों को एक न्यायादेश (रूल) जारी करने का निदेश दिया तथा इस संबंध में सभी अभिलेखों को पेश करने के लिए कहा। उन्होंने इस संबंध में केन्द्रीय अन्वेषण विभाग को इस मामले में नये सिरे से जांच करने को भी कहा। पश्चिमी बंगाल राज्य की ओर से मौखिक अनुरोध इन आदेशों के प्रवर्तन पर रोक लगाने के लिए किया गया और एकल न्यायाधीश के आदेश के विरुद्ध अपील फाइल की गई। अपील को एक खण्ड न्यायपीठ के समक्ष रखा गया। तथापि, खण्ड न्यायपीठ के दोनों न्याय मूर्तियों के विचार इस प्रश्न पर भिन्न-भिन्न थे। उन्होंने केन्द्रीय जांच ब्यूरो द्वारा जांच को कायम रखा। उच्च न्यायालय की खण्ड न्यायपीठ के निर्णय के विरुद्ध विशेष इजाजत लेकर की गई अपील को मंजूर करते हुए,

अभिनिर्धारित—विशेष अधिकारी नियुक्त करने की तब तक कोई गुंजाइश नहीं हो सकती जब तक कि अन्वेषण का कानूनी माध्यम समुचित रूप से कार्य करने वाला न पाया गया हो। उस प्रक्रम पर इस बात की कल्पना करने का कोई आधार नहीं था कि पत्रों की अन्तर्वस्तु तथा समाचार-पत्र के कालम में कहे गए तथ्यों का खण्डन नहीं किया गया था। राज्य सरकार या उसके अधिकारी ही प्राधिकृत रूप से उन तथ्यों का वर्णन कर सकते थे जो यह दर्शाते कि क्या पत्रों या समाचार-पत्र की रिपोर्टों में अन्तर्विष्ट अभिकथन सही थे और यदि थे तो किस हद तक या किस प्रकार से अन्वेषण किया जा रहा था और वे अभी तक किसी प्रक्रम तक पहुंचा था जिससे कि न्यायालय इस प्रथमदृष्टया निष्कर्ष पर पहुंचने के लिए समर्थ किया जा सके कि राज्य सरकार और पुलिस प्राधिकारी अन्वेषण करने के अपने कानूनी कर्तव्य का समुचित रूप से निर्वहन नहीं कर रहे थे। किन्तु जब राज्य सरकार को कोई नोटिस नहीं दिया गया और उन्हें कोई अवसर नहीं दिया गया तो यह कहना कठिन है कि किस प्रकार से एक-पक्षीय आदेश ऐसी धारणा पर किया जा सकता था। जब ऐसा कहा जाता है तो इसका अर्थ यह नहीं है कि किसी भी मामले में न्यायालय द्वारा एकपक्षीय आदेश

नहीं किया जा सकता। यदि पत्र में कथित तथ्य या रिट पिटीशन में कहे गए तथ्य विश्वसनीय हैं और ऐसी कोई शीघ्रता है जिससे एकपक्षीय आदेश न करके या नोटिस दिए बिना एकपक्षीय आदेश के बिना न्याय का उद्देश्य विफल हो जाएगा और इससे दमन और शोषण बढ़ेगा या साक्ष्य को समाप्त किया या हटाया जाएगा तो न्यायालय निश्चित रूप से एकपक्षीय आदेश करने में न्यायोचित होगा। किन्तु यहां पर बिल्कुल भी ऐसी कोई परिस्थितियां नही थीं और न्यायालय बहुत अच्छी तरह से प्रत्यर्थियों को नोटिस जारी कर सकता था कि क्या विशेष अधिकारी के रूप में कार्य करने के लिए केन्द्रीय अन्वेषण विभाग उप-महा-निरीक्षक को नियुक्त करने का निदेश देने की कोई आवश्यकता थी और पुलिस प्राधिकारियों और राज्य के पुलिस प्राधिकारियों को उसके द्वारा अपेक्षित सभी सम्भव सहायता दिए जाने की कोई अपेक्षा थी। उच्च न्यायालय राज्य सरकार को नोटिस जारी कर सकता था जिससे कि उन्हें युक्तियुक्त अवसर मिलता और उसके अधिकारी जो पहले से ही अन्वेषण कर रहे थे, उनके द्वारा की गई कार्यवाही के संबंध में रिपोर्ट कर सकते थे और स्थिति का कुल न्यायिक अनुमान लगाने के पश्चात् विशेष अधिकारी नियुक्त करने की आवश्यकता पर विचार किया जाना चाहिए था। (पैरा 15)

किसी अपराध के करने के बारे में जांच करने के निदेश के साथ विशेष अधिकारी की नियुक्ति केवल इस आधार पर ही की जा सकती है कि उसका सही अन्वेषण नहीं हुआ है। पश्चिमी बंगाल राज्य में तथा अन्य सभी राज्यों में पुलिस का सुपरिभाषित सौपानिक प्रशासनिक ढांचा है और जांच या अन्वेषण की एक नई प्रणाली सृजित करने से यह धारणा बनने की सम्भावना है कि कानूनी अधिकरण ठीक नहीं है और इससे नियमित पुलिस सौपान-तंत्र पर कलंक लगने की सम्भावना है। न्यायालय अपीलार्थी की ओर से दी गई इस दलील के साथ सहमत होने में असमर्थ है कि मामले के तथ्यों और परिस्थितियों में और किए गए आदेश के स्वरूप को ध्यान में रखते हुए जांच करने की शक्तियों के साथ विशेष अधिकारी की नियुक्ति का निदेश तब तक नहीं किया जाना चाहिए था जब तक कि अपीलार्थियों की सुनवाई नहीं कर ली गई थी और न्यायालय ने अपने समक्ष अन्वेषण के कागजात नहीं रखवाए थे जिससे कि वह प्रथम दृष्टया संतुष्ट हो कि अन्वेषण या तो सही या पर्याप्त नहीं हुआ है। संहिता में अभिकथित प्रक्रिया स्पष्ट और निश्चित है। यह हो सकता है कि किसी विशेष मामले में अभिलेख से प्रकट इन परिस्थितियों से प्रथम दृष्टया संतुष्ट होने पर, कि कानूनी अभिकरण ने प्रभावी तरीके से कार्य नहीं किया है या परिस्थितियां ऐसी हैं कि इस बात की युक्तियुक्त रूप से धारणा की जा सकती है या अनुमान लगाया जा सकता है कि कानूनी अभिकरण अन्वेषण के अपने कर्तव्यों का सही रूप से और

निष्पक्ष रूप से निर्वहन करने में समर्थ न हो सके, न्यायालय युक्तियुक्त रूप से प्रक्रिया को अनुपूरित करने का विचार कर सकता है, किन्तु अभिलेख पर ऐसी कोई पर्याप्त सामग्री नहीं थी जिससे कि विद्वान् एकल न्यायाधीश इस बारे में संतुष्ट हो जाता कि तथ्यों के आधार पर विशेष अधिकारी की नियुक्ति करना उचित था। (पैरा 16 और 17)

"जांच" और "अन्वेषण" कानूनी शब्द हैं जिनकी परिभाषा संहिता में की गई है। सुनवाई के दौरान पक्षकार के काउंसेल ने न्यायालय को बताया है कि पश्चिमी बंगाल पुलिस मैनुअल के अधीन इन शब्दों को उनके द्वारा भिन्न अर्थ दिया गया है। न्यायालय के प्रयोजन के लिए इस प्रश्न पर और विचार करना आवश्यक नहीं है। विशेष अधिकारी को न्यस्त कार्य को कुछ भी कहा जाये इस बात में कोई विवाद नहीं है कि उससे साक्ष्य और दस्तावेजों से, यदि कोई हों, दो बालकों को मृत्यु के सम्बन्ध में तथ्य अभिनिश्चित करना अपेक्षित था। इस प्रक्रिया में आवश्यक रूप से उन्हीं स्रोतों को खटखटाकर तथ्य का पता करने वाली जाँच अंतर्वलित थी जिससे कि अन्वेषण अभिकरण द्वारा सम्पर्क किया जाना अपेक्षित था। इसलिए इसमें आवश्यक रूप से दोहरा अन्वेषण अंतर्वलित है। (पैरा 20)

अभिलेखों पर रखी गई सामग्री से प्रतीत होता है अन्वेषण निश्चित रूप से राज्य अभिकरण द्वारा किया गया है। इसका यह अर्थ है कि लगभग एक ही समय में तीन पृथक् प्रणाली प्रवृत्त थीं। प्राइवेट जासूस अभिकरण के कार्य पर सामान्यतः न्यायालय को कोई अधिकारिता नहीं होती किन्तु इस तथ्य के दृष्टिकोण से कि एक ही समय में किए जाने वाले अन्वेषण के लिए दो पृथक् प्रणालियां अपनाई गई थीं निश्चत रूप से भ्रम पैदा करेगा और एक समय में दो प्रणालियों के कार्यकरण से सही अन्वेषण पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ने की संभावना है जिससे रहस्य के अधीन दबे हुए सत्य को प्रकट करना अधिक कठिन हो जाएगा। न्यायालय की राय में इस दोहरी प्रक्रिया को चलाने से न्याय का उद्देश्य पूरा होने की संभावना नहीं है, न ही वह उद्देश्य पूरा होगा जिसके लिए इसे स्थापित किया गया है। विशेष अधिकारी को अधिनियम की धारा 5 के अधीन शक्तियों का प्रयोग नहीं करना था और यदि वह अन्वेषण के मामले में कोई वास्तविक सहायता चाहता तो इसे राज्य प्रशासन के पुलिस अधिकारियों के माध्यम से कराया जा सकता था। इससे और भ्रांति होने की संभावना है, जहां तक कि एक ही पुलिस अधिकारी द्वारा एक से अधिक अवसर पर साक्षियों से सम्पर्क करना होगा—एक बार पुलिस द्वारा किए जाने वाले अन्वेषण के दौरान और फिर विशेष अधिकारी की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए। न्यायालय को विश्वास है कि उच्च न्यायालय का आशय कभी भी यह नहीं था

कि न्याय के हित पर प्रभाव पड़े और सच्चाई का पता लगाने के लिए गम्भीर प्रयत्न निष्फल हो जाये। (पैरा 21)

	अवलम्बित निर्णय	पैरा
[1983]	[1983] 3 उम० नि० प० 1025 = [1983] 3 एस० सी० सी० 344 : **भगवंत सिंह** बनाम **पुलिस आयुक्त, दिल्ली**	24
[1980]	[1980] 4 उम० नि० प० 256 = [1980] 2 एस० सी० आर० 16 : **राज्य** बनाम **जे० एस० सल्दाना और अन्य**	24
[1970]	[1970] 3 एस० सी० आर० 946 : **एस० एन० शर्मा** बनाम **विपिन कुमार तिवारी और अन्य**	23

	निर्दिष्ट निर्णय	
[1963]	[1963] 2 एस० सी० आर० 52 : **पश्चिमी बंगाल राज्य** बनाम **एस० एन० बासक**	22
[1944]	1944 ला रिपोर्ट 71 : **किंग एम्परर** बनाम **ख्वाजा नजीर अहमद**	22

दाण्डिक अपीली अधिकारिता : 1983 **की दाण्डिक अपील सं०** 570.

1983 के प्रस्तावित मूल आदेश सं० 1583 से उद्‌भूत होने वाले दाण्डिक पुनरीक्षण सं० (डब्ल्यू) में कलकत्ता उच्च न्यायालय के तारीख 27 सितम्बर, 1983 के निर्णय और आदेश के विरुद्ध की गई अपील।

इसके साथ

1983 का अपील के लिए विशेष इजाजत पिटीशन (दांडिक) सं० 2671.

1983 के प्रस्तावित मूल आदेश सं० 1583 से उद्‌भूत होने वाले दाण्डिक पुनरीक्षण सं० (डब्ल्यू) में कलकत्ता उच्च न्यायालय के तारीख 27 सितम्बर, 1983 के निर्णय और आदेश के विरुद्ध पिटीशन।

पिटीशनरों की ओर से	सर्वश्री सोमनाथ चटर्जी, एच० के० पुरी, एस० घोष और वी० के० बहल।
प्रत्यर्थियों की ओर से	सर्वश्री अशोक सेन, शंकर दास बनर्जी, डी० एन० दास और श्री नारायण।
भारत संघ की ओर से	श्री के० जी० भगत, अपर सलिसिटर जनरल, श्री आर० एन० पोद्दार और कुमारी हलिदा खातून।

न्यायालय का निर्णय न्यायाधिपति रंगनाथ मिश्र ने दिया।

न्यायाधिपति मिश्र—

अपील कलकत्ता उच्च न्यायालय से इजाजत लेकर अनुच्छेद 134 (क) के अधीन है और उस न्यायालय की खंड न्यायपीठ के तारीख 27 सितम्बर, 1983 के निर्णय के विरुद्ध निर्दिष्ट है। संविधान के अनुच्छेद 138 के अधीन विशेष इजाजत पिटीशन की गई है और उसी विनिश्चय के विरुद्ध निर्दिष्ट भी है। इस प्रकार से ये दोनों मामले सम्बन्धित हैं और कलकत्ता के समीप बैरकपुर क्षेत्र के दो जवान लड़कों की मृत्यु सेसंब न्धित घटना से उद्भूत हुए हैं। हमारा निर्णय इन दोनों मामलों को निपटाएगा।

2. दो पत्र, एक दांडिक अपील में प्रत्यर्थी सं० 1 संपत लाल द्वारा और एक अन्य प्रत्यर्थी सं० 1 (क) से 1 (ढ) द्वारा, कलकत्ता उच्च न्यायालय के विद्वान् कार्यकारी मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा प्राप्त किए गए थे जो दोनों 1 जून, 1983 के थे। संपत लाल द्वारा भेजे गए पत्र में यह अभिकथन किया गया था कि तीर्थांकर दास शर्मा और संजीव चटर्जी नाम के दो जवान लड़के, जो बैरकपुर क्षत्र में रह रहे थे, 2 मार्च, 1983 के अपराह्न से गुम थे। स्थानीय पुलिस थाने में उसी दिन रात को सूचना दी गई थी और इसका काफी प्रचार दूरदर्शन पर और इस बारे में रेडियो पर किया गया था कि दो लड़के गुम थे किन्तु उनके अते-पते के बारे में 5 अप्रैल, 1983 तक कोई सूचना नहीं मिली थी। उस दिन यह पता चला कि दो लड़कों के शव पांडुव रेलवे स्टेशन के समीप रेलवे ट्रैक पर मिले थे और स्थानीय पुलिस ने उनकी पहचान का पता किए बिना उनका अन्तिम संस्कार कर दिया था। बंगाल में रेलवे पुलिस द्वारा रखे गए फोटो के सत्यापन और पुलिस थाने में रखे गए दो लड़कों के पहने गए वस्त्रों से स्पष्ट रूप से इस बात का संकेत मिला था कि शव दो गुम लड़कों के थे। पत्र में यह अभिकथित किया गया था कि दो लड़कों के माता-पिता ने कई प्राधिकारियों को पहुंच की थी जिनमें राज्य के मुख्य मन्त्री भी सम्मिलित थे। मामले पर गंभीर रूप से कोई ध्यान दिए बिना मुख्य मन्त्री ने अन्वेषण पूरा होने से पूर्व ही इस बारे में एक कथन कर दिया था कि यह आत्म-हत्या का मामला था। बंगाली समाचारपत्र में प्रकाशित रिपोर्टों से ऐसा पता चलता है कि दोनों लड़कों की हत्या की गई थी। पत्र में आगे यह अभिकथन किया गया था कि स्थानीय पुलिस मृतकों के माता-पिता और उस क्षेत्र में रहने वाले अन्य लोगों को डरा धमका रही थी। इसलिए स्थानीय लोग असुरक्षित अनुभव कर रहे थे और उन्हें प्रशासन में विश्वास नहीं रहा था। वे यह चाहते थे कि एक स्वतंत्र तन्त्र के द्वारा अन्वेषण किया जाए जिसको विश्वास प्राप्त हो और स्थानीय लोगों को वह स्वीकार्य हो। उन्होंने उस क्षेत्र के निवासियों को पर्याप्त सुरक्षा देने की भी मांग की।

3. द्वितीय पत्र में इसी प्रकार के अभिकथन किए गए थे किन्तु कुछ

विवरण जो पहले पत्र में नहीं दिए गए थे, घटना के सम्बन्ध में दिए गए थे, और निम्नलिखित अनुतोष का दावा किया गया था—

> "इसलिए बैरकपुर के निवासियों की ओर से हमारा माननीय मुख्य न्यायमूर्ति से यह नम्र निवेदन है कि सरकार को सी० बी० आई० जैसे एक निष्पक्ष संगठन को अप्राकृतिक मृत्यु की खोज के लिए अन्वेषण करने और इस क्षेत्र के लोगों और राज्य की संतुष्टि के लिए रहस्य सुलझाने के लिए अनुदेश देना चाहिए। अन्वेषण में विलंब से इसकी घटनाओं से और प्रचार में कमी से यह बात स्पष्ट है कि जब कभी निष्पक्ष सतर्क अन्वेषण किया जाता है तो ऐसी मृत्यु के कारण या हत्यारा कौन है या वास्तविक रहस्य क्या है, निश्चित रूप से पता नहीं चलता। सी० बी० आई० या कुछ ऐसे संगठन द्वारा अन्वेषण किए जाने के पश्चात् हम बैरकपुर के निवासी तन-मन से उनकी सहायता का वचन देते हैं। हमारा नम्र निवेदन है कि आप कृपया हमारे अनुरोध को स्वीकार करें और पुलिस को अन्वेषण में इस उपेक्षा से रोक दें और उन्हें बनाई गई मिथ्या सूचनाओं को देने से भी रोक दें और हम यह भी निवेदन करते हैं कि वास्तविक-रहस्य के निष्पक्ष अन्वेषण के माध्यम से हमारी संतुष्टि के लिए वास्तविक रहस्य को प्रगट किया जाना चाहिए। यदि पुलिस या कुछ व्यक्तियों का किसी प्रकार का इसके पीछे कोई हेतुक है तो माननीय न्यायालय उसका अन्वेषण करने का आदेश करके अग्रता स्थापित करने का कार्य करें।"

[बंगला में मूल पत्र से अनुवाद]

4. 6 जून, 1983 को विद्वान् कार्यकारी मुख्य न्यायमूर्ति ने पत्रों को रिट पिटीशन मानने का निर्देश दिया और उन्हें न्यायमूर्ति बरुआ के समक्ष रखे जाने के लिए कहा। 7 जून, 1983 को मामला विद्वान् न्यायमूर्ति के समक्ष पेश किया गया। श्री घोष उन व्यक्तियों की ओर से हाजिर हुए जिन्होंने पत्र लिखे। श्री शंकरदास बनर्जी आनंद-बाजार पत्रिका की ओर से हाजिर हुए जो कलकत्ता से विस्तृत रूप से परिचालित बंगाली दैनिक पत्र है जिसके दो अंकों में (12 मई और 18 मई, 1983) इस घटना के बारे में विस्तृत रिपोर्टें उस अन्वेषण के आधार पर दी गई थीं जिसके बारे में यह कहा गया था कि वे 'सीक्रेट आई' के नाम के एक प्राइवेट जासूसी अभिकरण द्वारा किया गया था। न्यायमूर्ति बरुआ ने पत्रों को पढ़ा। श्री घोष तथा श्री शंकरदास बनर्जी की भी सुनवाई की और अन्य बातों के साथ-साथ यह मत व्यक्त किया—

> "जब कोई अप्राकृतिक मृत्यु होती है या प्रथमदृष्टया संज्ञेय

अपराध के करने का मामला पुलिस प्राधिकारियों के ध्यान में लाया जाता है तो दंड प्रक्रिया संहिता के अधीन उनका यह कर्तव्य है कि वे अन्वेषण करें और मृत्यु के कारण को अभिनिश्चित करें। पत्रों और समाचार रिपोर्टों को पढ़ कर, जिनका पुलिस प्राधिकारियों के किसी प्राधिकृत कथन द्वारा खंडन किया गया प्रतीत नहीं होता है मैं न्याय के हित में दोनों पत्रों को आवश्यक औपचारिकताओं से निपटने के पश्चात् संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन औपचारिक पिटीशन के रूप में मानता हूं।...''

उन्होंने यह आदेश दिया कि पश्चिमी बंगाल राज्य और अन्य राज्य प्राधिकारियों को एक रूल जारी किया जाना चाहिए जिससे कि वे वह कारण दर्शाएं कि परमादेश के स्वरूप की रिट तीर्थांकर शर्मा और संजीव चटर्जी की अप्राकृतिक मृत्यु पर किए जाने वाले विधि के अनुसरण में अन्वेषण का निदेश देते हुए क्यों न जारी कर दी जाए। उन्होंने यह कारण दर्शाने का भी निर्देश दिया कि अभी तक किए गए अन्वेषण के संबंध में सभी अभिलेखों को पेश करने के लिए निदेश क्यों न दे दिया जाए। उन्होंने आगे यह निदेश दिया—

''इस रूल के निपटान के लंबित रहते हुए मैं केन्द्रीय अन्वेषण विभाग, 13 लिंडसे स्ट्रीट, कलकत्ता-16 के उप-महा-निरीक्षण को यह निदेश देता हूं कि वह एक जांच करवाएं और इस न्यायालय को 23 जून, 1983 तक यह रिपोर्ट दें कि किस प्रकार से दो बालकों की मृत्यु हुई। राज्य के पुलिस प्राधिकारी सभी संभव सहायता देंगे जैसा कि केन्द्रीय अन्वेषण विभाग को आवश्यकता होगी और आनंद-बाजार पत्रिका भी केन्द्रीय विभाग को जासूसी अभिकरण द्वारा समाचार-पत्र को दी गई रिपोर्टें उपलब्ध कराएगा।''

न्यायमूर्ति बरुआ ने आगे यह निदेश दिया कि पुलिस अधीक्षक 24 परगना क्षेत्र अनुदेश जारी करेगा जिससे कि बैरकपुर के स्थानीय लोगों को समुचित सुरक्षा दी जा सके और उन्हें कोई धमकी न दी जा सके। उसने पश्चिमी बंगाल राज्य के भीतर किसी भी समाचार-पत्र में दो लड़कों की मृत्यु के संबंध में प्रकाशनों को प्रतिषिद्ध कर दिया।

5. 9 जून, 1983 को पश्चिमी बंगाल राज्य की ओर से एक मौखिक अनुरोध आदेशों के प्रवर्तन पर रोक लगाने के लिए किया गया और अगले दिन न्यायमूर्ति बरुआ के आदेश के विरुद्ध अपील फाइल की गई और अपील को एक खण्ड न्यायपीठ के समक्ष रखा गया जिसमें न्यायमूर्ति प्याने और न्याय-मूर्ति एस० सी० सेन थे। पश्चिमी बंगाल राज्य की ओर से एक शिकायत की गई कि न्यायमूर्ति बरुआ ने उसे कोई नोटिस दिए बिना और इस बात का पता

लगाए बिना अपना आदेश किया है कि क्या विधि के अधीन पुलिस प्राधिकारियों द्वारा किया गया अन्वेषण पर्याप्त नहीं था और कि क्या अन्वेषण का स्वरूप ऐसा था कि इसके लिए कलकत्ता के केन्द्रीय जांच ब्यूरो के उप-महा-निरीक्षक को घटना की जांच करने के लिए नियुक्त किए जाने की अपेक्षा थी। अपील के प्रक्रम पर राज्य सरकार की ओर से न्यायालय के समक्ष अपनी इस दलील के समर्थन में सामग्री पेश की गई कि पर्याप्त अन्वेषण किया गया था जैसा कि विचाराधीन प्रकार की घटना पर सामान्य क्रम में आशयित है। खंड न्यायपीठ के समक्ष लंबी दलीलें दी गईं और दो विद्वान् न्यायाधीशों ने इस मामले पर काफी विचार किया और दो पृथक् लम्बे निर्णय लिखे। न्यायमूर्ति प्याने ने यह अभिनिर्धारित किया—

> "मैं ससम्मान उक्त मामले के तथ्यों और परिस्थितियों में उच्च न्यायालय द्वारा किए गए मतों से सहमत हूं। (भगवंत सिंह बनाम पुलिस आयुक्त दिल्ली) [1983] 3 एस० सी० सी० 344 मेरा यह भी दृष्टिकोण है कि प्रस्तुत मामले के तथ्यों और परिथितियों में मेरे लिए इस बात की कल्पना करना उचित नहीं होगा कि क्या दोनों लड़कों की अप्राकृतिक मृत्यु आत्म-हत्या या हत्या द्वारा कार्यरत की गई थी, तथापि मैं इस प्रश्न से काफी चिन्तित हूं कि क्या अपीलार्थियों द्वारा दो लड़कों की अप्राकृतिक अन्वेषण सही और उचित रूप से और सभी सामग्री, साक्ष्य और परिस्थितियों को विधि के अनुसरण में ध्यान में रखकर किया जा रहा है............। प्रस्तुत मामले में उप-महा-निरीक्षक केन्द्रीय अन्वेषण विभाग से किन्हीं शक्तियों का प्रयोग करने या दिल्ली विशेष पुलिस स्थापन अधिनियम के अधीन या किसी अन्य कानून के अधीन अन्वेषण करने के लिए नहीं कहा गया है। इस दृष्टिकोण से जो कुछ यहां पर इसमें इससे पूर्व कहा गया है और मामले के तथ्यों और परिस्थितियों में केन्द्रीय अन्वेषण विभाग के उप-महा-निरीक्षक को इस मामले में विशेष अधिकारी के रूप में नियुक्त करता हूं। विशेष अधिकारी 8 और 14 मई, 1983 के "सीक्रेट आइ" की रिपोर्ट में अंतर्विष्ट तथ्यों, अभिकथनों और अनुमानों की सत्यता के बारे में जांच करेगा तथा प्रत्यर्थी के दो पत्रों के बारे में भी जांच करेगा जो दोनों 1 जून, 1983 के हैं जिनकी प्रतियां बापादित्य रॉय के शपथ-पत्र की क्रमशः परिशिष्ठ क और ख पर हैं इसे 20 जून, 1983 को पुष्ट किया गया है और 12 मई, और 18 मई, 1983 की आनन्द बाजार पत्रिका के दो अंकों में प्रकाशित रिपोर्टों की भी जांच करेगा। इसलिए मैं केन्द्रीय अन्वेषण

विभाग के उप-महा-निरीक्षक को यह निदेश देता हूं कि वह उपरोक्त कथनानुसार आवश्यक जांच करें। ऐसी जांच करने के प्रयोजन के लिए और ऐसी जांच और रिपोर्ट करने के प्रयोजन के लिए केन्द्रीय अनुवेषण विभाग के उप-महा-निरीक्षक उसे नए सिरे से दिए गए मौखिक या दस्तावेज साक्ष्य सामग्री और कथनों को, यदि कोई हो, ध्यान में रखने का हकदार होगा। केन्द्रीय अन्वेषण विभाग के उप-महानिरीक्षक की रिपोर्ट आज की तारीख से तीन सप्ताह के भीतर विचारण न्यायालय को पेश की जाएगी। राज्य के पुलिस अधिकारी और प्रत्यर्थी जांच के इस मामले में केन्द्रीय अन्वेषण विभाग के उप-महानिरीक्षक के द्वारा यथा अपेक्षित सभी संभव सहायता देंगे······।"

6. न्यायाधिपति सेन ने इस तथ्य पर ध्यान दिया कि राज्य को और उसके अधिकारियों को न्यायमूर्ति बरुआ ने 7 जून, 1983 का आदेश करने से पूर्व कोई अवसर नहीं दिया था। उन्होंने भी यह अभिनिर्धारित किया—

"मेरी राय में इस प्रकार के मामले में केन्द्रीय अन्वेषण विभाग को रिपोर्ट देने के लिए निदेश देने का अंतरिम आदेश राज्य सरकार की सुनवाई किए जाने बिना पारित नहीं किया जाना चाहिए था......। किसी भी प्रक्रम पर शीघ्रता का कोई मामला नहीं बनाया गया था। मेरी राय में केन्द्रीय अन्वेषण विभाग की जांच का भारी आदेश राज्य सरकार की सुनवाई किए बिना पारित नहीं किया जाना चाहिए था ·········।"

न्यायाधिपति सेन ने इस तथ्य पर भी ध्यान दिया कि पत्रों में अंतर्विष्ट अभिकथनों के साथ विद्वान् एकल न्यायाधीश के समक्ष शपथ-पत्र नहीं था। उन्होंने इस तथ्य पर भी ध्यान दिया कि जासूसी अभिकरण द्वारा अन्वेषण में अभिप्राप्त की गई सामग्री खण्ड न्यायपीठ के समक्ष पेश नहीं की गई थी और किसी भी सक्षम व्यक्ति का शपथ-पत्र फाइल नहीं किया गया था। केवल दो शपथ-पत्र जो खण्ड न्यायपीठ के समक्ष आये थे उनमें से एक सम्पत लाल के द्वारा और दूसरा समाचार पत्र के विधि अधिकारी द्वारा फाइल किया गया था। इसलिए उन्होंने यह निष्कर्ष दिया—

"श्री चटर्जी अपनी इस दलील में सही है कि लेशमात्र साक्ष्य भी दो शपथ-पत्रों से नहीं मिलता है जो फाइल किए गए हैं और दो समाचार-पत्र रिपोर्टों में नहीं मिलता है जिसके आधार पर अंतरिम आदेश पारित किया गया था। केन्द्रीय अन्वेषण विभाग की इस मामले में जांच जिसका अब राज्य पुलिस अन्वेषण कर रही है एक बहुत गंभीर कदम है। ऐसी जांच का आदेश देने के लिए काफी

मजबूत विधिक आधार होने चाहिएं।"

7. न्यायाधिपति सेन के अनुसार रिट पिटीशन दो पत्रों और दो समाचार-पत्र रिपोर्टों के आधार पर चलने योग्य नहीं थे। न्यायाधिपति सेन के निष्कर्ष न्यायाधिपति प्याने के निष्कर्ष से भिन्न थे फिर भी उन्होंने यह कह कर निष्कर्ष दिया—:

"पारित किए जाने के लिए प्रस्तावित आदेश के अधीन केन्द्रीय अन्वेषण विभाग या केन्द्रीय सरकार के किसी अन्य अभिकरण को अन्वेषण के कार्य से न्यस्त नहीं किया गया था। यह बात स्पष्ट कर दी गई है कि केन्द्रीय अन्वेषण विभाग के उप-महानिरीक्षक को विशेष अधिकारी नियुक्त किया जा रहा है न कि केन्द्रीय अन्वेषण विभाग को। विशेष अधिकारी अन्वेषण के प्रयोजन के लिए अपने कर्मचारियों में से किसी को नियुक्त करने के लिए स्वतन्त्र होगा। खर्च, प्रभार और व्यय प्रत्यर्थियों द्वारा वहन किया जाएगा। अन्वेषण करने के प्रयोजन के लिए केन्द्रीय अन्वेषण विभाग के आदमियों और श्रोतों को नियोजित करने का कोई प्रश्न नहीं उठता। केन्द्रीय अन्वेषण विभाग के अधिकारियों को पुलिस शक्ति न्यस्त नहीं की जा रही है या पश्चिमी बंगाल राज्य में किसी भी प्रकार के पुलिस के कर्तव्यों को उन्हें सौंपा नहीं जा रहा है" "केन्द्रीय अन्वेषण विभाग के उप-महा-निरीक्षक ने पहले ही अन्वेषण करने की अपनी अनिच्छा उपदर्शित कर दी है जैसा कि विद्वान् विचारण न्यायाधीश द्वारा निर्दिष्ट किया गया है। किसी भी व्यक्ति को उसकी स्वतन्त्र इच्छा या चेष्टा के विरुद्ध विशेष अधिकारी बनाने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता। केन्द्रीय अन्वेषण विभाग का उप-महा-निरीक्षक न्यायालय के विशेष अधिकारी के रूप में कार्य करने के लिए बाध्य नहीं है और यदि वह विशेष अधिकारी के कर्तव्यों को करने में कभी भी अनिच्छुक है तो वह इससे मना करने के लिए स्वतन्त्र है। प्रस्तावित आदेश में विनिर्दिष्ट उपबन्ध किए गए हैं। यदि केन्द्रीय अन्वेषण विभाग का उप-महा-निरीक्षक विशेष अधिकारी के रूप में कार्य करने से मना करता है। पक्षकारों को मामले को न्यायालय को उल्लिखित करने का निदेश दिया गया है। उस दिशा में कोई अन्य विशेष अधिकारी नियुक्त करना होगा। मैं इस आदेश से सहमत हूं जिसको मेरे विद्वान बंन्धु द्वारा अब पारित किए जाने की इच्छा की गई है।"

8. खण्ड न्यायपीठ ने, जिसमें न्यायमूर्ति प्याने और न्यायमूर्ति सेन थे, इस न्यायालय को अपील करने के लिए विशेष इजाजत अनुदत्त की और पश्चिीम

बंगाल राज्य द्वारा एक दाण्डिक अपील सम्यक् प्रक्रम में फाइल कर दी गई है।

9. जैसा कि पहले ही बतलाया गया है राज्य सरकार के कहने पर संविधान के अनुच्छेद 136 के अधीन विशेष इजाजत पिटीशन दाण्डिक अपील में है और इसलिए इसे अपील के साथ संसूचना के लिए रख दिया है। उस विशेष इजाजत पिटीशन के संबन्ध में विशेष तथ्यों को निर्दिष्ट करना आवश्यक नहीं है।

10. यद्यपि न्यायाधिपति सेन ने उच्चतम न्यायालय को भेजे गए पत्रों के आधार पर रिट पिटीशन के चलने के बारे में संदेह उपदर्शित किया है। श्री चटर्जी ने हमारे समक्ष सही रूप से इस बात को स्वीकार किया है कि वे इस स्थिति पर विवाद नहीं करेंगे कि उच्च न्यायालय के लिए डाक द्वारा भेजी गई संसूचना के माध्यम से प्राप्त परिवादों को ग्रहण करने की उच्च न्यायालय को छूट है और उसे रिट पिटीशन के रूप में रजिस्टर करने की छूट है। तथापि श्री चटर्जी ने इस बात का सुझाव दिया, और हम यह समझते हैं कि इस दलील में काफी बल है, कि जब ऐसी सूचना न्यायालय के सक्षम रखी जाए तो इस बात को संसूचित करने के लिए काफी सावधानी और सतर्कता बरती जानी चाहिए कि न्यायालय की प्रक्रिया का दुरुपयोग या दुष्प्रयोग न हो। न्यायालय को प्रथम दृष्टया इस बात का समाधान करना चाहिए कि न्यायालय के समक्ष रखी गई सूचना इस प्रकार की है कि इसकी परीक्षा की आवश्यकता है और यह प्रथम दृष्टया समाधान इत्तिला देने वाले को साक्ष्य से किया जा सकता है अर्थात् कि सूचना देने वाले का चरित्र या उसकी ख्याति कैसी है या उसके द्वारा दी गई सूचना के स्वरूप से अर्थात् क्या यह अस्पष्ट और अभिनिश्चित है या इसमें सर्वेक्षण या अन्वेषण के परिणामस्वरूप विनिर्दिष्ट अभिकथन अंतर्विष्ट हैं या सूचना में उप-वर्णित परिवाद की गुरुता या गम्भीरता से या किसी अन्य परिस्थिति या परिस्थितियों से जो न्यायालय को या न्यायालय के न्यायाधीश को न्यायालय की ओर से भेजी गई संसूचना से पता चलती हो। जहां कि न्यायालय का प्रथम दृष्टया समाधान हो चुका है तो न्यायालय शपथ-पत्र फाइल करनें पर जोर नहीं देगा और उन व्यक्तियों को न्याय देने के दृटिकोण से जिनकी ओर से संसूचना भेजी गई हैं अभिकथनों का अन्वेषण करने की कार्यवाही करेगा। ऐसा विशेष रूप से वहीं होगा जहां कि प्रारम्भिक प्रक्रम पर शपथ-पत्र पर जोर दिया गया हो जिससे अन्याय का पाप कर्म हो तो हो या ऐसी स्थिति उद्भूत हो सकती हो जहां से व्यवहारिक दृष्टिकोण से न्याय के दरवाजे गरीब और असुविधाग्रस्त लोगों के लिए बन्द हो जाते हों। तथापि हम यह बतला दें कि जहां कि न्यायालय का इस प्रकार

प्रथम दृष्टया समाधान नहीं हुआ है तो न्यायालय विरोधी पक्षकार को नोटिस जारी करने से पूर्व न्यायमित्र के रूप में नियुक्त अधिवक्ता से यह कह सकता है कि वह इत्तिला देने वाले से संपर्क स्थापित करे और शपथ-पत्र फाइल करे या नियमित रिट पिटीशन फाइल करे। ये भिन्न-भिन्न प्रक्रियाएं हैं जो इस न्यायालय द्वारा समुदाय के वंचित और अलोच्य लोगों के अधिकारों के अतिक्रमण का परिवाद करने वाली संसूचनाओं पर विचार करते समय न्यायालय द्वारा अपनाई गई हैं। चूंकि श्री चटर्जी ने पत्रों और/या न्यायालय द्वारा प्राप्त सूचना के आधार पर रिट पिटीशन रजिस्टर करने की पद्धति की अविधिमान्यता पर विवाद नहीं किया है तो हमें अब मामले के इस पहलू की परीक्षा करने के लिए नहीं कहा गया है।

11. अपील के समर्थन में हाजिर होने वाले श्री चटर्जी ने यह दलील दी कि दण्ड प्रक्रिया संहिता के अधीन जिसमें उस समय अपनाई जाने वाली कानूनी प्रक्रिया अधिकथित की गई है, जब कि किसी अपराध की रिपोर्ट पुलिस के पास लिखाई जाती है, अन्वेषण की शक्ति पुलिस में निहित है। दंड प्रक्रिया संहिता (संक्षेप में संहिता) के अध्याय 12 में पुलिस को सूचना लिखाने तथा अन्वेषण करने की उनकी शक्तियों के बारे में उपबन्ध अन्तर्विष्ट हैं। यह दलील दी गई है कि जैसे ही पुलिस को ऐसी सूचना लिखाई जाती है मामले के तथ्यों पर जैसा भी उचित हो, कार्यवाही की गई थी। श्री चटर्जी के अनुसार सभी संभव कदम जो तुरंत उठाए जा सकते थे उठाए गए थे। न्यायमूर्ति बरुआ ने अन्वेषण से संबंधित कागजात पेश करने के लिए राज्य को नहीं कहा था और इस बारे में कि पुलिस को लिखाई गई रिपोर्ट पर क्या कार्यवाही की गई थी इससे अपने आपको अवगत कराए बिना अंतरिम आदेश कर दिया जिसका दूरगामी प्रभाव था। विद्वान् काउन्सेल के अनुसार न्यायालय को अन्वेषण में हस्तक्षेप करने की कोई अधिकारिता नहीं थी जो विधि के अधीन पुलिस प्राधिकारियों में निहित था और क्योंकि कर्तव्य का अनुपालन नहीं हुआ था न्यायालय को हस्तक्षेप करने की कोई शक्ति नहीं थी विशेष रूप से जब कि मामला अभी भी अन्वेषण अभिकरण के हाथों में था। स्थानीय पुलिस को या उस मामले के लिए राज्य सरकार को अन्वेषण के अभिलेख पेश करने का कोई अवसर नहीं दिया गया था। इस प्रकार से स्थानीय पुलिस द्वारा पहले से किए गए अन्वेषण के वास्तविक प्रक्रम और स्थिति से अपने आपको अवगत कराए बिना विद्वान् एकल न्यायाधीश ने कतिपय धारणाओं के आधार पर कार्यवाही की जिसके लिए कोई आधार या मूल नहीं था। हमारे समक्ष श्री चटर्जी की यह दलील थी कि राज्य सरकार 7 जून, 1983 को आक्षेपित निदेश किए जाने से पूर्व नोटिस की हकदार थी और निदेश का वास्तविक

प्रभाव जांच के नए माध्यम को पुनः स्थापित करना चूंकि अन्वेषण को विक्षुब्ध करना था, नैसर्गिक-न्याय के नियमों में यह अपेक्षा थी कि राज्य और पुलिस प्राधिकारी की, जिनमें अन्वेषण की कानूनी अधिकारिता निहित हैं, सुनवाई की जानी चाहिए थी। श्री चटर्जी ने यह भी दलील दी कि "जांच" और "अन्वेषण" में संहिता के अधीन स्पष्ट प्रभेद था और जब कि अन्वेषण में पुलिस अधिकारी द्वारा या उस बारे में मजिस्ट्रेट द्वारा प्राधिकृत किसी व्यक्ति द्वारा किए जाने वाले साक्ष्य को इकट्ठा करने की प्रक्रिया निर्दिष्ट थी जांच में मजिस्ट्रेट या न्यायालय द्वारा किए गए विचारण से भिन्न जांच निर्दिष्ट है। इसलिए मुख्य प्रभेद यह था कि जांच मजिस्ट्रेट संबंधी प्रक्रिया थी जब कि अन्वेषण पुलिस-तंत्र के माध्यम से साक्ष्य एकत्रित करने की प्रक्रिया थी और विद्वान् एकल न्यायाधीश के आक्षेपित आदेश का कुल प्रभाव वास्तव में अन्वेषण अभिकरण स्थापित करने का था। यद्यपि आदेश में विशेष अधिकारी के रूप में केन्द्रीय अन्वेषण विभाग के उप-महा-निरीक्षक को नियुक्त करने का निदेश था। उसे जो कार्य करना था उसे जांच कहा गया है। दो पृथक् तंत्रों के माध्यम से अन्वेषण करने से—एक केन्द्रीय अन्वेषण विभाग के अभिकरण द्वारा और दूसरा पुलिस के सामान्य अन्वेषण अभिकरण के द्वारा भ्रांति हो सकती थी और अभिकथनों की सच्चाई में अन्वेषण पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ सकता था।

12. श्री अशोक सेन प्रत्यर्थियों की ओर से हाजिर हुए, जिन्होंने उच्च न्यायालय में पत्र लिखे थे जब कि श्री शंकरदास बनर्जी ने आनन्द बाजार पत्रिका का प्रतिनिधित्व किया। संघ सरकार की ओर से हमारे समक्ष विद्वान् अपर महा-सालिसिटर हाजिर हुए। श्री सेन और श्री बनर्जी ने श्री चटर्जी द्वारा अपीलार्थी की ओर से दी गई दलीलों का खंडन किया।

13. पक्षकारों की ओर से काउन्सेल द्वारा दी गई दलीलों की सूक्ष्म परीक्षा करने से पूर्व यह बात सही है कि उस आधार को स्पष्ट कर दिया जाए और उन प्रश्नों को बना लिया जाए जिनकी परीक्षा की अपेक्षा है। निश्चित रूप से इस प्रक्रम पर इस न्यायालय का कार्य इस बात की परीक्षा करना या इस निष्कर्ष पर पहुंचना नहीं है कि क्या यह आत्म-हत्या का मामला था या हत्या का। यदि अन्वेषण के परिणामस्वरूप साक्ष्य एकत्रित किया जाता है और विचारण होता है तो सेशन न्यायाधीश उस संविवाद का विनिश्चय करेंगे और यह हो सकता है कि सामान्य क्रम में ऐसा संविवाद किसी एक या अन्य रूप में इस न्यायालय के समक्ष भी लिया जाए। इसलिए इस प्रक्रम पर ऐसे प्रश्न पर विचार करना पूर्णतया अनुचित है। संविवादों में से एक जो कलकत्ता उच्च न्यायालय की खंड न्यायपीठ के समक्ष अस्पष्ट और महाकार दिखाई

देता था, राज्य सरकार की समुचित सहमति के बिना इस मामले में जांच करने के लिए केन्द्रीय अन्वेषण विभाग के उप-महा-निरीक्षक की नियुक्ति थी। उस प्रश्न को हमारे समक्ष नहीं उठाया गया और सभी पक्षकारों की ओर से जिसमें अपर महा-सालिसिटर भी सम्मिलित हैं, इस बात को स्वीकार किया गया कि जबकि दिल्ली विशेष पुलिस स्थापन अधिनियम, 1946 (संक्षेप में अधिनियम) की धारा 6 में उस अधिनियम की धारा 5 के अधीन उस स्थापन के अधिकारियों द्वारा अधिकारिता का प्रयोग किए जाने से पूर्व राज्य सरकार की सहमति की अपेक्षा है जब कि न्यायालय द्वारा किसी समुचित मामले में निदेश दिया जाता है तो अधिनियम की धारा 6 के अधीन परिकल्पित सहमति न्यायालय के निदेश का अनुपालन करने के लिए पुरोभाव्य शर्त नहीं होगी। हमारी सुविचारित राय में अधिनियम की धारा 6 लागू नहीं होती जब कि न्यायालय केन्द्रीय अन्वेषण विभाग को अन्वेषण करने का निदेश देता है और पक्षकारों के काउन्सेल ने ठीक ही इस स्थिति पर विवाद नहीं किया। इस दृष्टिकोण से विद्वान् एकल न्यायाधीश का आक्षेपित आदेश और मामले की जांच करने के लिए केन्द्रीय अन्वेषण विभाग के उप-महा-निरीक्षक को नियुक्त करने का खंड न्यायपीठ के अपीली विनिश्चय पर अधिनियम की धारा 6 के अधीन मंजूरी की कमी के कारण आक्षेप करने की छूट नहीं है।

14. परीक्षा के लिए चार प्रश्न अस्तित्व में दिखाई देते हैं—

1. आदेश पर नैसर्गिक-न्याय के नियमों के अतिक्रमण का प्रभाव—.

   इसे दो पहलुओं पर उप-विभाजित किया जा सकता है—

   (i) क्या एकल न्यायाधीश के आदेश नैसर्गिक-न्याय के नियमों के अतिक्रमण में किए जाने के कारण दूषित है।

   (ii) क्या वह आदेश भी अविधिमान्य है क्योंकि विद्वान् एकल न्यायाधीश ने अन्वेषण के प्रक्रम के बारे में अपने आपको अवगत नहीं कराया था और क्या उस में कोई कमी थी।

2. वस्तुतः विशेष अधिकारी द्वारा क्या कार्य किया जाना था और क्या उसके द्वारा किए जाने के लिए अनुध्यात जांच अन्वेषण को प्रभावित करेगी जो स्थानीय पुलिस प्राधिकारियों द्वारा किया जा रहा था।

3. क्या न्यायालय को अन्वेषण में हस्तक्षेप करने की छूट थी जो अभी भी चल रहा है। वे कौन-सी परिस्थितियां हैं जिसमें ऐसा हस्तक्षेप, यदि कोई हो, संभव है और ऐसे

प्रभाव जांच के नए माध्यम को पुनः स्थापित करना चूंकि अन्वेषण को विक्षुब्ध करना था, नैसर्गिक-न्याय के नियमों में यह अपेक्षा थी कि राज्य और पुलिस प्राधिकारी की, जिनमें अन्वेषण की कानूनी अधिकारिता निहित है, सुनवाई की जानी चाहिए थी। श्री चटर्जी ने यह भी दलील दी कि "जांच" और "अन्वेषण" में संहिता के अधीन स्पष्ट प्रभेद था और जब कि अन्वेषण में पुलिस अधिकारी द्वारा या उस बारे में मजिस्ट्रेट द्वारा प्राधिकृत किसी व्यक्ति द्वारा किए जाने वाले साक्ष्य को इकट्ठा करने की प्रक्रिया निर्दिष्ट थी जांच में मजिस्ट्रेट या न्यायालय द्वारा किए गए विचारण से भिन्न जांच निर्दिष्ट है। इसलिए मुख्य प्रभेद यह था कि जांच मजिस्ट्रेट संबंधी प्रक्रिया थी जब कि अन्वेषण पुलिस-तंत्र के माध्यम से साक्ष्य एकत्रित करने की प्रक्रिया थी और विद्वान् एकल न्यायाधीश के आक्षेपित आदेश का कुल प्रभाव वास्तव में अन्वेषण अभिकरण स्थापित करने का था। यद्यपि आदेश में विशेष अधिकारी के रूप में केन्द्रीय अन्वेषण विभाग के उप-महा-निरीक्षक को नियुक्त करने का निदेश था। उसे जो कार्य करना था उसे जांच कहा गया है। दो पृथक् तंत्रों के माध्यम से अन्वेषण करने से—एक केन्द्रीय अन्वेषण विभाग के अभिकरण द्वारा और दूसरा पुलिस के सामान्य अन्वेषण अभिकरण के द्वारा भ्रांति हो सकती थी और अभिकथनों की सच्चाई में अन्वेषण पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ सकता था।

12. श्री अशोक सेन प्रत्यर्थियों की ओर से हाजिर हुए, जिन्होंने उच्च न्यायालय में पत्र लिखे थे जब कि श्री शंकरदास बनर्जी ने आनन्द बाजार पत्रिका का प्रतिनिधित्व किया। संघ सरकार की ओर से हमारे समक्ष विद्वान् अपर महा-सालिसिटर हाजिर हुए। श्री सेन और श्री बनर्जी ने श्री चटर्जी द्वारा अपीलार्थी की ओर से दी गई दलीलों का खंडन किया।

13. पक्षकारों की ओर से काउन्सेल द्वारा दी गई दलीलों की सूक्ष्म परीक्षा करने से पूर्व यह बात सही है कि उस आधार को स्पष्ट कर दिया जाए और उन प्रश्नों को बना लिया जाए जिनकी परीक्षा की अपेक्षा है। निश्चित रूप से इस प्रक्रम पर इस न्यायालय का कार्य इस बात की परीक्षा करना या इस निष्कर्ष पर पहुंचना नहीं है कि क्या यह आत्म-हत्या का मामला था या हत्या का। यदि अन्वेषण के परिणामस्वरूप साक्ष्य एकत्रित किया जाता है और विचारण होता है तो सेशन न्यायाधीश उस संविवाद का विनिश्चय करेंगे और यह हो सकता है कि सामान्य क्रम में ऐसा संविवाद किसी एक या अन्य रूप में इस न्यायालय के समक्ष भी लिया जाए। इसलिए इस प्रक्रम पर ऐसे प्रश्न पर विचार करना पूर्णतया अनुचित है। संविवादों में से एक जो कलकत्ता उच्च न्यायालय की खंड न्यायपीठ के समक्ष अस्पष्ट और महाकार दिखाई

देता था, राज्य सरकार की समुचित सहमति के बिना इस मामले में जांच करने के लिए केन्द्रीय अन्वेषण विभाग के उप-महा-निरीक्षक की नियुक्ति थी। उस प्रश्न को हमारे समक्ष नहीं उठाया गया और सभी पक्षकारों की ओर से जिसमें अपर महा-सालिसिटर भी सम्मिलित हैं, इस बात को स्वीकार किया गया कि जबकि दिल्ली विशेष पुलिस स्थापन अधिनियम, 1946 (संक्षेप में अधिनियम) की धारा 6 में उस अधिनियम की धारा 5 के अधीन उस स्थापन के अधिकारियों द्वारा अधिकारिता का प्रयोग किए जाने से पूर्व राज्य सरकार की सहमति की अपेक्षा है जब कि न्यायालय द्वारा किसी समुचित मामले में निदेश दिया जाता है तो अधिनियम की धारा 6 के अधीन परिकल्पित सहमति न्यायालय के निदेश का अनुपालन करने के लिए पुरोभाव्य शर्त नहीं होगी। हमारी सुविचारित राय में अधिनियम की धारा 6 लागू नहीं होती जब कि न्यायालय केन्द्रीय अन्वेषण विभाग को अन्वेषण करने का निदेश देता है और पक्षकारों के काउन्सेल ने ठीक ही इस स्थिति पर विवाद नहीं किया। इस दृष्टिकोण से विद्वान् एकल न्यायाधीश का आक्षेपित आदेश और मामले की जांच करने के लिए केन्द्रीय अन्वेषण विभाग के उप-महा-निरीक्षक को नियुक्त करने का खंड न्यायपीठ के अपीली विनिश्चय पर अधिनियम की धारा 6 के अधीन मंजूरी की कमी के कारण आक्षेप करने की छूट नहीं है।

14. परीक्षा के लिए चार प्रश्न अस्तित्व में दिखाई देते हैं—

1. आदेश पर नैसर्गिक-न्याय के नियमों के अतिक्रमण का प्रभाव— .

   इसे दो पहलुओं पर उप-विभाजित किया जा सकता है—

   (i) क्या एकल न्यायाधीश के आदेश नैसर्गिक-न्याय के नियमों के अतिक्रमण में किए जाने के कारण दूषित है।

   (ii) क्या वह आदेश भी अविधिमान्य है क्योंकि विद्वान् एकल न्यायाधीश ने अन्वेषण के प्रक्रम के बारे में अपने आपको अवगत नहीं कराया था और क्या उस में कोई कमी थी।

2. वस्तुतः विशेष अधिकारी द्वारा क्या कार्य किया जाना था और क्या उसके द्वारा किए जाने के लिए अनुध्यात जांच अन्वेषण को प्रभावित करेगी जो स्थानीय पुलिस प्राधिकारियों द्वारा किया जा रहा था।

3. क्या न्यायालय को अन्वेषण में हस्तक्षेप करने की छूट थी जो अभी भी चल रहा है। वे कौन-सी परिस्थितियां हैं जिसमें ऐसा हस्तक्षेप, यदि कोई हो, संभव है और ऐसे

मामले में कौन-से मार्गदर्शन अपनाए जाने हैं ।

4. क्या इस मामले के तथ्यों और परिस्थितियों में विद्वान् एकल न्यायाधीश द्वारा दिए गए निदेश और खंड न्यायपीठ द्वारा पुष्ट किए गए कतिपय उपांतरण सही थे ।

15. जैसा कि पहले बताया गया है अपराध से संबंधित अभिकथनों का अन्वेषण करने के लिए राज्य के पुलिस प्राधिकारियों में शक्ति निहित है। तथापि, प्रत्यर्थियों द्वारा अपनाया गया आधार यह था कि राज्य सरकार और पुलिस प्राधिकारियों ने समुचित रूप से कार्यवाही नहीं की और अन्वेषण विधि द्वारा यथा अपेक्षित रूप से नहीं किया गया है जैसा कि 7 जून, 1983 के आदेश से दिखाई देता है । न्यायमूर्ति बरुआ ने पश्चिमी बंगाल राज्य को और संबंधित अन्य प्राधिकारियों को भी रिट के जारी करने के विरुद्ध कारण दर्शाओ नोटिस जारी करने का निदेश जारी किया था । तथापि, राज्य सरकार को और उसके अधिकारियों को उस समय सुनवाई का कोई अवसर नहीं दिया गया था जब कि विशेष अधिकारी नियुक्त करने का निदेश दिया गया था । जिसमें कि जांच करने की शक्ति निहित की गई थी । विशेष अधिकारी नियुक्त करने की तब तक कोई गुंजाइश नहीं हो सकती जब तक कि अन्वेषण का कानूनी माध्यम समुचित रूप से कार्य करने वाला न पाया गया हो । उस प्रक्रम पर इस बात की कल्पना करने का कोई आधार नहीं था कि पत्रों की अन्तर्वस्तु तथा समाचार-पत्र के कालम में कहे गए तथ्यों का खंडन नहीं किया गया था । राज्य सरकार या उसके अधिकारी ही प्राधिकृत रूप से उन तथ्यों का वर्णन कर सकते थे जो यह दर्शाते कि क्या पत्रों या समाचार-पत्र की रिपोर्टों में अन्तर्विष्ट अभिकथन सही थे और यदि थे तो किस हद तक या किस प्रकार से अन्वेषण किया जा रहा था और वे अभी तक किसी प्रक्रम तक पहुंचा था जिससे कि न्यायालय इस प्रथमदृष्टया निष्कर्ष पर पहुंचने के लिए समर्थ किया जा सके कि राज्य सरकार और पुलिस प्राधिकारी अन्वेषण करने के अपने कानूनी कर्तव्य का समुचित रूप से निर्वहन नहीं कर रहे थे । किन्तु जब राज्य सरकार को कोई नोटिस नहीं दिया गया और उन्हें कोई अवसर नहीं दिया गया तो यह कहना कठिन है कि किस प्रकार से एकपक्षीय आदेश ऐसी धारणा पर किया जा सकता था । जब हम ऐसा कहते हैं तो हम यह कहना नहीं चाहते कि किसी भी मामले में न्यायालय द्वारा एकपक्षीय आदेश नहीं किया जा सकता । यदि पत्र में कथित तथ्य या रिट पिटीशन में कहे गए तथ्य विश्वसनीय हैं और ऐसी कोई शीघ्रता है जिससे एकपक्षीय आदेश न करके या नोटिस दिए बिना एकपक्षीय आदेश के बिना न्याय का उद्देश्य विफल हो जाएगा और इससे दमन और शोषण बढ़ेगा या साक्ष्य को समाप्त किया या हटाया जाएगा तो न्यायालय निश्चित रूप से एकपक्षीय

आदेश करने में न्यायोचित होगा। किन्तु यहां पर बिल्कुल भी ऐसी कोई परिस्थितियां नहीं थीं और न्यायालय बहुत अच्छी तरह से प्रत्यर्थियों को नोटिस जारी कर सकता था कि क्या विशेष अधिकारी के रूप में कार्य करने के लिए केन्द्रीय अन्वेषण विभाग उप-महा-निरीक्षक को नियुक्त करने का निदेश देने की कोई आवश्यकता थी और पुलिस प्राधिकारियों और राज्य की पुलिस प्राधिकारियों को उसके द्वारा अपेक्षित सभी संभव सहायता दिए जाने की कोई अपेक्षा थी। हमारा यह दृष्टिकोण है कि न्यायमूर्ति बरुआ राज्य सरकार को नोटिस जारी कर सकता था जिससे कि उन्हें युक्तियुक्त अवसर मिलता और उसके अधिकारी जो पहले से ही अन्वेषण कर रहे थे, उनके द्वारा की गई कार्यवाही के संबंध में रिपोर्ट कर सकते थे और स्थिति का कुल न्यायिक अनुमान लगाने के पश्चात् विशेष अधिकारी नियुक्त करने की आवश्यकता पर विचार किया जाना चाहिए था।

16. किसी अपराध के करने के बारे में जांच करने के निदेश के साथ विशेष अधिकारी की नियुक्ति केवल इस आधार पर ही की जा सकती है कि उसका सही अन्वेषण नहीं हुआ है। पश्चिमी बंगाल राज्य में तथा अन्य सभी राज्यों में पुलिस का सुपरिभाषित सौपानिक प्रशासनिक ढ़ांचा है और जांच या अन्वेषण की एक नई प्रणाली सृजित करने से यह धारणा बनने की संभावना है कि कानूनी अभिकरण ठीक नहीं है और इससे नियमित पुलिस सोपानतन्त्र पर कलंक लगने की संभावना है। हम अपीलार्थी की ओर से श्री चटर्जी के साथ सहमत होने में असमर्थ हैं कि मामले के तथ्थों और परिस्थितियों में और किए गए आदेश के स्वरूप को ध्यान में रखते हुए जांच करने की शक्तियों के साथ विशेष अधिकारी की नियुक्ति का निदेश तब तक नहीं किया जाना चाहिए था जबतक कि अपीलार्थियों की सुनवाई नहीं कर ली गई थी और न्यायालय ने अपने समक्ष अन्वेषण के कागजात नहीं रखवाए थे जिससे कि वह प्रथम दृष्तया संतुष्ट हो कि अन्वेषण या तो सही या पर्याप्त नहीं हुआ है ।

17. संहिता में अभिकथित प्रक्रिया स्पष्ट और निश्चित है। यह हो सकता है कि किसी विशेष मामले में अभिलेख से प्रगट इन परिस्थितियों से प्रथम दृष्टया संतुष्ट होने पर कि कानूनी अभिकरण ने प्रभावी तरीके से कार्य नहीं किया है या परिस्थितियां ऐसी हैं कि इस बात की युक्तियुक्त रूप से धारणा की जा सकती है या अनुमान लगाया जा सकता है कि कानूनी अभिकरण अन्वेषण के अपने कर्त्तव्यों का सही रूप से और निष्पक्ष रूप से निर्वहन करने में समर्थ न हो सके, न्यायालय युक्तियुक्त रूप से उस प्रक्रिया को अनुपूरित करने का विचार कर सकता है, किन्तु जैसा कि हमने पहले

उपदर्शित कर दिया है अभिलेख पर ऐसी कोई पर्याप्त सामग्री नहीं थी जिससे कि विद्वान् एकल न्यायाधीश इस बारे में संतुष्ट हो जाये कि तथ्य विशेष अधिकारी की नियुक्ति का समर्थन करते हैं।

18. न्यायमूर्ति बरुआ ने केन्द्रीय अन्वेषण विभाग के उप-महानिदेशक को विशेष अधिकारी नहीं कहा। न्यायमूर्ति प्याने के निर्णय से हमें इस शब्द के निर्देश का पता चलता है। अपने निर्णय में न्यायमूर्ति प्याने ने यह लिखा—

> "यहा पर इससे पूर्व जो कुछ कहा गया है और मामले के उद्देश्यों और परिस्थितियों के दृष्टिकोण से मैं केन्द्रीय अन्वेषण विभाग के उप-महा-निदेशक को इस मामले में विशेष अधिकारी के रूप में नियुक्त करता हूं।

(रेखांकन हमने किया है)

इस प्रकार से उसे विशेष अधिकारी के रूप में नियुक्त करके उन्होंने आगे यह कहा है कि विशेष अधिकारी, 'सीक्रेट आई' के 8 और 14 मई, 1983 की रिपोर्टों में, तथा प्रत्यर्थियों द्वारा भेजे गए दो पत्रों में, जो दोनों 1 जून, 1983 के हैं, जिसकी प्रतियां 20 जून 1983 को पुष्ट बप्पादित्य राय के शपथ-पत्र का क्रमशः परिशिष्ठ 'क', 'ख' हैं, तारीख 12 मई और 18 मई, 1983 के आनन्द बाजार पत्रिका में प्रकाशित रिपोर्टों में अंतर्विष्ट तथ्यों अभिकथनों और अनुमानों की सत्यता के बारे में जांच करेगा। न्यायमूर्ति सेन ने अपने पृथक् निर्णय में यह बात स्पष्ट कर दी थी कि पारित किए जाने के लिए प्रस्तावित आदेश के अधीन केन्द्रीय अन्वेषण विभाग या केन्द्रीय सरकार का अन्य कोई अभिकरण अन्वेषण के कार्य से न्यस्त नहीं किया जा रहा था।

19. अभिकथनों का अन्वेषण पहले ही शुरू किया जा चुका है और कागजात, जो हमारे समक्ष पेश किए गए हैं, यह उपदर्शित करते हैं कि पुलिस को लिखाई गई प्रथम सूचना 21 मार्च, 1983 की गुम रिपोर्ट थी। जहां तक कि जब ऐसी रिपोर्ट दी गई थी दो गुम बालकों को तलाश करने के लिए सामयिक कदम उठाये गये थे। अगले दिन रेल की पटरी से शव बरामद किए गए थे और उन पर स्वतन्त्र रूप से कार्यवाही की गई थी जहां तक कि दो बालकों के गुम होने के बारे में सूचना और दो शवों के बीच सूचना के बीच मेल स्थापित नहीं हुआ था। सही समय पर शव-परीक्षा की गई थी और चूंकि किसी सम्बन्धी ने शवों का दावा नहीं किया था गैर-दावाकृत शवों का ठेकेदारों के माध्यम से सम्यक् रूप से निपटान कर दिया गया था। पहली बार 5 और 6 अप्रैल, 1983 से तारतम्य स्थापित हुआ था जब कि दो मृतक बालकों के सम्बन्धी बंडेल जी० आर० पी० एस० गए और उन्होंने पुलिस थाने

में रखे गए कपड़ों को उन कपड़ों के रूप में पहचाना जो गुम बालकों ने पहने थे और मृतक बालकों के फोटोग्राफ ने मामले को विवाद से परे कर दिया कि दो युवा बालक जिनके शव रेल की पटरी से बरामद हुए थे और जिनका दाह-संस्कार कर दिया था गुम बालक थे। बालकों के माता-पिता 8 अप्रैल, 1983 को मुख्य मन्त्री से मिले। मुख्य मन्त्री ने पुलिस को सही अन्वेषण करने के लिए निदेश जारी किया। यह कहा गया है कि 14 अप्रैल, 1983 को मुख्य मन्त्री ने विधान सभा के पटल पर एक कथन किया जहां पर उन्होंने यह उपदर्शित कि घटना आत्म-हत्या का मामला लगता है न कि हत्या का। मुख्य मन्त्री के इस कथन की समाचारपत्रों के कालम में तथा निर्देशित पत्रों में काफी आलोचना की गई। सुनवाई के दौरान श्री चटर्जी ने हमारे समक्ष मुख्य मन्त्री के कथन का शासकीय पाठ प्रस्तुत किया। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने केवल यह कहा था कि अन्वेषण किया गया था उस हद तक यह दिखाई पड़ता है कि यह आत्म-हत्या का मामला था। यह कहना असंगत नहीं होगा कि शव-परीक्षा करने वाले डा० क्टर ने यह राय दी थी कि यह आत्महत्या का मामला हो सकता है। स्पष्टतः विधान सभा के पटल पर कथन का आधार चिकित्सीय रिपोर्ट थी जो स्पष्टतः मुख्य मन्त्री को उपलब्ध थी।

20. "जांच" और "अन्वेषण" कानूनी शब्द हैं जिनकी परिभाषा संहिता में की गई है। सुनवाई के दौरान पक्षकार के कांउसेल ने हमें बताया है कि पश्चिमी बंगाल पुलिस मैनुअल के अधीन इन शब्दों को उनके द्वारा भिन्न अर्थ दिया गया है। हमारे प्रयोजन के लिए इस प्रश्न पर और विचार करना आवश्यक नहीं है। विशेष अधिकारी को न्यस्त कार्य को कुछ भी कहा जाए इस बात में कोई विवाद नहीं है कि उससे साक्ष्य और दस्तावेजों से यदि कोई हों, दो बालकों की मृत्यु के संबन्ध में तथ्य अभिनिश्चित करना अपेक्षित था। इस प्रक्रिया में आवश्यक रूप से उन्हीं स्रोतों को खटखटाकर तथ्य का पता करने वाली जांच अंतर्वलित थी जिससे कि अन्वेषण अभिकरण द्वारा संपर्क किया जाना अपेक्षित था। इसलिए इसमें आवश्यक रूप से दोहरा अन्वेषण अंतर्वलित है।

21. पुलिस ने पहले ही अभिकथनों का अन्वेषण शुरू कर दिया है। आनन्द बाजार पत्रिका के संरक्षण के अधीन प्राइवेट जासूस अभिकरण ने भी मामले में अन्वेषण शुरू कर दिया है और जैसा कि आनन्द बाजार पत्रिका में रिपोर्टों से और उच्च न्यायालय और इस न्यायालय के अभिलेखों पर रखी गई सामग्री से प्रतीत होता है अन्वेषण निश्चित रूप से राज्य अभिकरण द्वारा किया गया है। इसका अर्थ यह है कि लगभग एक ही समय में तीन पृथक् प्रणाली प्रवृत्त थीं। प्राइवेट जासूस अभिकरण के कार्य पर सामान्यतः न्यायालय को कोई अधिकारिता नहीं

होती किन्तु इस तथ्य के दृष्टिकोण से कि एक ही समय में किए जाने वाले अन्वेषण के लिए दो पृथक् प्रणाली अपनाई गईं थीं निश्चित रूप से भ्रम पैदा करेगा और एक समय में दो प्रणालियों के कार्य करण से सही अन्वेषण पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ने की संभावना है जिससे रहस्य के अधीन दबे हुए सत्य को प्रगट करना अधिक कठिन हो जाएगा। हमारी राय में इस दोहरी प्रक्रिया को चलाने से न्याय का उद्देश्य पूरा होने की संभावना नहीं है न ही वह उद्देश्य पूरा होगा जिसके लिए इसे स्थापित किया गया है। विशेष अधिकारी को अधिनियम की धारा 5 के अधीन शक्तियों का प्रयोग नहीं करना था और यदि वह अन्वेषण के मामले में कोई वास्तविक सहायता चाहता, इसे राज्य प्रशासन के पुलिस अधिकारियों के माध्यम से कराया जा सकता था। इससे और भ्रांति होने की संभावना है जहां तक कि एक ही पुलिस अधिकारी द्वारा एक से अधिक अवसर पर साक्षियों से संपर्क करना होगा—एक बार पुलिस द्वारा किए जाने वाले अन्वेषण के दौरान और फिर विशेष अधिकारी की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए। हमें विश्वास है कि उच्च न्यायालय का आशय कभी भी यह नहीं था कि न्याय के हित पर प्रभाव पड़े और सच्चाई का पता लगाने के लिए गम्भीर प्रयत्न निष्फल हो जाए।

22. अगला पहलू जिस पर विचार किया जाना है, यह है कि क्या न्यायालय को अन्वेषण में हस्तक्षेप करने की छूट है जो अभी किया जा रहा है। हमारे समक्ष इस बात को स्वीकार किया गया है और हमारे दृष्टिकोण से सही ही स्वीकार किया गया है कि अन्वेषण संहिता की स्कीम के अधीन पुलिस का मामला है। ऐसा प्रतीत होता है कि न्यायिक मत सही है और हमारे पास इस न्यायालय की बहुत-सी नजीरें हैं जिनका कि पुलिस अन्वेषण में न्यायालय द्वारा हस्तक्षेप को अनुमोदित नहीं किया गया है। यह प्रश्न **पश्चिमी बंगाल राज्य बनाम एस० एन० बासक**[1] के मामले में उसी पश्चिमी बंगाल राज्य द्वारा की गई अपील में तीन न्यायाधीशों के खण्ड न्यायपीठ के समक्ष उठा था। न्यायाधिपति कपूर ने **किंग एम्परर** बनाम **ख्वाजा नजीर अहमद** के मामले में न्यायिक समिति के मतों के अनुमोदन के साथ उद्धृत किया था जहां कि प्रिवी कौन्सिल ने यह मत व्यक्त किया था—

> "न्यायपालिका और पुलिस के कार्य सम्पूरक हैं न कि अतिव्यापी और व्यष्टिक स्वतन्त्रा एवं विधि और व्यवस्था के सम्यक् अनुपालन का तालमेल उनमें प्रत्येक को अपने-अपने कर्त्तव्यों का निर्वहन किए जाने पर ही अभिप्राप्त किया जा सकता है। वस्तुतः ऐसा सदैव समुचित

[1] [1963] 2 एस० सी० आर 52.

[2] 1944 ला रिपोर्ट 71.

मामले में न्यायालय के हस्तक्षेप के अधिकार के अधीन होगा जबकि दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 491 के अधीन हैवियस कार्पस के प्रकार के निदेश देने के लिए समावेदन किया गया हो।"

तथापि ऐसे मामले में जैसा कि प्रस्तुत मामला है न्यायालय के कर्त्तव्य उस समय प्रारम्भ होते हैं जबकि उसके समक्ष कोई आरोप किया गया हो और उससे पहले नहीं। कभी-कभी ऐसा सोचा गया है कि धारा 561 (ए) (अब धारा 482) ने न्यायालय को अधिक शक्तियां दी गई हैं जो उस धारा के अधिनियम से पूर्व उसके पास नहीं थीं। लेकिन ऐसा नहीं है, धारा नई शक्तियां नहीं देती, यह केवल इस बात का उपबन्ध करती है कि जिन शक्तियों को न्यायालय पहले से अंतर्निहित रूप से रखे हुए था वह उन्हें रखेगा और जैसा कि मान्य न्यायाधीश समझते हैं उन्हें अन्तःस्थापित किया जाएगा। जिससे कि ऐसा न समझा जाये कि न्यायालय द्वारा रखी गई शक्तियां केवल वह शक्तियां ही हैं जो दण्ड प्रक्रिया संहिता द्वारा स्पष्टतः प्रदत्त की गई हैं और कोई अंतर्निहित शक्तियां अधिनियम के पारित होने पर पुनर्जीवित नहीं हुई हैं।"

न्यायालय ने आगे यह कहा : "इस निर्वचन के साथ जो पुलिस के कानूनी कर्त्तव्यों और शक्तियों और न्यायालय की शक्तियों का किया गया है हम उससे सहमत हैं"। इस निष्कर्ष पर कि उच्च न्यायालय अन्वेषण में हस्तक्षेप करने में अपनी अधिकारिता से बढ़ गया था पश्चिमी बंगाल राज्य की अपील मंजूर कर ली गई थी।

23. यह प्रश्न **एस० एन० शर्मा** बनाम **विपिन कुमार तिवारी और अन्य**[1] के मामले उद्भूत हुआ। इस अवसर पर न्यायालय से मजिस्ट्रेट की शक्तियों के विस्तार की परीक्षा करने के लिए कहा गया था। सुसंगत धाराओं को निर्दिष्ट करने के पश्चात् न्यायालय ने यह निष्कर्ष दिया कि—

"इस प्रकार से इन धाराओं की स्कीम स्पष्टतया ऐसी है कि किसी संज्ञेय अपराध का अन्वेषण करने की पुलिस की शक्ति मजिस्ट्रेट द्वारा अनियन्त्रित है और केवल ऐसे मामले में जहां कि पुलिस मामले का अन्वेषण न करने का विनिश्चय करती है मजिस्ट्रेट हस्तक्षेप कर सकता है और या तो अन्वेषण का निदेश दे सकता है या अनुकल्पतः अपने अधीनस्थ किसी मजिस्ट्रेट को मामले की जांच करने के लिए प्रतिनियुक्त कर सकता है। अन्वेषण करने की पुलिस की शक्ति मजिस्ट्रेट द्वारा किसी नियन्त्रण से स्वतन्त्र बनाई गई है।"

24. इसके पश्चात् **राज्य** बनाम **जे० एस० सी० सल्दाना और अन्य**[2]

---

[1] [1970] 3 एस० सी० आर० 946.

[2] [1980] 4 उम० नि० प० 256=[1980] 2 एस० सी० आर० 16.

का मामला आता है। विशिष्ट तथ्यों में इस न्यायालय से फिर अन्वेषण पर न्यायिक हस्तक्षेप के विस्तार का न्याय-निर्णयन करने के लिए कहा गया था। मामले के इस पहलू पर बोलते हुए न्यायाधिपति देसाई ने खण्ड न्यायपीठ की ओर से इस प्रकार निर्णय दिया—

"अपराध का पता लगाने और अपराध का दण्ड देने के कार्य क्षेत्र में स्पष्ट और सुभिन्न अन्तर है। अपराध का अन्वेषण पुलिस विभाग के जरिए अन्ततः कार्यपालिका के लिए आरक्षित है जिस पर अधीक्षण राज्य सरकार में निहित है। कार्यपालिका, जिस पर विधि और व्यवस्था की स्थिति पर सतर्कता रखने का कर्त्तव्य का भार है। अपराध को रोकने के लिए बाध्य है और यदि यह अभिकथित किया जाता है कि अपराध किया गया है तो यह उसका परम कर्त्तव्य है कि वह अपराध के बारे में अन्वेषण करे और अपराधी को दण्ड दिलाए। जब एक बार वह अपराध का अन्वेषण कर लेती है, यह पता लगा लेती है कि अपराध किया गया है तो उसका कर्त्तव्य है कि अपराध को साबित करने के प्रयोजन के लिए साक्ष्य जुटाए। जब एक बार यह पूरा हो जाए और अन्वेषणअधिकारी न्यायालय में रिपोर्ट पेश कर दे जिसमें यह प्रार्थना की जाय कि संहिता की धारा 190 के अधीन न्यायालय द्वारा अपराध का संज्ञान कर लेने पर अन्वेषण का पुलिस कार्य धारा 173 (8) में अन्तर्विष्ट उपबन्धों के अधीन रहते हुए समाप्त हो जाता है। अतः यह अवधारित करने के लिए न्यायपालिका का न्याय सम्बन्धी कार्य आरम्भ होता है कि अपराध किया गया है या नहीं और यदि किया गया है तो क्या इस व्यक्ति या उन व्यक्तियों द्वारा किया गया है जिन पर पुलिस द्वारा न्यायालय को दी गई अपनी रिपोर्ट में अपराध का आरोप लगाया गया है और न्यायालय प्रत्यक्ष रूप से साबित अपराध के लिए विधि के अनुसार पर्याप्त दण्ड दे। इस प्रकार अपराध का पता लगाने के क्षेत्र में और पुलिस तथा मजिस्ट्रेट के बीच पश्चात्वर्ती न्याय-निर्णयन के क्षेत्रों में सुनिश्चित और सुपरिभाषित अन्तर है।"

प्रिवी कौंसिल के मत जिन्हें पहले ही उद्धृत कर दिया गया है, अनुमोदन के साथ फिर उद्धृत किए। न्यायाधिपति देसाई ने यह कहा—

"जुडिशियल कमेटी के इस मत में अपराध का पता लगाने और उसके पश्चात्वर्ती विचारण के क्षेत्र में कार्यपालिका और न्यायपालिका के कार्यों को स्पष्ट सीमांकित किया गया है और यह प्रतीत होता है कि किसी संज्ञेय अपराध के बारे में अन्वेषण करने की पुलिस की शक्ति में

मामूली तौर पर न्यायपालिका द्वारा हस्तक्षेप नहीं किया जाता।"

24. ऐसा प्रतीत होता है कि इस विषय पर यह सुस्वीकृत न्यायिक राय है। इस प्रक्रम पर इस न्यायालय के एक बाद के विनिश्चय को निर्दिष्ट करना समुचित होगा जिसका अवलंब उच्च न्यायालय की खंड न्यायपीठ ने लिया था, वह मामला भगवन्तसिंह बनाम पुलिस आयुक्त, दिल्ली[1] का मामला था। वह मामला इस प्रकार से उठा जिसे कि अब दुल्हन जलाने की घटना के नाम से पुकारा जाता है। अन्वेषण समाप्त हो चुका था और इस मामले का निष्कर्ष आत्म-हत्या के होने का हो गया था। इस प्रक्रम पर भारत सरकार के गृह राज्य मंत्री (मामला दिल्ली संघ राज्य क्षेत्र का था) ने अन्वेषण को फिर केन्द्रीय जांच ब्यूरो को सौंपने का विनिश्चय किया। इस न्यायालय के समक्ष अन्वेषण के संदर्भ में पुलिस प्राधिकारियों के विरुद्ध अभिकथन करते हुए रिट पिटीशन फाइल किया। अन्वेषण अभिकरण के इस निष्कर्ष को कि यह आत्म-हत्या का मामला था, चुनौती दी गई। इस न्यायालय ने स्पष्टतया यह उपदर्शित किया—

> "हमारे लिए इस मामले में इस प्रश्न पर विचार करना संभव नहीं है और न ही हमारे लिए ऐसा करना सही होगा कि गुरिन्दर कौर ने आत्म-हत्या की थी या उसकी हत्या कर दी गई थी। यह ऐसा विषय है जो कि अधिकारिता वाले किसी न्यायालय द्वारा किसी दांडिक अपराध के विचारण में समुचित रूप से अन्तर्वलित है। यहां हमारा संबंध केवल इस प्रश्न की परीक्षा करने से है कि क्या गुरिन्दर कौर की मृत्यु की सूचना देने के पश्चात् पुलिस प्राधिकारियों ने स्वयं वैसे ही संचालन किया जैसा कि उनसे विधि और न्याय द्वारा अपेक्षित है।"

यह न्यायालय अपने समक्ष रखी गई सामग्री पर कार्यवाही करने के पश्चात् इस निष्कर्ष पर पहुंचा—

> "हमारे समक्ष रखी गई सामग्री से दो अनुमान निकलते हैं। प्रथम यह है कि घटना के बाद पुलिस द्वारा किए गए अन्वेषण अनियमित और निरुत्साह था और इससे यह दर्शित होता है कि मामले की सच्चाई का पता लगाने की आकस्मिक आवश्यकता की चिंता नहीं की गई थी। ......अन्य अनुमान जिससे हमें बाधा होती है यह है कि पुलिस केस डायरी में की गई प्रविष्टि (अभिलेख पर प्रति शपथ-पत्र के उपाबंध में वर्णित) से यह प्रतीत नहीं होता है कि यह पूर्णतया उतनी ईमानदारी से और दक्षता पूर्वक दर्ज किया गया है जितनी ऐसी

---

1 [1983] 3 उम० नि० प० 1025=[1983] 3 एस० सी० सी० 344.

दस्तावेज की बाबत विधि में अपेक्षित है। उस प्रास्थिति के किसी दस्तावेज के बनाए रखने का संयोग मात्र न केवल इसे बनाए रखने वालों उन उत्तरदायी व्यक्तियों को न केवल कोई ख्याति नहीं प्रदान करता है बल्कि उस प्रयोजन को ही विफल करता है जिसके लिए इसका बनाए रखा जाना अपेक्षित है। हम इसे अत्यधिक महत्वपूर्ण समझते हैं कि पुलिस केस डायरी में प्रविष्टिया शीघ्रता से पूर्ण ब्यौरे सहित, सभी महत्वपूर्ण तथ्यों का उल्लेख करते हुए सावधानीपूर्वक कालानुक्रमिक और पूर्ण विषय-निष्ठता सहित की जानी चाहिए।"

न्यायालय ने यह मत व्यक्त करके अपना निष्कर्ष दिया—

"हमने इस मामले के कतिपय महत्वपूर्ण लक्षणों के प्रति निर्देश किया है। हमने ऐसा यह अवधारित करने के प्रयोजन के लिए नहीं किया है कि उस लड़की की हत्या की गई थी या उसने आत्म-हत्या की थी, बल्कि एक मात्र उस रीति के बारे में ध्यान आकर्षित करने के उद्देश्य से किया है जिसमें मामले का अन्वेषण किया गया था। उन व्यक्तियों को निराश करते जैसा कि उन व्यक्तियों को प्रतीत हो सकता है, जिन्होंने इस आधार पर दांडिक कार्यवाही करने की इच्छा व्यक्त की है कि अपराध किया गया है, हम यह नहीं समझते कि हम अपने समक्ष की सामग्री के आधार पर उस सीमा तक जा सकते हैं। हम यह समझते हैं कि पिटीशनर के निवेदन पर मामले का अन्वेषण दिल्ली पुलिस प्रशासन से केन्द्रीय जांच ब्यूरो को अंतरित कर दिया गया था। हम आशा करते हैं और हमारा यह विश्वास है कि अन्वेषण पूरा हो गया होगा। यदि पूरा नहीं हुआ है तो केन्द्रीय जांच ब्यूरो से आज से तीन मास के भीतर अन्वेषण पूरा करने का तथा ऐसी कार्रवाई करने का निवेदन करते हैं, जैसा कि अन्वेषण के परिणाम द्वारा आवश्यक हो।"

इस विनिश्चय में ऐसी कोई बात नहीं कही गई है जो प्रिवी कौंसिल की न्यायिक समिति द्वारा अधिकथित और इस न्यायालय द्वारा तीन अवसरों पर अनुमोदित सुनिश्चित प्रतिपादना के विरुद्ध हो।

25. प्रस्तुत मामले में अन्वेषण जैसा कि न्यायालय में हमें बताया गया है अभी भी लंबित है। किसी दिन इस बात की संभावना है और हमारा विश्वास और आशा है कि इसमें कोई और विलंब नहीं होगा कि सक्षम अधिकारिता का न्यायालय इस मामले को लेगा और उसे इस बात का विनिश्चय करने के लिए कहा जाएगा कि क्या यह हत्या या आत्म-हत्या का मामला है। इसलिए हमने इसे विवेकाधिकार का सही प्रयोग माना है कि तथ्यों पर विचार न किया जाए

और तब तक एक या दूसरी और कोई राय न दी जाए जिससे कि विचारण पर जो किया जाना है प्रतिकूल प्रभाव पड़े। यह उपदर्शित करना पर्याप्त है कि न्यायालय को अन्वेषण अभिकरण को निदेश देने की अवशिष्ट अधिकारिता प्राप्त है जब कि उसका यह समाधान हो जाए कि विधि की अभ्यपेक्षाओं का अनुपालन नहीं किया जा रहा है और अन्वेषण समुचित रूप से तुरंत और तत्परता से नहीं किया जा रहा है। न्यायालय को इस तथ्य से सचेत होना होगा कि विधि की स्कीम यह है कि अन्वेषण पुलिस को सौंपा गया है और यह न्यायालय की सामान्य पर्यवेक्षी शक्ति का विषय नहीं है। मामले के तथ्यों पर जैसा कि हमारे समक्ष रखा गया है, हम यह दृष्टिकोण अपनाने के लिए प्रवृत्त नहीं है कि न्यायालय के समक्ष रखी गई सामग्री इस न्यायालय द्वारा उपदर्शित रूल को बनाए जाने के अपवाद को न्यायोचित नहीं ठहराती और इस प्रक्रम पर विशेष अधिकारी की नियुक्ति अपेक्षित नहीं थी।

26. तब इस मामले में किए गए आदेश का क्या स्वरूप होना चाहिए था यह विचार का दूसरा पहलू है। इस निष्कर्ष पर जिसको कि हमने ऊपर उपदर्शित किया है, अपील मंजूर करनी होगी और विशेष अधिकारी की नियुक्ति का आदेश अपास्त करना होगा।

27. हमारे विचार से कुछ मत समुचित हैं और पुलिस प्राधिकारियों द्वारा और अन्वेषण किए जाने के संबंध में इनकी अपेक्षा की गई है। हम यह भी उपदर्शित कर दें कि किया गया अन्वेषण काफी संतोषजनक नहीं रहा है। जैसा कि पहले बतलाया गया है, मुख्य मंत्री ने बहुत समुचित रूप से इस बात का आदेश दिया था कि पूरा और सतर्कतापूर्ण अन्वेषण तीर्थंकर और संजीव की दुर्भाग्यपूर्ण मृत्यु के बारे में किया जाना चाहिए। सुनवाई के समय हमारे समक्ष कागजात पेश किए गए थे और यह उपदर्शित करते हैं कि मुख्य मंत्री के आदेशों के अनुसरण में गृह सचिव ने सर्वोच्च पुलिस अधिकारियों को पत्र भेजे थे जिनमें मुख्य मंत्री की गंभीर चिंता बतलाई थी तथा उनका यह निर्देश भी भेजा था कि एक उचित और पूर्ण अन्वेषण किया जाना चाहिए। हमारे समक्ष रखी गई सामग्री से हमें यह अनुभव होता है कि अन्वेषण करने में पुलिस अधिकारियों ने इस बात को सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि 'सीक्रेट आई' द्वारा पेश की गई रिपोर्टें जैसा कि आनंद बाजार पत्रिका के अंकों से पता चलता है सही सामग्री पर आधारित नहीं थी और कि सही निष्कर्ष नहीं निकाले गए हैं और उद्देश्यपूर्ण ढंग से गहन अन्वेषण नहीं किया गया है। फिर यह भी पता चलता है कि चूंकि पुलिस प्राधिकारियों ने अपने अन्वेषण के दौरान दो बालकों के व्यपहरण को सिद्ध करने का कोई अता-पता नहीं लगा था उन्होंने तत्काल यह राय बना ली कि दो बालकों ने आत्म-

हत्या की है। यह बात अन्वेषण के दौरान अभिप्राप्त किसी अते-पते की अपेक्षा संदेह पर अधिक आधारित थी। एक बार जब उन्होंने यह राय बना ली तो हमारे समक्ष पेश की गई सामग्री से ऐसा पता चलता है कि उन्होंने उसे उचित ठहराने का प्रयत्न किया। तथ्य और परिस्थितियां हमारे मस्तिष्क पर यह प्रभाव छोड़ती हैं कि अन्वेषण केवल उस दृष्टिकोण का समर्थन करने के लिए सामग्री एकत्रित करने के लिए सरणीबद्ध किया गया था।

28. वास्तव में यह बात दुर्भाग्यपूर्ण है कि दो बालकों के गुम होने की रिपोर्ट चूंकि समुचित पुलिस प्राधिकारियों के पास उचित रूप से लिखा दी गई थी और यह तथ्य कि दो बालकों के गुम होने के बारे में पर्याप्त रूप से प्रकाशन कर दिया गया था, जैसा कि साधारणतया किया जाता है दो बालकों के शव उनकी पहचान का प्रयत्न किए जाने से पूर्व ही उनका दाह-संस्कार कर दिया गया था। अन्वेषण के अभिलेखों में ऐसी सामग्री है जो यह उपदर्शित करती है कि बैरकपुर से पांडुवा के लिए दो रेल टिकट दो मृत बालकों के कब्जे से पाए गए थे और उन दो टिकटों के अनभिग्रहण के लिए प्रभारी सहायक उप-निरीक्षक को वास्तव में निलम्बित कर दिया गया है। इस बात को समझना वास्तव में कठिन है कि सहायक उप-निरीक्षक ने दो टिकटों का अभिग्रहण क्यों न किया था यदि वे दो बालकों के शवों से प्राप्त हुए थे चाहे उसने यह अनुभव किया हो कि यह आत्म-हत्या का मामला है। मान लीजिए कि दो बालकों के शवों से दो टिकटों की बरामदगी का तथ्य सही था उस समय यह अता-पता मिल जाता कि दो बालकों ने बैरकपुर से यात्रा की थी और जब यह रेल टिकटों के माध्यम से तालमेल उपलब्ध हो जाता तो यह बात दुर्बोध्य हैं कि पुलिस अधिकारी बैरकपुर में पुलिस प्राधिकारियों से सम्पर्क करने में क्यों असफल रहे। यदि ऐसा कर लिया जाता तो तालमेल स्थापित करने की संभावना हो सकती थी, विशेष रूप से जब कि गुम होने की रिपोर्ट उपलब्ध थी और मामले के अन्वेषण में इससे भिन्न मोड़ हो सकता था।

29. यह बात आवश्यक है कि अन्वेषण करने वाले अभिकरण ने इस प्रयोगात्मक निष्कर्ष के बारे में अपने मस्तिष्क से भ्रांति दूर की होगी कि मृत्यु आत्म-हत्या थी। हमारे कहने का यह अर्थ नहीं है कि सही अन्वेषण के पश्चात् वे उसी निष्कर्ष पर नहीं पहुंच सकते थे। यह कहने का अभिप्राय यह है कि वह निष्कर्ष वह आधार नहीं होना चाहिए था जिस पर कि अन्वेषण किया जाता। न ही उस निष्कर्ष को निकालने का और अन्वेषण किए बिना प्रक्रम आया था, ऐसे पहलू हैं जो आत्म-हत्या के सिद्धान्त के विरुद्ध हैं। सामान्यतया कोई व्यक्ति तब तक आत्म-हत्या नहीं करेगा जब तक कि उसके लिए कठोर और बाध्यकारी कारण न हों। इस प्रकार सामान्यतया आत्म-

हत्या के प्रत्येक मामले के पीछे बहुत ही दबाव पूर्ण हेतुक होता है। ऐसे हेतुक के अस्तित्व को प्रथमदृष्टया सिद्ध करने के लिए पर्याप्त सामग्री अन्वेषण के अभिलेख पर नहीं लाई गई थी। दोनों मृतक बालक युवक थे। तीर्थांकर को उदीयमान लड़का कहा गया है जो अपने अध्ययन में चतुर था और स्वभाव से मिलन-सार था और उनकी आयु के हिसाब से जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में वे बढ़चढ़कर भाग लेता था। तीर्थांकर के बारे में निराश और हताश प्रेमी कहना फिर अधिक साक्ष्य द्वारा समर्पित नहीं है। मानव मस्तिष्क की प्रतिक्रियाओं का कोई आकार नहीं होता और यह हो सकता है कि तीर्थांकर असाधारण लड़का हो और उसमें भावावेश हो और उसने असाधारण प्रकार से कार्य किया हो। किन्तु यह निष्कर्ष या तो संदेह पर या उस सामग्री पर नहीं निकाला जा सकता जो उस सिद्धांत में एकदम से ठीक न बैठती हो। तीर्थांकर के हेतुक के बारे में यदि अन्वेषण करने वाले अभिकरण के दृष्टिकोण को स्वीकार कर भी लिया जाए तो उसका कोई हेतुक दिखाई नहीं देता जहां तक कि उसकी मित्रता का सम्बन्ध है। इस बात को छोड़कर कि वह एक पक्का दोस्त था और वह उस तरह से कार्य कर सकता था जैसा कि तीर्थांकर ने किया। संजीव की आत्म-हत्या करने के लिए जो सामग्री अब तक इकट्ठी की गई वह बहुत कमजोर दिखाई देती है। ऐसी कम घटनाएं होती हैं जहां पर वफादारी की कोई सीमाएं नहीं होती लेकिन इस बात को उचित ठहराने के लिए कोई सामग्री नहीं है कि संजीव के पास कोई ऐसा दुर्लभ गुण होगा।

30. यदि आत्म-हत्या करनी होती है तो इसके लिए इतने फासले की यात्रा करना दो बालकों के लिए अपेक्षित नहीं है और रेलवे ट्रैक पर अंजाने स्थान में मरने की आशा नहीं की जा सकती। वह स्थान जहां कि शव पाए गए थे वास्तव में बहुत एकांत नहीं था और आत्म-हत्या करने के प्रयत्न से पूर्व उसका पता लगाए जाने की आशंका को टाला नहीं जा सकता। दो बालक पर्याप्त रूप से बड़े थे जिनका युक्तियुक्त व्यवहार था। हमारे समक्ष पंडुवा जाने के लिए यात्रा करने के प्रकार के सम्बन्ध में बहुत-सी आलोचना की गई और स्पष्टीकरण दिए गए। कुछ रेलवे टिकट पंडुवा के लिए बेचे गए थे और इस बात में भ्रांति है कि क्या विक्रय दो या 2-1/2 टिकटों का था। बिक्री के समय के बारे में सामग्री बहुत स्पष्ट नहीं है। यदि उचित अन्वेषण किया जाता है और इस पर और ध्यान दिया जाता है तो इस बात की संभावना है कि ऐसी और सामग्री का पता चल सकता था जिसके आधार पर मृत्यु के बारे में और तुलनात्मक स्पष्टीकरण पर विश्वास किया जा सकता था और अन्वेषण सही दिशा में तब किया जा सकता था।

31. एक अन्य पहलू भी है जिस पर हमें तुरन्त ध्यान देना चाहिए। हमारे समक्ष अन्वेषण के सम्बन्ध में शपथपत्र और अन्य सामग्रियां रखी गई थीं। प्राइवेट अभिकरण अर्थात् "सीक्रेट आई" द्वारा और कानूनी अभिकरण द्वारा भी। सरकारी रिपोर्ट में उच्च पुलिस अधिकारियों द्वारा प्रयुक्त भाषा वास्तव में दुर्भाग्यपूर्ण है। उन्होंने अपने आपको न केवल असंयत और अनुचित भाषा में अभिव्यक्त किया है, किन्तु अपने दृष्टिकोण में वे अश्लील रहे हैं। श्री देवव्रत घर "सीक्रेट आई" के निदेशक की रिपोर्ट के उत्तर में प्रयुक्त भाषा समान रूप से बुरी है। प्राइवेट अभिकरण तथा सरकारी अभिकरण द्वारा किए गए अन्वेषण का आशय सत्य का पता लगाना था। जब कि इन दोनों अभिकरणों का सम्पूर्ण ध्यान सत्य का पता लगाने में लगाना चाहिए था या उनसे इसकी अपेक्षा थी। उनको वाकद्वंद में नहीं उलझना चाहिए था। हम दोनों द्वारा अंगीकृत बर्ताव का कठिन शब्दों में अनुमोदन करते हैं।

32. ऐसा प्रतीत होता है कि इससे समाज के लोगों की धारणा इन दो बालकों की रहस्यमय मृत्यु के कारण काफी हिल चुकी थी और वे घबरा गए थे। यह ऐसी घटना है जिस पर राज्य के लोग उचित रूप से चिंतित हैं। युक्तियुक्त रूप से वे पुलिस प्राधिकारियों से इस बात की अपेक्षा करते हैं कि वे अपना पूर्ण ध्यान केन्द्रित करें और अपने अधिकार में निपुणता का प्रयोग करते हुए इस रहस्य का पता लगाएं और उनके द्वारा पता किए गए सत्य के आधार पर कार्यवाही करें। इसलिए यह बात आवश्यक है कि काफी निष्पक्षता दर्शाई जानी चाहिए और अन्वेषण करने वाले अभिकरण को खुले दिमाग से सभी उपलब्ध सामग्री को एकत्रित करना चाहिए और केवल उसके पश्चात् उस सामग्री को निकाल देना चाहिए जो त्यागने योग्य है और अपने प्रयोजन के लिए शेष सामग्री को प्रयोग किए जाने के लिए रखना चाहिए। हम इस स्थिति के बारे में सचेत हैं कि ऐसे अवसर हैं जब कि मृत्यु पूरे प्रयत्नों के बावजूद रहस्य बनी रहती है। किन्तु हमें आशा और विश्वास है कि ईमानदारी से प्रयत्न करने पर और वास्तविक प्रयास से सत्य का पता लगेगा और राज्य की पुलिस प्राधिकारी अपना विश्वासनीय हिसाब देने की स्थिति में होंगे।

33. हम यह नहीं समझते हैं कि अन्वेषण को राज्य पुलिस-तन्त्र से लेने की कोई आवश्यकता है जो कि कानूनी अभिकरण है। तथापि इस बात का सुझाव देंगे कि पश्चिमी बंगाल पुलिस महा-निदेशक समक्ष पर्यवेक्षी अधिकारी को राज्य पुलिस के उच्च पदों से नियुक्त करेंगे जो अन्वेषण में दक्ष हों जिससे कि वे प्रस्ततु मामले में अन्वेषण का पर्यवेक्षण कर सकें। हम

आशा करते हैं कि पुलिस प्राधिकारी "सीक्रेट आई" द्वारा एकत्रित किसी भी विश्वसनीय सामग्री का उपयोग करेंगे यदि ऐसी सामग्री पुलिस प्राधिकारियों को उपलब्ध कराई जाती है। हमें आशा और विश्वास है कि निश्चित प्रयत्न राज्य सरकार द्वारा और उसके पुलिस प्राधिकारियों द्वारा सत्य का पता लगाने के लिए किए जाएंगे और इस मामले को हत्या का मामला दिखाई देने की दशा में हत्यारों के विरुद्ध कार्यवाही की जाएगी और उन पर विधि के अनुसरण में कार्यवाही होगी। हम आश्वस्त हैं कि पुलिस प्राधिकारी इसे चुनौती मानेंगे और अपने काम के द्वारा इस पर खरे उतरेंगे। इन कार्यवाहियों में अपनी कार्यवाही को न्यायोचित ठहराएंगे कि वे अन्वेषण करने के लिए सक्षम हैं और जैसा कि उच्च न्यायालय ने किया था, केन्द्रीय अन्वेषण विभाग को बुलाने का आवश्यकता नहीं है।

34. जो कुछ हमने विनिश्चित किया है, उस दृष्टिकोण से सम्बन्धित विशेष इजाजत पिटीशन में कोई आदेश आवश्यक नहीं हैं।

अपील मंजूर की गई।

सरोहा

दिल्ली नगर निगम

वनाम

मैसर्स न्यू क्वालिटी स्वीट हाउस और अन्य

(5 दिसम्बर, 1984)

(मुख्य न्यायाधिपति वाई० वी० चन्द्रचूड़ और न्यायाधिपति आर० एस० पाठक)

खाद्य अपमिश्रण निवारण अधिनियम, 1954 (1954 का 37)— धारा 16, सपठित धारा 7—जांच हेतु नमूने की मात्रा के परिमाण का प्रश्न—यह तथ्य कि नियमों द्वारा विहित मात्रा से कम मात्रा विश्लेषण के लिए भेजी गई थी, किसी ऐसे व्यक्ति की दोषसिद्धि में बाधा नहीं डालता है जिसे अपमिश्रित खाद्य का विक्रय करने का दोषी पाया गया है, क्योंकि विश्लेषणार्थ भेजी गई मात्रा स्वीकृत परीक्षणों के अनुसार संतोषजनक विश्लेषण करने के लिए विश्लेषक को समर्थ बनाने में पर्याप्त थी ।

एक खाद्य निरीक्षक ने सूजी (सेमोलिना) का एक नमूना प्रत्यर्थी-अभियुक्त से खरीदा था जिसमें कि यह पाया गया था कि उसमें अतिशय नमी और राख विद्यमान है । विद्वान् महानगर मजिस्ट्रेट, दिल्ली ने इस आधार पर अभियुक्त को निर्मुक्त कर दिया कि खाद्य निरीक्षक ने विश्लेषणार्थ लोक विश्लेषक को अपमिश्रित वस्तु की अपेक्षिक मात्रा नहीं भेजी थी । नियमों द्वारा खाद्य निरीक्षक से यह अपेक्षित था कि वह विश्लेषणार्थ 250 ग्राम सूजी भेजता जबकि उसने केवल 200 ग्राम सूजी भेजी थी । उच्च न्यायालय ने दिल्ली नगर निगम द्वारा फाइल किए गए पुनरीक्षण आवेदन को संक्षेपतः खारिज कर दिया । उच्च न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध दिल्ली नगर निगम ने उच्चतम न्यायालय में अपील की । अपील खारिज करते हुए,

अभिनिर्धारित—यह तथ्य कि नियमों द्वारा विहित मात्रा से कम मात्रा विश्लेषणार्थ भेजी गई है, अपमिश्रित खाद्य का विक्रय करने हेतु अभियुक्त व्यक्ति की दोषसिद्धि में बाधा गठित नहीं कर सकता जब तक कि विश्लेषण के लिए जो मात्रा भेजी गई थी, वह स्वीकृत परीक्षणों के अनुसार समाधानप्रद विश्लेषण करने के लिए विश्लेषक को समर्थ बनाने में पर्याप्त थी । यह अपील अभियुक्त की दोषसिद्धि को अभिप्राप्त करने के प्रयोजनार्थ अधिक महत्व देते हुए नहीं फाइल की गई थी बल्कि वह इस न्यायालय से इस प्रश्न के सम्बन्ध

में विनिश्चय अभिप्राप्त करने के प्रयोजन के लिए फाइल की गई थी कि क्या कोई दोषसिद्धि खाद्य अपमिश्रण निवारण अधिनियम की धारा 16 के साथ पठति धारा 7 के अधीन ऐसी दशा में भी अभिलिखित की जा सकती थी जिसमें कि विश्लेषणार्थ प्रेषित किए जाने के लिए नियमों द्वारा अपेक्षित मात्रा से कम मात्रा लोक विश्लेषक को विश्लेषण के प्रयोजन के लिए भेजी गई हो। इसलिए निचले न्यायालयों ने जो दृष्टिकोण अपनाया है, उसका समर्थन नहीं किया जा सकता, किन्तु उनके द्वारा पारित अन्तिम आदेश में हस्तक्षेप करने की प्रस्थापना नहीं की गई। (पैरा 2)

निर्दिष्ट निर्णय

पैरा

[1979] [1979] 1 उम० नि० प० 589 = [1978] 2 एस० सी० आर० 820 :
केरल राज्य बनाम अलासरी मोहम्मद 2

दाण्डिक अपीली अधिकारिता : 1979 की दाण्डिक अपील सं० 114.

1978 के दाण्डिक प्रकीर्ण सं० 399 में दिल्ली उच्च न्यायालय के तारीख 28 मार्च, 1978 वाले निर्णय और आदेश के विरुद्ध की गई अपील।

अपीलार्थी की ओर से श्री रणधीर जैन

प्रत्यर्थियों की ओर से कोई नहीं

न्यायालय का निर्णय मुख्य न्यायाधिपति वाई० वी० चन्द्रचूड़ ने दिया।

मुख्य न्यायाधिपति चन्द्रचूड़—

बहुत समय पूर्व 1 अगस्त, 1975 को एक खाद्य निरीक्षक ने सूजी (सेमोलिना) का एक नमूना प्रत्यर्थी-अभियुक्त से खरीदा था जिसमें कि यह पाया गया था कि उसमें अतिशय नमी और राख विद्यमान है। विद्वान् महानगर मजिस्ट्रेट, दिल्ली ने तारीख 19 जुलाई, 1977 को इस आधार पर अभियुक्त को निर्मुक्त कर दिया कि खाद्य निरीक्षक ने विश्लेषणार्थ लोक विश्लेषक को अपमिश्रित वस्तु की अपेक्षित मात्रा नहीं भेजी थी। नियमों द्वारा खाद्य निरीक्षक से यह अपेक्षित था कि वह विश्लेषणार्थ 250 ग्राम सूजी भेजता जबकि उसने केवल 200 ग्राम सूजी भेजी थी। उच्च न्यायालय ने दिल्ली नगर निगम द्वारा फाइल किए गए पुनरीक्षण आवेदन को संक्षेपतः खारिज कर दिया।

2. विद्वान् महानगर मजिस्ट्रेट ने स्पष्ट रूप से अपने द्वारा अपनाए गए दृष्टिकोण में गलती की है जिससे कि यह उपपरिणाम निकलना आवश्यक है कि उच्च न्यायालय का पुनरीक्षण आवेदन को संक्षेपतः खारिज करना न्यायोचित नहीं था। यह तथ्य कि नियमों द्वारा विहित मात्रा से कम मात्रा

विश्लेषणार्थ भेजी गई है, अपमिश्रित खाद्य का विक्रय करने हेतु अभियुक्त व्यक्ति की दोषसिद्धि में बाधा गठित नहीं कर सकता जब तक कि विश्लेषण के लिए जो मात्रा भेजी गई थी, वह स्वीकृत परीक्षणों के अनुसार समाधानप्रद विश्लेषण करने के लिए विश्लेषक को समर्थ बनाने में पर्याप्त थी । किन्तु हम निर्मुक्ति के आदेश में हस्तक्षेप करने की प्रस्थापना नहीं करते क्योंकि यह अपील अभियुक्त की दोषसिद्धि को अभिप्राप्त करने के प्रयोजनार्थ अधिक महत्व देते हुए नहीं फाइल की गई थी बल्कि वह इस न्यायालय से इस प्रश्न के सम्बन्ध में विनिश्चय अभिप्राप्त करने के प्रयोजन के लिए फाइल की गई थी कि क्या कोई दोषसिद्धि खाद्य अपमिश्रण निवारण अधिनियम की धारा 16 के साथ पठित धारा 7 के अधीन ऐसी दशा में भी अभिलिखित की जा सकती थी जिसमें कि विश्लेषणार्थ प्रेषित किए जाने के लिए नियमों द्वारा अपेक्षित मात्रा से कम मात्रा लोक विश्लेषक को विश्लेषण प्रयोजन के लिए भेजी गई हो । वह प्रश्न तो बहुत पहले **केरल राज्य** बनाम **अलासरी मोहम्मद**[1] वाले मामले में विनिश्चत कर दिया गया था । इसलिए यद्यपि निचले न्यायालयों ने जो दृष्टिकोण अपनाया है, उसका समर्थन नहीं किया जा सकता, तथापि हम उनके द्वारा पारित अन्तिम आदेश में हस्तक्षेप करने की प्रस्थापना नहीं करते ।

3. तदनुसार, अपील खारिज की जाती है ।

अपील खारिज की गई ।

भू०

---

[1] [1979] 1 उम० नि० प० 589=[1978] 2 एस० सी० आर० 820.

इंडियन एक्सप्रेस न्यूजपेपर्स (मुम्बई) प्राइवेट लिमिटेड और अन्य

बनाम

भारत संघ और अन्य,

तथा

बैनेट कोलमैन एण्ड कम्पनी लिमिटेड और अन्य

बनाम

भारत संघ और अन्य,

तथा

स्टेट्समैन लिमिटेड और अन्य

बनाम

भारत संघ और अन्य,

तथा

कस्तूरी लाल एण्ड संस लिमिटेड और एक अन्य

बनाम

भारत संघ और अन्य

तथा

आनंद बाजार पत्रिका लिमिटेड और एक अन्य

बनाम

भारत संघ और अन्य

(6 दिसम्बर, 1984)

(न्यायाधिपति ओ० चिन्नप्पा रेड्डी ए० पी० सेन और ई० एस० वेंकटरामय्या)

सीमा-शुल्क अधिनियम, 1962 (1962 का 52)— धारा 12 [सपठित सीमा-शुल्क टैरिफ अधिनियम, 1975, की धारा 2 और प्रथम अनुसूची के शीर्ष सं० 48.01, उपशीर्ष सं० (2)] आयातित अखबारी कागज पर आयात शुल्क अधिरोपित किया जाना तथा वित्त अधिनियम, 1981 के अधीन आनुषंगिक शुल्क का उद्ग्रहण किया जाना— आनुषंगिक शुल्क के उद्ग्रहण को अविधिमान्य होने के

आधार पर चुनौती दिया जाना—सरकार समाचार-पत्र उद्योग पर कर अधिरोपित कर सकती है। यह बात अवश्य है कि न्यायालयों के द्वारा उसका पुनर्विलोकन किया जा सकता है।

सीमा-शुल्क अधिनियम, 1962 (1962 का 52)—धारा 25—अखबारी कागज पर छूट वापस लेकर आनुषंगिक शुल्क उद्गृहीत करते हुए अधिसूचना जारी किया जाना—सरकार द्वारा अधिसूचना के बारे में यह दलील दिया जाना कि उसे चुनौती नहीं दी जा सकती—सरकार द्वारा जारी की गई अधिसूचना संविधान के अनुच्छेद 13(2)(क) के अधीन विधि है और यदि यह किसी मूल अधिकार का अतिक्रमण करती है तो उसे न्यायालय द्वारा अभिखंडित किया जा सकता है।

संविधान, 1950— अनुच्छेद 14 और 19(1)(क) तथा (छ)—समता, वाक् स्वातंत्र्य, अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य और व्यापार या कारबार संबंधी मूल अधिकार— आयातित अखबारी कागज पर आयात शुल्क अधिरोपित किया जाना— सीमाशुल्क अधिरोपण में छूट के प्रयोजन के लिए समाचार-पत्रों का छोटे, मझले और बड़े समाचार-पत्रों की तीन श्रेणियों में वर्गीकरण किया जाना—सीमाशुल्क उद्ग्रहण के प्रयोजन के लिए ऐसे वर्गीकरण को अयुक्तियुक्त नहीं कहा जा सकता और उससे उपर्युक्त मूल अधिकारों का अतिक्रमण नहीं होता।

कुछ कम्पनियों, उनके शेयर-धारकों और कर्मचारियों ने, जो समाचार-पत्रों पत्रिकाओं, मैगजीन आदि के सम्पादन, मुद्रण और प्रकाशन के कार्य में लगे हुए हैं, संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन रिट पिटीशन फाइल की हैं। अपने कार्य के क्रम में वे काफी मात्रा में अखबारी कागज का उपभोग करते हैं और यह कहा गया है कि समाचार-पत्र के प्रकाशन में अंतर्वलित खर्च का 60 प्रतिशत अखबारी कागज खरीदने के लिए प्रयोग किया जाता है जिसका सारभूत भाग बाहर से आयात किया जाता है। उन्होंने सीमा-शुल्क टैरिफ अधिनियम, 1975 की प्रथम अनुसूची में शीर्ष संख्या 48.01/21 उपशीर्ष संख्या (2) और धारा 2 के साथ पठित सीमा-शुल्क अधिनियम, 1962 की धारा 12 के अधीन बाहर से आयातित अखबारी कागज पर आयात शुल्क की अधिरोपण की विधिमान्यता और 1 मार्च, 1981 से सीमा-शुल्क अधिनियम, 1962 की धारा 25 के अधीन जारी की गई अधिसूचना द्वारा यथाउपांतरित

अखबारी कागज पर वित्त अधिनियम, 1981 के अधीन आनुषंगिक शुल्क के उद्ग्रहण को चुनौती दी है।

इन पिटीशनों के लंबित रहने के दौरान जबकि सीमा-शुल्क टैरिफ अधिनियम, 1975 को संशोधित किया गया था जिसमें अखबारी कागज पर सीमा-शुल्क के रूप में 1000 रु० प्रति मी० टन के साथ मूल्यानुसार 40 प्रतिशत उद्ग्रहण किया गया था, सीमा शुल्क के अधीन सभी मालों पर संदेय आनुषंगिक शुल्क मूल्यानुसार 50 प्रतिशत बढ़ा दिया गया था। किन्तु सीमा-शुल्क अधिनियम, 1962 की धारा 25 के अधीन जारी की गई अधिसूचनाओं के कारण 550 रुपये प्रति मी० टन की सामान्य दर पर सीमा शुल्क और 275 रुपये प्रति मी० टन का आनुषंगिक शुल्क अब अखबारी कागज पर उद्गृहीत किया जा रहा है अर्थात् प्रति मी० टन 825 रुपये अब कुल उद्गृहीत किया जा रहा है।

पिटीशनरों ने अन्य बातों के साथ-साथ यह दलील दी कि आयात शुल्क के अधिरोपण का संविधान द्वारा गारंटीकृत वाक् और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को अशक्त करने का प्रत्यक्ष प्रभाव है क्योंकि इससे समाचार-पत्रों के मूल्य में बढ़ोतरी होगी और आवश्यक रूप से इसके परिणामस्वरूप उनके परिचालन में कमी होगी। उन्होंने यह कहा है कि देश में जनसंख्या और साक्षरता की बढ़ोतरी के साथ प्रत्येक समाचार-पत्र से यह आशा की जाती है कि वह प्रति वर्ष अपने परिचालन में कम से कम 5 प्रतिशत स्वतः बढ़ोतरी करे, किन्तु यह बढ़ोतरी प्रत्यक्षतः समाचार-पत्रों के मूल्य में वृद्धि के द्वारा बाधित होगी। आगे यह कहा गया है कि सीमा-शुल्क अधिनियम, 1962 और सीमा-शुल्क टैरिफ अधिनियम, 1975 द्वारा आयात शुल्क की दर के निर्धारण में स्वीकृत पद्धति ने समाचार-पत्र के प्रकाशकों को कार्यपालिका के हस्तक्षेप के लिए छोड़ दिया है। पिटीशनरों ने यह दलील दी कि अखबारी कागज पर सीमा शुल्क अधिरोपित करने की कोई आवश्यकता नहीं थी जिसे 1 मार्च, 1981 तक उसके संदाय से पूर्ण मुक्ति मिली हुई थी। चूंकि विदेशी मुद्रा की स्थिति काफी सुखद थी। प्रवृत्त स्कीम के अधीन भारत का राज्य व्यापार निगम छोटे समाचार-पत्रों को जिनका परिचालन 15,000 से कम है उस मूल्य पर अखबारी कागज बेचता है जिसमें आयात शुल्क सम्मिलित नहीं है। मझले अखबारों को जिनका परिचालन 15000 से 50000 के बीच है, उस मूल्य पर बेचता है जिसमें मूल्यानुसार 5 प्रतिशत शुल्क सम्मिलित है (अब 275 रुपये प्रति मी० टन) और बड़े समाचार-पत्रों को जिनका परिचालन 50000 से ऊपर है उस मूल्य पर बेचता है जिसमें 15 प्रतिशत मूल्यानुसार शुल्क का उद्ग्रहण सम्मिलित है (अब 825 रुपये प्रति मी० टन)। यह कहा गया है कि

समाचार-पत्रों का बड़े, मझले और छोटे समाचार-पत्रों में वर्गीकरण अयुक्त है चूंकि समुद्र पार से क्रय कभी कभी उन प्रकाशकों द्वारा किया जाता है जिनके बहुत से समाचार-पत्र हैं जो भिन्न भिन्न श्रेणियों से संबंधित थे। पिटीशनरों ने यह कहा कि 1 मार्च, 1981 के बाद अखबारी कागज के मूल्य में काफी बढ़ोतरी और मुद्रा प्रसार वादी आर्थिक परिस्थितियां जिनसे उत्पादन का खर्च बढ़ा है, उद्योग के लिए अब और शुल्क वहन करना असम्भव है। चूंकि शुल्क को वहन करने की क्षमता उद्ग्रहण की युक्तियुक्तता का अवधारण करने के लिए अनिवार्य तत्व है, यह कहा गया है कि उद्ग्रहण को बनाए रखना संविधान के अनुच्छेद 19(1)(क) और अनुच्छेद 19(1)(छ) का अतिक्रामी है। यह सुझाव दिया गया है कि कार्यपालिका द्वारा बड़े समाचार-पत्रों पर उद्ग्रहण अधिरोपित करना समाचार-पत्रों के परिचालन को दबा देने के दृष्टिकोण से किया गया है जो प्रशासन के कार्य की अधिक आलोचना करते हैं। आनुषंगिक रूप से पिटीशनरों ने यह दलील दी है कि आयात शुल्क उद्ग्रहण करने के प्रयोजन के लिए छोटे, मझले और बड़े समाचार-पत्रों का वर्गीकरण संविधान के अनुच्छेद 14 का अतिक्रामी है। रिट पिटीशन मंजूर करते हुए,

अधिनिर्धारित—आज के स्वतंत्र संसार में प्रेस की स्वतंत्रता सामाजिक तथा राजनीतिक समागम का केन्द्र है। अब प्रेस ने सार्वजनिक शिक्षक की भूमिका धारण कर ली है और उससे बड़े पैमाने पर औपचारिक तथा अनौपचारिक शिक्षा संभव हो गई है, विशेष रूप से विकासशील संसार में जिसमें कि दूरदर्शन और अन्य प्रकार की आधुनिक संसूचना अभी भी समाज के सभी वर्गों के लिए उपलभ्य नहीं है। प्रेस का उन प्रयोजन तथ्यों और मतों को प्रकाशित करके लोक हित को प्रोन्नत करना है जिसके बिना लोकतंत्रात्मक निर्वाचक उत्तरदायित्व पूर्ण निर्णय नहीं ले सकते। चूंकि समाचार-पत्र उन समाचारों तथा मतों के सर्वेक्षक हैं जिनका प्रभाव लोक प्रशासन पर पड़ता है, अतः प्रायः उनमें ऐसी सामग्री विद्यमान रहती है जो सरकारों और अन्य प्राधिकारियों को समुचित प्रतीत नहीं होती। लेखकों के ऐसे लेखों द्वारा, जोकि समाचार-पत्रों में प्रकाशित किए जाते हैं, सरकार के कार्यों की आलोचना करनी होती है जिससे कि सरकार की कमजोरियों को सामने लाया जा सके। ऐसे लेख शक्ति के प्रति कटुतापूर्ण ही नहीं बन सकते बल्कि वे शक्ति के प्रति आतंक उत्पन्न करते हैं। स्वाभाविक रूप से सरकारें विभिन्न रीतियों में ऐसे लेखों को

प्रकाशित करने वाले समाचार-पत्रों को दबाने की रीति अपनाती हैं। पिछले कई वर्षों से संसार के विभिन्न भागों में सरकारों ने प्रेस को नियंत्रण के अधीन रखने के लिए भिन्न-भिन्न पद्धतियों का उपयोग किया है। उन्होंने "कैरट स्टिक" पद्धति का अनुसरण किया है। धन के गुप्त संदाय, खुल्लमखुल्ला धन संबंधी अनुदान तथा प्रदाय, भूमियों का अनुदान, डाक संबंधी रियायतें, सरकारी विज्ञप्तियां, समाचार-पत्रों के संपादकों तथा स्वामियों को खिताबों का प्रदान, मंत्रिमण्डल तथा आन्तरिक राजनीतिक परिषदों इत्यादि में प्रेस के प्रतिष्ठित व्यक्तियों का समावेश प्रेस पर प्रभाव डालने संबंधी एक पद्धति गठित करता है। एक अन्य प्रकार का दबाव प्रेस के विरुद्ध बल के उपयोग के रूप में है। सेंसर-व्यवस्था-पूर्ण, अभिग्रहण, समाचार-पत्रों के परिवहन में हस्तक्षेप तथा प्रतिभूति निक्षेप की मांग करना, समाचारपत्रों की कीमत पर निर्बन्धन का अधिरोपण, समाचार-पत्रों के पृष्ठों की संख्या और पृष्ठों के आकार पर, जो कि विज्ञप्तियों में लगाए जा सकते हैं, निर्बन्धन, सरकारी विज्ञप्तियों को विधारित करना, डाक दरों में वृद्धि, अखबारी कागज पर करों का अधिरोपण, अखबारी कागज को अनुचित रूप से महंगा बनाने के उद्देश्य से उनके आयात का सरलीकरण इत्यादि उन प्रणालियों में से कुछ प्रणालियां है जिनमें कि सरकारों ने प्रेस की स्वतंत्रता में हस्तक्षेप करने का प्रयत्न किया है। सूचना के स्वच्छन्द प्रवाह में हस्तक्षेप करने वाली ऐसी कुरीतियों को रोकने की दृष्टि से, सकल संसार में लोकतंत्रात्मक संविधानों में ऐसे उपबन्ध बनाए गए हैं जिनके द्वारा वाक् अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य को गारण्टी करने हेतु उनमें हस्तक्षेप करने सम्बन्धी सीमाओं को अधिकथित किया गया है। इसलिए सभी राष्ट्रीय न्यायालयों का यह प्राथमिक कर्तव्य है कि वे उक्त स्वतंत्रता को कायम रखें तथा ऐसी सभी विधियों अथवा प्रशासनिक कार्यों को अविधिमान्य घोषित करें जो सांविधानिक समादेश के प्रतिकूल उनमें हस्तक्षेप करते हैं। (पैरा 31)

लघु आकार के समाचार-पत्र स्थापनों को छोड़कर जिनका परिचालन एक दिन में लगभग 10,000 प्रतियों से कम हो, सभी अन्य बृहत्तर समाचार स्थापनों में विशाल उद्योग के लक्षण विद्यमान रहते हैं। ऐसे बृहत्तर समाचार-पत्र उपक्रम अधिकतर नगर क्षेत्रों में आस्थित होते हैं जो विशाल भवनों में कृत्यशील होते हैं जिनके लिए उपबन्ध नगरपालिक प्राधिकारियों द्वारा प्रदान की गई सभी सेवाओं सहित किया जाता है। उनमें सैंकड़ों कर्मचारी नियोजित होते हैं। उनमें से अधिकतर में पूंजीगत विनिधान लाखों रुपयों का होता है। उनके द्वारा मुद्रण मशीनो की विशाल मात्रा का उपयोग किया जाता है

जिसके पर्याप्त भाग का आयात बाहरी देशों से किया जाता है। उनमें दूरभाष, टेलीप्रिंटर, डाक तथा तार सेवाएं, बेतार संसूचना प्रणालियां इत्यादि की व्यवस्था करनी होती है। उनके समाचार-पत्रों का परिवहन सड़कों, रेलों और वायुयान सेवाओं द्वारा करना होता है। उनकी सम्पत्ति की सुरक्षा के लिए प्रबन्ध करना होता है। सरकार को उनके लिए अनेक अन्य सेवाओं की भी व्यवस्था करनी पड़ती है। इस सब के परिणामस्वरूप राज्य के वित्तीय स्रोतों पर भारी बोझ पड़ता है क्योंकि इनमें से बहुत ही सेवाएं कम दरों पर उपलभ्य कराई जाती हैं। स्वाभाविक रूप से ऐसे बड़े बड़े समाचार-पत्र संगठनों को सार्वजनिक खजाने में अपने अपने शोध्य अंश का अभिदाय करना पड़ता है। उन्हें अन्य सभी संरचनाओं की भांति सामान्य धन संबंधी बोझ उठाना पड़ता है। किसी ऐसी विधि की सांविधानिकता की परीक्षा करते समय जिसके बारे में यह अभिकथन किया गया हो कि वह संविधान के अनुच्छेद 19(1)(क) का उल्लंघन करती है; न्यायालय का मार्गदर्शन, निस्संदेह, केवल यूनाइटेड स्टेट्स आफ अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय के विनिश्चयों द्वारा नहीं किया जा सकता। किन्तु वाक् तथा अभिव्यक्ति स्वातन्त्र्य के मूल सिद्धांतों और किसी गणतन्त्रात्मक देश में स्वतन्त्रता के लिए उसकी आवश्यकता को समझने के लिए उन पर विचार किया जा सकता है। हमारे संविधान के अनुच्छेद 19(1)(क) तथा अनुच्छेद 19(1)(छ) का पैटर्न अमेरिकी संविधान के प्रथम संशोधन के पैटर्न से भिन्न है जिसके निबन्धन लगभग आत्यंतिक स्वरूप के हैं। संविधान के अनुच्छेद 19(1)(क) तथा अनुच्छेद 19(1)(छ) के अधीन गारण्टीकृत अधिकारों का परिशीलन अनुच्छेद 19 के खण्ड (2) तथा (6) के साथ करना होगा जो कि ऐसे क्षेत्रों की रचना करते हैं जिनकी बाबत विधिमान्य विधान बनाया जा सकता है। यहां इस बात का उल्लेख कर दिया जाए कि समाचार-पत्र उद्योग को अभिव्यक्त शब्दों में कराधान से छूट अनुदत्त नहीं की गई है। दूसरी ओर संविधान की सातवीं अनुसूची की सूची 1 की प्रविष्टि 92 संसद् को ऐसी विधियां बनाने के लिए सशक्त करती है जिनके द्वारा समाचार-पत्रों के विक्रय अथवा क्रय पर एवं उन समाचार-पत्रों में प्रकाशित विज्ञापनों पर करों का उद्ग्रहण किया जा सके। (पैरा 41 और 42)

समाचार-पत्र उद्योग मूल अधिकारों में से दो अधिकारों का उपभोग करता है, अर्थात् वाक् स्वातंत्र्य एवं अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य जिनकी गारन्टी अनुच्छेद 19(1)(क) के अधीन दी गई है और साथ ही साथ वह किसी

व्यवसाय, उपजीविका, व्यापार, उद्योग अथवा कारबार को करने की स्वतंत्रता को धारण करता है जिसकी गारन्टी सांविधान के अनुच्छेद 19(1) (छ)के अधीन प्रदान की गई है। इनमें से प्रथम इस कारण कि इसका संबंध अभिव्यक्ति तथा संसूचना के क्षेत्र से है और दूसरे इस कारण कि संसूचना एक उपजीविका अथवा वृत्ति का रूप धारण कर चुकी है क्योंकि जहां अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य का प्रयोग किया जा रहा है, उस क्षेत्र में व्यापार, कारबार तथा उद्योग का आक्रमण होता है। जबकि अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य के प्रयोग से संबंधित अधिकार पर कोई कर नहीं लग सकता, वृति, उपजीविका, व्यापार, कारबार तथा उद्योग पर कर उद्ग्रहणीय है। अतः समाचार-पत्र संबंधी उद्योग पर कर उद्ग्रहणीय है। किन्तु जब ऐसा कर अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य के क्षेत्र का उल्लंघन करता है और उस स्वतंत्रता का गला घोंटता है, तो वह असांविधानिक हो जाता है। जब तक कि यह युक्तियुक्त सीमाओं के भीतर रहता है और अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य के मार्ग में बाधा नहीं डालता तब तक वह अनुच्छेद 19 (2) की सीमाओं का उल्लंघन नहीं करता। इस नाजुक कार्य का अभिनिश्चय करना कि यह कब वृत्ति, उपजीविका, व्यापार, कारबार या उद्योग के क्षेत्र से हटकर अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य के क्षेत्र में चला जाता है और उस स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप करने लगता है, न्यायालय को सौंपा गया है। (पैरा 61)

करों का उद्ग्रहण सरकार के समर्थन के लिए किया जाता है और ऐसे समाचार-पत्र जो कि लोक व्यय से लाभ प्राप्त करते हैं, सरकारी खजाने में पर्याप्त और युक्तियुक्त रकम का अभिदाय करने के अपने दायित्व के प्रतिकूल दावा नहीं कर सकता। किंतु समाचार-पत्र उद्योग पर कोई कर उद्गृहीत करते समय यह मत व्यक्त करना होगा कि इसके द्वारा समाचार-पत्रों पर अधिक भार न डाला जाए जो कि देश का प्रेस (फोर्थ एस्टेट) गठित करते हैं और न ही समाचार-पत्र उद्योग पर विशिष्ट रूप से कठोर व्यवहार लगाया जाना चाहिए। किसी भी बुद्धिमान प्रशासक को चाहिए कि वह इस बात को महसूस करे कि अखबारी कागज पर सीमा-शुल्क जैसे कर का अधिरोपण ज्ञान पर अधिरोपण है और वह वास्तविक रूप से ऐसे बोझ की कोटि में आता है जो किसी व्यक्ति पर इस रूप में डाला जाता है कि वह पढ़-लिख न सके तथा आस पास के संसार के बारे में अपने आपको जानकार बनाते हुए नागरिक के रूप में अपने कर्तव्य के सम्बन्ध में जागरूक न बन सके। अन्तर्वलित मूल सिद्धांत जानकारी प्राप्त करने सम्बन्धी जनता का हक है। इसलिए वाक् तथा अभिव्यक्ति स्वातन्त्र्य को उन सभी व्यक्तियों से, जो कि प्रशासन में लोगों के

सम्मिलित होने में विश्वास रखते हैं, उदार समर्थन मिलता है। इस विशेष हित के कारण जो कि समाज को वाक् तथा अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य में प्राप्त है, कि सरकार का दृष्टिकोण अधिक सतर्कतापूर्ण होना चाहिए जबकि समाचार उद्योग से सम्बन्धित विषयों पर करों का उद्ग्रहण किया जा रहा है, दूसरी ओर अन्य मामलों पर करों का उद्ग्रहण करते समय कम सतर्कता बरती जा सकती है। यह सही है कि उच्चतम न्यायालय ने आर्थिक अध्युपायों से बरतते समय उदार दृष्टिकोण अपनाया है और सम्पत्ति, कारबार, व्यापार तथा उद्योग पर भिन्न-भिन्न प्रकार के करों को मंजूरी दी है क्योंकि उनके बारे में यह पाया गया था कि वे लोक हित में हैं। किन्तु न्यायालय के समक्ष जो मामले हैं उनमें न्यायालय से यह अपेक्षा की गई है कि वह वाक् तथा अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य में अन्तर्वलित सामाजिक हित से सरकार द्वारा अधिरोपित धन सम्बन्धी उद्ग्रहणों में अन्तर्वलित सार्वजनिक हित से सामंजस्य स्थापित करें विशेष रूप से इस कारण कि यदि अभिव्यक्ति आत्मा है, तो समाचार-पत्र शरीर है। इसलिए प्रेस की स्वतन्त्रता के साथ अखबारी कागज के घनिष्ठ सम्बन्ध को ध्यान में रखते हुए अखबारी कागज पर कर अधिरोपित करने सम्बन्धी कानून की शक्तिमत्ता को अभिनिश्चत करने के लिए कसौटियां उन कसौटियों से भिन्न होगी जो कि प्रायिक रूप से अन्य कराधान कानूनों की शक्तिमत्ता की परख करने के लिए अपनाई गई है। साधारण कराधान कानूनों की दशा में विधियों को केवल तभी प्रश्नगत किया जा सकता है जबकि वे या तो खुल्लमखुल्ला अधिहरण करने वाले हों अथवा वे एक ऐसी आच्छन्न युक्ति हों जिसके द्वारा अधिहरण किया जा सकता हो। दूसरी ओर, अखबारी कागज पर कर की दशा में यह पर्याप्त है कि किसी ऐसे सुस्पष्ट तथा उल्लेखनीय भार को दर्शित किया जा सके जो स्पष्टत: और प्रत्यक्षत: कर पर अधिरोपण के बारे में हो। अत: यह नहीं कहा जा सकता कि समाचार-पत्र उद्योग पर कोई कर उद्गृहीत नहीं किया जा सकता, यह बात अवश्य है कि ऐसा कोई उद्ग्रहण संविधान के उपबंधों की दृष्टि से न्यायालयों द्वारा पुनर्विलोकन का विषय है। (पैरा 64, 65, 66)

गौण विधान को उस सीमा तक उन्मुक्ति प्राप्त नहीं होती है जो कि सक्षम विधानमण्डल द्वारा पारित कानून को होती है। गौण विधान को उन आधारों में से किसी भी आधार पर प्रश्नगत किया जा सकता है, जिन पर मुख्य विधान को प्रश्नगत किया जाता है। इसके अलावा उसे इस आधार पर भी प्रश्नगत किया जा सकता है कि वह उस कानून के अनुरूप नहीं है, जिसके अधीन वह बनाया गया है। इसके अलावा उसे इस आधार पर भी प्रश्नगत

किया जा सकता है कि वह किसी अन्य कानून के प्रतिकूल है। यह बात इसलिए है, क्योंकि गौण विधान को, मुख्य विधान के अधीन होना चाहिए। उसे इस आधार पर भी प्रश्नगत किया जा सकता है कि वह अयुक्तियुक्त है : अयुक्तियुक्त इस अर्थ में नहीं कि वह युक्तियुक्त नहीं है, बल्कि इस अर्थ में कि वह स्पष्ट रूप से मनमाना है। इंग्लैण्ड में न्यायाधीशगण यह कहते हैं कि "पार्लियामेंट का आशय यह कभी नहीं था कि प्राधिकारी ऐसा नियम बनाए जो अयुक्तियुक्त और अधिकारातीत हैं।" (पैरा 71)

गौण विधान इस आधार पर अभिखण्डित किया जा सकता है कि वह मनमाना और कानून के प्रतिकूल है, यदि वह ऐसे महत्वपूर्ण तथ्यों को विचार में लेने में असफल रहता है जिन्हें या तो अभिव्यक्त रूप से या आवश्यक विवक्षा द्वारा, कानून के अधीन अर्थात् संविधान द्वारा विचार में लिया जाना अपेक्षित है। यह इस आधार पर किया जा सकता है कि वह कानूनी या सांविधानिक अपेक्षाओं के अनुरूप नहीं है या यह कि उससे संविधान के अनुच्छेद 14 या 19(1)(क) का अतिक्रमण होता है। निस्संदेह यह मात्र इस आधार पर नहीं किया जा सकता कि वह युक्तियुक्त नहीं है या यह कि उसने उन सुसंगत परिस्थितियों को विचार में नहीं लिया है, जिन्हें न्यायालय सुसंगत समझता है। न्यायालय सरकार से यह अपेक्षा कर सकता है कि वह उस शक्ति का प्रयोग संविधान की भावना के अनुसार युक्तियुक्त रूप से करे। इस तथ्य से कि सीमा-शुल्क अधिनियम, 1962 की धारा 25 (1) के अधीन निकाली गई अधिसूचना की बाबत यह अपेक्षित है कि उसकी धारा 159 के अधीन उसे संसद के समक्ष रखा जाए। जहां तक उसकी विधिमान्यता के संबंध में निर्णय देने विषयक न्यायालय की अधिकारिता का संबंध है, कोई सारवान अंतर नहीं पड़ता। (पैरा 74,75)

सरकार की ओर से किए गए इस दावे को कि आक्षेपित अधिसूचनाएं प्रशासनिक विधि की परिधि के बाहर हैं, किसी शर्त के बिना स्वीकार नहीं किया जा सकता, भले ही ऐसे सभी आधार जिन पर प्रशासनिक आदेश के विरुद्ध जोर दिया जा सकता है, उनके विरुद्ध उपलभ्य न हों। और न हीं 1 मार्च, 1981 को और 28 फरवरी, 1982 को सीमा-शुल्क अधिनियम, 1962 की धारा 25 के अधीन निकाली गई अधिसूचनाएं, जो कि उनमें उल्लिखित बातों से परे कतिपय शुल्क के संदाय से छूट देती हैं, कार्यपालक सरकार द्वारा निकाली गई हैं। वे पहले वाली अधिसूचनाओं के, जिन्होंने पूरी तरह से छूट दी थी, स्थान पर निकाली गई थी। सरकार को ऐसी अधिसूचनाएं उन सभी

सुसंगत बातों को जिनका संबंध अखबारी कागज पर उद्ग्रहण की युक्तियुक्तता से होता है, विचार में लेने के बाद निकालनी होती हैं। सरकार को एक ओर, लोगों के वाक् और अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य के अधिकार को सुनिश्चित करने की आवश्यकता के, और दूसरी ओर समाचार पत्र के प्रकाशन के कारबार पर सामाजिक नियंत्रण अधिरोपित करने की आवश्यकता के बीच न्यायोचित और युक्तियुक्त संतुलन कायम करना चाहिए। अन्य शब्दों में, सरकार को चाहिए कि वह सभी सुसंगत समयों पर इस तथ्य के प्रति सचेत रहे कि वह संविधान के अनुच्छेद 19(1)(क) द्वारा संरक्षित क्रियाकलाप के संबंध में विचार कर रही है, जो कि हमारे लोकतांत्रिक अस्तित्व के लिए महत्वपूर्ण है। किसी मूल अधिकार पर अधिरोपित निर्बन्धनों की युक्तियुक्तता को निश्चित करने में न्यायालय को उस अधिकार की प्रकृति को, जिसकी बाबत यह अधिकथन किया गया हो कि उसका अतिलंघन किया गया है, अधिरोपित निर्बन्धनों के अंतर्निहित प्रयोजन को, अधिरोपण के अननुपात को और समाज के उन मूल्यों सहित, जिनकी आवश्यकताओं की बाबत यह ईप्सा की गई है कि उनकी पूर्ति निर्बन्धनों के जरिये की जानी चाहिए, सुसंगत समय पर अभिभावी दशाओं को विचार में लेना चाहिए। प्रश्नगत निर्बन्धन अखबारी कागज पर अधिरोपित आयात शुल्क का भार है। सीमा-शुल्क अधिनियम, 1962 की धारा 25, जिसके अधीन सूचनाएं जारी की गई हैं, लोकहित की दृष्टि से संपूर्ण विवाद्यक की परीक्षा करने संबंधी कर्त्तव्य के साथ-साथ केन्द्रीय सरकार को शक्ति प्रदत्त करती है। उसमें यह उपबंध किया गया है कि यदि केन्द्रीय सरकार का समाधान हो गया है कि ऐसा करना लोकहित में आवश्यक है, तो वह या तो आत्यंतिक रूप से या ऐसी शर्तों के अध्यधीन रहते हुए, माल पर उद्ग्रहणीय संपूर्ण सीमा-शुल्क या उसके किसी भाग के किसी प्रकार के माल को साधारण रूप से छूट दे सकेगी। यदि केन्द्रीय सरकार का यह समाधान हो गया है कि ऐसा करना लोकहित में है तो वह आपवादिक प्रकृति की परिस्थितियों में जो कि ऐसे आदेश में बताई जानी चाहिए, किसी ऐसे माल पर जिस पर शुल्क उद्ग्रहणीय है, प्रत्येक मामले में विशेष आदेश द्वारा शुल्क के संदाय से छूट दे सकेगी। सीमा-शुल्क अधिनियम, 1962 की धारा 25 के अधीन प्रयोज्य शक्ति निस्संदेह वैवेकिक है, किन्तु वह अनिर्बन्धित नहीं है। किसी भी स्थिति में कानून के अधीन निकाली गई कोई ऐसी अधिसूचना जो कि संविधान के अनुच्छेद 13(3)(क) के अधीन यथापरिभाषित "विधि" है, उस दशा में अभिखण्डित किए जाने के लायक हैं, यदि वह संविधान के भाग 3 के अधीन गारंटीकृत मूल अधिकारों में से किसी एक के भी प्रतिकूल है। (पैरा 77,78 और 79)

ऐसे नागरिक जो कि सीमा-शुल्क का संदाय करने के दायित्वाधीन हैं, सीमा-शुल्क अधिरोपित करने वाली विधि के ढंग के और उस रीति के कारण जिससे वह प्रवर्तित की जाती है, कुछ सीमा तक कार्यपालिका के विवेकाधिकार प्रयोग की सनक का शिकार होते हैं। जबकि संसद ने सीमा-शुल्क अधिनियम, 1962 और सीमा-शुल्क टैरिफ अधिनियम, 1975 अधिनियमित करके शुल्क अधिरोपित किया है, कार्यपालक सरकार को सीमा-शुल्क अधिनियम, 1962 की धारा 25 द्वारा सीमा-शुल्क के उद्ग्रहण से छूट देने की विस्तृत शक्ति दी गई है। मामूली तौर से यह धारणा की जाती है कि जब छूट देने की ऐसी शक्ति सरकार को दी जाती है, तो वह इस प्रश्न को लागू सभी सुसंगत पहलुओं पर विचार करेगी कि क्या छूट दी जानी चाहिए या नहीं। प्रस्तुत मामले में 1975 में उस समय जबकि सीमा-शुल्क टैरिफ अधिनियम, 1975 अधिनियमित किया गया था, अखबारी कागज पर 40 प्रतिशत मूल्यानुसार सीमा-शुल्क उद्गृहीत किया गया था, यद्यपि उसे ऐसे शुल्क के संदाय से छूट दे दी गई थी। यदि वह छूट बनी न रहती, तो समाचारपत्रों के प्रकाशकों को सीमाशुल्क टैरिफ अधिनियम, 1975 के प्रवृत्त होने पर सीमा-शुल्क 40 प्रतिशत मूल्यानुसार संदत्त करना पड़ता। फिर 1982 में वित्त अधिनियम, 1982 द्वारा 40 प्रतिशत मूल्यानुसार शुल्क के अतिरिक्त 1,000 रुपए प्रति टन की दर से शुल्क का अतिरिक्त उद्ग्रहण अधिरोपित किया गया; यद्यपि छूट संबंधी अधिसूचना के अधीन आधारित शुल्क आयातित अखबारी कागज के मूल्य का 10 प्रतिशत नियत किया गया था। इस के संबंध में सरकार से कोई भी सूचना प्राप्त नहीं हुई है कि क्या कोई ऐसी सामग्री मौजूद थी, जिससे उक्त अतिरिक्त उद्ग्रहण न्यायोचित ठहरता हो। इससे भी यह बात स्पष्ट नहीं होती कि 1,000 रुपए प्रति टन का अतिरिक्त शुल्क उद्ग्रहण करने का व्यर्थ का यह कार्य क्यों किया गया था, जबकि सीमा-शुल्क अधिनियम, 1962 की धारा 25 के अधीन जो कि उस समय प्रवृत्त थी, 1 मार्च, 1981 को निकाली गई अधिसूचना के अधीन अखबारी कागज पर मूल्यानुसार 10 प्रतिशत से अधिक सीमा-शुल्क से छूट प्राप्त होती थी। जैसा कि इस निर्णय के दौरान अन्यत्र उल्लेख किया जा चुका है, उस क्रियाकलाप पर कर उद्गृहीत करने में, जिसको अनुच्छेद 19 (1) (क) का समर्थन प्राप्त है, अधिक सावधानी बरतनी चाहिए। जबकि इस संबंध में कोई विवाद नहीं है कि उद्योग को शेष समुदाय के साथ-साथ कराधान के कुल भार का उचित हिस्सा उस समय वहन करना चाहिए, जबकि कोई कर विशेष रूप से समाचार-पत्र उद्योग पर अधिरोपित किया जाता है, तो उसे न्यायालय में उस समय जबकि उसकी विधिमान्यता को

चुनौती दी जाए, उस उद्ग्रहण को युक्तियुक्त उद्ग्रहण के रूप में न्यायोचित ठहराया जाना चाहिए। पर्याप्त सामग्री के अभाव में 40 प्रतिशत तथा 1,000 रुपए प्रतिटन के उद्ग्रहण को चुनौती दी जा सकेगी। यदि स्वयं कानून द्वारा अधिरोपित उद्ग्रहण असफल रहता है, तो सीमा-शुल्क अधिनियम 1962 की धारा 25 के अधीन निकाली गई अधिसूचनाओं को प्रश्नगत करने की कोई भी आवश्यकता नहीं होगी। किन्तु अभिभावी विधायी परिपाटी का ध्यान रखते हुए हम यह धारणा करना चाहेंगे कि वास्तविक उद्ग्रहण का अवधारण करने की दृष्टि से, न्यायालय को न केवल सीमा-शुल्क टैरिफ अधिनियम, 1975 में उल्लिखित शुल्क की दर को विचार में लेना चाहिए, बल्कि सीमा-शुल्क अधिनियम, 1962 की धारा 25 के अधीन जो कि प्रवृत्त है, निकाली गई किसी भी अधिसूचना को विचार में लेना चाहिए। फिर भी, सरकार ने 1 मार्च, 1981 से उद्गृहीत 15 प्रतिशत की या 825 रु० प्रति टन की दर से, जैसा कि इस समय उद्गृहीत किया जा रहा है, कुल सीमा-शुल्क को न्यायोचित ठहराने के लिए जो कारण बताए हैं, वे अपर्याप्त प्रतीत होते हैं। 1981 में लोक सभा में दिए गए वित्त मंत्री के भाषण में 15 प्रतिशत शुल्क के उद्ग्रहण के लिए जो पहला कारण बताया गया था, वह यह था कि उसका आशय आयातित अखबारी कागज की खपत पर निर्बन्धन के अध्युपाय को बढ़ावा देना और विदेशी मुद्रा की परिरक्षा में सहायता करना है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह आधार दो कारणों से स्वीकार्य नहीं था। सरकार की ओर से फाइल किए गए प्रतिशपथ-पत्र में यह कहा गया है कि यह अभिकथन कि विदेशी मुद्रा आरक्षिति की स्थिति सन्तोषजनक है, असंगत है। इससे यह पता चलता है कि सरकार में किसी व्यक्ति ने कभी भी 15 प्रतिशत शुल्क उद्गृहीत करने वाली अधिसूचनाएं निकालने के पूर्व विदेशी मुद्रा आरक्षित पर अखबारी कागज के आयात के प्रभाव को विचार में नहीं लिया था। दूसरी बात यह है कि समाचार-पत्र का कोई भी स्वामी सीधे ही अखबारी कागज का आयात कर सकता है। अखबारी कागज के आयात को राज्य व्यापार निगम के जरिए नियन्त्रित किया जाता है। यदि अखबारी कागज के अत्यधिक आयात का प्रभाव विदेशी मुद्रा आरक्षिति पर प्रतिकूल रूप से पड़ता है, तो राज्य व्यापार निगम अखबारी कागज के आयात को घटा सकता है और समाचारपत्रों के स्थापनों को आयातित अखबारी कागज की कम मात्रा आबंटित कर सकता है। तथापि, अखबारी कागज के अत्यधिक आयात को नियंत्रित करने की दृष्टि से आयात शुल्क अधिरोपित करने की कोई भी आवश्यकता नहीं है। वित्त मन्त्री के भाषण में, समाचार-पत्र उद्योग द्वारा

15 प्रतिशत शुल्क के उद्ग्रहण को सहन करने की क्षमता के प्रति कोई भी निर्देश नहीं है। प्रति-शपथ-पत्र में यह प्राख्यान किया गया है कि भारत में समाचार-पत्र उद्योग पर जिस सीमा तक बोझ है, वह अखबारी कागज पर आयात शुल्क के उद्ग्रहण के लिए असंगत है। पुन: इस बात से स्पष्ट रूप से दर्शित होता है कि सरकार ने उस सम्पूर्ण छूट को जो समाचार-पत्र उद्योग को 1 मार्च, 1981 तक मिली हुई थी, वापस लेने और अखबारी कागज पर 15 प्रतिशत की दर से शुल्क अधिरोपित करने के पूर्व इस प्रश्न के महत्वपूर्ण पहलू पर विचार नहीं किया था। (पैरा 85)

ऐसा प्रतीत होता है कि शुल्क उद्गृहीत करने के कारणों में से एक यह था कि समाचार-पत्र में प्रकाशित कुछ बातें मन्त्री महोदय को निरर्थक बातें प्रतीत हुई थीं। ऐसी कार्रवाई संविधान के अधीन दो कारणों से अनुज्ञेय नहीं है— (i) यह कि लिखी गई बातों की प्रकृति के संबंध में मन्त्री महोदय का निर्णय उनका वास्तविक वर्णन नहीं हो सकता और (ii) यह कि यदि वे लिखित बातें निरर्थक बातें हैं, तो भी वह ऐसा शुल्क अधिरोपित करने का आधार नहीं हो सकता, जिससे कि समाचार-पत्रों के परिचालन में बाधा उत्पन्न हो। (पैरा 90)

यह कहना एक बात है कि लोक वित्त के लिए सुसंगत उन बातों को देखते हुए जो प्रत्येक नागरिक से इस बात की अपेक्षा करती हैं कि वह लोक राजकोष में युक्तियुक्त रकम का योगदान करे, सीमा शुल्क समाचार-पत्र उद्योग द्वारा उपयोग में लाए गए अखबारी कागज पर भी उद्ग्रहणीय होता है, और यह कहना दूसरी बात है कि उदग्रहण इसलिए अधिरोपित किया जाता है क्योंकि समाचार-पत्रों में साधारण रूप से निरर्थक बातें भी हो रहती हैं, जबकि पूर्वकथित उस दशा में विधिमान्य हो सकता है, यदि समाचार-पत्रों के परिचालन पर प्रकिकूल रूप से प्रभाव नहीं पड़ता है, पश्चात्कथित संविधान के अधीन अननुज्ञेय है, क्योंकि उद्ग्रहण उस बात के आधार पर किया जाता है जो कि सांविधानिक परिसीमाओं की परिधि के बाहर पूरी तरह से है। सरकार स्वयं अनधिकृत रूप से ऐसी शक्ति नहीं ले सकती, जिसके परिणाम-स्वरूप समाचार-पत्रों के मुद्रित किए जाने के पहले ही उनमें दी गई बातों की प्रकृति के संबंध में पूर्व-निर्णय किया जा सके। उपर्युक्त प्रकार के निर्बन्धन का अधिरोपण वस्तुत: समाचार-पत्र का पूर्व-सेंसर करने की शक्ति सरकार को प्रदत्त करने की कोटि में आता है। सीमाशुल्क का उद्ग्रहण करने के लिए मन्त्री महोदय ने जो कारण ऊपर बताया है, वह पूर्णत: असंगत है। (पैरा 92)

अब भी छोटे और मध्यम श्रेणी के समाचार-पत्रों को जो छूट दी गई है, उससे यह दर्शित होता है कि प्रभाव पड़ना अवश्यंभावी है। सरकार की ओर से यह दर्शित करने की कोई कोशिश नहीं की गई है कि उस प्रभाव की निश्चित प्रकृति क्या है। दूसरी ओर सरकार का पक्षकथन यह प्रतीत होता है कि ऐसी बातें पूरी तरह से असंगत हैं, यद्यपि महत्वपूर्ण तथ्य यह बच रहता है कि अनेक वर्षों तक स्वयं सरकार ने यह समझा था कि अखबारी कागज को पूरी छूट दी जानी चाहिए। जो सामग्री हमें उपलभ्य है, उसके आधार पर जबकि यह निष्कर्ष निकालना सम्भव नहीं है कि उद्ग्रहण का प्रभाव वास्तव में इतना भारी है कि उससे प्रेस के स्वातन्त्र्य पर प्रभाव पड़ता है, हम यह निष्कर्ष भी नहीं निकाल सकते हैं कि वह भारी नहीं होगा। यह ऐसा मामला है, जिसका संबंध प्रेस के स्वातन्त्र्य से है, जो कि, लोकतन्त्र की जान है। निश्चित रूप से यह ऐसा प्रश्न नहीं है जो सबूत के भार के प्रश्न के आधार पर विनिश्चित किया जाना चाहिए। यह दर्शित करने वाले कारक मौजूद हैं कि वर्तमान उद्ग्रहण भारी है और कदाचित इतना अधिक भारी है कि उसका प्रभाव परिचालन पर पड़ता है। ऐसे महत्वपूर्ण विवाद्यक के संबंध में हम केवल इतना ही नहीं कह सकते कि पिटीशनरों ने यह साबित करने के लिए पर्याप्त सामग्री पेश नहीं की है कि परिचालन में हुई गिरावट का सीधा संबंध उदग्रहण में हुई वृद्धि से है, जबकि सरकार की ओर से यह मत व्यक्त किया गया है कि वह सब असंगत है। इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि केन्द्रीय सरकार को यह निदेश देने के लिए वैध आधार मौजूद है कि वह उसकी रोशनी में जो कि ऊपर कही गई हैं, इस मामले पर नए सिरे से विचार करे। (पैरा 97)

इस दलील में अधिक सार दिखाई नहीं पड़ता है कि सीमा शुल्क उद्-गृहीत करने के प्रयोजन के लिए समाचारपत्रों का छोटे, मध्यम और बड़े समाचार-पत्रों में वर्गीकरण करने से संविधान के अनुच्छेद 14 का अतिक्रमण होता है। सीमा शुल्क के संदाय से छोटे समाचार-पत्रों को छूट देने का और मझली श्रेणी के समाचार-पत्रों पर 5 प्रतिशत (अब 275-00 रुपये प्रति मीट्रिक टन) मूल्यानुसार उद्गृहीत करने का जबकि बड़े समाचार-पत्रों पर पूरा सीमा शुल्क उद्गृहीत करने का उद्देश्य छोटे और मध्यम श्रेणी के समाचार-पत्रों को इस दृष्टि से सहायता देना है, जिससे कि उत्पादन की उनकी लागत कम हो जाए। ऐसे समाचार-पत्रों को विज्ञापनों से बड़े पैमाने पर राजस्व प्राप्त नहीं होता। परिचालन

का उनका क्षेत्र सीमित होता है और उनमें से अधिकांश ऐसी भारतीय भाषाओं में छपते हैं, जो कि ग्रामीण क्षेत्रों की आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। हमें इस उद्देश्य में कोई भी बात अकल्याणकारी प्रतीत नहीं होती और न ही यह कहा जा सकता है कि इस वर्गीकरण का कोई भी संबंध प्राप्त किए जाने वाले उद्देश्य से नहीं है। (पैरा 98)

यदि तारीख 15 जुलाई, 1977 वाली अधिसूचना आक्षेपित अधिसूचनाओं के अभिखण्डित किए जाने पर पुनरुज्जीवित नहीं हो सकती, तो इसका परिणाम इन पिटीशनरों के लिए अमंगलकारी होगा, क्योंकि उन्हें 1 मार्च, 1981 से 20 फरवरी, 1982 तक के लिए 40 प्रतिशत मूल्यानुसार और 1 मार्च, 1982 से आगे 1000.00 रुपए प्रति मीट्रिक टन सहित 40 प्रतिशत मूल्यानुसार सीमा शुल्क संदत्त करना होगा। इसके अलावा वे 1982-83 वाले वित्तीय वर्ष के लिए 30 प्रतिशत मूल्यानुसार और 1983-84 वाले वित्तीय वर्ष के दौरान 50 प्रतिशत मूल्यानुसार अतिरिक्त शुल्क संदत्त करने के दायित्वाधीन होंगे। वे सीधे ही चालू वित्तीय वर्ष के दौरान संपूर्ण सीमा शुल्क और कोई अन्य शुल्क का संदाय करने के दायित्वाधीन होंगे। (पैरा 104)

निस्संदेह यह सच है कि कुछ पिटीशनरों ने सीमा-शुल्क टैरिफ अधिनियम, 1975 द्वारा विहित उद्ग्रहण की विधिमान्यता को भी प्रश्नगत किया है। किन्तु हमारा मत यह है कि उसे सीमा शुल्क उद्गृहीत करने वाले ऐसे विधायी उपबन्धों के नमूने के कारण जो कि अभिभावी परिस्थितियों का ध्यान रखते हुए सीमा-शुल्क अधिनियम, 1962 की धारा 25 के अधीन शुल्क कम करने के लिए या कुछ छूट अनुदत्त करने के लिए और समय पर ऐसी रियायतों में परिवर्तन करने के लिए समुचित मामलों में सरकार को प्राधिकृत करते हैं, अभिखण्डित करना अनावश्यक है। सीमा शुल्क के मामले में सरकारी परिपाटी ने सीमा शुल्क अधिरोपित करने वाली विधि को वस्तुतः अनिश्चित विधान बना दिया है। संसद सरकार से यह आशा करती है कि वह समय-समय पर प्रत्येक मामले की स्थिति का पुनर्विलोकन करे और विनिश्चित करे कि सीमा-शुल्क टैरिफ अधिनियम, 1975 द्वारा विहित सीमाओं के भीतर कितना शुल्क उद्गृहीत किया जाना चाहिए। इसलिए सीमा-शुल्क टैरिफ अधिनियम, 1975 में उपबन्धों की विधिमान्यता की अब परीक्षा करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि यह साबित कर दिया गया है कि सरकार 1 मार्च, 1981 को और उसके बाद सीमा-शुल्क अधिनियम, 1962 की

धारा 25 के अधीन निकाली गई आक्षेपित अधिसूचनाएं निकालते हुए विधि के अनुसार अपनी कानूनी बाध्यताओं का निर्वहन करने में असफल रही, इसलिए सरकार को यह निदेश दिया जाना चाहिए कि वह उस छूट की, जो कि 1 मार्च, 1981 के बाद कीकालावधि के लिए सभी सुसंगत बातों को विचार में लेने के बाद अखबारी कागजों के आयात के संबंध में दी जानी चाहिए, सीमा से संबंधित सम्पूर्ण विवाद्यक की पुनर्परीक्षा करे। हम यह रास्ता इसलिए अपनाते हैं कि हम भी यह नहीं चाहते कि सरकार को उस वैध शुल्क से वंचित कर दिया जाए, जो कि पिटीशनरों को सुसंगत कालावधि के दौरान आयातित अखबारी कागज पर संदत्त करना होगा। (पैरा 105)

प्रभेदित निर्णय

		पैरा
[1977]	[1977] 4 उम० नि० प० 542=[1977] एस० सी० आर० 1002: **महाराष्ट्र राज्य और अन्य बनाम सैंट्रल प्रोविन्सेज मैंगनीज और कम्पनी लिमिटेड**	102
[1974]	[1974] 2 उम० नि० प० 1652= [1975] 1 एस०सी०आर० 429 : **मोहम्मद शौकत हुसैन खान बनाम आंध्र प्रदेश राज्य**	101
[1970]	ए० आई० आर० 1970 एस० सी० 685 : **श्री मूलचन्द उधवजी बनाम राजकोट बर म्युनिसिपैलिटी**	101
[1969]	[1969] 3 उम० नि० प० 367= [1969] 3 एस० सी० आर० 40 : **कोटेश्वर विट्ठल कामथ बनाम के० रंगप्पा बालिगा एण्ड कम्पनी**	102
[1965]	[1965] 2 एस० सी० आर० 421 : **बी०एन० तिवारी बनाम भारत संघ और अन्य**	99
[1964]	[1964] 4 एस० सी० आर० 680 : **टी० देवदासन बनाम भारत संघ और एक अन्य**	99
[1960]	[1960] 2 एस० सी० आर० 671 : **हमदर्द दवाखाना (वक्फ) लाल कुंआ, दिल्ली और एक अन्य बनाम भारत संघ और अन्य**	87

297 यू० एस० 233 : 80 लाइयर्स एडीशन 660 :
एलिस ली ग्रासजीन, सुपरवाइजर आफ पब्लिक अकाउन्ट्स फार दि स्टेट आफ लुईसिआना बनाम अमेरिकन प्रेस कंपनी 50

अवलंबित निर्णय

[1982] [1982] 1 उम० नि० प० 350=
[1981] 2 एस० सी० आर० 866 :
रमेशचन्द्र काचरदास पोरवाल और अन्य बनाम महाराष्ट्र राज्य और अन्य 74

[1981] [1981] 1 उम० नि० प० 530=
[1980] 2 एस० सी० आर० 1111 :
दि तुलसीपुर शुगर कंपनी लिमिटेड बनाम दि नोटिफाइड एरिया कमेटी, तुलसीपुर 74

[1972] [1972] 1 डब्ल्यू एल० आर 1373 :
बेट्स बनाम लार्ड हेलशाम आफ सेंट मेरिलबोन और अन्य 74

[1971] [1971] 2 क्यू० बी० डी० 175 :
ब्रीन बनाम अमलगामेटेड इंजीनियरिंग यूनियन 78

[1968] [1968] 3 एस० सी० आर० 251 :
दिल्ली नगर निगम बनाम बिरला काटन, स्पिनिंग एण्ड वीविंग मिल्स दिल्ली और एक अन्य 69

[1964] [1964] 1 क्यू०बी० 214 :
मिक्सनाम प्रोपर्टीज लिमिटेड बनाम चर्टसे यू०डी०सी० 71

[1952] [1952] एस० सी० आर० 597 :
मद्रास राज्य बनाम वी०जी० राव 78

[1898] [1898] 2 क्यू० बी० डी० 91 :
क्रूज बनाम जानसन 70

निर्दिष्ट निर्णय

[1975] [1975] 3 आल इंगलैंड रिपोर्टस 81 :
अटर्नी जनरल और एक अन्य बनाम एन्टिगुआ टाइम्स लिमिटेड 57

सर्वश्री ए०के० गांगुली, पी०एच० पारिख, सी० एस० वैद्यनाथन, डी० एन० मिश्र, प्रवीण कुमार, के० आर० नाम्बियार, एम० सी० ढींगरा, कुमारी सीता वैद्यलिंगम, सर्वश्री पी० सी० कपूर, प्रमोद दयाल, सी० एम० नय्यर, एस० एस० मुंजराल, के० के० जैन, एस० के० गुप्त, ए० डी० सांगर, रंजन मुखर्जी, सुदीप सरकार, पी० के० गांगुली कुमारी इंदु मलहोत्रा, सर्वश्री पी० आर० सीतारमन और वी० शेखर

प्रत्यर्थियों की ओर से श्री के० सरसरन, भारत के अटर्नी जनरल, सर्वश्री कृष्णा अय्यर, पी० ए० फ्रांसिस, ए० सुब्बा राव, दलवीर भण्डारी और आर० एन० पोद्दार।

मध्यक्षेपी की ओर से सर्वश्री एफ०एस० नरीमन, एस०के० ढोलकिया, सीली जे० सोराबजी, अनिल बी० दीवान, जे०बी० दादाचंजी, एस० सुकुमारन डी०एन० मिश्र, के०पी० ढांडापानी, आर० सी० भाटिया, पी० सी० कपूर, ए० एन० हक्सर, ओ० सी० माथुर, कुमारी मीरा माथुर, डाक्टर रोक्सना स्वामी, सर्वश्री अरुण जेतली, पी० एच० पारिख, कुमारी दिव्य भल्ला और पिनकी मिश्र।

न्यायालय का निर्णय न्यायाधिपति ई० एस० वैंकटरामय्या ने दिया।

न्यायाधिपति वेंकटरामैय्या—

संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन फाइल किए गए इन पिटीशनों में बहुत से पिटीशनर कुछ कंपनियां, उनके शेयरधारक और उनके कर्मचारी हैं जो समाचार-पत्र, पत्रिकाएं, मैगजीन, आदि, के संपादन, मुद्रण और प्रकाशन के कार्य में लगे हुए हैं। उनमें से कुछ न्यास या अन्य प्रकार के स्थापन हैं जो उसी प्रकार का कारबार कर रहे हैं। अपने कार्य के क्रम में वे काफी मात्रा में अखबारी कागज का उपभोग करते हैं और यह कहा गया है कि समाचार-पत्र के प्रकाशन में अन्तर्वलित खर्च का 60 प्रतिशत अखबारी कागज खरीदने के लिए प्रयोग किया जाता है जिसका सारभूत भाग बाहर से आयात किया

जाता है। उन्होंने सीमा शुल्क टैरिफ अधिनियम, 1975 (1975 का अधिनियम सं० 51) की प्रथम अनुसूची में शीर्षक सं० 48.01/21, उप-शीर्षक सं० (2) और धारा 2 के साथ पठित सीमा शुल्क अधिनियम, 1962 (1962 का अधिनियम, सं० 52) की धारा 12 के अधीन बाहर से आयातित अखबारी कागज पर आयात शुल्क के अधिरोपण की विधिमान्यता और 1 मार्च, 1981 से सीमा शुल्क अधिनियम, 1962 की धारा 25 के अधीन जारी की गई अधिसूचना द्वारा यथा उपांतरित अखबारी कागज पर वित्त अधिनियम, 1981 के अधीन आनुषंगिक शुल्क के उद्ग्रहण को चुनौती दी है।

2. उपरोक्त उद्ग्रहण को चुनौती देने वाले रिट पिटीशनों का पहला वर्ग मई, 1981 में फाइल किया गया था। उस समय सीमा शुल्क टैरिफ अधिनियम, 1975 के साथ पठित सीमा शुल्क अधिनियम, 1962 के अधीन अखबारी कागज पर मूल्यानुसार 40 प्रतिशत सीमा शुल्क संदेय था। वित्त अधिनियम, 1981 के अधीन मूल्यानुसार 30 प्रतिशत का आनुषंगिक शुल्क सीमा शुल्क के अतिरिक्त संदेय था। किन्तु सीमा शुल्क अधिनियम, 1962 की धारा 25 के अधीन जारी की गई अधिसूचनाओं द्वारा सीमा शुल्क को मूल्यानुसार 10 प्रतिशत घटा दिया गया और आनुषंगिक शुल्क को समाचार-पत्र, पुस्तकों और पत्रिकाओं के मुद्रण के लिए प्रयुक्त अखबारी कागज के मामले में मूल्यानुसार 5 प्रतिशत घटा दिया गया।

3. [इन पिटीशनों के लंबित रहने के दौरान जब कि सीमा शुल्क टैरिफ अधिनियम, 1975 को संशोधित किया गया था जिसमें अखबारी कागज पर सीमा शुल्क के रूप में 1000 रुपये प्रति मी० टन के साथ मूल्यानुसार 40 प्रतिशत उद्ग्रहण किया गया था, सीमा शुल्क के अधीन सभी मालों पर संदेय आनुषंगिक शुल्क मूल्यानुसार 50 प्रतिशत बढ़ा दिया गया था। किन्तु सीमा शुल्क अधिनियम, 1962 की धारा 25 के अधीन जारी की गई अधिसूचनाओं के कारण 550 रुपये प्रति मी० टन की सामान्य दर पर सीमा शुल्क और 275 रुपये प्रति मी० टन का आनुषंगिक शुल्क अब अखबारी कागज पर उद्गृहीत किया जा रहा है अर्थात् प्रति मी० टन 825 रुपये कुल अब उद्गृहीत किया जा रहा है।

4. पिटीशनरों ने अन्य बातों के साथ साथ यह दलील दी कि आयात शुल्क के अधिरोपण का संविधान द्वारा गारंटीकृत वाक् और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को अशक्त करने का प्रत्यक्ष प्रभाव है क्योंकि इससे समाचार-पत्रों के मूल्य में बढ़ोतरी होगी और आवश्यक रूप से इसके परिणामस्वरूप उनके

परिचालन में कमी होगी। उन्होंने यह कहा है कि देश में जनसंख्या और साक्षरता की बढ़ोतरी के साथ प्रत्येक समाचार-पत्र से यह आशा की जाती है कि वह प्रति वर्ष अपने परिचालन में कम से कम 5 प्रतिशत स्वत: बढ़ोतरी करे किंतु, यह बढ़ोतरी प्रत्यक्षत: समाचार-पत्रों के मूल्य में वृद्धि के द्वारा बाधित होगी। आगे यह कहा गया है कि सीमा शुल्क अधिनियम, 1962 और सीमा शुल्क टैरिफ अधिनियम, 1975 द्वारा आयात शुल्क की दर के निर्धारण में स्वीकृत पद्धति ने समाचार-पत्र के प्रकाशकों को कार्यपालिका के हस्तक्षेप के लिए छोड़ दिया है। पिटीशनरों ने यह दलील दी कि अखबारी कागज पर सीमा शुल्क अधिरोपित करने की कोई आवश्यकता नहीं थी जिसे 1 मार्च, 1981 तक उसके संदाय से पूर्ण मुक्ति मिली हुई थी। चूंकि विदेशी मुद्रा स्थिति काफी सुखद थी। प्रवृत्त स्कीम के अधीन भारत का राज्य व्यापार निगम छोटे समाचार-पत्रों को जिनका परिचालन 15000 से कम है उस मूल्य पर अखबारी कागज बेचता है जिसमें आयात शुल्क सम्मिलित नहीं है। मझले अखबारों को जिनका परिचालन 15000 से 50000 के बीच है, उस मूल्य पर बेचता है जिसमें मूल्यानुसार 5 प्रतिशत शुल्क सम्मिलित है (अब 275 रुपये प्रति मी० टन) और बड़े समाचार-पत्रों को जिनका परिचालन 50000 से ऊपर है उस मूल्य पर बेचता है जिसमें 15 प्रतिशत मूल्यानुसार शुल्क का उद्ग्रहण सम्मिलित है (अब 825 रुपये प्रति मी० टन)। यह कहा गया है कि समाचार-पत्रों का बड़े, मझले और छोटे समाचार-पत्रों में वर्गीकरण अयुक्त है चूंकि समुद्र पार से क्रय कभी कभी उन प्रकाशकों द्वारा किया जाता है जिनके बहुत से समाचार-पत्र हैं जो भिन्न भिन्न श्रेणियों से संबंधित थे। पिटीशनरों ने यह कहा कि 1 मार्च, 1981 के बाद अखबारी कागज के मूल्य में काफी बढ़ोतरी और मुद्रा प्रसारवादी आर्थिक परिस्थितियां जिनसे उत्पादन का खर्च बढ़ा है, उद्योग के लिए अब और शुल्क वहन करना असंभव है। चूंकि शुल्क को वहन करने की क्षमता उद्ग्रहण की युक्तियुक्तता अवधारण करने के लिए अनिवार्य तत्व है, यह कहा गया है कि उद्ग्रहण को बनाए रखना संविधान के अनुच्छेद 19 (1)(क) और अनुच्छेद 19(1) (छ) का अतिक्रामी है। यह सुझाव दिया गया है कि कार्यपालिका द्वारा बड़े समाचारपत्रों पर उद्ग्रहण अधिरोपित करना समाचार-पत्रों के परिचालन को दबा देने के दृष्टिकोण से किया गया है जो प्रशासन के कार्य की अधिक आलोचना करते हैं। आनुषंगिक रूप से पिटीशनरों ने यह दलील दी है कि आयात शुल्क उद्ग्रहण करने के प्रयोजन के लिए छोटे, मझले और बड़े समाचार-पत्रों का वर्गीकरण संविधान के अनुच्छेद 14 का अतिक्रामी है। पिटीशनरों ने अपने पिटीशनों के साथ अपने अभिवाकों के समर्थन में काफी परिशिष्ट लगाए हैं।

5. भारत संघ की ओर से एक प्रतिशपथपत्र फाइल किया गया है। प्रतिशपथपत्र का अभिसाक्षी, राजस्व विभाग, वित्त मन्त्रालय, भारत सरकार के अवर सचिव आर० एस० सिद्धू हैं। प्रतिशपथपत्र के पैरा 5 में इस बात का दावा किया गया है कि सरकार ने लोक हित में सरकार के राजस्व को बढ़ाने के लिए शुल्क उद्गृहीत किया है। यह कहा गया है कि जब सीमा शुल्क से छूट दी गई है तो कार्यपालिका को अपना यह समाधान करना होता है कि कोई तत्समान अन्य लोक हित है जो ऐसी छूट को न्यायोचित ठहराता है और ऐसे किसी लोक हित के न होने पर कार्यपालिका को छूट देने की शक्ति नहीं है और कि उसे संसद् की आज्ञा का अनुपालन करना होता है जिसने सीमा-शुल्क टैरिफ अधिनियम, 1975 के द्वारा शुल्क की दर निश्चित की है। इस बात का भी दावा किया गया है कि छूट अनुदत्त करने के प्रयोजनों के लिए समाचार-पत्रों का वर्गीकरण लोक हित में किया जाता है जो सुसंगत विचारों को ध्यान में रखकर किया गया है। इस बात से मना किया गया है कि उद्ग्रहण में कई असद्भावनाएं हैं। इस बात का अभिवाक् किया गया है कि चूंकि समाज के प्रत्येक भाग को राज्य के आर्थिक बोझ में सम्यक् हिस्सा बटाना पड़ता है अखबारी कागज पर सीमा-शुल्क का उद्ग्रहण संविधान के अनुच्छेद 19 (1) (क) का अतिक्रामी नहीं कहा जा सकता। किन्तु पिटीशनरों ने इस अभिवाक् के संबंध में कि कराधान का बोझ अधिक है प्रतिशपथपत्र में यह कहा है कि उक्त तथ्य अखबारी कागज पर आयात शुल्क के उद्ग्रहण के बारे में असंगत है। पिटीशनरों के अभिकथन के उत्तर में कि शुल्क अधिरोपित करने का कोई विधिमान्य कारण नहीं था चूंकि विदेशी मुद्रा स्थिति काफी सुखद थी संघ सरकार ने यह कहा है कि विदेशी मुद्रा स्थिति सुखद थी यह आयात शुल्क के अधिरोपण को वर्जित नहीं करता। आगे इस बात का अभिवाक् किया गया है कि चूंकि अधिरोपित शुल्क एक अप्रत्यक्ष कर है जो समाचारपत्र के क्रेता द्वारा वहन किया जाएगा पिटीशनरों को इससे व्यथित अनुभव नहीं करना चाहिए।

II

अखबारी कागज पर सीमा-शुल्क के उद्ग्रहण का संक्षिप्त इतिहास

6. पक्षकारों की विभिन्न दलीलों का मूल्यांकन करने के लिए भारत में अखबारी कागज पर सीमा-शुल्क के उद्ग्रहण के इतिहास का संक्षिप्त वर्णन करना आवश्यक है।

7. चाहे मूल रूप से इण्डियन टैरिफ ऐक्ट, 1934 के अधीन आयातित कागज पर सीमा-शुल्क उद्ग्रहण था, सफेद, भूरे या गैर चमकीले अखबारी

कागज के आयात के लिए मूल्यानुसार 1.57 प्रतिशत से अधिक सीमा-शुल्क की प्रकार के उद्ग्रहण से आयात हेतु छूट दी गई थी। किन्तु बाद में 50 रुपए प्रति मी० टन का विनिर्दिष्ट आयात शुल्क 1966 तक अखबारी कागज के आयातों पर उद्गृहीत किया जाता रहा। अखबारी कागज पर सीमा-शुल्क के उद्ग्रहण के प्रश्न की परीक्षा छोटे समाचार-पत्रों पर जांच समिति द्वारा की गई थी। सन् 1965 में पेश की गई उसकी रिपोर्ट में उस समिति ने सीमा-शुल्क से अखबारी कागज पर कुल छूट की सिफारिश की थी चूंकि दुनिया के 90 प्रतिशत देशों में ऐसा कोई उद्ग्रहण अधिरोपित नहीं किया गया था क्योंकि समाचार-पत्र प्रजातन्त्र में प्रमुख भूमिका निभाते हैं। उक्त सिफारिश के आधार पर भारत सरकार ने सन् 1966 में सीमा-शुल्क अधिनियम, 1962 की धारा 25 के अधीन अपनी शक्तियों के प्रयोग में अखबारी कागज पर बिलकुल सीमा-शुल्क को समाप्त कर दिया था। अखबारी कागज का मूल्य सन् 1965-66 के दौरान 725 रुपए प्रति मी० टन था किन्तु सन् 1966-67 में इसके मूल्य में एकदम चढ़ाव आया जबकि यह बढ़कर 1155 रुपए प्रति मी० टन हो गया। सन् 1966-67 की कालावधि के दौरान यद्यपि सभी आयातित मालों पर विनिमयात्मक और अनुषंगी सीमा-शुल्क लगा घोर विदेशी मुद्रा संकट के बावजूद जिसके कारण सन् 1966 में भारतीय रुपए का अवमूल्यन हो गया, अखबारी कागज पर ऐसा कोई उद्ग्रहण नहीं था। किन्तु वित्तीय कठिनाइयों के कारण जिनका देश को 1971 में बंगला देश युद्ध के परिणामस्वरूप सामना करना पड़ा, 2-1/2 प्रतिशत का विनिमयात्मक शुल्क अखबारी कागज के आयात पर 1972 के वित्त अधिनियम द्वारा कठिन स्थिति का सामना करने के लिए उद्गृहीत किया गया। सन् 1971-72 में अखबारी कागज का मूल्य 1134 रुपये प्रति मी० टन था। 1973 के वित्त अधिनियम के द्वारा 2-1/2 प्रतिशत का उपरोक्त मूल्यानुसार विनिमयात्मक शुल्क हटा दिया गया और उसे उक्त अधिनियम द्वारा 5 प्रतिशत समनुषंगी शुल्क के रूप में संपरिवर्तित कर दिया गया। 5 प्रतिशत का यह उद्ग्रहण सभी मालों पर था जिसमें भारत में आयातित अखबारी कागज सम्मिलित था। 1 अप्रैल, 1974 को आयात नियंत्रण आदेश के अधीन जो आयात और निर्यात नियंत्रण अधिनियम, 1947 की धारा 3 के अधीन जारी किया गया था प्राइवेट पक्षकारों द्वारा अखबारी कागज का आयात बंद कर दिया गया और इसके आयात को भारत के राज्य व्यापार निगम के माध्यम से सरणीबद्ध कर दिया गया। सन् 1975 में सीमा-शुल्क टैरिफ अधिनियम, 1975 प्रवृत्त हुआ। इस अधिनियम के द्वारा इण्डियन टैरिफ ऐक्ट, 1934 निरसित कर दिया गया। सीमा-शुल्क टैरिफ अधिनियम, 1975 की प्रथम अनुसूची

के शीर्षक सं० 48.01/21 के साथ पठित धारा 2 के अधीन मूल्यानुसार 40 प्रतिशत का मूल सीमा शुल्क का उद्ग्रहण अखबारी कागज पर अधिरोपित किया गया। किन्तु सन् 1966 में अनुदत्त छूट के दृष्टिकोण से, जो प्रवृत्त रही, सीमा-शुल्क टैरिफ अधिनियम, 1975 द्वारा किया गया अधिरोपण प्रवृत्त नहीं हुआ। केवल 5 प्रतिशत आनुषंगिक शुल्क जो 1 अप्रैल, 1973 से उद्गृहीत किया गया था प्रवृत्त बना रहा। जुलाई, 1977 के बजट प्रस्तावों में 5 प्रतिशत समनुषंगी शुल्क को घटाकर 2-1/2 प्रतिशत कर दिया गया, किंतु इसे पूर्ण रूप से 15 जुलाई, 1977 को सीमा-शुल्क अधिनियम की धारा 25 के अधीन जारी की गई अधिसूचना द्वारा समाप्त कर दिया गया। 15 जुलाई, 1977 का अधिसूचना निम्न प्रकार पठित है—

"अधिसूचना

सीमा-शुल्क

सा० का० नि० संख्या······सीमा-शुल्क अधिनियम, 1962 (1962 का 52) की धारा 25 की उपधारा (1) द्वारा प्रदत्त शक्तियों के प्रयोग में और भारत सरकार, राजस्व और बैंककारी विभाग की अधिसूचना सं० 72—सीमा-शुल्क दिनांक 18 जून, 1977 की अधिसूचना के अधिक्रमण में केन्द्रीय सरकार यह समाधान हो जाने पर कि लोक हित में ऐसा करना आवश्यक है, एतद्द्वारा सीमा शुल्क टैरिफ अधिनियम, 1975 (1975 का 51) की प्रथम अनुसूची के शीर्षक सं० 48.01/21 के उपशीर्षक (2) के अधीन आने वाले अखबारी कागज को एतद्द्वारा उस पर उदग्रहणीय सीमा-शुल्क के उस पूरे भाग से जो उक्त प्रथम अनुसूची में विनिर्दिष्ट है, छूट देती है।

ह०

(जोसेफ डोमिनिक)

अवर सचिव, भारत सरकार।"

8. सन् 1975-76 के दौरान अखबारी कागज का मूल्य 3,676 रुपए प्रति मी० टन था। अखबारी कागज पर अधिरोपित सीमा-शुल्क से कुल छूट 1 मार्च, 1981 तक प्रवृत्त रही। इसी दौरान केन्द्रीय सरकार ने दिसम्बर, 1980 में पालेकर अवार्ड में अन्तर्वलित सिफारिशों पर समाचार-पत्र स्थापनों के कर्मचारियों की बढ़ी हुई वेतन और मजदूरी अधिसूचित कर दी। 1 मार्च, 1981 को 15 जुलाई, 1977 को सीमा-शुल्क अधिनियम, 1962 की धारा

25 (1) के अधीन अधिसूचना जारी की गई जिसमें सीमा-शुल्क से कुल छूट अनुदत्त की गई जिसे नई अधिसूचना जारी करके अधिक्रांत किया गया जिसमें यह कहा गया कि केन्द्रीय सरकार ने लोक हित में समाचार-पत्रों, पुस्तकों और पत्रिकाओं के मुद्रण के लिए भारत में आयातित अखबारी कागज को उस पर उदग्रहण सीमा-शुल्क से उस भाग तक छूट दे दी है जो मूल्यानुसार 10 प्रतिशत से अधिक था। उक्त अधिसूचना का प्रभाव यह था कि समाचार-पत्रों के प्रकाशकों को आयातित अखबारी कागज पर मूल्यानुसार 10 प्रतिशत सीमा-शुल्क का संदाय करना पड़ा। एक अन्य अधिसूचना द्वारा जो लगभग उसी समय जारी की गई थी, 1981 के वित्त अधिनियम के द्वारा मूल्यानुसार 5 प्रतिशत से ऊपर अधिरोपित आनुषंगिक शुल्क को अखबारी कागज के मामले में छूट दे दी थी। कुल परिणाम यह था कि मूल्यानुसार 15 प्रतिशत का कुल शुल्क सन् 1981-82 के लिए अखबारी कागज पर अधिरोपित किया गया।

9. सरकार द्वारा उपरोक्त अधिसूचना के समर्थन में दिया गया स्पष्टीकरण निम्न प्रकार था—

"अखबारी कागज पर सीमा-शुल्क—

मूलतः अखबारी कागज के आयात पर सीमा-शुल्क नहीं लगता। भारत सरकार ने छोटे समाचार-पत्रों पर जांच समिति (1965) की सिफारिश पर रुपए के अवमूल्यन के पश्चात् अखबारी कागज पर सीमा-शुल्क समाप्त कर दिया। समिति ने अपनी रिपोर्ट में यह कहा था कि अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में अखबारी कागज का 90 प्रतिशत सीमा-शुल्क से मुक्त था और अखबारी कागज पर सीमा-शुल्क के पूर्ण उत्पाद की सिफारिश की। तथापि सन् 1971 में बंगला देश के संकट के दौरान 2-1/2 प्रतिशत मूल्यानुसार विनिमयात्मक शुल्क अखबारी कागज के आयात पर अधिरोपित किया गया। बाद में इसे 1 अप्रैल, 1973 को समाप्त कर दिया गया था और इसके स्थान पर अखबारी कागज के आयात पर 5 प्रतिशत आनुषंगिक सीमा-शुल्क सन् 1973-84 के संघ के बजट प्रस्तावों में प्रस्तावित किया गया जब कि राजस्व और बैंककारी विभाग के तारीख 2 अगस्त, 1976 की अधिसूचना सं० 235/फाइल सं० 527/1/76—सीमा-शुल्क (टीयू) द्वारा अनुदत्त छूट के कारण अखबारी कागज पर कोई सीमा-शुल्क उद्ग्रहण नहीं किया गया। 5 प्रतिशत आनुषंगिक शुल्क 15 जुलाई, 1977 तक आयातित अखबारी

कागज पर उद्गृहीत होता रहा जबकि वित्त मंत्रालय राजस्व विभाग ने 15 ने जुलाई, 1977 की अपनी अधिसूचना सं०148/फाइल संख्या बजट(2)—सीमा-शुल्क/77 के द्वारा अखबारी कागज को सम्पूर्ण सीमा शुल्क से मुक्त कर दिया। इससे पूर्व वित्त मंत्रालय, राजस्व विभाग ने अपनी सीमा-शुल्क अधिसूचना सं० 72/फाइल सं० बजट (2)—सीमा शुल्क/77 दिनांक 18 जून, 1977 के द्वारा आनुषंगिक शुल्क को घटाकर 2-1/2 प्रतिशत कर दिया।

वित्त मन्त्री ने चालू वर्ष के लिए बजट प्रस्तावों में अखबारी कागज के आयातों पर 15 प्रतिशत सीमा-शुल्क का प्रस्ताव किया जो 1 मार्च, 1981 से सीमा-शुल्क अधिसूचना सं० 24/फाइल सं० बजट (सीमा-शुल्क)/81 दिनांक 1 मार्च, 1981 के कारण प्रभावी हुआ। 15 प्रतिशत सीमा शुल्क में 10 प्रतिशत मूल शुल्क और 5 प्रतिशत आनुषंगिक शुल्क है।"

10. 1 मार्च, 1981 में आयातित अखबारी कागज का मूल्य 4,560 रुपये प्रति मी० टन था। अखबारी कागज पर 15 प्रतिशत (10 प्रतिशत मूल शुल्क और 5 प्रतिशत आनुषंगिक शुल्क) कुल शुल्क के अधिरोपण के समर्थन में वित्त मन्त्री के भाषण से उद्धरण नीचे दिया गया है—

"अखबारी कागज पर 15 प्रतिशत सीमा-शुल्क के उद्ग्रहण से सदन के बाहर और भीतर काफी चर्चा हुई है। जैसा कि बजट भाषण में स्पष्ट कर दिया गया था इस उदग्रहण का आशय आयातित कागज के उपभोग पर रोक के अभ्युपाय को बढ़ाना है और इस प्रकार से विदेशी मुद्रा के संरक्षण में सहायता करना है। बजट पर सामान्य चर्चा के दौरान आदरणीय सदस्यों द्वारा दिए गए मतों के दृष्किोण से मैंने सदन को यह आश्वासन दिया था कि मैं छोटे, और मझले समाचार-पत्रों को अनुतोष देने की स्कीम बनाने का प्रयत्न करूंगा जिसके बारे में सदस्यों ने विशेष चिंता जाहिर की थी हमने अब छोटे और मझले समाचार-पत्रों को अनुतोष देने के लिए स्कीम का एक आकार बनाया है। इस स्कीम के अधीन राज्य व्यापार निगम छोटे समारचार-पत्रों को उस मूल्य पर आयातित अखबारी कागज बेचेगा जिसमें आयात शुल्क से संबन्धित कोई रकम सम्मिलित नहीं होगी। मझले समाचार-पत्र अपना अखबारी कागज उस मूल्य पर प्राप्त करेंगे जिसमें मूल्यानुसार 5 प्रतिशत के आयात शुल्क से सम्बन्धित रकम

सम्मिलित होगी। तथापि बड़े समाचार-पत्र वह मूल्य अदा करेंगे जिसमें मूल्यानुसार 15 प्रतिशत का पूर्ण शुल्क भार सम्मिलित होगा। प्रेस कौंसिल में छोटे, मझले और बड़े समाचार-पत्रों की परिभाषा दी गई है। इस अवसर पर हाल की परिभाषा यह है कि वे समाचार-पत्र जिनका परिचालन 15,000 या उससे कम है उन्हें छोटे समाचार-पत्रों के रूप में वर्गीकृत किया गया है, जिनका 15,000 से अधिक किंतु 50,000 से कम परिचालन है, उन्हें मझले समाचार-पत्र के रूप में वर्गीकृत किया गया है और 50,000 से ऊपर परिचालन वाले समाचार-पत्रों को बड़े समाचार-पत्र कहा गया है। इसलिए छोटे समाचार-पत्र जिनका परिचालन 15,000 से कम है वे सीमा-शुल्क का संदाय नहीं करेंगे, जिनका परिचालन 15,000 से 50,000 के बीच है, 5 प्रतिशत का सीमा-शुल्क का संदाय करेंगे और 50,000 से ऊपर परिचालन वाले समाचार-पत्र 15 प्रतिशत का संदाय करेंगे। सरकार और राज्य व्यापार निगम के बीच उपयुक्त वित्तीय प्रबन्ध कर लिए गए हैं जिससे कि राज्य व्यापार निगम इन रियायतों को प्रभावी कर सके। जैसा कि माननीय सदस्यों को पता है, छोटे, मझले और बड़े समाचार-पत्रों का वर्गीकरण परिचालन के शब्दों में पहले ही इस उद्योग में अच्छी तरह समझा गया है और इसका सूचना और प्रसारण मंत्रालय द्वारा अखबारी कागज के प्रारम्भिक आबंटन का अवधारण करने के प्रयोजन के लिए और प्रति वर्ष विभिन्न समाचार-पत्रों द्वारा अखबारी कागज के उपभोग की वृद्धि की दरों को नियत करने के लिए अनुसरण किया गया है। राज्य व्यापार निगम प्रस्तुत स्कीम के प्रयोजनों के लिए छोटे, मझले और बड़े समाचार-पत्रों के उसी वर्गीकरण का अनुसरण करेगा। यह प्रबन्ध वास्तव में छोटे और मझले समाचार-पत्रों को लगभग 5.86 करोड़ रुपये का अनुतोष देगा।"

11. अखबारी कागज पर सीमा-शुल्क और आनुषंगिक शुल्क अधिरोपित करने वाले सुसंगत उपबंध जो विचार के लिए उद्भूत हुए हैं, ये हैं—सीमा-शुल्क अधिनियम, 1962 की धारा 12 इस प्रकार पठित है—

"12. **शुल्क्य माल**—(1) इस अधिनियम या तत्समय प्रवृत्त किसी अन्य विधि में जैसा अन्यथा उपबंधित है उसके सिवाय, भारत में आयात किए गए या भारत से निर्यात किए गए माल पर सीमा-शुल्क का ऐसी दरों पर जो सीमा-शुल्क टैरिफ अधिनियम, 1975

(1975 का 51) या तत्समय प्रवृत्त किसी अन्य विधि के अधीन विनिर्दिष्ट की जाए, उद्ग्रहण किया जाएगा।

(2) .... ।"

12. सीमा-शुल्क टैरिफ अधिनियम, 1975 की धारा 2 निम्न प्रकार पठित है—

"2. अनुसूचियों में विनिर्दिष्ट शुल्कों का उद्ग्रहण किया जाना—सीमा-शुल्क अधिनियम, 1962 के अधीन सीमा-शुल्क का उद्ग्रहण ऐसी दरों पर किया जाएगा जो पहली अनुसूची और दूसरी अनुसूची में विनिर्दिष्ट हैं।"

13. सीमा-शुल्क टैरिफ अधिनियम, 1975 की प्रथम अनुसूची के अध्याय 48 का सुसंगत भाग जो 1981 में पठित आयात टैरिफ से संबंधित है, इस प्रकार है —

शीर्ष सं०	उपशीर्ष सं० और वस्तु का वर्णन	शुल्क की दर मानक	अधिमानी क्षेत्र	शुल्क की संरक्षात्मक दरों की अवधि
1	2	3	4	5
48.01/21..				
(2)	अखबारी कागज जिसमें फाइबर अन्तर्वस्तु के 70 प्रतिशत से अनधिक यांत्रिक लकड़ी की लुगदी हो (जिसके अन्तर्गत क्राम, संगमरमर, फ्लिन्ट, पोस्टर, स्टीरियों और आर्ट कागज नहीं है।)	40 प्रतिशत		
................."				

14. पिटीशनरों द्वारा प्रयुक्त अखबारी कागज उपधारा (2) के शीर्ष सं० 48.01/21 के अधीन आता है जिसके द्वारा मूल्यानुसार 40 प्रतिशत सीमा-शुल्क उस पर उद्गृहीत है। 1982 के वित्त अधिनियम द्वारा शीर्ष सं० 48.01/21 की उपधारा (2) में कालम (3) में प्रविष्टि के लिए "40 प्रतिशत और 1,000 रुपये प्रति टन" प्रविष्टि प्रतिस्थापित की गई थी।

15. वित्त अधिनियम, 1982 की धारा 44 का सुसंगत भाग जिसमें समनुषंगी सहायक शुल्क उद्गृहीत किया गया था, निम्न प्रकार पठित है—

"44 (1). सीमा-शुल्क टैरिफ अधिनियम की पहली अनुसूची में या समय-समय पर यथासंशोधित उस अनुसूची में वर्णित माल की दशा में सीमा-शुल्क अधिनियम, 1962 (जिसे इसमें इसके पश्चात् सीमा-शुल्क अधिनियम कहा गया है) धारा 14 के उपबंधों के अनुसार यथा अवधारित, माल के मूल्य के तीस प्रतिशत के बराबर रकम सहायक सीमा-शुल्क के रूप में उद्गृहीत और संगृहीत की जाएगी।"

16. आनुषंगिक शुल्क की उपरोक्त दर वित्तीय वर्ष 1982-83 के दौरान प्रवृत्त थी और सरकार के लिए सीमा-शुल्क अधिनियम, 1962 की धारा 25 के अधीन उसके संपूर्ण या भाग से छूट अनुदत्त करने की छूट थी।

17. वित्त अधिनियम, 1983 की धारा 45 के द्वारा वित्त अधिनियम, 1982 द्वारा अधिरोपित 30 प्रतिशत के स्थान पर समनुषंगी शुल्क के रूप में माल के मूल्य का 50 प्रतिशत अधिरोपित किया गया।

18. किन्तु सीमा-शुल्क अधिनियम, 1962 की धारा 25 (2) के अधीन 28 फरवरी, 1982 को जारी की गई अधिसूचनाओं के द्वारा जो 1 मार्च, 1981 की अधिसूचना के अधिक्रमण में जारी की गई थी, 550 रुपये प्रति टन अखबारी कागज पर सीमा-शुल्क के रूप में अधिरोपित किया गया था और समनुषंगी शुल्क प्रति टन 275 रुपये नियत किया गया था। कुल 825 रुपये प्रति टन समाचार-पत्र को शुल्क के रूप में संदत्त किया जाना था। उस समय तक अखबारी कागज का उच्च विक्रय मूल्य 5,600 रुपये प्रति टन से ऊपर जा चुका था।

19. महत्व की बात यह है कि जब सरकार का यह दृष्टिकोण था कि लोक हित में अखबारी कागज पर कुल सीमा-शुल्क 15 प्रतिशत से अधिक नहीं होना चाहिए और जब ये रिट पिटीशनें जिनमें उस 15 प्रतिशत के उद्ग्रहण को भी चुनौती दी गई थी इस न्यायालय में लंबित थीं, सरकार द्वारा संसद में यह समावेदन किया गया था, विशेष रूप से वित्त अधिनियम, 1982 द्वारा अखबारी कागज पर मूल सीमा-शुल्क को बढ़ाकर 1,000 रुपये प्रति टन किया जाना था। इसलिए आज यदि कार्यपालिक सरकार सीमा-शुल्क अधिनियम की धारा 25 के अधीन जारी की गई अधिसूचनाओं को

वापस लेती है, 90 प्रतिशत तथा 1,000 रु० प्रति टन का कुल शुल्क आयातित अखबारी कागज-पर संधरित हो जाएगा ।

20. 15 प्रतिशत शुल्क के अधिरोपण के प्रभाव से कुछ हद तक 1981 में समाचार-पत्रों के मूल्य में बढ़ोतरी होगी और इसके परिणामस्वरूप समाचार-पत्रों के परिचालन में कमी आएगी । इस प्रश्न पर द्वितीय प्रेस आयोग ने अपनी रिपोर्ट में (भाग 1, पृष्ठ 18) पर निम्नलिखित मत व्यक्त किए हैं —

"1981 के दौरान परिचालन में कमी ।

94. परिचालन के हाल के रुझान और आर्थिक परिवेश के हाल के रुझानों में उनके संबंध की परीक्षा करने के लिए आयोग के कार्यालय ने परिचालन के संपरीक्षा विभाग का अन्वेषण किया जिसने जुलाई, 1980 से जून, 1981 की कालावधि को प्रमाणित किया । यह पता चला कि पहले छह मास की कालावधि की तुलना में दैनिक पत्र और पत्रिकाओं के मामले में जनवरी-जून, 1981 की कालावधि में परिचालन में कमी आई थी ।"

21. दो महत्वपूर्ण घटनाएं जो जुलाई, 1980 से जून, 1981 के बीच की कालावधि के दौरान हुई, समाचार-पत्र उद्योग में संदेय वेतन और मजदूरी के संबंध में पालेकर अवार्ड का प्रवर्तन और आयातित अखबारी कागज पर 15 प्रतिशत सीमा-शुल्क का अधिरोपण था । सरकार की अखबारी कागज की नीति के अधीन अखबारी कागज प्रदाय करने के तीन स्रोत थे—(1) समुद्र पार विक्रय, (2) राज्य व्यापार निगम द्वारा बनाए गए अन्तस्थ स्टाक से विक्रय जिसमें आयातित अखबारी कागज भी सम्मिलित है, और (3) भारत में विनिर्मित अखबारी कागज । आयातित अखबारी कागज की कुल मात्रा का महत्वपूर्ण अंग है जो समाचार-पत्र स्थापन द्वारा प्रयुक्त किया जाता है ।

लोकतन्त्रात्मक समाज में प्रेस की स्वतन्त्रता का महत्व और न्यायालयों की भूमिका ।

---

22. हमारा संविधान अनुच्छेद 19 में प्रेस की स्वतंत्रता अभिव्यक्ति का प्रयोग नहीं करता किन्तु इस न्यायालय द्वारा यह घोषणा की गई है कि यह अनुच्छेद 19 (1) (क) में सम्मिलित है जो वाक् और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की गारंटी देता है (देखिए बृजभूषण और एक अन्य बनाम दिल्ली

राज्य[1] और बैनेट कोलमैन एण्ड कंपनी और अन्य बनाम भारत संघ और अन्य[2])।

23. संविधान के अनुच्छेद 19 का तात्विक भाग निम्न प्रकार पठित है—

"19. (1) सभी नागरिकों को—

(क) वाक्-स्वातंत्र्य और अभि व्यक्ति-स्वातंत्र्य का,

....

(छ) कोई वृत्ति, उपजीविका, व्यापार या कारबार करने का, अधिकार होगा।

(2) खंड (1) के उपखंड (क) की कोई बात उक्त उपखंड द्वारा दिए गए अधिकार के प्रयोग पर भारत की प्रभुत्ता और अखडता, राज्य की सुरक्षा, विदेशी राज्यों के साथ मैत्रीपूर्ण संबंधों, लोक व्यवस्था, शिष्टाचार या सदाचार के हित में अथवा न्यायालय-अवमान, मानहानि या अपराध-उद्दीपन के संबंध में युक्तियुक्त निर्बन्धन जहां तक कोई विद्यमान विधि अधिरोपित करती है वहां तक उसके प्रवर्तन पर प्रभाव नहीं डालेगी या वैसे निर्बन्धन अधिरोपित करने वाली कोई विधि बनाने से राज्य को निवारित नहीं करेगी।

....

(6) उक्त खण्ड के उपखंड (छ) की कोई बात उक्त उपखंड द्वारा दिए गए अधिकार के प्रयोग पर साधारण जनता के हित में युक्तियुक्त निर्बन्धन जहां तक कोई विद्यमान विधि अधिरोपित करती है वहां तक उसके प्रवर्तन पर प्रभाव नहीं डालेगी या वैसे निर्बन्धन अधिरोपित करने वाली कोई विधि बनाने से राज्य को निवारित नहीं करेगी और विशिष्टतया उक्त उपखंड की कोई बात......।"

24. प्रेस की स्वतंत्रता जैसा कि संविधान-सभा के सदस्यों में से एक सदस्य ने कहा, उन मदों में से एक है जिसके चारों ओर महानतम विषय और सांविधानिक संघर्ष सभी देशों में छिड़ा था, जहां पर उदार संविधान

---

[1] [1950] एस० सी० आर० 605.

[2] [1973] 2 एस० सी० आर० 757.

अभिभूत हैं। उक्त स्वतंत्रता काफी बलिदान और संकटों के पश्चात् प्राप्त की गई है और अंततः यह विभिन्न लिखित संविधानों में निगमित हो गई है। जेम्स मेडिसिन ने जब कि उन्होंने सन् 1789 में कांग्रेस में जब बिल आफ राइट्स प्रस्तुत किया था, उनके बारे में ऐसा कहा गया रिपोर्ट किया गया है कि "वाक्-स्वतंत्रता का अधिकार सुनिश्चित है, प्रेस की स्वतंत्रता स्पष्टतया इस सरकार की पहुंच से परे घोषित की गई है [देखिए एनलस आफ कांग्रेस] (1789-96) (पृष्ठ 141)]। वहां पर भी जहां कि लिखित संविधान नहीं हैं वहां सुस्थापित सांविधानिक रूढ़ि या न्यायिक उद्घोषणाएं हैं जो लोगों की उक्त स्वतंत्रता को सुनिश्चित करती हैं। राष्ट्रसंघ के और कुछ अन्य अंतर्राष्ट्रीय निकायों के मूल दस्तावेज जिनका निर्देश यहां पर इसके पश्चात् किया जाएगा, उक्त अधिकार की प्रधानता व्यक्त करते हैं। भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के नेताओं ने वाक् और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को विशेष महत्व दिया जिसमें अन्य स्वतंत्रताओं के अतिरिक्त प्रेस की स्वतंत्रता सम्मिलित थी। उनके स्वतंत्रता संग्राम के दौरान वे अमेरिका के बिल आफ राइट्स द्वारा प्रभावित हुए जिनमें संयुक्त राज्य अमेरिका के सविधान का प्रथम संशोधन अन्तर्विष्ट था जिसमें प्रेस की स्वतंत्रता गारंटीकृत की गई थी। पंडित जवाहरलाल नेहरू ने अपने ऐतिहासिक संकल्प में जिसमें संविधान के उद्देश्य और लक्ष्य अन्तर्विष्ट थे जो संविधान-सभा द्वारा अधिनियमित किए जाने थे, यह कहा कि संविधान को भारत के सभी लोगों को अन्य बातों के साथ-साथ विचार और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता सुनिश्चित और गारंटीकृत करनी चाहिए। किसी अन्य स्थान पर उन्होंने यह भी कहा "मैं प्रेस को उन सभी खतरों के होते हुए भी जो उस स्वतंत्रता के गलत प्रयोग में अन्तर्वलित है दमित या विनियमित प्रेस के स्थान पर पूर्ण रूप से स्वतंत्र रखूंगा"। [देखिए डी० आर० मानकेकर द्वारा लिखित "दि प्रेस अंडर प्रेसर" (1973) (पृष्ठ 25)]। संविधान-सभा और इसकी विभिन्न समितियों और उप-समितियों ने वाक् और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर विचार किया जिसमें बहुमूल्य अधिकार के रूप में प्रेस की स्वतंत्रता भी सम्मिलित थी। संविधान की उद्देशिका में यह कहा गया है कि इसका आशय अन्य बातों के साथ-साथ सभी नागरिकों को विचार अभिव्यक्ति और विश्वास की स्वतंत्रता सुनिश्चित करना है। यह बात महत्वपूर्ण है कि उन निर्बन्धनों के रूप में जो वाक् और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर अधिरोपित किए जा सकेंगे, लोक हित में अधिरोपणीय कोई युक्तियुक्त निर्बन्धन संविधान के अनुच्छेद 19 के खंड (2) में प्रगणित निर्बन्धन नहीं हैं।

रमेश थापर बनाम मद्रास राज्य[1] और बृजभूषण के मामले[2] में इस न्यायालय ने निश्चित रूप से अपने इस दृष्टिकोण को अभिव्यक्त किया था कि वाक् और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर निर्बन्धन का कोई रूप अनुच्छेद 19 (2) में उल्लिखित निर्बन्धन से भिन्न नहीं होगा और उसके द्वारा यह बात स्पष्ट कर दी थी कि लोक हित के नाम में उस स्वतंत्रता में कोई हस्तक्षेप नहीं होगा। यहां तक कि जब अनुच्छेद 19 का खंड (2) बाद में संविधान (प्रथम संशोधन) अधिनियम, 1951 के अधीन नए खंड द्वारा प्रतिस्थापित किया गया था जिसमें भारत की प्रभुसत्ता और अखंडता, राज्य की सुरक्षा, विदेशी राज्यों के मैत्री संबंधों, लोक व्यवस्था, शिष्टाचार या न्यायालय के अवमान के संबंध में सदाचार, मानहानि या अपराध-उद्दीपन के हितों में वाक् और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर युक्तियुक्त निर्बन्धनों के अधिरोपण को अनुज्ञात किया था, संसद् ऐसा कोई खंड सम्मिलित नहीं करना चाहती में जो लोक हित में युक्तियुक्त निर्बन्धनों को अधिरोपित करने के लिए सक्षम करता हो।

25. यूनिवर्सलं डेक्लेरेशन ऑफ ह्यूमन राइट्स, 1948 का अनुच्छेद 19 यह घोषण करता है कि "प्रत्येक व्यक्ति को मत या अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का अधिकार है। इस अधिकार में बिना हस्तक्षेप के मत धारण करने और किसी माध्यम से बिना किन्हीं सीमाओं के सूचना और विचार की आशा करना, प्राप्त करना और देने की स्वतंत्रता सम्मिलित हैं।"

26. इंटरनैशनल कवनेंट आफ सिविल एंड पोलिटिकल राइट्स 1966 का अनुच्छेद 19 इस प्रकार है—

"अनुच्छेद 19—

1. प्रत्येक व्यक्ति को बिना हस्तक्षेप के मत धारण करने का अधिकार है।

2. प्रत्येक व्यक्ति को अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य का अधिकार प्राप्त होगा, इस अधिकार के अन्तर्गत सीमाओं पर ध्यान दिए बिना, जानकारी तथा सभी प्रकार के विचारों की ईप्सा करने, उसे प्राप्त करने और प्रदान करने की स्वतंत्रता होगी, चाहे यह मौखिक अथवा लिखित या मुद्रित रूप में हो अथवा वह कला के स्वरूप में हो या उसकी पसंद के किसी माध्यम के जरिए हो।"

---

[1] [1950] एस० सी० आर० 594.
[2] [1950] एस० सी० आर० 605.

"3. इस अनुच्छेद के पैरा 2 में जिन अधिकारों का उपबंध किया गया है, उनके प्रयोग में विशेष कर्त्तव्यों तथा उत्तरदायित्वों का भी पालन किया जाना है इसलिए हो सकता है कि यह कतिपय निर्बन्धनों के अध्यधीन हो, किन्तु यह न केवल ऐसे निर्बन्धन होंगे जिनका उपबंध विधि द्वारा किया गया है और जो आवश्यक हैं, बल्कि :

(क) अन्य व्यक्तियों के अधिकारों अथवा उनकी प्रतिष्ठा का सम्मान करने के लिए ;

(ख) राष्ट्रीय सुरक्षा अथवा लोक व्यवस्था या लोक स्वास्थ्य या सदाचार के लिए,

भी आवश्यक हैं।"

27. यूरोपियन कन्वेंशन आन ह्यूमन राइट्स का अनुच्छेद 10 इस प्रकार है:—

*"अनुच्छेद 10

1. प्रत्येक व्यक्ति को अभिव्यक्ति-स्वातन्त्र्य का अधिकार प्राप्त है। इस अधिकार के अन्तर्गत लोक प्राधिकारी द्वारा हस्तक्षेप के बिना और सीमाओं पर ध्यान न देते हुए, मत धारण करने की स्वतंत्रता तथा जानकारी और विचारों को प्राप्त करने तथा उनका प्रदान करने का अधिकार अन्तर्विष्ट होगा। यह अनुच्छेद राज्यों को प्रसारण, दूरदर्शन अथवा चल-चित्र उपक्रम के अनुज्ञप्तिकरण को अर्जित करने से निवारित नहीं करेगा।

---

*अंग्रेजी में यह इस प्रकार है—

"Article 10

1. Everyone has the right to freedom of expression. This right shall include freedom to hold opinions and to receive and impart information and ideas without interference by public authority and regardless of frontiers. This Article shall not prevent States from requiring the licensing of broadcasting, television or cinema enterprises.

2. चूंकि इन स्वतंत्रताओं के प्रयोग में कर्तव्य तथा उत्तरदायित्व भी शामिल हैं, इसलिए हो सकता है कि ये स्वतंत्रताएं ऐसी औपचारिकताओं, निर्बन्धनों अथवा शास्तियों के अध्यधीन हों जो विधि द्वारा विहित की गई हैं और जो किसी लोकतंत्रात्मक समाज में, राष्ट्रीय सुरक्षा, राज्यक्षेत्रीय अखण्डता अथवा लोक क्षेम के लिए आवश्यक हैं जिससे कि अव्यवस्था अथवा अपराध को रोका जा सके, स्वास्थ्य अथवा सदाचार का संरक्षण किया जा सके, प्रतिष्ठा अथवा अन्य अधिकारों का संरक्षण किया जा सके, गोपनीय रूप में प्राप्त जानकारी के प्रकटीकरण को निवारित किया जा सके अथवा न्यायपालिका के प्राधिकार तथा निष्पक्षता को बनाए रखा जा सके।"

28. यूनाइटेड स्टेट्स ऑफ अमेरिका के संविधान के प्रथम संशोधन में यह घोषित किया गया है—

**"संशोधन I

कांग्रेस धर्म की स्थापना अथवा उसके स्वतंत्र प्रयोग को प्रतिषिद्ध करने की बाबत कोई विधि नहीं बनाएगी ; और न ही वाक्-स्वातंत्र्य अथवा प्रेस स्वातंत्र्य के न्यूनीकरण, अथवा लोगों के शांति-

---

2. The exercise of these freedoms, since it carries with it duties and responsibilities may be subject to such formalities, conditions, restrictions or penalties as are prescribed by law and are necessary in a democratic society, in the interests of national security, territorial integrity or public safety, for the prevention of disorder or crime, for the protection of health or morals, for the protection of the reputation or rights of others, for preventing the disclosure of information received in confidence, or for maintaining the authority and impartiality of the judiciary."

**"Amendment I

Congress shall make no law respecting an establishment of religion, or prohibiting the free exercise thereof; or abridging the freedom of speech or of the press; or the

पूर्वक सम्मेलन के अधिकार एवं किन्हीं व्यथाओं के उपचार के लिए सरकार के समक्ष पिटीशन फाइल करने की बाबत कोई विधि ही बनाएगी।"

29. फ्रैंक सी० न्यूमैन तथा कैरल वासक ने इण्टरनेशनल डाइमेंशन्स ऑफ ह्यूमन राइट्स (कैरल वासक द्वारा सम्पादित) खण्ड 1, पृष्ठ 155-156 में 'सिविल एण्ड पोलिटीकल राइट्स' नामक अपने लेख में निम्नलिखित कथन किया है—

"(ii) मत, अभिव्यक्ति, जानकारी तथा संसूचना सम्बन्धी स्वतन्त्रता।

कोई अत्यन्त प्रमुख मानव अधिकार, जहां तक कि वह प्रत्येक व्यक्ति को बुद्धिजीवी तथा राजनीतिक कार्यकलाप, व्यापक अर्थों में अभिव्यक्ति स्वातन्त्र्य इन दोनों को अनुज्ञात करता है, वहां वह वस्तुतः अनेक विनिर्दिष्ट अधिकारों को अन्तर्विष्ट करता है, जो निरन्तर रूप से एक-दूसरे के साथ जुड़े हुए हैं और जो आधुनिक प्राविधिक प्रगति द्वारा उत्तरोत्तर रूप में देखने में आ रहे हैं। जो बात प्राथमिक रूप से अन्तर्वलित है, वह मत-स्वातंत्र्य की महत्वपूर्ण कल्पना है, अर्थात् उस वात को कहने का अधिकार जिसके बारे में कोई व्यक्ति विचार धारण करता है तथा किसी को भी उसके द्वारा धारित मतों के लिए तंग न किया जाना। इसके पश्चात् पद के सीमित अर्थों में, मत स्वतन्त्रता आती है जिसके अन्तर्गत किसी के मनपसंद की जानकारी तथा विचारों की ईप्सा करने, उन्हें प्राप्त करने और प्रदान करने का अधिकार, उसकी सीमाएं चाहे जो भी हों, शामिल हैं, चाहे ये सब मौखिक, लिखित अथवा मुद्रित रूप में कला की रीति में हों अथवा किसी भी अन्य माध्यम के जरिए व्यक्त किए गए हों। जब अभि-व्यक्ति-स्वातंत्र्य सार्वजनिक माध्यम द्वारा उपयोग में लाया जाता है, तो वह एक अतिरिक्त आयाम अर्जित कर लेता है। और जानकारी सम्बन्धी स्वातंत्र्य का रूप धारण कर लेता है। अब एक नई प्रकार की स्वतन्त्रता को मान्यता प्रदान की जा रही है जो इस रूप में है कि उसकी सीमा में इन विभिन्न तत्वों की अनेक प्रकार की अध्य-पेक्षाएं आ जाती हैं जबकि उनके व्यक्तिगत एवं सामूहिक आचार को एक साथ समाविष्ट किया जाता है, अर्थात् 'अधिकारों' तथा

---

right of the people peaceably to assemble, and to petition the government for a redress of grievances."

'उत्तरदायित्वों' दोनों के निर्बन्धनों में उनकी विवक्षाएं अन्तर्विष्ट हो जाती हैं : यह संसूचना सम्बन्धी ऐसा अधिकार है जिसके सम्बन्ध में युनेस्को ने हाल हीं में इस दृष्टिकोण से पर्याप्त मात्रा में कार्य प्रारंभ किया है कि इसे और भी व्यापक बनाया जा सके और कार्यन्वित किया जा सके ।"

30. यूनेस्को का एक प्रकाशन अर्थात् "मैनी वायसिज, वन वर्ल्ड" जिसके अन्तर्गत संसूचना सम्बन्धी समस्याओं के अध्ययन के लिए अन्तरराष्ट्रीय आयोग की अंतिम रिपोर्ट अन्तर्विष्ट है, जिसका सभापतित्व सीन मैकब्राइड द्वारा किया गया था, उसके भाग 5 में जो कि 'कम्युनिकेशन टुमारो' की बाबत है, पृष्ठ 265 पर निम्नलिखित रीति में मानव अधिकारों के परिरक्षण में वाक् तथा प्रेस स्वातंत्र्य के महत्व पर बल दिया गया है:—

"4. संसूचना को लोकतंत्रात्मक रूप देना ।

मानव अधिकार

मानव अधिकारों को स्वरूप प्रदान करने के लिए वाणी, प्रेस तथा जानकारी की स्वतन्त्रता एवं सम्मेलन की स्वतन्त्रता मार्मिक है । इन संसूचनात्मक स्वतन्त्रताओं को संसूचित करने हेतु व्यापकतर व्यक्तिगत तथा सामूहिक अधिकार प्रदान करना लोकतंत्रात्मक प्रक्रिया में सिद्धांत उद्गम करना है । जिन मानव अधिकारों पर बल दिया जाना आवश्यक है, उनमें स्त्रियों के लिए वंशों के बीच समानता आती है । सभी मानव अधिकारों की प्रतिरक्षा प्रचार के अत्यन्त मार्मिक कार्यों में से एक है । हम यह सिफारिश करते हैं ।

52. सार्वजनिक प्रसारण में कार्य करने वाले सभी व्यक्तियों को चाहिए कि वे सार्वजनिक प्रचारों पर यूनेस्को तथा हेलसिंकी फाइनल ऐक्ट एवं इण्टरनेशनल बिल आफ ह्यूमैन राइट्स की घोषणा की भावना के अनुकूल व्यक्तिगत तथा सामूहिक दोनों प्रकार के मानव अधिकारों की पूर्ति के प्रति अपना योगदान दें । इस सम्बन्ध में प्रसारण का योगदान न केवल इन सिद्धान्तों को प्रबल बनाना है बल्कि ऐसे सभी अतिक्रमणों को भी सामने लाना है, चाहे वे कहीं भी विद्यमान हों, तथा ऐसे व्यक्ति का समर्थन करना है, जिनके अधिकारों की

उपेक्षा अथवा जिनका अतिक्रमण किया गया हैं। व्यावसायिक संगम तथा लोक मत के लिए यह आवश्यक है कि वह उत्पीड़न के शिकार पत्रकारों का समर्थन करे अथवा उन व्यक्तियों का समर्थन करे जो कि मानव अधिकारों की प्रतिरक्षा के प्रति अपने समपर्ण के कारण प्रतिकूल परिणामों से पीड़ित हैं।

53. प्रसारण को चाहिए कि वह विदेशी हस्तक्षेप के बिना स्वतंत्रता तथा स्वाधीनता के लिए कड़ा प्रयत्न करने वाले लोगों के न्यायोचित हेतुक की प्रोन्नति करने तथा शांति और समतापूर्वक निवास करने के उनके अधिकार के प्रति योगदान दे। यह बात सभी दलित लोगों के लिए विशेष रूप से महत्वपूर्ण है जो कि उप निवेशवाद, धार्मिक तथा वंशात्मक विभेद का सामना करते हुए स्वयं अपने ही देशों के अन्तर्गत अपने विचारों को सुनवाई किए जाने के अवसर से वंचित रह जाते हैं।

54. किसी लोकतंत्रात्मक समाज में संसूचना संबंधी आवश्यकताओं का मुकाबला विनिर्दिष्ट अधिकारों के विस्तार द्वारा, जैसे कि सूचित किए जाने का अधिकार, जानकारी प्रदान करने का अधिकार, एकांत में रहने संबंधी अधिकार, लोक संसूचना में भाग लेने सम्बन्धी अधिकार—जो सभी एक नवीन अवधारणा अर्थात् संसूचित करने के अधिकार के तत्व हैं — किया जाना चाहिए। जिसे सामाजिक अधिकारों का नवीन युग कहा जा सकता है, उसे विकसित करने में हम यह सुझाव देते हैं कि संसूचित करने सम्बन्धी अधिकार की सभी विवक्षाओं का अतिरिक्त अन्वेषण किया जाए।

बाधाओं का अपसारण

लोगों के मस्तिष्क तथा सदाचार को प्रभावित करने के लिए अपनी अत्यधिक संभाव्यताओं सहित संसूचना समाज की लोकतंत्रात्मकता की प्रगति करने का तथा विनिश्चय करने सम्बन्धी प्रक्रिया में जनता द्वारा भाग लिए जाने को अधिक व्यापक बनाने का एक सशक्त माध्यम है। यह प्रसारण तथा उसके प्रबन्ध की संरचनाओं तथा प्रणालियों पर निर्भर करता है और इस बात पर कि वे किस हद तक व्यापकतर पहुंच को सुविधाजनक बनाते हैं और संसूचना सम्बन्धी प्रक्रिया विभेद की प्रभाविकता के बिना समान व्यक्तियों के बीच विचारों, जानकारी तथा अनुभव के स्वतंत्र आदान-प्रदान को प्रारम्भ करते हैं।"

31. आज के स्वतंत्र संसार में प्रैस की स्वतंत्रता सामाजिक तथा राजनीतिक समागम का केन्द्र है। अब प्रैस ने सार्वजनिक शिक्षक की भूमिका धारण कर ली है और उससे बड़े पैमाने पर औपचारिक तथा अनौपचारिक शिक्षा संभव हो गई है, विशेष रूप से विकासशील संसार में जिसमें कि दूर-दर्शन और अन्य प्रकार की आधुनिक संसूचना अभी भी समाज के सभी वर्गों के लिए उपलभ्य नहीं है। प्रैस का प्रयोजन उन तथ्यों और मतों को प्रकाशित करके लोक हित को प्रोन्नत करना है जिसके बिना लोकतंत्रात्मक निर्वाचक उत्तरदायित्वपूर्ण निर्णय नहीं ले सकते। चूंकि समाचार-पत्र उन समाचारों तथा मतों के सर्वेक्षक हैं जिनका प्रभाव लोक प्रशासन पर पड़ता है, अतः प्रायः उनमें ऐसी सामग्री विद्यमान रहती है जो सरकारों और अन्य प्राधिकारयों को समुचित प्रतीत नहीं होती। लेखकों के ऐसे लेखों द्वारा जो कि समाचार-पत्रों में प्रकाशित किए जाते हैं, सरकार के कार्यों की आलोचना करनी होती है जिससे कि सरकार की कमजोरयों को सामने लाया जा सके। ऐसे लेख शक्ति के प्रति कटुतापूर्ण ही नहीं बन सकते बल्कि वे शक्ति के प्रति आतंक उत्पन्न करते हैं। स्वाभाविक रूप से सरकारें विभिन्न रीतियों में ऐसे लेखों को प्रकाशित करने वाले समाचार-पत्रों को दबाने की रीति अपनाती है। पिछले कई वर्षों से संसार के विभिन्न भागों में सरकारों ने प्रैस को नियंत्रण के अधीन रखने के लिए भिन्न-भिन्न पद्धतियों का उपयोग किया है। उन्होंने "कैरट स्टिक" पद्धति का अनुसरण किया है। धन के गुप्त संदाय, खुलमखुल्ला धन संबंधी अनुदाय तथा प्रदाय, भूमियों का अनुदान, डाक संबंधी रियायतें, सरकारी विज्ञप्तियां, समाचार-पत्रों के संपादकों तथा स्वामियों को किताबों का प्रदान, मंत्रिमण्डल तथा आंतरिक राजनीतिक परिषदों इत्यादि में प्रैस के प्रतिष्ठत व्यक्तियों का समावेश प्रैस पर प्रभाव डालने संबंधी एक पद्धति गठित करता है। एक अन्य प्रकार का दबाव प्रेस के विरुद्ध बल के उपयोग के रूप में है। सैसर-व्यवस्था-पूर्ण, अभिग्रहण, समाचार-पत्रों के परिवहन में हस्तक्षेप तथा प्रतिभूति निक्षेप की मांग करना, समाचार-पत्रों की कीमत पर निर्बन्धन का अधिरोपण, समाचार-पत्रों के पृष्ठों की संख्या और पृष्ठों के आकार पर जो कि विज्ञप्तियों में लगाए जा सकते हैं, निर्बन्धन सरकारी विज्ञप्तियों को विधारित करना, डाक दरों में वृद्धि, अखबारी कागज पर करों का अधिरोपण, अखबारी कागज को अनुचित रूप से महंगा बनाने के उद्देश्य से उनके आयात का सरजीकरण इत्यादि उन प्रणालियों में से कुछ प्रणालियां हैं जिनमें कि सरकारी ने प्रेस की स्वतंत्रता में हस्तक्षेप करने का प्रयत्न किया है। सूचना के स्वच्छंद प्रवाह में हस्तक्षेप करने वाली ऐसी कुरीतियों को रोकने की दृष्टि से सकल संसार में लोकतंत्रात्मक संविधानों में ऐसे उपबंध बनाए गए हैं जिनके द्वारा

वाक् तथा अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य को गारण्टी करने हेतु उनमें हस्तक्षेप करने संबंधी सीमाओं को अधिकथित किया गया है। इसलिए सभी राष्ट्रीय न्यायालयों का यह प्राथमिक कर्तव्य है कि वे उक्त स्वतंत्रता को कायम रखें तथा ऐसी सभी विधियों अथवा प्रशासनिक कार्यों को अविधिमान्य घोषित करें जो सांविधानिक समादेश के प्रतिकूल उनमें हस्तक्षेप करते हैं।

32. टॉमस आई० ऐमरसन ने 'टुवर्ड ए० जनरल थ्योरी ऑफ दि फर्स्ट अमेंडमेंट' (दि येल लॉ जर्नल, खण्ड 72, 877, पृष्ठ 906) नामक अपने लेख में लोकतंत्रात्मक समाज में न्यायिक संस्थानों की भूमिका पर विचार करते हुए और विशेष रूप से यूनाइटेड स्टेट्स आफ़ अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय की भूमिका पर विचार करते हुए, जिससे कि वाक् तथा अभिव्यक्ति स्वतंत्र्य को बनाए रखा जा सके, यह लिखा है—

> "यह आक्षेप कि हमारे न्यायिक संस्थानों में बहुमत की इच्छा के विरुद्ध अभिव्यक्ति-स्वातंत्र्य का संरक्षण करने में सक्रिय भूमिका निभाने हेतु राजनीतिक शक्ति तथा गरिमा का अभाव है, अधिक कठिन प्रश्नों को उद्भूत करता है। निश्चित रूप से, न्यायिक संस्थानों के लिए यह आवश्यक है कि वे परम्पराओं, आदर्शों तथा उपधारणाओं को परिलक्षित करें और अंत में निश्चित रूप से उस सामाजिक अवस्था की आवश्यकताओं, दावों तथा प्रत्याशाओं का प्रत्युत्तर उपलभ्य करें जिनमें कि वे प्रवर्तनशील हैं। उनके लिए यह आवश्यक नहीं है और अन्ततः यह आवश्यक हो ही नहीं सकता कि वे वर्तमान समाज से बहुत दूर निकल जाएं अथवा उससे बहुत पीछे भटक जाएं। सर्वोच्च न्यायालय के लिए समस्या यह है कि प्रतिक्रिया तथा नेतृत्व की समुचित कोटि किस प्रकार प्राप्त की जाए या संभवतः यह कहना बेहतर होगा कि संक्षिप्त अवधि तथा दीर्घावधि की प्रतिक्रया किस रूप में होगी। तथापि इस स्थिति का पता लगाने में न्यायालय को चाहिए कि उसने पिछले कई वर्षों में जो प्राधिकार तथा गरिमा अभिप्राप्त की है, वह उसका न्यूनतर आक्कलन न करे। 'समुदाय की आत्मा' का प्रतिनिधित्व करते हुए अब यह अत्यंत वास्तविक शक्ति को धारण कर चुकी है जिससे कि उन ऊंचे मूल्यों तथा उद्देश्यों को सजीव तथा मार्मिक बनाया जा सके जिनको प्राप्त करने के लिए हमारा समाज कुछ हद तक कोशिश करता है।......यदि इसको इसकी गरिमा प्रदान कर दी जाती है, तो यह प्रतीत होता है कि अभिव्यक्ति-स्वातंत्र्य का संरक्षण करने संबंधी न्यायालय की शक्ति के बारे में यह अनधिसंभाव्य है कि उसे सारवान् रूप से कम

किया जा सके; जब तक कि हमारे लोकतंत्रात्मक संस्थानों के सम्पूर्ण ढांचे को आतंकित नहीं किया जाता।"

33. ऊपर जो कथन किया गया है वह भारतीय न्यायालयों को समान बलपूर्वक लागू होता है। **रमेश थापर वाले मामले**[1] में, **बृज भूषण वाले मामले**[2] में, **एक्सप्रैस 'न्यूजपेपर्स (प्रा०) लिमिटेड और अन्य** बनाम **भारत संघ और अन्य**[3] में, **सकल पेपर्स (प्रा०) लिमिटेड और अन्य** बनाम **भारत संघ**[4] में तथा **बैनेट कोलमैन वाले मामले**[5] में इस न्यायालय ने प्रबल रूप से प्रैस की स्वतंत्रता के पक्ष में निर्णय दिया है। इन मामलों में से हम ऐसे कुछ सम्प्रेक्षणों के प्रति निर्देश करेंगे जो कि उनमें से कुछ मामलों में इस न्यायालय द्वारा किए गए हैं।

34. **रमेश थापर वाले मामले**[1] में इस न्यायालय ने पृष्ठ 602 पर यह कहा था—

> "(स्वतंत्रता)......... सभी गणतंत्रात्मक संगठनों की आधारशिला है क्योंकि स्वतंत्र राजनैतिक विचार-विमर्श के बिना कोई भी लोक शिक्षा, जो कि लोक-प्रसिद्ध सरकार के उचित रूप से चलाए जाने के लिए आवश्यक है, संभव नहीं हो सकती है। हो सकता है कि ऐसे परिमाण की स्वतंत्रता के अन्तर्गत दुष्प्रयोग के जोखिम अन्तर्वलित हों ...."(किन्तु) यह बेहतर होगा कि इसकी कतिपय हानिकारक शाखाओं का त्याग करके उनका भरपूर उत्पादन किया जाए, न कि इन्हें काट-छांट दिया जाए, जो कि समुचित परिणामों को विकसित करने की शक्ति को क्षतिग्रस्त करती हैं।"

35. **बैनेट कोलमैन वाले मामले**[5] में मुख्य न्यायाधिपति ए० एन० रे ने बहुमत की ओर से निर्णय सुनाते हुए पृष्ठ 396 पर यह कहा था—

> "नागरिक का विश्वास यह है कि विचारों के निर्बाध आदान-प्रदान में राजनैतिक बुद्धिमत्ता और नैतिक साधुता अपने आपको तभी तक बनाए रख सकेगी जब तक विचारों के फैलने के रास्ते खुले रहते हैं। जन-प्रिय सरकार में आस्था इस पुरानी उक्ति पर निर्भर है "जनता को सच्चाई तक पहुंचने दीजिए तथा उस पर विचार-विमर्श करने की

---

[1] [1950] एस० सी० आर० 594.
[2] [1950] एस० सी० आर० 605.
[3] [1959] एस० सी० आर० 12.
[4] [1962] 3 एस० सी० आर० 842.
[5] [1973] 1 उम० नि० प० 527=[1973] 2 एस० सी० आर० 757.

स्वतंत्रता दीजिए तो सब ठीक हो जाएगा'। हर एक गणतंत्र में प्रैस स्वातंत्र्य ही 'आर्क ऑफ दि कोवेनेण्ट' है। अखबारों में विचार व्यक्त किए जाते हैं। अखबार जनता को इस बात की स्वतंत्रता देते हैं कि यह पता लग जाए कि कौन-सा विचार ठीक है।''

36. उसी मामले में न्यायाधिपति मैथ्यू ने पृष्ठ 818 पर यह मत व्यक्त किया था—

''वाक्-स्वातंत्र्य की सांविधानिक गारंटी प्रैस के फायदे के लिए उतनी नहीं है जितनी कि वह जनता के फायदे के लिए है। वाक्-स्वातंत्र्य के अन्तर्गत सभी नागरिकों को पढ़ने और जानकारी प्राप्त करने का अधिकार सम्मिलित है। टाइम बनाम हिल (385 यू० एस० 374) वाले मामले में यूनाइटेड स्टेट्स की सुप्रीम कोर्ट ने यह मत व्यक्त किया—

"वाक्-स्वातंत्र्य और प्रैस-स्वातंत्र्य की सांविधानिक गारंटी प्रैस के फ़ायदे के लिए इतनी अधिक नहीं है जितनी कि जनता के फायदे के लिए है।"

ग्रिसवोल्ड **बनाम** कोनेकटीकट (381 यू० एस० 479, 482) वाले मामले में यूनाइटेड स्टेट्स की सुप्रीम कोर्ट का यह मत था कि वाक्-स्वातंत्र्य और प्रैस की स्वतंत्रता के अन्तर्गत न केवल बोलना या छापना आता है बल्कि पढ़ने का अधिकार भी आता है।''

न्यायाधिपति मैथ्यू ने आगे जाकर यह सम्प्रेक्षण (पृष्ठ 819-20) किया—

''संविधान के अनुच्छेद 41 में राज्य पर यह कर्तव्य अधिरोपित किया गया है कि वह उपलभ्य आर्थिक सामर्थ्य के अन्तर्गत जनता को शिक्षित करने के लिए प्रभावशील कदम उठाए। इसके अन्तर्गत राजनीतिक शिक्षा भी आती है।

लोक प्रश्नों पर जनता में विचार-विमर्श के साथ-साथ ऐसे प्रश्नों पर जानकारी और राय का प्रसार करना अखबार का मुख्य काम माना गया है। श्रेष्ठतम और न्यूनतम विद्वत्ता वाले व्यक्ति जानकारी के लिए अखबार पढ़ते हैं। जनता को शिक्षित करने के लिए अखबार सबसे अधिक शक्तिशाली माध्यम है क्योंकि यह ऐसे व्यक्तियों द्वारा पढ़ा जाता है जो और कुछ नहीं पढ़ते और राजनीति में सामान्य व्यक्ति अखबार से ही अधिकतर शिक्षा प्राप्त करते हैं।

इस सम्बन्ध में अखबारी कागज पर विदेशी मुद्रा खर्च करके उसे आयातित करने का सरकार का कर्त्तव्य निश्चित रूप से इस

कारण नहीं है कि प्रैस को अपने विचार अभिव्यक्त करने का मूल अधिकार है, बल्कि यह इस कारण भी है कि समुदाय को जानकारी प्राप्त करने का अधिकार है और सरकार का, अपने साधनों की सीमा के अन्तर्गत, जनता को शिक्षित करने का कर्त्तव्य है। आयात (नियंत्रण) आदेश, 1955 के खण्ड 3 के अधीन अखबारी कागज़ के आयात पर सरकार पूर्ण रूप से प्रतिषेध लगा सकती है, यदि यह जनता के साधारण हित में हो कि विदेशी मुद्रा खर्च न की जाए और इस प्रकार अखबारी कागज़ के जरिए कारबार करने वाले किसी भी व्यक्ति को सरकार अशक्त कर सकती है। यदि विदेशी मुद्रा का व्यय करने सम्बन्धी सकारात्मक बाध्यता तथा अखबारी कागज़ का आयात करने की इजाज़त देना समुदाय द्वारा जानकारी प्राप्त करने की आवश्यकता से तथा इस बात से भी कि अभिव्यक्ति की बाबत व्यक्ति की निजी आवश्यकता की पूर्ति करने के साथ जनता को शिक्षित करना सरकार का मूल कर्त्तव्य है, उत्पन्न होता है, तो किसी अखबार का स्वत्वधारी अपने आप यह नहीं कर सकता कि वह अखबार का परिचालन कम कर दे और उसके पृष्ठों को बढ़ा दे क्योंकि समुदाय का अखबार के परिचालन को बनाए रखने या उसमें वृद्धि करने में हित रहता है। यह कहा गया है कि अखबार के स्वत्वधारी को उच्च कोटि के बुद्धिजीवियों की, जो स्वान्त: सुखाय अध्ययन करना चाहें, आवश्यकताओं को पूरा करने की स्वतंत्रता है और इस हेतु उसे अखबार में अधिक पृष्ठ देने पड़ेंगे और यदि उससे यह कहा जाए कि वह परिचालन कम नहीं कर सकता और पृष्ठ नहीं बढ़ा सकता तो ऐसा उसके मूल अधिकार से उसे वंचित करने के समान होगा। परिचालन कम करके परिमाण में वाक् के विस्तार को बढ़ाने के दावे से नागरिक के अनियंत्रित वाक् के अधिकार और समुदाय के परिचालन के अन्यून किए जाने के अधिकार में तालमेल बैठाने का प्रश्न पैदा होता है। दोनों अधिकार वाक्-स्वातन्त्र्य की विचारधारा के, जैसा ऊपर बताया गया है, अन्तर्गत आते हैं।"

37. द्वितीय प्रैस आयोग ने प्रैस की स्वतंत्रता की अवधारणा का स्पष्टीकरण अपनी रिपोर्ट (खण्ड 1, पृष्ठ 34-35) में इस प्रकार किया है—

" 'प्रैस की स्वतंत्रता' अभिव्यक्ति के भिन्न-भिन्न लोगों ने भिन्न-भिन्न अर्थ किए हैं। व्यक्ति, चाहे वे वृत्तिक पत्रकार हों या ऐसे पत्रकार न हों, प्रैस के माध्यम से जनता को सम्बोधित करने सम्बन्धी

अपने अधिकार का प्रकथन करते हैं। कुछ लोग सम्पादक की इस स्वतंत्रता पर जोर देते हैं जिससे कि वह इस बात का विनिश्चय कर सके कि उसके समाचार-पत्र में क्या प्रकाशित किया जाएगा। कुछ अन्य व्यक्ति स्वामियों के इस अधिकार पर बल देते हैं कि वे अपने प्रकाशन को बेच सकते हैं। जस्टिस होम्स के अनुसार, स्वतंत्रता का मुख्य प्रयोजन प्रकाशन पर समस्त पूर्ववर्ती निर्बन्धन को निवारित करना था।

16. सिद्धान्त यह है कि किसी गणतंत्र में अभिव्यक्ति संबंधी स्वतंत्रता अनिवार्य है क्योंकि सभी लोग सामान्य विनिश्चयों का सूत्रपात करने की प्रक्रिया में सम्मिलित होते हैं। वस्तुतः, अभिव्यक्ति-स्वातंत्र्य स्वाधीनता की प्रथम शर्त है। यह स्वाधीनताओं की शृंखला में अधिमानी स्थिति धारण करती है जिससे कि अन्य स्वाधीनताओं को समर्थन तथा संरक्षण प्रदान किया जा सके। यह ठीक ही कहा गया है कि यह अन्य सभी स्वाधीनताओं की जननी है। 'प्रैस' संसूचना के माध्यम के रूप में, एक आधुनिक विचार है। इसे सभ्यता की प्रगति को बेहतर बनाने अथवा उसे विनष्ट करने की विशिष्ट शक्ति प्राप्त है। इसकी स्वतंत्रता का उपयोग एक नवीन शक्तिशाली संसार की सृष्टि करने के लिए अथवा सार्वभौम विनाश लाने के लिए किया जा सकता है।

17. वाक्-स्वतंत्र्य इस उपधारणा पर अग्रसर होता है कि उचित निष्कर्ष किसी प्रकार के प्राधिकारपूर्ण प्रवरण की अपेक्षा बड़ी संख्या में लोगों के वचनों से एकत्रित किए जाने संभाव्य हैं। यह इस उपधारणा पर आधारित है कि यथासंभव इतने विभिन्न तथा परस्पर-विरोधी स्रोतों से जानकारी का व्यापकतम संभव प्रसार इस पर निर्भर करता है जो कि जनता के कल्याण के लिए आवश्यक है। प्रैस का यह कृत्य है कि वह अनेक भिन्न-भिन्न स्रोतों से समाचारों को फैलाए और ऐसा वह जितनी बड़ी संख्या में हो सके उतनी बड़ी संख्या में तथ्यों और वचनों से करे। कोई भी नागरिक समाचार-पत्रों के अपने प्रदाय की गुणिता, अनुपात तथा विस्तार के लिए पूर्णतः प्रैस पर निर्भर करता है। ऐसी स्थिति में, किसी समाचार-पत्र के माध्यम से किसी एक दृष्टिकोण का अनन्य रूप से तथा निरंतर प्रस्तुतिकरण स्वस्थ सार्वजनिक राय के विरचित किए जाने हेतु उपयोगी नहीं है। यदि समाचार-पत्र उद्योग कुछ ही हाथों में संकेन्द्रित रहता है, तो

स्वामियों की विचारधारा के प्रतिकूल किसी विचार का ऐसा अवसर, जिससे कि वह मार्केट में प्रचलित हो पाए, अत्यन्त दूरस्थ हो जाता है। किन्तु हमारी सांविधानिक विधि नागरिकों द्वारा वाक्-स्वातंत्र्य के प्रयोग पर गैर-सरकारी निर्बन्धन की वास्तविकता तथा विवक्षा के प्रति उदासीन रही है। उदासीनता ऐसी दशा में चिन्ताकुल हो जाती है जिसमें कि समानांतर रूप से कुछ गिने-चुने व्यक्ति ऐसी स्थिति में आ जाते हैं कि वे न केवल जानकारी की अन्तर्वस्तु का अवधारण कर लेते हैं बल्कि उसकी उपलभ्यता का भी पता लगा लेते हैं। किसी गणतंत्रात्मक स्थापना में उपधारणा यह रहती है कि प्रैस की स्वतंत्रता प्रायिक रूप से विविध प्रैस का उत्पादन करेगी जिससे न केवल व्यापक दृष्टिकोण प्रस्तुत करके सार्वजनिक हित की पूर्ति होगी बल्कि साथ-ही-साथ उससे वस्तुतः प्रत्येक व्यक्ति को अपनी सुभिन्न राय के लिए समर्थ बनाकर और उस राय के लिए किंचित् स्थान प्राप्त करके व्यक्तिगत हित की पूर्ति होगी।"

38. पिटीशनरों ने **सकल वाले मामले**[1] में इस न्यायालय के विनिश्चय का प्रबल रूप से अवलम्ब लिया है जिसमें कि न्यूज़पेपर्स (प्राइस एण्ड पेज) ऐक्ट, 1956 और डेली न्यूज़पेपर (प्राइस एण्ड पेज) आर्डर, 1960 की सांविधानिकता का प्रश्न विचारार्थ उद्भूत हुआ था। उस पिटीशन में पिटीशनर एक प्राइवेट लिमिटेड कम्पनी थी जो अन्य कारबार सहित दैनिक तथा साप्ताहिक समाचार-पत्रों के प्रकाशन में लगी हुई थी जिनके अन्तर्गत पुणे से प्रकाशित 'सकल' नाम का मराठी समाचार-पत्र भी था। 'सकल' समाचार-पत्र की सप्ताह के दिनों में 52,000 प्रतियां और रविवार को 56,000 प्रतियां प्रकाशित होती थीं। दैनिक संस्करण के अन्तर्गत सप्ताह में पांच दिन छह पृष्ठ प्रतिदिन छपते थे और एक दिन चार पृष्ठ मुद्रित होते थे। इस संस्करण की कीमत 7 पैसे रखी गई थी। रविवासरीय संस्करण में 10 पृष्ठ थे और उसकी कीमत 12 पैसे रखी गई थी। समाचार-पत्रों में लगभग 40 प्रतिशत स्थान विज्ञप्तियों के रूप में मुद्रित होता था और शेष स्थान में समाचार, मत और अन्य प्रायिक लेख प्रकाशित किए जाते थे। न्यूज़पेपर (प्राइस एण्ड पेज) ऐक्ट, 1956 द्वारा प्रकाशित किए जाने वाले अनुपूरक समाचार-पत्रों की संख्या विहित की जाती थी और प्रभारित की जाने वाली कीमत के अनुसार पृष्ठों की संख्या विनियमित की जाती थी और इसके द्वारा अधिनियम के अतिक्रमण में समाचार-पत्रों के प्रकाशन तथा विक्रय को प्रतिषिद्ध किया जाता था। इसमें समाचार-पत्र में

---

[1] [1962] 3 एस० सी० आर० 842.

अन्तर्विष्ट विज्ञप्तियों के आकार तथा क्षेत्र के विनियमन के लिए उपबंध भी किया गया था। उक्त अधिनियम तथा तदधीन विरचित आदेश के अतिक्रमण के लिए शास्तियां विहित की गई थीं। उक्त अधिनियम के प्रवर्तित किए जाने के परिणामस्वरूप, सप्ताह में छह दिनों में 34 पृष्ठों को प्रकाशित करने हेतु, जैसा कि वह सम्पन्न कर रहा था, पिटीशनर को उसकी कीमत 7 पैसे से बढ़ा कर 8 पैसे कर देनी पड़ी और यदि वह कीमत में वृद्धि नहीं करना चाहता था तो वह इस बात के लिए आवद्ध था कि वह पृष्ठों की कुल संख्या को घटाकर 24 पृष्ठ कर दे। पिटीशनर, जो कि उस मामले में आक्षेपकृत आदेश के पारित किए जाने से पूर्व यथा-वांछित रूप में कितने ही अनुपूरक प्रकाशित कर सकता था, तत्पश्चात् वह उनका प्रकाशन केवल सरकार की अनुज्ञा प्राप्त करने के पश्चात् ही करने में समर्थ था। उस मामले में पिटीशनर की दलील यह थी कि आक्षेपकृत अधिनियम तथा आक्षेपकृत आदेश ऐसे विधान के अंग थे जो समाचार-पत्र के परिचालन में कमी करने के लिए प्रकल्पित थे क्योंकि समाचार-पत्र की कीमत में वृद्धि का उसके परिचालन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा और उक्त अधिनियम तथा आदेश प्रैस की स्वतंत्रता में सीधे हस्तक्षेप करते थे। विधान के इन अधिनियमों तथा आदेशों की विधिमान्यता पर इस आधार पर आक्षेप किया गया कि वे संविधान के अनुच्छेद 19 (1) (क) का उल्लंघन करते हैं। संघ सरकार ने इस पिटीशन का प्रतिवाद किया। उसने यह दलील दी कि आक्षेपकृत अधिनियम तथा आदेश समाचार-पत्रों में अनुचित होड़ को प्रवारित करने की दृष्टि से एवं एकाधिकारपूर्ण गठबंधन को बढ़ावा देने से प्रवारित करने की दृष्टि से पारित किए गए थे जिससे कि समाचार-पत्रों को स्वच्छन्द रूप में विचार-विमर्श करने के उचित अवसर प्राप्त हो सकें। यह दलील भी दी गई थी कि आक्षेपकृत अधिनियम तथा आक्षेपकृत आदेश लोक हित में पारित किए गए थे और चूंकि पिटीशनर का कारबार व्यापार के कार्यकलाप के रूप में था जो कि संविधान के अनुच्छेद 19(1)(छ) के अधीन आता था, इसलिए उक्त अधिनियम और आदेश द्वारा अधिरोपित कोई भी निर्बन्धन संविधान के अनुच्छेद 19(1)(6) द्वारा संरक्षित थे। न्यायालय ने संघ सरकार की दलील को नामंजूर करते हुए, पृष्ठ 866 पर निम्नलिखित मत व्यक्त किया—

> "इस प्रकार इसका उद्देश्य, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, किसी ऐसी विचारधारा को विनियमित करना है जो प्रत्यक्ष रूप से समाचार-पत्र के परिचालन से संबंधित हो। चूंकि किसी समाचार-पत्र का परिचालन अधिनियम के वाक्-स्वातंत्र्य संबंधी अधिकार का भाग है, इसलिए निश्चित रूप से उसके बारे में यह मान लिया जाना

चाहिए कि वह वाक्-स्वातंत्र्य के विरुद्ध निदिष्ट हो। इसके द्वारा उस तथ्य अथवा वस्तु का प्रवरण किया गया है जो कि वाक्-स्वातंत्र्य की अवधारणा का आवश्यक तथा आधारभूत तत्व है अर्थात् वह अधिकार जिसके द्वारा कोई व्यक्ति अपने मतों का परिचालन उन सब लोगों में कर सकता है जिन तक कि उसकी पहुंच हो सकती है अथवा किसी निर्बन्धन को अधिरोपित करने के लिए जिनसे वह सम्यक् करना चाहता है। यह अपने इस उद्देश्य को अभिप्राप्त करने की ईप्सा करता है जिससे कि छोटे समाचार-पत्र नाम से ज्ञात समाचार-पत्रों को ऐसे उपबंधों द्वारा व्यापकतर परिचालन अभिप्राप्त हो जो कि बिना किसी आवेश के उन समाचार-पत्रों के परिचालन को निर्बन्धित करने के लिए उद्दिष्ट हैं जिनके पास अधिक स्वातंत्र्य साधन होने के परिणामस्वरूप उन्हें बृहत्तर समाचार-पत्रों का नाम दिया जाता है। आक्षेपकृत विधि कदाचित ऐसी विधि नहीं है जो केवल आनुषंगिक रूप से वाक्-स्वातंत्र्य के अधिकार में हस्तक्षेप करती है हालांकि वह ऐसे उद्देश्य को प्राप्त करने की ईप्सा किसी समाचार-पत्र के कारबार पहलू को विनियमित करने हेतु तात्पर्यित रहते हुए करती हैं। ऐसा अनुक्रम अनुज्ञेय नहीं है और न्यायालयों के लिए यह आवश्यक है कि वे सदैव हमारे संविधान द्वारा गारंटीकृत स्वतंत्रताओं में से संभवत: अधिकतम मूल्यवान स्वतंत्रता की रक्षा करने के लिए जागरूक रहें। इसका कारण स्पष्ट है। वाक्-स्वातंत्र्य और मत अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता किसी गणतंत्रात्मक संविधान के अधीन अधिकतम महत्वपूर्ण है जिसके अन्तर्गत विधानमण्डलों तथा सरकारों की संरचना में परिवर्तनों की कल्पना की गई है और उनकी परिरक्षा की जाना आवश्यक है। निस्सन्देह, प्रश्नगत विधि प्रैस आयोग की सिफारिश पर बनाई गई थी किन्तु इसका उद्देश्य सीधे समाचार-पत्रों के परिचालन संबंधी उस अधिकार पर प्रभाव डालना है, जिसके द्वारा निश्चित रूप से सार्वजनिक महत्व को प्रभावित करने संबंधी उनकी शक्ति में कमी हो जाएगी, अत: इसे निश्चित रूप से एक खतरनाक हथियार मानना चाहिए जिसका प्रयोग स्वयं गणतंत्र के खिलाफ किया जा सकता है।"

39. आगे जाकर न्यायालय ने पृष्ठ 867 तथा 868 पर निम्नलिखित सम्प्रेक्षण किया —

"यह दलील दी गई थी कि अधिनियम का उद्देश्य एकाधिकारों को निवारित करना था और यह कि एकाधिकार हानिकारक होते

हैं । हम यह उपधारणा करेंगे कि एकाधिकार सदैव लोक हित के विरुद्ध होते हैं और उन्हें दबाकर रखना अपेक्षित है । तथापि जो दृष्टिकोण हमने अपनाया है अर्थात् यह कि अधिनियम का आशय और अधिनियम के प्रत्यक्ष तथा अव्यवहित प्रभाव आक्षेपकृत आदेश के साथ कृत्यशील होते हुए समाचार-पत्रों के परिचालन की स्वतंत्रता में हस्तक्षेप करते हैं, एक ऐसी परिस्थिति है कि उसका उद्देश्य एकाधिकार को दबाकर रखना था तथा अनुचित प्रणालियों को निवारित करने से कोई सहायता प्राप्त नहीं होती ।

प्राप्त किए जाने के लिए आशयित परिणाम के औचित्य से निश्चित रूप से यह विवक्षित नहीं होता कि उसे अभिप्राप्त करने संबंधी प्रत्येक माध्यम अनुज्ञेय है क्योंकि यद्यपि उद्देश्य वांच्छनीय तथा अनुज्ञेय है, जिस माध्यम का प्रयोग किया जाता है वह ऐसा होना चाहिए कि वह संविधान द्वारा अधिकथित परिसीमाओं का अतिक्रमण न करे, यदि वे प्रत्यक्ष रूप से संविधान द्वारा गारंटीकृत मूल अधिकारों में से किसी अधिकार पर निर्भर न करते हों क्योंकि यह ऐसी दशा में कोई समाधान नहीं है जिसमें कि किसी अध्युपाय की सांविधानिकता पर आक्षेप किया गया हो कि अधिक्रान्त मूल अधिकार के अलावा सम्बद्ध उपबंध अन्यथा वैध है ।"

40. अभी तक हमने वाक् एवं अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य के महत्त्व पर विचार किया है जिनके अन्तर्गत प्रैस की स्वतंत्रता आती है । अब हम इस बात पर विचार करना चाहेंगे कि क्या सरकार को इस बात की स्वतंत्रता प्राप्त है कि वह प्रैस उद्योग के पहलुओं में से किसी भी पहलू पर कोई कर उद्गृहीत कर सके ।

****क्या समाचारपत्रों को कराधान से उन्मुक्ति प्राप्त है ?**

41. लघु आकार के समाचार-पत्र स्थापनों को छोड़कर जिनका परिचालन एक दिन में लगभग 10,000 प्रतियों से कम हो, सभी अन्य बृहत्तर समाचार स्थापनों में विशाल उद्योग के लक्षण विद्यमान रहते हैं । ऐसे बृहत्तर समाचार-पत्र उपक्रम अधिकतर नगर क्षेत्रों में आस्थित होते हैं जो विशाल भवनों में कृत्यशील होते हैं जिनके लिए उपबंध नगरपालिक प्राधिकारियों द्वारा प्रदान की गई सभी सेवाओं सहित किया जाता है । उनमें सैंकड़ों कर्मचारी नियोजित होते हैं । उनमें से अधिकतर में पूंजीगत विनिधान लाखों रुपयों का होता है । उनके द्वारा मुद्रण मशीनों की विशाल मात्रा का उपयोग किया जाता है जिसके पर्याप्त भाग का आयात बाहरी देशों से किया जाता है ।

उनमें दूरभाष, टैलीप्रिंटर, डाक तथा तार सेवाएं, बेतार संसूचना प्रणालियां इत्यादि की व्यवस्था करनी होती है। उनके समाचार-पत्रों का परिवहन सड़कों, रेलों और वायुयान सेवाओं द्वारा करना होता है। उनकी सम्पत्ति की सुरक्षा के लिए प्रबंध करना होता है। सरकार को उनके लिए अनेक अन्य सेवाओं की भी व्यवस्था करनी पड़ती है। इन सबके परिणामस्वरूप, राज्य के वित्तीय स्रोतों पर भारी बोझ पड़ता है क्योंकि इनमें से बहुत ही सेवाएं कम दरों पर उपलभ्य कराई जाती हैं। स्वाभाविक रूप से ऐसे बड़े-बड़े समाचार-पत्र संगठनों को सार्वजनिक खज़ाने में अपने-अपने शोध्य अंश का अभिदाय करना पड़ता है। उन्हें अन्य सभी संरचनाओं की भांति सामान्य धन सम्बन्धी बोझ उठाना पड़ता है।

42. किसी ऐसी विधि की सांविधानिकता की परीक्षा करते समय जिसके बारे में यह अभिकथन किया गया हो कि वह संविधान के अनुच्छेद 19(1)(क) का उल्लंघन करती है, हमारा मार्गदर्शन, निस्सन्देह, केवल यूनाइटेड स्टेट्स आफ अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय के विनिश्चयों द्वारा नहीं किया जा सकता। किन्तु वाक् तथा अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य के मूल सिद्धान्तों और किसी गणतंत्रात्मक देश में स्वतंत्रता के लिए उसकी आवश्यकता को समझने के लिए हम उन पर विचार कर सकते हैं। हमारे संविधान के अनुच्छेद 19(1)(क) तथा अनुच्छेद 19(1)(छ) का पैटर्न अमेरिकी संविधान के प्रथम संशोधन के पैटर्न से भिन्न है जिसके निर्बन्धन लगभग आत्यंतिक स्वरूप के हैं। संविधान के अनुच्छेद 19(1)(क) तथा अनुच्छेद 19(1)(छ) के अधीन गारंटीकृत अधिकारों का परिशीलन अनुच्छेद 19 के खण्ड (2) तथा (6) के साथ करना होगा जो कि ऐसे क्षेत्रों की रचना करते हैं जिनकी बावत विधिमान्य विधान बनाया जा सकता है। यहां इस बात का उल्लेख कर दिया जाए कि समाचार-पत्र उद्योग को अभिव्यक्त शब्दों में कराधान से छूट अनुदत्त नहीं की गई है। दूसरी ओर संविधान की सप्तम अनुसूची की सूची 1 की प्रविष्टि 92 संसद् को ऐसी विधियां बनाने के लिए सशक्त करती है जिनके द्वारा समाचार-पत्रों के विक्रय अथवा क्रय पर एवं उन समाचार-पत्रों में प्रकाशित विज्ञापनों पर करों का उद्ग्रहण किया जा सके।

43. यहां श्री देशबंधु गुप्ता के उस भाषण में से कतिपय उद्धरणों के प्रति निर्देश करना सुसंगत होगा, जो कि उन्होंने संविधान-सभा के कक्ष में संविधान के उस प्रारूपण में विद्यमान उपबंधों का विरोध करते हुए किया था जो राज्य विधानमण्डलों को इस बारे में प्राधिकृत करते हैं कि वे समाचार-पत्र के विक्रय पर विक्रय-कर तथा समाचार-पत्रों में उद्धृत की जाने वाली

विज्ञप्तियों पर कर का उद्‌ग्रहण कर सके । उन्होंने यह कहा था—

"……मुझ से बढ़कर और प्रैस से संबंध रखने वाले मेरे मित्रों से बढ़कर किसी अन्य व्यक्ति को इस विषय में अधिक प्रसन्नता नहीं होगी यदि सदन आज यह विनिश्चय कर देता है कि समाचार-पत्र ऐसे सभी करों से मुक्त होंगे । निस्सन्देह, वास्तव में ऐसा ही होना चाहिए क्योंकि किसी भी स्वतंत्र देश में जिसमें कि गणतंत्रात्मक सरकार है, ऐसे कोई कर नहीं लगाए जाते जैसा कि विक्रय-कर अथवा विज्ञप्ति-कर ।……मैं इस बात का दावा करता हूं कि समाचार-पत्रों के साथ सुभिन्न व्यवहार करना अपेक्षित है । वे इन अर्थों में उद्योग नहीं हैं जिनमें कि अन्य उद्योग होते हैं । इस बात को संसार भर में मान्यता प्राप्त है । उनके सामने एक उद्देश्य है जिसकी कि उन्हें पूर्ति करनी होती है । और मुझे यह कहते हुए प्रसन्नता हो रही है कि भारत में समाचार-पत्रों ने सार्वजनिक सेवा सम्बन्धी उस उद्देश्य का पालन अत्यन्त सुचारु रूप से किया है और हमें इससे गौरव प्राप्त करने का आधार विद्यमान है । इसलिए मैं इस सदन से तथा अपने मित्र श्री सिधवा से यह प्रत्याशा करूंगा कि वे उस समय इस बात को ध्यान में रखें, जबकि परमात्मा न चाहे, ऐसा कोई प्रस्ताव संसद् के समक्ष कराधान के संबंध में लाया जाए । उसका विरोध करने हेतु उनके लिए वह उचित समय होगा ।

महोदय, बहरहाल यह समर्थकारी खण्ड है । इसमें यह नहीं कहा गया है कि समाचार-पत्रों के विक्रय किए जाएंगे और उन पर विज्ञप्ति-कर अधिरोपित किया जाएगा । यह सदन को आजकल के समय में समाचार-पत्रों में प्रकाशित विज्ञापनों पर तथा ऐसे समाचार-पत्रों के विक्रयों पर किसी कर के अधिरोपित किए जाने के बारे में अपने आप को वचनबद्ध नहीं करता है । हमने तो मात्र इस बात पर बल दिया है कि समाचार-पत्र, जिस रूप में वे विद्यमान हैं, उन्हें प्रान्तीय सरकारों की परिधि में से निकाल लिया जाना चाहिए और केन्द्रीय सूची में अन्तर्विष्ट कर लिया जाना चाहिए जिससे कि यदि कदाचित् किसी समय कोई कर समाचार-पत्रों पर अधिरोपित किया जाना हो, तो ऐसा सम्पूर्ण देश के प्रतिनिधियों द्वारा ही किया जाना चाहिए जो अपनी कार्यवाही की विवक्षाओं को पूर्णतः महसूस करते हों । यह किसी एक मंत्रालय अथवा किसी एक प्रान्त की ओर से अकेला कार्य मात्र नहीं होना चाहिए । वह हमारे संविधान का मूल आधार था…।

यदि आज के समय सभी समाचार-पत्र जिनके अन्तर्गत ऐसे समाचार-पत्र भी हैं जो दिल्ली से प्रकाशित होते हैं, एकमत होकर इन करों के अधिरोपित किए जाने का विरोध करते हैं और यह मांग करते हैं कि उन्हें केन्द्रीय सूची में अन्तर्विष्ट कर लिया जाना चाहिए, तो वे इस कारण ऐसा नहीं करते कि यह कुछ धन बचाने मात्र के लिए है बल्कि वे इस कारण ऐसा करते हैं कि इसमें प्रैस की स्वाधीनता का मूल प्रश्न अन्तर्वलित है। केन्द्रीय सूची में इनके अन्तरित किए जाने का समर्थन करके हम इस जोखिम को सहने के लिए तैयार हैं कि ये कर दिल्ली में तथा अन्य ऐसे प्रान्तों में अधिरोपित किए जाएं जिन्होंने कि अभी तक ऐसे करों के अधिरोपित किए जाने हेतु ईप्सा नहीं की है। किन्तु हम इस बात को प्रान्तों पर नहीं छोड़ सकते जिससे कि प्रैस की स्वाधीनता बराबर बनी रही। हमें संसद् में आस्था है; हमें देश की सामूहिक बुद्धिमत्ता में आस्था है और हमें इस बारे में कोई सन्देह नहीं है कि जब इस विषय का पुनर्विलोकन सही पर्यवेक्षा में किया जाएगा तो समाचार-पत्रों पर ऐसा कोई कर अधिरोपित नहीं किया जाएगा किन्तु हमें प्रान्तीय मंत्रालयों में इतनी अधिक आस्था नहीं है। इस आशा को ध्यान में रखते हुए और उस स्थिति का पूर्णतः अनुभव करते हुए जिस पर कि हम समझौते के तौर पर सहमत हुए हैं अथवा क्या मैं यह कहूं कि न्यूनतम दोष को स्वीकार करते हुए, हम चाहेंगे कि इन दोनों करों को प्रान्तीय प्रदेशों में से अन्तरित करके केन्द्रीय सूची में डाल दिया जाए।" (देखिए कांस्टिट्यूएंट असेंबली डिबेट्स, खण्ड 9, पृष्ठ 1175-1180, तारीख 9 सितम्बर, 1949)।

44. अंततः समाचार-पत्रों के विक्रय अथवा क्रय पर एवं समाचार-पत्रों में प्रकाशित विज्ञप्तियों पर करों को उद्गृहीत करने की शक्ति संविधान की सप्तम अनुसूची की सूची 1 की प्रविष्टि 92 द्वारा संसद् को प्रदत्त की गई थी। इससे संविधान के निर्माताओं की ओर से इस बारे में चिन्ता दर्शित होती है कि समाचार-पत्रों को स्थानीय दबावों से संरक्षित रखा जाए। किन्तु उन्होंने ऐसे कराधान के विरुद्ध किसी सांविधानिक उन्मुक्ति के बारे में सहमति व्यक्त नहीं की है। देश में आयात किए गए माल पर सीमा शुल्कों का उद्ग्रहण करने की शक्ति संविधान की सप्तम अनुसूची की सूची 1 की प्रविष्टि 83 द्वारा संसद् में न्यस्त की गई है।

45. यूनाइटेड स्टेट्स आफ अमेरिका में समाचार-पत्रों पर करों का उद्ग्रहण और उनके अनुज्ञप्तिकरण के लिए प्रदत्त शक्तियों पर कार्पस ज्यूरिस सेकेंडम (खण्ड 16) में पृष्ठ 1132 में यह कहा गया है—

"213. (13) कराधान तथा अनुज्ञप्तिकरण वाक् स्वातंत्र्य तथा प्रैस की स्वतंत्रता संबंधी सांविधानिक गारंटियां कराधान संबंधी सरकार की शक्ति के समुचित प्रयोग के अध्यधीन हैं और युक्तियुक्त अनुज्ञप्ति फीस ऐसे व्यापारों तथा उपजीविकाओं पर अधिरोपित की जा सकती है जिनका संबंध साहित्य अथवा विचारों के प्रसारण से हो।

सामान्य नियम के रूप में, वाक्-स्वातंत्र्य तथा प्रैस की स्वतंत्रता संबंधी सांविधानिक गारंटियां कराधान संबंधी सरकार की शक्ति के समुचित प्रयोग के अध्यधीन है जिससे कि एकरूप तथा गैर-विभेदात्मक करों का अधिरोपण अविधिमान्य नहीं रहता जिस रूप में कि उसे ऐसे व्यक्ति अथवा संगठनों को लागू किया जाता है जो लेखों के प्रकाशन अथवा वितरण के माध्यम से विचारों के प्रसारण में लगे हुए हैं। प्रैस की स्वतंत्रता संबंधी गारंटी प्रकाशन-कारबार में धन के कराधान अथवा नियोजित सम्पत्ति को अथवा युक्तियुक्त अनुज्ञप्तियों तथा अनुज्ञप्ति-फ़ीस के ऐसे व्यापारों अथवा ऐसी उपजीविकाओं पर अधिरोपित किए जाने से प्रतिषिद्ध नहीं किए गए हैं जिनका संबंध साहित्य अथवा विचारों के प्रसारण से हो।

किन्तु कोई अनुज्ञप्ति अथवा अनुज्ञप्ति-कर जो वाक्-स्वातंत्र्य तथा प्रैस की स्वतंत्रता के उपयोग को अनुज्ञात करना है, उसकी बाबत सैंसर लगाए जाने के रूप में अपेक्षा की जा सकती है और जहां कर अथवा अनुज्ञप्ति राजस्व हेतु न हो, अथवा वह युक्तियुक्त विनियमन के संबंध में न हो बल्कि वह सरकारी कार्यकलाप के बारे में जनता द्वारा ज्ञान के अर्जित किए जाने की बाबत विमर्शित तथा प्रकल्पिक ऐसी युक्ति हो जो उसका निवारण करती हो अथवा उसके अवसर में कमी लाती हो, वहां कानून अथवा अध्यादेश सांविधानिक गारंटियों का और विशेष रूप से फैडरल कांस्टीट्यूशन के चौदहवें संशोधन का अतिक्रमण करता है। जबकि पुस्तकों, परिपत्रों अथवा पुस्तिकाओं के वितरण द्वारा विज्ञापन करने के विशेषाधिकार पर कर अधिरोपित करने पर तथा उनके लिए अनुज्ञप्ति की अपेक्षा करने पर लगाया गया कोई अध्यादेश विधिमान्य माना गया है वहां गली-कूचों में विक्रय करने वाले अथवा फेरी वाले व्यक्तियों द्वारा अनुज्ञप्ति कर का संदाय अपेक्षित करने वाला अध्यादेश उस रूप में अविधिमान्य होगा जिसमें कि उसे किसी ऐसे धार्मिक समूह के सदस्यों को लागू किया जाता है जो अपने कार्यकलाप के भागस्वरूप धार्मिक साहित्य का वितरण

करते हैं, कम-से-कम वहां जहां कि फीस न केवल नाममात्र होती है बल्कि ऐसी फीस होती है जो इस बात के बावजूद कि अध्यादेश गैर विभेदात्मक है, विनिमय की लागत की पूर्ति करने के लिए अधिरोपित की जाती है। कोई सरकारी विनिमय जिसमें यह अपेक्षा की गई हो कि कोई ऐसी अनुज्ञप्ति जारी की जाए जिसमें प्रतिकर के लिए याचना की जाती है, ऐसे संगठनों में सदस्यता जिनमें कि शोध्यों का संदाय किया जाना अविधिमान्य है जहां कि वह किसी अपीलार्थी को अनुज्ञप्ति अनुदत्त करने के लिए अनिश्चित मानक नियत करती है। खुदरा विक्रय-कर संबंधी उपबंध जिसमें यह व्यवस्था की गई हो कि कोई खुदरा व्यापारी क्रेताओं से विक्रय-कर के संगृहीत न किए जाने के बारे में विज्ञापन नहीं देगा, खुदरा व्यापारियों को वाक्-स्वातंत्र्य संबंधी सांविधानिक अधिकार से वंचित नहीं करता है।"

46. उपर्युक्त विषय का सारांश अमेरिकन ज्यूरिसप्रूडेंस, द्वितीय (खण्ड 16) के पृष्ठ 662 पर दिया गया है—

"वाणी को कराधान शक्ति का प्रयोग करके प्रभावी रूप से सीमित रखा जा सकता है। जहां बोलने संबंधी सांविधानिक अधिकार के बारे में किसी राज्य के सामान्य कराधान कार्यक्रम द्वारा प्रतिबंध करने की ईप्सा की गई हो वहां सम्यक् प्रक्रिया (ड्यू प्रॉसेस) द्वारा यह मांग की जाती है कि वाणी तब तक विल्लंगम से रहित हो जब तक कि राज्य पर्याप्त सबूत सहित उसके प्रतिषिद्ध किए जाने को न्यायोचित ठहराने के लिए सामने नहीं आता है। किन्तु सांविधानिक गारंटियों का अतिक्रमण किसी ऐसे कानून द्वारा नहीं किया जा सकता जिसका नियंत्रणात्मक प्रयोजन राजस्व जुटाना हो ताकि राज्य सरकार के चालू व्ययों की पूर्ति करने में राज्य की बाध्यताओं से निपटने में सहायता की जा सके और जो प्रैस के प्रति न तो कोई विरोध दर्शित करता है और न ही प्रैस को निर्बन्धित करने हेतु किसी प्रयोजन अथवा प्रकल्पना को प्रदर्शित करता है।"

47. यहां इस बात का उल्लेख कर दिया जाए कि यूनाइटेड स्टेट्स आफ अमेरिका के संविधान का प्रथम संशोधन मोटे तौर पर आत्यंतिक शब्दों में है। उसमें यह कहा गया है कि कांग्रेस ऐसी किसी विधि का निर्माण नहीं करेगी जिसके द्वारा प्रैस की स्वतंत्रता का न्यूनीकरण होता हो, तथापि अमरिकी न्यायालयों ने राज्य की ऐसी शक्ति को मान्यता प्रदान की है जिसके द्वारा समाचार-पत्र स्थानों पर करों का उद्ग्रहण किया जा सकता है यद्यपि

यह निस्सन्देह सम्यक् प्रक्रिया संबंधी विधि के सिद्धान्त को लागू करके न्यायालयों द्वारा न्यायिक पुनर्विलोकन के अध्यधीन है। "विधि की सम्यक् प्रक्रिया सम्पूर्ण सामाजिक नियंत्रण को प्रतिषिद्ध नहीं करती है, किन्तु यह सामाजिक नियंत्रण के विरुद्ध दैहिक स्वाधीनता को संरक्षित करती है जब तक कि ऐसा सामाजिक नियंत्रण या तो इस कारण युक्तियुक्त हो कि जहां पुलिस शक्ति का सांविधानिक प्रयोग किया गया है अथवा इस कारण कि कराधान संबंधी शक्ति या सर्वोपरि आधिपत्य (एमीनेंट डोमेन) संबंधी शक्ति विद्यमान है।" यदि कोई ऐसा विधान जो दैहिक स्वाधीनता को परिसीमित करता हो, उसके बारे में यह माना जाता है कि वह इन तीनों कोटियों से वाह्य है तो यह विधि की सम्यक् प्रक्रिया के बिना दैहिक स्वाधीनता को छीनती है और इस प्रकार असांविधानिक है। पुलिस शक्ति, कराधान और सर्वोपरि आधिपत्य—सभी सामाजिक नियंत्रण के रूप हैं जो कि शांति और अच्छी सरकार के लिए आवश्यक हैं। 'पुलिस शक्ति सार्वभौमिकता अथवा उसके सरकारी अभिकर्ताओं में से एक की विधिक क्षमता है जिसके द्वारा ऐसे माध्यमों द्वारा व्यक्तियों की दैहिक स्वाधीनता को सीमित किया जा सकता है जो कि उस उद्देश्य से ऐसा सारवान् संबंध रखते हैं कि उसकी पूर्ति सामाजिक हितों के संरक्षण के लिए की जाए जो कि युक्तियुक्त रूप से संरक्षण की अपेक्षा करते हैं। कराधान सार्वभौमिकता की अथवा उसकी सरकार के अभिकर्ताओं में से एक की विधिक क्षमता है जिससे कि ऐसे व्यक्तियों पर या उनकी सम्पत्ति पर सरकार के समर्थन हेतु एवं ऐसे संदाय के लिए जो किन्हीं अन्य प्रयोजनों के लिए किया जाना हो, जिन्हें कि वह सांविधानिक रूप से कार्यान्वित करे, प्रभाव डालने अथवा अधिरोपित करने के रूप में है। सर्वोपरि आधिपत्य सार्वभौमिकता की अथवा वह उसके सरकारी अभिकर्ताओं में से किसी एक की विधिक क्षमता है जिससे कि निजी सम्पत्ति को न्यायोचित प्रतिकर का संदाय करके सार्वजनिक उपयोग के लिए ग्रहण किया जा सकता है'। उक्त कराधान सार्वभौम शक्ति के अधीन ही सरकार समाचार-पत्रों के प्रकाशकों पर भी करों का उद्ग्रहण न्यायालयों द्वारा न्यायिक पुनर्विलोकन के अधीन रहते हुए करने में इस बात के बावजूद समर्थ है कि प्रथम संशोधन की भाषा आत्यंतिक शब्दों में है। भारत में भी समाचार-पत्रों को प्रकाशित करने संबंधी कारबार चलाने वाले व्यक्तियों पर भी कर उद्गृहीत करने की शक्ति को मान्यता प्रदान की जानी है चूंकि यह सरकार की अवधारणा के ही अन्तर्गत निहित है। किन्तु ऐसी शक्ति का प्रयोग न्यायालयों द्वारा संवीक्षा के अध्यधीन होना चाहिए। संविधान की सप्तम अनुसूची की सूची I की प्रविष्ट 92 अभिव्यक्त रूप से **ऐसी शक्ति की विद्यमानता के बारे में सुझाव देती है।**

किया जा सके, जब तक कि हमारे लोकतंत्रात्मक संस्थानों के सम्पूर्ण ढांचे को आतंकित नहीं किया जाता।"

33. ऊपर जो कथन किया गया है वह भारतीय न्यायालयों को समान बलपूर्वक लागू होता है। **रमेश थापर वाले मामले**[1] में, **बृज भूषण वाले मामले**[2] में, **एक्सप्रैस 'न्यूजपेपर्स (प्रा०) लिमिटेड और अन्य** बनाम **भारत संघ और अन्य**[3] में, **सकल पेपर्स (प्रा०) लिमिटेड और अन्य** बनाम **भारत संघ**[4] में तथा **बैनेट कोलमैन वाले मामले**[5] में इस न्यायालय ने प्रबल रूप से प्रैस की स्वतंत्रता के पक्ष में निर्णय दिया है। इन मामलों में से हम ऐसे कुछ सम्प्रेक्षणों के प्रति निर्देश करेंगे जो कि उनमें से कुछ मामलों में इस न्यायालय द्वारा किए गए हैं।

34. **रमेश थापर वाले मामले**[1] में इस न्यायालय ने पृष्ठ 602 पर यह कहा था—

"(स्वतंत्रता)········ सभी गणतंत्रात्मक संगठनों की आधार-शिला है क्योंकि स्वतंत्र राजनैतिक विचार-विमर्श के बिना कोई भी लोक शिक्षा, जो कि लोक-प्रसिद्ध सरकार के उचित रूप से चलाए जाने के लिए आवश्यक है, संभव नहीं हो सकती है। हो सकता है कि ऐसे परिमाण की स्वतंत्रता के अन्तर्गत दुष्प्रयोग के जोखिम अन्तर्वलित हों ·······"(किन्तु) यह बेहतर होगा कि इसकी कतिपय हानिकारक शाखाओं का त्याग करके उनका भरपूर उत्पादन किया जाए, न कि इन्हें काट-छांट दिया जाए, जो कि समुचित परिणामों को विकसित करने की शक्ति को क्षतिग्रस्त करती हैं।"

35. **बैनेट कोलमैन वाले मामले**[5] में मुख्य न्यायाधिपति ए० एन० रे ने बहुमत की ओर से निर्णय सुनाते हुए पृष्ठ 396 पर यह कहा था—

"नागरिक का विश्वास यह है कि विचारों के निर्बाध आदान-प्रदान में राजनैतिक बुद्धिमत्ता और नैतिक साधुता अपने आपको तभी तक बनाए रख सकेगी जब तक विचारों के फैलने के रास्ते खुले रहते हैं। जन-प्रिय सरकार में आस्था इस पुरानी उक्ति पर निर्भर है "जनता को सच्चाई तक पहुंचने दीजिए तथा उस पर विचार-विमर्श करने की

---

[1] [1950] एस० सी० आर० 594.
[2] [1950] एस० सी० आर० 605.
[3] [1959] एस० सी० आर० 12.
[4] [1962] 3 एस० सी० आर० 842.
[5] [1973] 1 उम० नि० प० 527=[1973] 2 एस० सी० आर० 757.

यह निस्सन्देह सम्यक् प्रक्रिया संबंधी विधि के सिद्धान्त को लागू करके न्यायालयों द्वारा न्यायिक पुनर्विलोकन के अध्यधीन है। "विधि की सम्यक् प्रक्रिया सम्पूर्ण सामाजिक नियंत्रण को प्रतिषिद्ध नहीं करती है, किन्तु यह सामाजिक नियंत्रण के विरुद्ध दैहिक स्वाधीनता को संरक्षित करती है जब तक कि ऐसा सामाजिक नियंत्रण या तो इस कारण युक्तियुक्त हो कि जहां पुलिस शक्ति का सांविधानिक प्रयोग किया गया है अथवा इस कारण कि कराधान संबंधी शक्ति या सर्वोपरि आधिपत्य (एमीनेंट डोमेन) संबंधी शक्ति विद्यमान है।" यदि कोई ऐसा विधान जो दैहिक स्वाधीनता को परिसीमित करता हो, उसके बारे में यह माना जाता है कि वह इन तीनों कोटियों से वाह्य है तो यह विधि की सम्यक् प्रक्रिया के बिना दैहिक स्वाधीनता को छीनती है और इस प्रकार असांविधानिक है। पुलिस शक्ति, कराधान और सर्वोपरि आधिपत्य—सभी सामाजिक नियंत्रण के रूप हैं जो कि शांति और अच्छी सरकार के लिए आवश्यक हैं। 'पुलिस शक्ति सार्वभौमिकता अथवा उसके सरकारी अभिकर्ताओं में से एक की विधिक क्षमता है जिसके द्वारा ऐसे माध्यमों द्वारा व्यक्तियों की दैहिक स्वाधीनता को सीमित किया जा सकता है जो कि उस उद्देश्य से ऐसा सारवान् संबंध रखते हैं कि उसकी पूर्ति सामाजिक हितों के संरक्षण के लिए की जाए जो कि युक्तियुक्त रूप से संरक्षण की अपेक्षा करते हैं। कराधान सार्वभौमिकता की अथवा उसकी सरकार के अभिकर्ताओं में से एक की विधिक क्षमता है जिससे कि ऐसे व्यक्तियों पर या उनकी सम्पत्ति पर सरकार के समर्थन हेतु एवं ऐसे संदाय के लिए जो किन्हीं अन्य प्रयोजनों के लिए किया जाना हो, जिन्हें कि वह सांविधानिक रूप से कार्यान्वित करे, प्रभाव डालने अथवा अधिरोपित करने के रूप में है। सर्वोपरि आधिपत्य सार्वभौमिकता की अथवा वह उसके सरकारी अभिकर्ताओं में से किसी एक की विधिक क्षमता है जिससे कि निजी सम्पत्ति को न्यायोचित प्रतिकर का संदाय करके सार्वजनिक उपयोग के लिए ग्रहण किया जा सकता है'। उक्त कराधान सार्वभौम शक्ति के अधीन ही सरकार समाचार-पत्रों के प्रकाशकों पर भी करों का उद्ग्रहण न्यायालयों द्वारा न्यायिक पुनर्विलोकन के अधीन रहते हुए करने में इस बात के बावजूद समर्थ है कि प्रथम संशोधन की भाषा आत्यंतिक शब्दों में है। भारत में भी समाचार-पत्रों को प्रकाशित करने संबंधी कारबार चलाने वाले व्यक्तियों पर भी कर उद्गृहीत करने की शक्ति को मान्यता प्रदान की जानी है चूंकि यह सरकार की अवधारणा के ही अन्तर्गत निहित है। किन्तु ऐसी शक्ति का प्रयोग न्यायालयों द्वारा संवीक्षा के अध्यधीन होना चाहिए। संविधान की सप्तम अनुसूची की सूची I की प्रविष्ट 92 अभिव्यक्त रूप से ऐसी शक्ति की विद्यमानता के बारे में सुझाव देती है।

48. टॉमस आई० एमरसन ने प्रथम संशोधन (दि येल लॉ जर्नल, खण्ड 72, पृष्ठ 941) पर अपने लेख में समाचार उद्योग पर कर अधिरोपित करने तथा आर्थिक विनियमन के सम्बन्ध में राज्य की शक्ति पर कतिपय सुसंगत सम्प्रेक्षण किए हैं। उन्होंने यह कहा है—

"(क) कराधान तथा आर्थिक विनियम नियमित कर अध्युपाय, आर्थिक विनियमन, सामाजिक कल्याण विधान तथा समरूप उपबन्धों के बारे में निःसन्देह यह हो सकता है कि उनका किंचित प्रभाव ऐसी दशा में अभिव्यक्ति स्वातन्त्र्य पर पड़े जब उन्होंने ऐसे व्यक्तियों अथवा संगठनों को लागू किया जाए जो कि संसूचना के विभिन्न रूपों में लगे हुए हैं। किन्तु जहां भार ठीक उसी प्रकार का है जिसका व्यहन अन्य ऐसे व्यक्तियों द्वारा किया जाता है जो कि कार्य-कलाप के भिन्न-भिन्न स्वरूपों में लगे हुए हैं, वहां अभिव्यक्ति कर समरूप प्रभाव के बारे में स्पष्ट रूप से यह प्रतीत होता है कि वह अभिव्यक्ति स्वातन्त्र्य का 'न्यूनीकरण' गठित करने के लिए अपर्याप्त है। अतः सामान्य निगमित कर, मजदूरी तथा समय या सामूहिक सौदेबाजी सम्बन्धी विधान कारखाना विधियां और इसी प्रकार की अन्य विधियां किसी निगम को समाचार-पत्र के प्रकाशन में संलग्न निगम को उसी प्रकार लागू होनी हैं जैसे कि वे अन्य कारबार संगठनों को लागू होती हैं। दूसरी ओर, ऐसे अध्युपायों का उपयोग उसकी अन्तर्वस्तु की अभिव्यक्ति या नियन्त्रण के आकार को कम करने सम्बन्धी शास्ति के रूप में उपयोग स्पष्टतः उसी प्रकार की 'न्यूनीकरण' सम्बन्धी अननुज्ञेयता के रूप में होगा जैसा कि प्रत्यक्ष दाण्डिक प्रतिषेध होता है। कभी-कभी इनमें रेखांकन करना कठिन होता है विशेष रूप से इस कारण कि विनियम की परिधि संकुचित हो जाती है।

यहां 'न्यूनीकरण' सम्बन्धी सीमाओं को रेखांकित करने के लिए सिद्धांतों का कथन कर दिया जाए। एक तो, सामान्य प्रस्थापना के रूप में अध्युपाय की विधिमान्यता की परख इस नियम द्वारा की जा सकती है कि वह निश्चित रूप से समान रीति से अभिव्यक्ति में संलग्न समूह की अपेक्षा सारवान् रूप से बृहत्तर समूह को लागू होगी। इस प्रकार मात्र प्रैस पर विशेष कर अथवा केवल ऐसे संगठनों अथवा संगमों को उपलभ्य कर सम्बन्धी छूट जिनके कि विशिष्ट राजनैतिक दृष्टिकोण हों, अनुज्ञेय नहीं होगी। दूसरे न तो अधिष्ठायी

ओर न ही प्रक्रियागत अध्युपाय सम्बन्धी उपबन्ध, भले हीं वे सामान्य निबन्धनों में विरचित किए गए हों, उनके बारे में हो सकता है कि वे अभिव्यक्ति पर कोई सारवान भार अधिरोपित करें क्योंकि उस क्षेत्र में उनका विशिष्ट प्रभाव विद्यमान होगा । इस प्रकार किसी कर का प्रवर्तन अथवा निगमित रजिस्ट्रीकरण कानून किसी ऐसे संगम में सदस्यता के प्रकटीकरण की अध्यपेक्षा करते हुए जिसमें कि ऐसा प्रकटीकरण सारवान् रूप से अभिव्यक्ति स्वातन्त्र्य में ह्रास उत्पन्न करेगा, उसके बारे में यह निष्कर्ष निकलेगा कि वह प्रथम संशोधन सम्बन्धी संरक्षण का अतिक्रमण करता है ।" (अधोरेखांकन हमने किया है)

49. ऐसा प्रतीत होता है कि यह दृष्टिकोण हमारे द्वितीय प्रैस आयोग द्वारा अपनी रिपोर्ट (खण्ड 1) के पृष्ठ 35 पर स्वीकार कर लिया गया है। आयोग ने यह मत व्यक्त किया था—

> "21. आर्थिक तथा कर सम्बन्धी अध्युपाय, सामाजिक कल्याण तथा मजदूरी से संबंधित विधान, कारखाना सम्बन्धी विधियों इत्यादि के बारे में यह हो सकता है कि उनका किंचित प्रभाव ऐसी दशा में प्रैस की स्वतन्त्रता पर पड़े जबकि उन्हें ऐसे व्यक्तियों अथवा संस्थानों को लागू किया जाए जो कि संसूचना के विभिन्न स्वरूपों में लगे हुए हैं । किन्तु जहां उन पर अधिरोपित भार उसी रूप का भार है जिस प्रकार का कि कार्यकलाप के विभिन्न स्वरूपों में लगे हुए अन्य संगठनों द्वारा व्यहन किया जाता है, तो वह प्रैस की स्वतन्त्रता का न्यूनीकरण गठित नहीं करता । किन्तु ऐसे अध्युपायों का उपयोग अभिव्यक्ति की अन्तर्वस्तु को नियन्त्रित करने के लिए स्पष्टतः अननुज्ञेय होगा ।"

50. **एलिस ली ग्रासजीन, सुपरवाइजर आफ पब्लिक अकाउन्ट्स फार दि स्टेट आफ लुईसिआना** बनाम **अमेरिकन प्रैस कम्पनी**[1] वाले मामले में जिसमें कि अपीलार्थियों ने लुईसिआना के उस अधिनियम की सांविधानिक विधिमान्यता को प्रश्नगत किया था जिसके द्वारा 20,000 प्रतियों से अधिक परिचालन रखने वाले किसी समाचार-पत्र, नियतकालिक पत्रिका इत्यादि में मुद्रित अथवा प्रकाशित विज्ञप्तिकरण हेतु अथवा विज्ञापनों का विक्रय करने अथवा उसके लिए कोई प्रभार आरोपित करने के कारबार में लगे हुए

---

[1] 297 यू० एस० 233: 80 लाइयर्स एडीशन 660.

किन्हीं ऐसे व्यक्तियों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे प्रति सप्ताह अन्य सभी करों के अतिरिक्त ऐसे कारबार की सकल प्राप्तियों के दो प्रतिशत (2%) का संदाय लुइसिआना राज्य में ऐसे कारबार का चलाने सम्बन्धी विशेषाधिकार के लिए अनुज्ञप्ति-कर अधिरोपित किया जाए, यूनाइटेड स्टेट्स की सुप्रीम कोर्ट ने पृष्ठ 668-669 पर यह मत व्यक्त किया था—

"अभी तक हमने जो कुछ कहा है, उसके प्रकाश में यह स्पष्ट है कि प्रैस की स्वतन्त्रता की बाबत आंग्ल विधि के निर्वन्धित नियम जो उस समय प्रवृत्त थे, जबकि संविधान अपनाया गया था, उन्हें अमेरिकी उपनिवेशवादियों द्वारा कदापि स्वीकार नहीं किया गया था और यह कि प्रथम संशोधन द्वारा यह अभिप्रेत था कि राष्ट्रीय सरकार को प्रवारित कर दिया जाए तथा चौदहवें संशोधन द्वारा यह अभिप्रेत था कि राज्य को मुद्रित प्रकाशनों अथवा उनके परिचालन पर पूर्ववर्ती निर्वन्धनों के किसी भी स्वरूप में अपनाए जाने से प्रवारित किया जाए जिसके अन्तर्गत वह भी आ जाता है जो कि तावत्पर्यप्त इन दोनों जानी-मानी तथा निंदनीय पद्धतियों द्वारा प्रभावित हुए थे ....

हमने जो कुछ कहा है उससे यह सुझाव दिया जाना आशयित नहीं है कि समाचारपत्रों के स्वामी सरकार के समर्थन हेतु कराधान के साधारण स्वरूपों में से किसी भी स्वरूप से उन्मुक्ति-प्राप्त हैं। किन्तु यह कोई साधारण प्रकृति का कर नहीं है बल्कि वह अपने आप में एक अनूठा कर है जिसका कि प्रैस की स्वतन्त्रता के विरुद्ध प्रतिकूल दुष्प्रयोग से सम्बन्धित विस्तृत इतिहास है।

जिस उन्मुक्ति के अनुदान का आह्वान यहां किया गया है, उसका सर्वोपरि प्रयोजन यह था कि स्वच्छन्द प्रैस का परिरक्षण सार्वजनिक जानकारी के लिए एक मार्मिक स्रोत है। यह कहना उचित होगा कि देश भर के समाचार-पत्रों, पत्रिकाओं और जर्नलों द्वारा प्रसारण के किसी भी अन्य अभिकरण की अपेक्षा राष्ट्र के सार्वजनिक तथा कारबार सम्बन्धी कार्यकलाप पर अधिक प्रकाश पड़ा है और अब भी पड़ रहा है और चूंकि सुविज्ञात सार्वजनिक राय अनुचित सरकार पर सभी निर्वन्धनों की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली इसलिए किसी स्वच्छन्द प्रैस द्वारा प्रदान किए गए प्रचार का दबाया जाना या उसका न्यूनीकरण किया जाना ऐसा है कि उसके बारे में हमारे लिए आवश्यक हो जाता है कि हम उसका गम्भीर चिन्तन करें। यहां अन्तर्वलित कर इस कारण विधिविरुद्ध नहीं है कि यह

अपीलार्थियों से धन जुटाता है। यदि इतना ही होता तो इससे सर्वथा भिन्न प्रश्न सामने आता। यह तो इस कारण विधिविरुद्ध है कि इसके इतिहास के प्रकाश में और उसकी वर्तमान पृष्ठभूमि को देखते हुए यह उल्लेखनीय है कि यह एक विमर्शित तथा प्रकल्पित युक्ति है जो कर के परिवेश में निहित है और जिसके द्वारा ऐसी जानकारी का परिचालन करने को सीमित बनाया जाता है जिसे प्राप्त करने के लिए जनता सांविधानिक गारन्टियों के प्रभाव से हकदार है। स्वतन्त्र प्रैस सरकार और जनता के बीच निर्वचनकर्ताओं में से एक महान निर्वचनकर्ता है। इसे नियन्त्रित किए जाने के लिए अनुज्ञात किया जाना अपने आप में एक नियन्त्रण है।" (अधो रेखांकन हमने किया है)

51. लुइसिआना द्वारा अधिरोपित उद्ग्रहण उपर्युक्त मामले में यूनाइटेड स्टेट्स आफ अमेरिका की सुप्रीम कोर्ट द्वारा इस आधार पर अभिखंडित किया गया था कि वह यूनाइटेड स्टेट्स आफ अमेरिका के संविधान के प्रथम संशोधन का अतिक्रमण करता था क्योंकि यह एक ऐसा दृष्टिकोण था कि इस मामले में जो कर उद्गृहीत किया गया था वह जानकारी के परिचालन को सीमित करने सम्बन्धी एक युक्ति थी। किन्तु न्यायालय ने यह नहीं कहा था कि किसी भी स्थिति में प्रैस पर कर का उद्ग्रहण नहीं किया जा सकता था।

52. **राबर्ट मुरडाक, जूनियर** बनाम **कामनवैल्थ आफ पैनसिल्वेनिया (सिटी आफ जीन्नेट)**[1] वाले मामले में यूनाइटेड स्टेट्स आफ अमेरिका की सुप्रीम कोर्ट ने यूनाइटेड स्टेट्स आफ अमेरिका के संविधान में प्रथम संशोधन को असांविधानिक तथा अतिक्रामक कहकर घोषित किया था क्योंकि वह संशोधन वाक्-स्वातन्त्र्य तथा अभिव्यक्ति स्वातन्त्र्य की गारंटी प्रदान करता था और एक ऐसा अध्यादेश था जो ऐसे व्यक्तियों पर अनुज्ञप्ति-कर अधिरोपित करता था जो कि जीन्नेट नामक नगर में ऐसे माल, रंगचित्रों, चित्रों, भांडागार अथवा किसी प्रकार के वाणिज्य ग्रहण करने के लिए प्रचार करते थे अथवा ऐसे व्यक्ति थे जो इस प्रकार अभिप्राप्त किए गए या आकांक्षित आदेशों के अधीन ऐसी वस्तुओं का परिदान करते थे। उस मामले में पिटीशनर 'जेहोवाह के साक्षी' थे जो जीन्नेट शहर में द्वार-द्वार पर जाकर साहित्य का वितरण करते-फिरते थे तथा लोगों से यह याचना करते थे कि वे कतिपय प्रकार की

---

[1] 319 यू० एस० 105 : 87 लॉ० एडीशन 1292.

धार्मिक पुस्तकों तथा पुस्तिकाओं को खरीदें। उनमें से किसी ने भी विहित फीस का संदाय करके अनुज्ञप्ति अभिप्राप्त नहीं की थी और उन्हें पैनसिल्वेनिया के वरिष्ठ न्यायालय द्वारा जारी किए गए अध्यादेश का अतिक्रमण करने के लिए सिद्धदोष किया गया था। यूनाइटेड स्टेट्स आफ अमेरिका की सुप्रीम कोर्ट ने यह अभिनिर्धारित करते हुए इस दोषसिद्धि को अभिखण्डित कर दिया कि अध्यादेश प्रथम संशोधन का अतिक्रमण करता था। न्या० डगलस, जिन्होंने कि बहुमत का निर्णय लिखा था, पृष्ठ 1299 तथा 1300 पर निम्नलिखित मत व्यक्त किया था—

"इन सभी मामलों में किसी अनुज्ञापत्र अथवा अनुज्ञप्ति का जारी किया जाना किसी अनुज्ञप्ति-कर के संदाय से स्वतन्त्र है। और अनुज्ञप्ति कर की रकम नियत है तथा वह पिटीशनरों के कार्यकलाप की परिधि से अथवा उनके द्वारा वसूल किए गए राजस्वों से असम्बद्ध है। यह कोई ऐसी नाममात्र फीस नहीं है जो प्रश्नगत देख-रेख करने सम्बन्धी कार्यकलाप के व्ययों को निपटाने के लिए विनियामक अध्युपाय है। यह किसी भी रीति में संविभाजित नहीं की जा सकती। यह एक ही दर पर अनुज्ञप्ति कर है जिसे ऐसे कार्यकलाप का अनुसरण करने सम्बन्धी शर्त के रूप में उद्गृहीत तथा संगृहीत किया गया है जिनके उपभोग की गारन्टी प्रथम संशोधन द्वारा की गई है। तदनुसार, यह प्रैस तथा धर्म की ऐसी सांविधानिक स्वाधीनताओं को पहले ही निर्बन्धित कर देती है और अनिवार्य रूप से उनके प्रयोग को दबाने की प्रवृत्ति रखती है। यह लगभग एकरूप से इस एक दर पर अनुज्ञप्ति कर के अन्तर्निहित दोष तथा बुराई के रूप में अभिज्ञात की गई है...............

यह तथ्य कि अध्यादेश "अविभेदात्मक" है, तत्वहीन है। प्रथम संशोधन द्वारा जो संरक्षा प्रदान की गई है वह इस रूप में सीमित नहीं है। निश्चित रूप से कोई अनुज्ञप्ति कर सांविधानिक विधिमान्यता को अर्जित नहीं करता है क्योंकि वह उन विशेषाधिकारों का वर्गीकरण करता है जिनका संरक्षण प्रथम संशोधन द्वारा जगह-जगह जाकर बेचने वालों और फेरी वालों के माल तथा वाणिज्यों के साथ-साथ संरक्षित रखा गया है और जहां उन सब को समान माना गया है। बर्ताव करने में ऐसी समानता अध्यादेश को व्यावृत्त नहीं करती। प्रैस-स्वातन्त्र्य, वाक्-स्वातन्त्र्य, धर्म-स्वातन्त्र्य, सभी अधिमानी स्थिति धारण करते हैं।" (अधो रेखांकन हमने किया है)

53. जस्टिस रीड, जिन्होंने कि बहुमत, से विमति प्रकट की थी, पृष्ठ 1306 पर यह मत व्यक्त किया था—

''यह सम्प्रेक्षणीय है कि कराधान में स्वतन्त्रता सम्बन्धी कोई सुझाव विद्यमान नहीं है और यह कथन भी अन्य राज्य के सांविधानिक उपबन्धों के बारे में समान रूप से सही है। निष्कर्ष के तौर पर यह कहा जा सकता है कि न तो राज्य के अन्तर्गत और न ही फैडरल संविधानों में चर्च अथवा प्रैस के सामान्य कराधान पर आरोप लगाया गया था।

क्या इस न्यायालय के विनिश्चयों में ऐसी कोई बात है जो यह उपदर्शित करती हो कि चर्च अथवा प्रैस सरकार के वित्तीय भारों से मुक्त है? हमें इस बारे में कोई बात दिखाई नहीं देती। धार्मिक समितियां कराधान से अपनी मुक्तियों के लिए राज्य के संविधानों पर अथवा सामान्य कानूनों पर निर्भर करती हैं, न कि फैडरल संविधान पर (गिब्बन्स **बनाम** डिस्ट्रिक्ट आफ कोलम्बिया, 116 यू० एस० 404, 29 लाइयर्स एडीशन 680, 6 एस० सीटी 427)। इस न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि स्वतन्त्र प्रैस की गारन्टी का मुख्य प्रयोजन प्रकाशन पर पूर्ववर्ती निर्बन्धनों को निवारित करना था (नीयर **बनाम** मिन्नेसोटा, 283 यू० एस० 697, 713, 75 लाइयर्स एडीशन 1357, 1366, 51 एस० सी०टी० 625)। ग्रासजीन **बनाम** अमेरिकन प्रैस कम्पनी (297 यू० एस० 233, 250, 80 लाइयर्स एडीशन 660, 668, 56 एस० सी० टी० 444) वाले मामले में यह कहा गया था कि सर्वोपरि स्वच्छन्द प्रैस का सार्वजनिक जानकारी के मार्मिक स्रोत के रूप में परिरक्षण करना है। उस मामले में प्रति सप्ताह बीस हजार प्रतियों से अधिक परिचालन वाले पत्रों में विज्ञापनों पर कर की सकल प्रतियों के बारे में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि वे अविधिमान्य हैं क्योंकि ''वे परिचालन को सीमित करने हेतु कर के परिवेश में एक विमर्शित तथा प्रकल्पित युक्तियुक्त गठित करते हैं।............।''

1. इसके अतिरिक्त निम्नलिखित टिप्पण दिया गया था—

''हमने जो कुछ कहा है उससे ऐसा कोई सुझाव देने का आशय नहीं किया गया कि समाचार-पत्रों के स्वामी सरकार के समर्थन के लिए कराधान के सामान्य स्वरूपों में से किसी स्वरूप में उन्मुक्ति प्राप्त है। किन्तु यह कोई साधारण स्वरूप का कर नहीं है बल्कि यह

स्वरूप में एकल प्रकृति का कर है जिसकी कि प्रैस की स्वतन्त्रता के विरुद्ध प्रतिकूल दुष्प्रयोग का एक विस्तृत इतिहास है यथापूर्व 297 यू० एस० 250, 80 ला० एडीशन 668, 56 एस० एस० टी० 444।

किन्तु यहां यह भी कह दिया जाए कि चर्च तथा प्रैस के कार्यकलाप के राज्य-कराधान की समस्या के प्रति हमारा अत्यंत सन्तुलित, तकनीकी एवं विधिक निर्देश है : यह कि हमें प्रथम संशोधन के अभिव्यक्त अथवा ऐतिहासिक अर्थ पर ध्यान नहीं देना चाहिए बल्कि वाक्-स्वातन्त्र्य तथा धर्म के सुछन्द प्रयोग के व्यापक सिद्धांतों पर ध्यान देना चाहिए जो कि हमारे राष्ट्रीय जीवन-यापन में ओत-प्रोत है। हो सकता है कि 14वां संशोधन इन सिद्धांतों को गारन्टी प्रदान करता हो, बजाय उसकी उस गारन्टी के जो कि प्रथम संशोधन में अभिव्यक्त निश्चित अवधारणा के। इससे यह अभिप्रेत है कि न्याया-लय के रूप में, हमें इस बात का अभिनिश्चय करना चाहिए कि यह इस प्रकार की स्वाधीनता है जो 14वें संशोधन के सम्यक् प्रक्रिया सम्बन्धी खण्ड द्वारा वाणी तथा चर्च पर राज्य द्वारा लगाये गए निर्बन्धनों के विरुद्ध गारन्टी प्रदान करता है।

हमारी समझ में यह भी नहीं आता कि न्यायालय अब यह धारणा बनाए हुए है कि फैडरल संविधान उन करों के सिवाय जो कि यहा उद्गृहीत किये गये हैं प्रेस अथवा धर्म को किसी कर से मुक्त करता है। आयकर, मूल्यानुसार कर, यहां तक कि व्यवसाय सम्बन्धी करों के बारे में यह उपधारणा की जाती है कि वे विधि-मान्य हैं, सिवाय केवल धार्मिक पुस्तकों के विक्रय पर अनुज्ञप्ति-कर के। क्या यह हो सकता है कि संविधान मुद्रण प्रैस उनमें किसी महा-नगरीय समाचार-पत्र की सकल आय पर कर अनुज्ञात करता है, किन्तु उन्हीं समाचार-पत्रों के वितरकों पर किसी व्यावसायिक कर के अधिरोपित किये जाने के अधिकार से प्रत्याख्यान करता है? क्या यह छूट पुस्तक विक्रेताओं अथवा पत्रिकाओं के वितरकों को लागू होती है अथवा यह केवल धार्मिक प्रकाशनों को ही लागू होती है? अथवा यह किन पुस्तकों को लागू होती है? या फिर क्या यह न्यायालय यह कहना चाहता है कि पुस्तक-वितरण की धर्मिक प्रणाली इस कारण कराधान से मुक्त है कि कोई राज्य "उनके निर्बाध प्रयोग" को प्रतिषिद्ध नहीं कर सकता और कोई समाचार-पत्र इसी कर के अध्यधीन है भले ही उसी सांविधानिक संशोधन में यह कहा

गया हो कि राज्य प्रेस की स्वतन्त्रता का न्यूनीकरण नहीं कर सकता ? इस बात पर पहले कदापि विचार नहीं किया गया कि कराधान से मुक्ति एक ऐसी अध्यपेक्षा थी जो प्रथम संशोधन के विशेषाधिकारों को लागू होती थी ।"

न्यायाधिपति रीड ने पृष्ठ 1307 और 1308 पर यह भी कहा था—

"यह दलील दी गई है कि इस प्रकार के कर का उपयोग सुगमतापूर्वक विचारों के प्रचार को निर्बन्धित करने के लिए किया जा सकता है । यह स्वीकार किया जाना आवश्यक है, किन्तु जहां तक दुरुपयोग की संभाव्यता का प्रश्न है वह किसी कर को असांविधानिक नहीं बनाता । यहां किसी दुरुपयोग का दावा नहीं किया गया है । इन मामलों में से कुछ मामलों में जारी किये गये अध्यादेश सामान्य व्यावसायिक अनुज्ञप्ति की प्रकृति के हैं जिनके अंतर्गत बहुत से कारबार आते हैं । जीनैट में किये गए अभियोजनों के बारे में जो अध्यादेश अतर्वलित था वह माल, वस्तुओं तथा वाणिज्यों के विक्रयों का प्रचार करने अथवा उनकी याचना करने पर प्रायिक कर को अधिरोपित करता है । कराधान अथवा विनियमन संबंधी प्रत्येक शक्ति का दुरुपयोग हो सकता है । इनमें से प्रत्येक शक्ति कुछ हद तक धर्म के अबाध प्रयोग को प्रतिषिद्ध करती है और प्रैस की स्वतंत्रता का न्यूनीकरण करती है किन्तु यह इस शक्ति का प्रत्याख्यान करने का आधार गठित करने के लिए कदाचित् ही कारण हो सकता है । यदि कर का उपयोग प्रपीड़क रूप से किया जाए तो विधि ऐसी कार्यवाही का शिकार होने वाले व्यक्तियों को संरक्षित करेगी ।"

(अधो रेखांकन हमने किया है)

54. न्यायाधिपति फ्रैंक फर्टर, जिन्होंने भी बहुमत के संप्रेक्षण से विमति प्रकट की थी, पृष्ठ 1310 और 1311 पर यह कहा है—

"यह नहीं कहा जा सकता कि पिटीशनर मात्र इस कारण सांविधानिक दृष्टि से कराधान से मुक्त है कि वे धार्मिक कार्यकलाप में लगे हुए हैं अथवा इस कारण कि ऐसे कार्यकलाप के बारे में यह कहा जा सकता है कि वे किसी सांविधानिक अधिकार का प्रयोग गठित करते हैं ....।

और न ही किसी कर को मात्रा इस कारण अविधिमान्य

ठहराया जा सकता है कि उसका आपतन ऐसे कार्यकलाप पर पड़ता है जो किसी सांविधानिक अधिकार का प्रयोग गठित करते हैं। निःसंदेह, प्रथम संशोधन किसी समाचार-पत्र अथवा किसी पत्रिका अथवा किसी पुस्तक को प्रकाशित करने के अधिकार से संरक्षा प्रदान करता है। किन्तु तात्विक प्रश्न यह है कि उक्त संशोधन कितना संरक्षण देता है और संबद्ध अधिकार का संरक्षण किसके विरुद्ध किया जाता है ? यह निश्चित रूप से सही है कि प्रथम संशोधन द्वारा प्रैस की स्वतंत्रता को प्रदान संरक्षण के अन्तर्गत सभी प्रकार के कराधान से मुक्ति शामिल नहीं है। समाचार-पत्र प्रकाशन पर कोई कर मात्र इस कारण अविधिमान्य नहीं हो जाता कि वह किसी सांविधानिक अधिकार के प्रयोग पर लगता है। हो सकता है कि ऐसा कर इस कारण अविधिमान्य हो कि यह समाचार-पत्रों के प्रकाशन को विशिष्ट रूप से अलग करता है जिससे कि उनके द्वारा कराधान के भार का वहन न किया जा सके अथवा ऐसा कर ऐसी रीति में उन पर अधिरोपित किया जाए जिससे कि स्वतंत्र प्रैस की आवश्यक परिधि का अधिक्रमण न होता हो। यदि न्यायालय न्यायोचित रूप से यह अभिनिर्धारित कर सकता कि इन मामलों में विद्यमान अभ्युपाय उस आधार पर अभिखण्डित किये जा सकते थे तो मैं बिना किसी हिचकिचाहट के इससे सहमत हो जाता। किन्तु न्यायालय ने ऐसा नहीं किया है और वस्तुतः वह ऐसा कर भी नहीं सकता था।"

(अधो रेखांकन हमने किया है)

55. उपर्युक्त मामले में इस बात का उल्लेख किया जा सकता है कि न्यायाधिपति डगलस, जिन्होंने कि बहुमत का निर्णय सुनाया था, यह नहीं कहा था कि कोई भी कर सर्वथा प्रैस पर उद्गृहीत नहीं किया जा सकता, बल्कि उन्होंने तो एकरूप अनुज्ञप्ति कर का अनुमोदन नहीं किया था जो कि उन व्यक्तियों के कार्यकलाप की परिधि से असंबद्ध हो जिन्हें उसका वहन करना होगा। जहां तक बिमत राय का संबंध है उनके बारे में हमने पहले ही यह कथन कर दिया है कि प्रैस कराधान से कोई उन्मुक्ति धारण नहीं करता। किन्तु उन्होंने यह कहा है कि कराधान को स्वतंत्र प्रैस की आवश्यक परिधि का अधिक्रमण नहीं करना चाहिए।

56. यहां हमारे लिए "दि फैडूलिस्ट" में अलगजैंडर हैमिल्टन द्वारा

निबंध सं० 84 के नीचे दिये गये पाद-टिप्पण में से एक वाक्यांश के प्रति निर्देश करना उपयोगी होगा। यह निम्नलिखित है—

"निःसंदेह यह व्याज करना सही नहीं है कि कर्तव्यों की किसी प्रकार की कोटि चाहे वे कर्तव्य कितने ही तुच्छ क्यों न हों, प्रैस की स्वाधीनता का न्यूनीकरण गठित करेंगे। हम जानते हैं कि ग्रेट ब्रिटेन में समाचार-पत्रों पर कर लगाया जाता है, और फिर भी यह एक कुख्यात बात है कि कहीं भी प्रैस इतनी अधिक स्वाधीनता ग्रहण किये हुए नहीं है जितनी कि वह उस देश में प्राप्त करता है। और यदि किसी प्रकार के कर्तव्य उस स्वाधीनता का उल्लंघन किये बिना अधिरोपित किये जाएं तो यह स्पष्ट है कि उनका विस्तार निश्चित रूप से सार्वजनिक मत द्वारा विनियमित रूप से विधायी विवेक पर निर्भर करेगा।"

57. इस प्रक्रम पर हम **अटर्नी जनरल और एक अन्य** बनाम **एन्टिगुआ टाइम्स** लि०[1] वाले मामले के प्रिवी कौन्सिल के विनिश्चय के प्रति निर्देश करना उपयोगी समझते हैं जिसमें कि प्रिवी कौन्सिल की न्यायिक समिति से यह अपेक्षा की गई थी कि वह न्यूज़पेपर्स रजिस्ट्रेशन (अमेण्डमैंट) ऐक्ट, 1971 के अधीन समाचार-पत्र के प्रकाशक पर 600 डालर वार्षिक अनुज्ञप्ति फीस के अधिरोपित किये जाने की विधिमान्यता के बारे में विनिश्चय करें। एन्टिगुआ के संविधान की धारा 10 इस प्रकार है—

"10. (1) स्वयं अपनी अनुमति के मामले को छोड़कर, किसी भी व्यक्ति पर उसके अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य के उपभोग में बाधा नहीं डाली जायेगी और इस धारा के प्रयोजनों के लिए उक्त स्वतंत्रता में मतों को धारण करना एवं किसी हस्तक्षेप के बिना विचारों तथा जानकारी को प्राप्त करना और उसे प्रदान करना शामिल है तथा उसके पत्र-व्यवहार एवं संसूचना के अन्य माध्यम में हस्तक्षेप संबंधी स्वतंत्रता भी अंतर्विष्ट है।

(2) किसी विधि में अंतर्विष्ट अथवा उसके प्राधिकार के अधीन की गई किसी बात के बारे में यह माना जायेगा कि वह उस हद तक इस धारा से विसंगत अथवा उसका उल्लंघन करने वाली है जिस तक कि प्रश्नगत विधि इनके बारे में उपबंध करती है—(क) वह (i) प्रतिरक्षा, लोक क्षेम, लोक व्यवस्था, लोक नैतिकता अथवा लोक

---

1 (1975) 3 आल इंग्लैंड रिपोर्ट्स 81.

स्वास्थ्य हेतु उपबंध करती है; या (ii) अन्य व्यक्तियों की ख्यातियों, उनके अधिकारों तथा स्वतंत्रता को संरक्षित करने अथवा विधिक कार्यवाहियों में सम्बद्ध व्यक्तियों की वैयक्तिक रक्षा करने के प्रयोजन के लिए, गुप्त रूप से प्राप्त सूचना के प्रकटीकरण को निवारित करने के लिए, न्यायालयों के प्राधिकार तथा स्वतंत्रता को बनाये रखने के लिए, या दूरभाष, तार, डाक, वेतार, प्रसारण, दूरदर्शन अथवा संसूचना के अन्य माध्यम, सार्वजनिक प्रदर्शन या सार्वजनिक मनोरंजन को बनाये रखने के प्रयोजन के लिए उपबन्ध करती है; अथवा (ख) वह लोक अधिकारियों पर निर्बन्धन अधिरोपित करती है।''

58. लार्ड फ्रेज़र, जिन्होंने कि प्रिवी कौन्सिल का निर्णय सुनाया था, अनुज्ञप्ति फीस के उद्ग्रहण को इस रूप में कायम रखा था कि वह युक्तियुक्त रूप से प्रतिरक्षा के हितों में एवं लोक क्षेम को अभिप्राप्त करने इत्यादि के लिए अपेक्षित हैं जिनके प्रति निर्देश एन्टिगुआ के संविधान की धारा 10(2) (क) (i) में किया गया है। विद्वान् लार्ड ने इस सम्बन्ध में यह मत व्यक्त किया था—

> ''प्रतिरक्षा के हितों में तथा लोक क्षेम, लोक व्यवस्था, लोक नैतिकता तथा लोक स्वास्थ्य को अभिप्राप्त करने के लिए राजस्व जुटाया जाना अपेक्षित है और यदि यह कर युक्तियुक्त रूप से इन प्रयोजनों के लिए या इनमें से किसी एक प्रयोजनों के लिए राजस्व जुटाये जाने के लिए अपेक्षित है, तो धारा 1-बी के बारे में यह नहीं समझा जायेगा कि वह संविधान का अतिक्रमण करती है।
>
> कुछ मामलों में यह हो सकता है कि कोई न्यायालय किसी अधिनियम के परिशीलन मात्र से यह विनिश्चय करे कि क्या वह युक्तियुक्त रूप से अपेक्षित था या नहीं। अन्य मामलों में, अधिनियम में इस प्रश्न का उत्तर नहीं मिल पायेगा। ऐसे मामलों में क्या अधिनियम से सम्बन्धित कारणों की बाबत न्यायालय के समक्ष साक्ष्य प्रस्तुत किया जाना होता है और यह दर्शित किया जाना होता है कि ऐसा युक्तियुक्त रूप से अपेक्षित था ? माननीय न्यायाधीशों का यह विचार है कि इस प्रश्न से समुचित सम्पर्क इस बात की अवधारणा करना है, जब तक कि तत्प्रतिकूल प्रतीत न हुआ हो या दर्शित न किया गया हो, कि एन्टिगुआ की संसद् द्वारा पारित सभी अधिनियम युक्तियुक्त रूप से अपेक्षित थे। इस उपधारणा का ऐसी दशा में खण्डन हो जायेगा जिसमें कि प्रश्नगत कानूनी उपबंध, न्यायाधिपति लूइज़ी

के शब्दों का उपयोग करते हुए, 'इतना मनमाना है कि इससे यह निष्कर्ष निकालना आवश्यक हो जाता है कि इसमें कराधान शक्ति का उपयोग किया जाना अतर्वलित नहीं है, किन्तु वह सारवान् रूप से तथा प्रभावशील रीति से किसी भिन्न तथा प्रतिषिद्ध शक्ति का प्रत्यक्ष निष्पादन है।' यदि अनुज्ञप्ति फीस की रकम प्रत्यक्ष रूप से इतनी अतिशय होती कि उससे यह निष्कर्ष निकलता कि उसके अधिरोपित किये जाने के लिए वास्तविक कारण राजस्व का जुटाया जाना नहीं था बल्कि समाचार-पत्रों के प्रकाशन को निवारित किया जाना था, तो उससे यह निष्कर्ष न्यायोचित बन जायेगा कि सम्बद्ध विधि राजस्व जुटाये जाने के लिए युक्तियुक्त रूप से अपेक्षित नहीं थी।

माननीय न्यायाधीशों की राय में, इस उपधारणा का न्यूज़पेपर्स रजिस्ट्रेशन (अमैण्डमैंट) ऐक्ट, 1971 युक्तियुक्त रूप से अपेक्षित था, खण्डन नहीं किया गया था और वे अनुज्ञप्ति फीस की रकम के बारे में यह नहीं मानते कि वह अभिव्यक्त रूप से अतिशय है और ऐसी प्रकृति की है कि उससे यह निष्कर्ष निकलता है कि धारा 1-बी राजस्व जुटाने के लिए अधिनियमित नहीं की गई थी, बल्कि वह किसी अन्य प्रयोजन के लिए अधिनियमित की गई थी।" (अधोरेखांकन हमने किया है)

59. यहां यह पुनः उल्लेखनीय है कि प्रिवी कौन्सिल का यह दृष्टिकोण था कि विधि किसी समाचार-पत्र के प्रकाशक पर फीस के उद्ग्रहण को प्रतिषिद्ध नहीं करती बल्कि यदि उसके अधिरोपित किये जाने का वास्तविक कारण राजस्व जुटाना नहीं था किन्तु वह समाचार-पत्र के प्रकाशन को निवारित करना था, तो वह आक्षेपणीय होगी।

60. इस प्रक्रम पर हमारे समक्ष सम्बोधित एक ज़ोरदार दलील के प्रति निर्देश करना आवश्यक है। पिटीशनरों की ओर से यह दलील दी गई थी कि समाचार-पत्र स्थापनों पर किसी प्रकार के करों को ही उद्गृहीत करने सम्बन्धी सरकार की शक्ति की मान्यता प्रैस की स्वतंत्रता को सर्वथा समाप्त कर देगी और वह संविधान की भावना के पूर्णतया विरुद्ध होगी। यह दलील दी गई है कि यह सम्भाव्य है कि सरकार इसका उपयोग इस हेतु करे कि प्रैस सरकार के अध्यधीन रहे। यह तर्क दिया गया है कि जब एक बार ऐसी शक्ति को स्वीकार कर लिया जाता है तो समाचार-पत्र सम्बन्धी व्यक्तियों को सरकार के पीछे भागना होगा और इसीलिए ऐसा किया जाना सर्वथा आवश्यक

है। इससे एक दर्शन शास्त्र सम्बन्धी प्रश्न उद्भूत होता है अर्थात् प्रैस बनाम सरकार। हमारे विचार में, प्रैस के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह सरकार के अधीनस्थ हो। जब तक 'यह न्यायालय पीठासीन है' तब तक समाचार-पत्र से सम्बन्धित व्यक्तियों के लिए यह आवश्यक नहीं है कि उन्हें इस बात की आशंका रहे कि असांविधानिक माध्यमों द्वारा उनकी स्वतंत्रता में ह्रास होगा। किन्तु एक स्वतंत्र प्रैस की सुचारु भावना को विकसित करने के लिए यह अच्छा होगा कि समाचार-पत्रों से सम्बद्ध किंचित् सूझबूझ के व्यक्तियों द्वारा गत समय में कहे गये कुछ कथनों का स्मरण किया जाए। हैज़लिट ने सम्पादकों को यह परामर्श दिया था कि वे अपनी अधिकारिता के भीतर रहें और जहां तक शक्ति की सूक्ष्मताओं का प्रश्न है उन्हें अभिव्यक्त करने से अपने आपको रोके रहें। वाल्टर लिपमैन ने कुछ वर्ष पहले इण्टरनेशनल प्रैस इंस्टीट्यूट के समक्ष दिये गये अपने भाषण में यह कहा था कि पत्रकारों की स्वतंत्रता तथा अखण्डता के प्रति खतरा उन दबावों से उत्पन्न नहीं होता है जो कि उनके ऊपर अधिरोपित किये जाते हैं : इसका तो स्वरूप यह है कि उन्हें उस संगति से दूर रह कर चंगुल से छुड़ाये रखा जाना चाहिए जिसके कि वे शिकार हैं। आर्थर क्रॉक ने 60 वर्ष के अनुभव के पश्चात् यह कहा था कि यह सही है कि अधिकतर मामलों में किसी राजनीतिज्ञ से मित्रता से हानि इतनी अधिक होती है कि उसका पश्चाताप करना किसी समाचार-पत्र से सम्बन्धित व्यक्ति के लिए अत्यधिक कठिन हो जाता है। मानचेस्टर गार्डियन के ए० पी० वैड्ज़वर्थ ने यह कहा था "कि किसी भी सम्पादक को यह नहीं चाहिए कि वह हमारे राजनीतिज्ञों के साथ निजी सम्बन्ध सुदृढ़ रूप में रखे अथवा इससे विश्वास से सम्बन्धित एक मिथ्या भावना उत्पन्न हो जायेगी।" जेम्स मार्गेच ने यह कहा था कि "जब प्रमुख प्रसारण करने वाले व्यक्ति प्रधान मंत्रियों की बाबत अत्यधिक महत्व देने की बजाय उनके बारे में अत्यन्त तुच्छ विचार रखते हैं तो प्रैस की स्वतंत्रता खतरे में पड़ जाती है। लार्ड सैलिस्बरी ने इंग्लैण्ड के एक प्रसिद्ध सम्पादक अर्थात् बक्कल से यह कहा था : "आप ऐसे प्रथम व्यक्ति हैं जो पिछले कुछ दिनों में मुझसे मिलने नहीं आये और जिन्होंने मुझसे किसी बात की मांग नहीं की, न तो पदवी की, न सम्मान की और न ही लार्ड जैसी उपाधि की। आप तो केवल जानकारी चाहते हैं।", चार्ल्स मिचल ने 'न्यूज़पेपर डायरेक्टरी' में यह लिखा था 'प्रैस का सार्वजनिक राय पर इतना अधिक और इतना विस्तृत असर हो गया है······कि······इसको चलाने वाले सही अर्थों में भद्र व्यक्ति होने चाहिएं। इसी प्रकार वे भ्रष्टाचार तथा आतंक से रहित होने चाहिएं और सच्चाई और सम्मान के विस्तृत मार्ग से स्वार्थ में आकर डगमगाने में असमर्थ होने चाहिएं; वे सार्वजनिक घटनाओं का दुर्व्यपदेशन

अथवा उन्हें अस्पष्ट बनाने के सभी प्रयत्नों से ऊपर होने चाहिएं।' यदि प्रेस स्वतंत्र नहीं रह जाता है तो प्रैस तथा लोक मत का स्थान शीघ्र ही जागीरदारी तथा सामन्तशाही के पारम्परिक प्रभाव ग्रहण करेंगे। प्रैस के स्वामियों को चाहिए कि वे इस बात का प्रयत्न करें कि उनके हित उनके कर्तव्यों के साथ न टकरा जाएं। यह सब कुछ केवल यह दर्शित करने के लिए कहा गया है कि सम्भवत: सरकार ही सदैव प्रैस की स्वतंत्रता को विनष्ट करने की दोषी नहीं होती। चाहे जो भी हो, यह स्वीकार करना कठिन है कि मात्र इस कारण कि सरकार के पास करों को उद्गृहीत करने की शक्ति है, प्रैस की स्वतंत्रता पूर्णत: नष्ट हो जाएगी। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, न्यायालय सदैव सन्तुलन बनाए रखने एवं उस स्वतंत्रता पर किसी असांविधानिक आक्रमण को अभिखण्डित करने के लिए विद्यमान है।

61. समाचार उद्योग मूल अधिकारों में से दो अधिकारों का उपभोग करता है, अर्थात् वाक्-स्वतंत्र्य एवं अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य जिनकी गारंटी अनुच्छेद 19 (1) (क) के अधीन दी गई है और साथ ही साथ वह किसी व्यवसाय, उपजीविका, व्यापार, उद्योग अथवा कारबार को करने की स्वतंत्रता को धारण करता है जिसकी गारंटी संविधान के अनुच्छेद 19 (1) (छ) के अधीन प्रदान की गई है; इनमें से प्रथम इस कारण कि इसका संबंध अभिव्यक्ति तथा संसूचना के क्षेत्र से हैं और दूसरे इस कारण कि संसूचना एक उपजीविका अथवा वृत्ति का रूप धारण कर चुकी है और क्योंकि जहां अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य का प्रयोग किया जा रहा है, उस क्षेत्र में व्यापार, कारबार तथा उद्योग का आक्रमण होता है। जबकि अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य के प्रयोग से संबंधित अधिकार पर कोई कर नहीं लग सकता, वृत्ति, उपजीविका, व्यापार, कारबार तथा उद्योग पर कर उद्ग्रहणीय है। अत: कर समाचार-पत्र संबंधी उद्योग पर उद्ग्रहणीय है। किन्तु जब ऐसा कर अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य क्षेत्र का उल्लंघन करता है और उस स्वतंत्रता का गला घोंटता है, तो वह असांविधानिक हो जाता है। जब तक कि यह युक्तियुक्त सीमाओं के भीतर रहता है और अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य के मार्ग में बाधा नहीं डालता तब तक वह अनुच्छेद 19 (2) की सीमाओं का उल्लंघन नहीं करता। इस नाजुक कार्य का अभिनिश्चय करना कि यह कब वृत्ति, उपजीविका, व्यापार, कारबार या उद्योग के क्षेत्र से हटकर अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य के क्षेत्र में चल जाता है और स्वतंत्रता में हस्तक्षेप करने लगता है, न्यायालय को सौंपा गया है।

62. किन्तु पिटीशनरों ने अपने मामले के समर्थन में **साकल वाले मामले**[1]

---

1 [1962] 3 एस० सी० आर० 842.

तथा बैनेट कोलमैन वाले मामले[1] का जोरदार रूप से अवलम्ब लेते हुए कहा है कि समाचार-पत्र पर कोई कर जो किसी समाचार-पत्र का महत्त्वपूर्ण उपांग है, असांविधानिक है। उन्होंने हमारा ध्यान साकल वाले मामले में दिए गए विनिश्चय में से निम्नलिखित भाग के प्रति, जो कि पृष्ठ 863 पर है, दिलाया है—

"यह भली प्रकार से राज्य की शक्ति के अन्तर्गत हो सकता है कि वह जनसाधारण के हित में किसी नागरिक के अधिकार पर इस बारे में ऐसे निर्बन्धन लगा सके जिनका संबंध कारबार चलाने से हो किन्तु राज्य को इस वात की स्वतंत्रता नहीं है कि वह इस उद्देश्य की पूर्ति संविधान द्वारा गारंटीकृत उस नागरिक की किसी अन्य स्वतंत्रता में सीधे और तुरंत कमी करके कर ले और जो उन्हीं आधारों पर न्यूनीकरण किए जाने योग्य न हो जो कि अनुच्छेद 19 के खण्ड (6) में वर्णित हैं। इसलिए वाक्-स्वातंत्र्य के अधिकार को किसी नागरिक के कारबार सम्बन्धी कार्यकलाप पर निर्बन्धन अधिरोपित करने के लिए उद्देश्य से छीना नहीं जा सकता है। वाक्-स्वातंत्र्य केवल राज्य की सुरक्षा, विदेशों के साथ मित्रतापूर्ण सम्बन्धों, लोक व्यवस्था, शालीनता अथवा नैतिकता के हितों में सीमित की जा सकती है अथवा उसे न्यायालय अवमान, मानहानि अथवा किसी अपराध के लिए उद्दीपन के सम्बन्ध में सीमित किया जा सकता है। कारबार चलाने से सम्बन्धित स्वतंत्रता की भांति इसकी भी जनसाधारण के हित में कमी नहीं की जा सकती। यदि किसी विधि पर, जो प्रत्यक्ष रूप से उसे प्रभावित करती हो, आक्षेप किया जाता है, तो यह कोई उसका प्रत्युत्तर नहीं है कि उसके द्वारा अधिनियमित निर्बन्धन खण्ड (3) से लेकर खण्ड (6) के अधीन न्यायोचित ठहराया जा सकते हैं। कारण यह कि अनुच्छेद 19 की स्कीम विभिन्न स्वतंत्रताओं को अलग प्रगणित करने की है और तत्पश्चात् उन निर्बंधनों की सीमा को विनिर्दिष्ट किया जाता है जिनके कि वे अध्यधीन हों और उन विषयों को भी तत्पश्चात् विनिर्दिष्ट किया जाता है जिन्हें अभिप्राप्त करने के लिए ऐसा किया जा सकता है। कोई नागरिक इस बात का हकदार है कि वह एक साथ इन स्वतंत्रताओं में से किसी एक या सभी स्वतंत्रताओं का उपभोग कर सके और खण्ड (1) किसी एक स्वतंत्रता को किसी दूसरी स्वतंत्रता पर अधिमान नहीं देता।

---

[1] [1973] 1 उम० नि० प० 527=[1973] 2 एस० सी० आर० 757.

यह इस खण्ड का सीधा-सादा अर्थ है । इससे यह परिणाम निकलता है कि राज्य कोई ऐसी विधि नहीं बना सकता जो प्रत्यक्ष रूप से किसी अन्य स्वतंत्रता का बेहतर उपभोग अभिप्राप्त करने के लिए एक स्वतंत्रता पर निर्बन्धन लगाती हो । इसलिए यह अभिनिर्धारित करने का सुतराम कारण है कि राज्य सीधे किसी अन्य स्वतंत्रता पर अन्यथा अनुज्ञेय निर्बन्धन अधिरोपित करके किसी स्वतंत्रता को निर्बन्धन नहीं कर सकता ।"

63. **बैनेट कोलमैन वाले मामले**[1] में जो प्रश्न विचारार्थ उद्भूत हुआ था, वह एक ऐसे निर्बन्धन की विधिमान्यता से सम्बन्धित था ज़ो ऐसी समाचार नीति के अधीन अधिरोपित किया गया था जिसमें कि कतिपय आक्षेपणीय बातें थी, जैसे (i) कि कोई भी समाचार-पत्र अथवा उसका नया संस्करण सांझे स्वामित्व वाले यूनिट द्वारा शुरू किया जा सकता है भले ही वह अखबारी कागज की प्राधिकृत परिमात्रा में ही हो; (ii) कि पृष्ठों की अधिकतम संख्या पर सीमा है जबकि परिचालन तथा पृष्ठों के बीच कोई समंजन अभिज्ञात नहीं है जिससे कि पृष्ठों में वृद्धि की जा सके; (iii) कि कोई बड़ा समाचार-पत्र पृष्ठों की संख्या, किसी पृष्ठ का क्षेत्र तथा नियतकाल की अवधि में परिचालन सम्बन्धी कटौती करके स्वयं अपनी अनुज्ञेय मात्रा (कोटा) के अन्तर्गत भी अपेक्षाओं की पूर्ति करने के लिए, इन सब की वृद्धि करने के लिए प्रतिषिद्ध तथा निवारित है । बहुमत ने यह अभिनिर्धारित किया था कि पृष्ठों की संख्या की सीमा के नियत किए जाने से न केवल पिटीशनरों को उनकी आर्थिक शक्ति से वंचित कर लिया गया है बल्कि साथ-ही-साथ उनके अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य पर भी निर्बन्धन लगा दिया गया है । यह भी अभिनिर्धारित किया गया है कि पृष्ठों के ऐसे निर्बन्धन के परिणामस्वरूप विज्ञापन राजस्व में कमी हुई है और इस प्रकार अपने कार्यकलाप को अग्रसर करने में समाचार-पत्र की क्षमता, जो कि संविधान के अनुच्छेद 19 (1) (क) द्वारा संरक्षित है, प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है ।

64. हमने ध्यानपूर्वक उपर्युक्त दोनों विनिश्चयों पर विचार किया है । पहले मामले में न्यायालय का सम्बन्ध समाचार-पत्र मूल्य-पृष्ठ नीति से था और दूसरे मामले में सरकार द्वारा अधिरोपित अखबारी कागज़ नीति पर आक्षेप किया गया था । इन दोनों मामलों में से किसी भी मामले का सम्बन्ध संसद् की शक्ति से नहीं था जिसके द्वारा कि वह समाचार-पत्र उद्योग द्वारा उपयोग में लाए जाने वाले किन्हीं माल पर कर उद्गृहीत कर सके । जैसा कि

1 [1973] 1 उम० नि० प० 527=[1973] 2 एस० सी० आर० 757.

हमने पहले देखा है, करों का उद्ग्रहण सरकार के समर्थन के लिए किया जाता है और ऐसे समाचार-पत्र जो कि लोक व्यय से लाभ प्राप्त करते हैं, सरकारी खज़ाने में पर्याप्त और उपर्युक्तियुक्त रकम का अभिदाय करने के अपने दायित्व के प्रतिकूल दावा नहीं कर सकता। किन्तु समाचार-पत्र उद्योग पर कोई कर उद्गृहीत करते समय यह मत व्यक्त करना होगा कि इसके द्वारा समाचार-पत्रों पर अधिक भार न डाला जाए जो कि देश का प्रेस (फोर्थ एस्टेट) गठित करते हैं और न ही समाचार-पत्र उद्योग पर विशिष्ट रूप से कठोर व्यवहार लगाया जाना चाहिए। किसी भी बुद्धिमान प्रशासक को चाहिए कि वह इस बात को महसूस करे कि अखबारी कागज पर सीमा-शुल्क जैसे कर का अधिरोपण ज्ञान पर अधिरोपण है और वह वास्तविक रूप से ऐसे बोझ की कोटि में आता है जो किसी व्यक्ति पर इस रूप में डाला जाता है कि वह पढ़-लिख न सके तथा आसपास के संसार के बारे में अपने आप को जानकार बनाते हुए नागरिक के रूप में अपने कर्तव्य के सम्बन्ध में जागरूक न बन सके। 'विचार-विमर्श सम्बन्धी स्वतंत्रता (जिसका कि प्रेस स्वातंत्र्य एक पहलू है) में लोक हित इस अपेक्षा से पनपता है कि किसी लोकतंत्रतात्मक समाज को चाहिए कि वह पर्याप्त रूप से इस बारे में जानकारी रखे ताकि वह बोधगम्यता से प्रभावित हो सके और ऐसे विनिश्चय ले सके जो कि स्वयं उसे प्रभावित करें।' '(**अटर्नी जनरल** बनाम **टाइम्स न्यूजपेपर्स**[1] वाले मामले में लार्ड साइमन आफ ग्लैसडेल द्वारा लिखित)। जैसा कि विद्वान् लेखकों ने मत व्यक्त किया है, अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य के चार व्यापक सामाजिक प्रयोजन हैं जिनकी कि उसे पूर्ति करनी होती है : (i) यह किसी व्यक्ति को आत्म-पूर्ति अभिप्राप्त करने में सहायता प्रदान करता है, (ii) यह सच्चाई का पता चलाने में सहायता प्रदान करता है, (iii) यह निर्णय लेने में सम्मिलित होने में किसी व्यक्ति की बुद्धिमत्ता को प्रबल बनाता है, और (iv) यह एक ऐसे तंत्र की व्यवस्था करता है जिसके द्वारा स्थिरता तथा सामाजिक परिवर्तन के बीच युक्तियुक्त संतुलन स्थापित हो सके। समाज के सभी सदस्यों को चाहिए कि वे इस योग्य बन सकें कि वे स्वयं अपने विश्वास रचित कर सकें तथा अबाध रूप से दूसरों को उन्हें संसूचित कर सकें। सारांश यह कि यहाँ अन्तर्वलित मूल सिद्धान्त जानकारी प्राप्त करने सम्बन्धी जनता का हक है। इसलिए वाक् तथा अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य को उन सभी व्यक्तियों से, जो कि प्रशासन में लोगों के सम्मिलित होने में विश्वास रखते हैं, उदार समर्थन मिलता है। इस विशेष हित के कारण जो कि समाज को वाक् तथा अभिव्यक्ति

---

[1] (1973) 3 ऑल इंग्लैंड रिपोर्ट्स 54.

स्वातंत्र्य में प्राप्त है, कि सरकार का दृष्टिकोण अधिक सतर्कतापूर्ण होना चाहिए जबकि समाचार उद्योग से सम्बन्धित विषयों पर करों का उद्-ग्रहण किया जा रहा है, दूसरी ओर अन्य मामलों पर करों का उद्ग्रहण करते समय कम सतर्कता बरती जा सकती है। यह सही है कि इस न्यायालय ने आर्थिक अध्युपायों से बरतते समय उदारपूर्वक दृष्टिकोण अपनाया है और सम्पत्ति, कारबार, व्यापार तथा उद्योग पर भिन्न-भिन्न प्रकार के करों को मंजूरी दी है क्योंकि उनके बारे में यह पाया गया था कि वे लोक हित में हैं। किन्तु हमारे समक्ष जो मामले हैं उनमें न्यायालय से यह अपेक्षा की गई है कि वह वाक् तथा अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य में अन्तर्वलित सामाजिक हित से सरकार द्वारा अधिरोपित धन सम्बन्धी उद्ग्रहणों में अन्तर्वलित सार्वजनिक हित से सामंजस्य स्थापित करें विशेष रूप से इस कारण कि यदि अभिव्यक्ति आत्मा है, तो समाचारपत्र शरीर है।

65. इसलिए प्रैस की स्वतंत्रता के साथ अखबारी कागज के घनिष्ठ सम्बन्ध को ध्यान में रखते हुए अखबारी कागज पर कर अधिरोपित करने सम्बन्धी कानून की शक्तिमत्ता को अभिनिश्चत करने के लिए कसौटियां उन कसौटियों से भिन्न होंगे जो कि प्रायिक रूप से अन्य कराधान कानूनों की शक्तिमत्ता की परख करने के लिए अपनाई गई है। साधारण कराधान कानूनों की दशा में विधियों को केवल तभी प्रश्नगत किया जा सकता है जबकि वे या तो खुल्लमखुल्ला अधिहरण करने वाले हों अथवा वे एक ऐसी आच्छन्न युक्ति हों जिसके द्वारा अधिहरण किया जा सकता हो। दूसरी ओर, अखबारी कागज पर कर की दशा में यह पर्याप्त है कि किसी ऐसे सुस्पष्ट तथा उल्लेखनीय भार को दर्शित किया जा सके जो स्पष्टतः और प्रत्यक्षतः कर पर अधिरोपण के बारे में हो।

66. इसलिए जबकि हम इस दलील के साथ सहमत नहीं हो सकते कि समाचार-पत्र उद्योग पर कोई कर उद्गृहीत नहीं किया जा सकता, हम यह अभिनिर्धारित करते हैं कि ऐसा कोई उद्ग्रहण संविधान के उपबंधों के प्रकाश में न्यायालयों द्वारा पुर्नविलोकन का विषय है।

V

क्या सीमा-शुल्क अधिनियम, 1962 की धारा 25 के अधीन जारी की गई आक्षेपकृत अधिसूचनाएं प्रशासनिक विधि की परिधि से बाहर हैं ?

67. सरकार की ओर से यह बहस की गई है कि सीमा-शुल्क अधिनियम की धारा 25(1) के अधीन जारी की गई वह अधिसूचना जो कि

शुल्क से छूट की मंजूरी, उसका उपांतरण अथवा प्रत्याहरण करती है, चूंकि वह अधीनस्थ विधान के भागस्वरूप है, इसलिए उसकी विधिमान्यता की परख न्यायालय द्वारा उन मानकों को लागू करके नहीं की जा सकती है जो कि प्रशासनिक कार्यवाही को लागू किए जाते हैं। यहां **नरेन्द्र चन्द हेम राज और अन्य बनाम उप-राज्यपाल, प्रशासक, संघ राज्यक्षेत्र, हिमाचल प्रदेश और अन्य वाले मामले**[1] में उपर्युक्त दलील के समर्थन में इस न्यायालय के विनिश्चय का अवलम्ब लिया गया है। उस मामले में अपीलार्थी शराब के विक्रेता थे जो शिमला में अपना कारबार कर रहे थे। भारत में निर्मित विदेशी शराब को बेचने का विशेषाधिकार अनुदत्त करने के प्रयोजन के लिए किए गए नीलाम में अपीलार्थियों ने सबसे ऊंची बोली लगाई थी। ऐसा प्रतीत होता है कि नीलाम किए जाने से पूर्व उत्पाद शुल्क एवं सीमा-शुल्क कलक्टर ने यह आख्यापन किया था कि शराब के विक्रय पर कोई विक्रय-कर संदत्त नहीं किया जाएगा और इस आश्वासन के बावजूद सरकार ने अपीलार्थियों से विक्रय-कर के रूप में कतिपय रकम उद्‌गृहीत तथा संगृहीत की थी। अपीलार्थियों ने सरकार को एक ऐसा रिट जारी किए जाने के लिए याचना की जिससे कि सरकार को कोई विक्रय-कर उद्‌गृहीत किए जाने से निर्बन्धित किया जा सके और उससे यह कहा जाए कि वह उस रकम का प्रतिदाय कर दे जो कि सरकार ने उनसे पहले ही विक्रय-कर के रूप में वसूल कर ली थी। हिमाचल प्रदेश सरकार की ओर से यह दलील दी गई कि विक्रय-कर का असंग्रहण पंजाब साधारण विक्रय कर अधिनियम (पंजाब जनरल सेल्स टैक्स ऐक्ट) के अधीन, जोकि प्रश्नगत क्षेत्र में प्रवृत्त था, सरकार द्वारा अपनी कानूनी शक्ति के अनुसरण में, "शराब" पद को जोकि पंजाब साधारण विक्रय कर अधिनियम की अनुसूची "क" में था, उसकी अनुसूची "ख" में अन्तरित करते हुए, अधिसूचना के निकाले जाने पर ही सम्भव है और यह कि ऐसी अधिसूचना इसलिए नहीं निकाली जा सकती, क्योंकि केन्द्रीय सरकार ने अपना अपेक्षित अनुमोदन नहीं दिया है। इसलिए सरकार ने इस बात पर जोर दिया कि चूंकि अनुसूची "क" में की सभी मदों पर विधि के अधीन विक्रय कर अधिरोपित कर दिया गया था, इसलिए वह विधि के आदेश की अवहेलना नहीं कर सकती थी। इसके आगे उसकी दलील यह थी कि न्यायालय सरकार को इस बात का परमादेश नहीं जारी कर सकता कि वह कानून की अनुसूचियों में संशोधन करने के लिए अधिसूचना निकाले, क्योंकि ऐसी अधिसूचना निकालने का कार्य विधायी कार्य है और किसी भी विधायी निकाय या अधीनस्थ विधायी निकाय को इसके लिए यह रिट नहीं जारी की जा सकती कि वह यथास्थिति कोई ऐसी विधि बनाए

---

1 [1972] 1 उम० नि० प० 434=[1972] 1 एस० सी० आर० 940.

या ऐसी सूचना निकाले, जिसका प्रभाव प्रवृत्त विधि में संशोधन करना हो। इस न्यायालय ने सरकार की दलील कायम रखी। न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया कि[1] :—

"हमारा ध्यान उस ऐक्ट में किसी ऐसे उपबन्ध की ओर आकर्षित नहीं किया गया है जिसमें सरकार को इस बात के लिए सशक्त किया गया हो कि वह किसी निर्धारिती को कर के संदाय से छूट दे सके। अत: यह स्पष्ट है कि अपीलार्थी, विधि के अधीन अधिरोपित कर का संदाय करने का दायी था। वस्तुत: अपीलार्थी जो कुछ चाहता है, वह यह है कि न्यायालय द्वारा सक्षम प्राधिकारी को आज्ञा दी जाए कि वह सम्पृक्त प्रविष्टि की अनुसूची 'क' से हटा दे और उसे अनुसूची 'ख' में शामिल कर ले। हम इस प्रश्न पर विचार नहीं करेंगे कि क्या हिमाचल प्रदेश सरकार अपने प्राधिकार के आधार पर प्रश्नगत परिवर्तन करने के लिए सक्षम थी या नहीं। हम अपने प्रस्तुत प्रयोजन के लिए यह मान लेंगे कि उस सरकार को ऐसी शक्ति प्राप्त थी। कोई कर अधिरोपित करने की शक्ति निस्सन्देह विधायी शक्ति है। उस शक्ति का प्रयोग विधानमण्डल द्वारा प्रत्यक्ष रूप से किया जा सकता है या कतिपय शर्तों के अध्यधीन रहते हुए विधानमण्डल वह शक्ति किसी अन्य प्राधिकारी को प्रत्यायोजित कर सकता है। किन्तु उस शक्ति का प्रयोग चाहे विधानमण्डल द्वारा किया जाए या उसके प्रत्यायोजिती द्वारा, वह प्रयोग विधायी शक्ति का प्रयोग होता है। इस तथ्य से कि वह शक्ति कार्यपालिका को प्रत्यायोजित की गई थी, वह शक्ति कार्यपालिक या प्रशासनिक शक्ति में नहीं बदल जाती। कोई भी न्यायालय किसी विधानमण्डल को यह आज्ञा नहीं दे सकता कि वह कोई विशिष्ट विधि अधिनियमित करे। इसी प्रकार कोई भी न्यायालय किसी अधीनस्थ विधायी निकाय को यह निदेश नहीं दे सकता कि वह कोई ऐसी विधि अधिनियमित करे या अधिनियमित न करे जिसे वह अधिनियमित करने के लिए सक्षम है। अपीलार्थी ने अपने रिट पिटीशन में जो अनुतोष मांगा है, उससे कोई वास्तविक विवाद्यक नहीं बनता जिसका अवधारण किया जाए। वस्तुत: वह इस न्यायालय से यह चाहता है कि न्यायालय सरकार को निदेश दे कि वह प्रश्नगत प्रविष्टि को अनुसूची क से हटा दे और उसे अनुसूची ख में शामिल कर ले। संविधान के अनुच्छेद 265 में यह अधिकथित है कि "विधि के

[1] [1972] उम० नि० प० 434=[1972] 1 एस० सी० आर० 1940.

प्राधिकार के सिवाय कोई कर न तो आरोपित और न संगृहीत किया जाएगा।" अत: कर का उद्ग्रहण केवल विधि के प्राधिकार द्वारा ही किया जा सकता है, न कि किसी कार्यपालिका आदेश द्वारा। जब तक कि कार्यपालिका को कोई छूट देने के लिए विधि द्वारा विनिर्दिष्टतया सशक्त नहीं किया जाता, तब तक वह ऐसा नहीं कह सकती कि वह विशिष्ट व्यक्ति के विरुद्ध विधि को प्रवृत्त नहीं करेगी। कोई भी न्यायालय किसी सरकार को यह निदेश नहीं दे सकता है कि वह विधि के किसी उपबन्ध को प्रवृत्त करने से विरत रहे। इन परिस्थितियों में हमें यह अभिनिर्धारित करना ही चाहिए कि अपीलार्थी ने जिस अनुतोष की मांग की है, वह प्रदान नहीं किया जा सकता।
(अधो रेखांकन हमने किया है।)

68. उपर्युक्त विनिश्चय से वास्तव में हमारे समक्ष वाले मामलों में सरकार द्वारा प्रस्तुत दलील को समर्थन प्राप्त नहीं होता। यह ध्यान देने योग्य है कि उपर्युक्त प्रोद्धृत अवतरण में न्यायालय ने पंजाब साधारण विक्रय कर अधिनियम की अनुसूची के संशोधन के जो हिमाचल प्रदेश सरकार ने विधान-मण्डल द्वारा प्रत्यायोजित अपनी शक्ति का प्रयोग करते हुए अधिसूचना निकाल कर किया था, और छूट देने सम्बन्धी उस सरकार के शक्ति के बीच प्रभेद किया है। प्रस्तुत मामले में, हमारा सम्बन्ध सीमा-शुल्क अधिनियम, 1962 की धारा 25 द्वारा सरकार को प्रदत्त छूट देने की शक्ति से है, न कि अधिसूचना के जरिए अधिनियम को संशोधित करने की शक्ति से। इसके अलावा यह मात्र ऐसा मामला था, जिसका सम्बन्ध शराब के कारबार से था।

69. इन मामलों के प्रयोजनों के लिए हम यह धारणा करेंगे कि सीमा-शुल्क अधिनियम, 1962 की धारा 25 के अधीन छूट देने की शक्ति विधायी शक्ति है और उसके अधीन सरकार द्वारा निकाली गई अधिसूचना गौण विधान की कोटि में आती है, फिर भी उस अधिसूचना को इस आधार पर चुनौती दी जा सकती है कि वह अयुक्तियुक्त अधिसूचना है। इस न्यायालय ने **दिल्ली नगर निगम बनाम बिरला काटन, स्पिनिंग एण्ड विविंग मिल्स, दिल्ली और एक अन्य**[1] वाले मामले में किए गए अपने विनिश्चय में उपर्युक्त सिद्धांत अधिकथित किया है। उस मामले में मुख्य न्यायाधिपति वांचू ने, दिल्ली नगर निगम अधिनियम, 1957 की धारा 150 के अधीर दिल्ली निगम द्वारा

---

1 [1968] 3 एस० सी० आर० 251.

उद्गृहीत कतिपय करों को कायम रखते हुए इस प्रकार मत व्यक्त किया था—

"अन्ततः, निगम की शक्ति पर एक दूसरा नियंत्रण है, जो कि नगरपालिक बोर्डों जैसे अधीनस्थ लोक प्राधिकारी निकायों द्वारा शक्ति के प्रयोग में अन्तर्निहित है। ऐसे मामलों में यदि विधि द्वारा ऐसे निकाय को प्रदत्त शक्ति के प्रयोग में उसका कार्य अयुक्तियुक्त होता है, तो न्यायालय यह अभिनिर्धारित कर सकते हैं कि ऐसा प्रयोग अयुक्तियुक्तता के कारण शून्य है। यह सिद्धांत क्रूज **बनाम** जॉनसन [(1898) 2 क्यू० बी० डी० 91] वाले मामले में ही अधिकथित कर दिया गया था।"

70. किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि **क्रूज** बनाम **जॉनसन**[1] वाले मामले में प्रतिपादित सिद्धांत अब इंग्लैंड में कड़ाई के साथ लागू नहीं किया जा रहा है।

71. गौण विधान को उस सीमा तक उन्मुक्ति प्राप्त नहीं होती है जोकि सक्षम विधानमण्डल द्वारा पारित कानून को होती है। गौण विधान को उन आधारों में से किसी भी आधार पर प्रश्नगत किया जा सकता है, जिन पर मुख्य विधान को प्रश्नगत किया जाता है। इसके अलावा उसे इस आधार पर भी प्रश्नगत किया जा सकता है कि वह उस कानून के अनुरूप नहीं है, जिसके अधीन वह बनाया गया है। इसके अलावा उसे इस आधार पर भी प्रश्नगत किया जा सकता है कि वह किसी अन्य कानून के प्रतिकूल है। यह बात इसलिए है, क्योंकि गौण विधान को, मुख्य विधान के अधीन होना चाहिए। उसे इस आधार पर भी प्रश्नगत किया जा सकता है कि वह अयुक्तियुक्त है : अयुक्तियुक्त इस अर्थ में नहीं कि वह युक्तियुक्त नहीं है, बल्कि इस अर्थ में कि वह स्पष्ट रूप से मनमाना है। इंग्लैंड में न्यायाधीशगण यह कहते हैं कि "पार्लियामेंट का आशय यह कभी नहीं था कि प्राधिकारी ऐसा नियम बनाए जो अयुक्तियुक्त और अधिकारातीत हैं।" उपर्युक्त मुद्दे से संबंधित विधि की वर्तमान स्थिति के सम्बन्ध में लार्ड जस्टिस डिप्लॉक ने **मिक्सनाम प्रोपर्टीज लिमिटेड** बनाम **चर्टसे यू० डी० सी०**[2] वाले मामले में इस प्रकार बताया है—

"उन विभिन्न आधारों की बाबत, जिन पर गौण विधान के सम्बन्ध में कभी-कभी यह कहा गया है कि वह शून्य है, मैं समझता हूं आज उचित रूप से इस प्रकार माना जा सकता है कि उन्हें विशिष्ट

---

[1] (1898) 2 क्यू० बी० डी० 91.

[2] (1964) 1 क्यू० बी० 214.

रूप से यह साधारण नियम लागू होता है कि गौण विधान को विधिमान्य होने के लिए, उसके बारे में यह अवश्य ही दर्शित किया जाना चाहिए कि वह कानून द्वारा प्रदत्त शक्तियों के भीतर है। इस प्रकार की अयुक्तियुक्तता, जोकि उपविधि को अविधिमान्य ठहराती है, इस अर्थ में "युक्तियुक्तता" का विलोम नहीं है, जिसके सम्बन्ध में उस अभिव्यक्ति का उपयोग 'कामन लॉ' में किया जाता है, बल्कि ऐसा स्पष्ट मनमानापन, अन्याय या पक्षपात है जिसकी बाबत न्यायालय यह कहेगा : "पार्लियामेंट का ऐसे नियम बनाने का प्राधिकार देने का आशय कभी नहीं था; वे अयुक्तियुक्त और अधिकारातीत हैं......" यदि न्यायालय गौण विधान को इसलिए अविधिमान्य घोषित कर सकते हैं, क्योंकि वे अनिश्चित हैं, जोकि अप्रवर्तनीय होने से सुभिन्न है, तो यह ऐसा इसलिए होना चाहिए, क्योंकि पार्लियामेंट के बारे में यह उपधारणा करनी पड़ती है कि उसका आशय अधीनस्थ विधायी प्राधिकारी को इस बात का प्राधिकार देना नहीं था कि वह वर्तमान विधि में ऐसी तब्दीलियां करे जो कि अनिश्चित हैं.........।"[1]

72. प्रोफेसर एलन ह्वारम ने "ज्युडिशयल कंट्रोल ऑफ डेलीगेटेड लेजिस्लेशन : दी टैस्ट ऑफ रीज़नेबलनैस" शीर्षक अपने लेख में जोकि 36 माडर्न लॉ रिव्यू 611 के पृष्ठ 622-23 पर प्रकाशित किया गया था, इंग्लैंड की वर्तमान स्थिति को निम्नलिखित रूप में संक्षेप में इस प्रकार बताया है—

"(i) यह सम्भव है कि न्यायालयों ने अयुक्तियुक्तता या अनिश्चितता, अस्पष्टता या मनमानेपन के आधार पर किसी कानूनी लिखत को अविधिमान्य ठहराया हो; किन्तु लेखक का मत यह है कि सभी व्यावहारिक प्रयोजनों के लिए ऐसी लिखतों को इस प्रकार पढ़ा जाना चाहिए कि वे, मात्र अधिकारातीत कसौटी के अध्यधीन रहते हुए, मुख्य कानून का भाग हैं।

(ii) न्यायालय ऐसी किन्हीं उपविधियों या किसी अन्य प्रकार के विधान को, जिनके सम्बन्ध में कोई निर्वाचित प्रतिनिधि प्राधिकरण कार्यवाही आरम्भ करता है, अयुक्तियुक्तता, अनिश्चितता या मामूली विधि की प्रतिकूलता के आधार पर अविधिमान्य ठहराने के लिए तैयार हैं, किन्तु वे ऐसा करने के इच्छुक नहीं होते और स्पष्ट मामलों में ही अपनी शक्ति का प्रयोग करेंगे।

(iii) न्यायालय कानूनी शक्ति के अधीन वाणिज्यिक उपक्रमों द्वारा पारित उप-विधियों को विधिमान्य ठहराने के लिए अधिक

तत्पर रह सकते हैं, यद्यपि वर्तमान शताब्दी के दौरान प्रतिवेदित मामलों से यह ध्वनित होता है कि निर्वाचित प्राधिकरणों और वाणिज्यिक उपक्रमों के बीच, जैसा कि क्रूज **बनाम** जॉनसन वाले मामले में स्पष्ट किया गया था, प्रभेद को इतनी कड़ाई के साथ लागू नहीं किया जाए।

(iv) जहां तक कि अकानूनी उद्भव के गौण विधान का सम्बन्ध है, यह वस्तुतः पुराना पड़ गया है, किन्तु फ्रैंच प्रोटैस्टैंट हास्पिटल [(1951) चांसरी 567] से सम्बन्धित मामले में यही बात स्पष्ट है कि वह कड़े नियंत्रण के अध्यधीन रहेगा।"

[इस सम्बन्ध में एच० डब्ल्यू० आर० वेड : एडमिनिस्ट्रेटिव लॉ (5वां संस्करण) पृष्ठ 747-748 वाला मामला भी देखिए]।

73. भारत में मनमानापन पृथक् आधार नहीं है क्योंकि वह संविधान के अनुच्छेद 14 द्वारा अधिरोपित प्रतिबंध की परिधि के अन्तर्गत आएगा। भारत में प्रत्यायोजित विधान की शक्तियों की कोई भी जांच उन आधारों तक जिन पर मुख्य विधान को प्रश्नगत किया जा सकता है, इस आधार तक कि वह उस कानून के प्रतिकूल है जिसके अधीन वह बनाया गया है, इस आधार तक कि वह अन्य कानूनी उपबंधों के प्रतिकूल है या यह कि वह इतना मनमाना है कि उसकी बाबत यह नहीं कहा जा सकता कि उससे संविधान के अनुच्छेद 14 का अतिक्रमण होता है, सीमित रहनी चाहिए।

74. इस न्यायालय ने इस बात की बाबत कि गौण विधान को नैसर्गिक-न्याय के उन सिद्धांतों के, जिनके आधार पर प्रशासनिक कार्रवाई प्रश्नगत की जा सकेगी, अतिक्रमण के आधार पर प्रश्नगत किया जा सकता है, **दी तुलसीपुर शुगर कम्पनी लिमिटेड** बनाम **दी नोटिफाइड एरिया कमेटी, तुलसीपुर**[1] **रमेशचन्द्र काचरदास पोरवाल और अन्य** बनाम **महाराष्ट्र राज्य और अन्य**[2], और **बेट्स** बनाम **लार्ड हैलशाम आफ सेंट मेरिलबोन और अन्य**[3] वाले मामलों में अभिनिर्धारित किया है। विधायी कृत्य के प्रत्यायोजन के, जिसकी दशा में अयुक्तियुक्तता के प्रश्न की जांच नहीं की जा सकती, और किसी विशिष्ट वैवेकिक शक्ति के प्रयोग के लिए कानून द्वारा किए गए विनिधान के बीच प्रभेद अवश्य ही किया जाना चाहिए। पश्चात्कथित वाले मामले में ऐसे प्रश्न पर उन सभी आधारों पर विचार किया जा सकता है, जिन पर प्रशासनिक

---

[1] [1981] 1 उम० नि० प० 530=[1980] 2 एस० सी० आर० 1111.

[2] [1982] 1 उम० नि० प० 350=[1981] 2 एस० सी० आर० 866.

[3] (1972) 1 डब्ल्यू० एल० आर० 1373.

कार्रवाई प्रश्नगत की जा सकती हैं, जैसे कि मस्तिष्क का प्रयोग न किया जाना, असंगत वातों को विचार में लेना, संगत बातों को विचार में लेने में असफल रहना। मामलों के तथ्यों और परिस्थितियों के आधार पर गौण विधान इस आधार पर अभिखण्डित किया जा सकता है कि वह मनमाना और कानून के प्रतिकूल है, यदि वह ऐसे महत्त्वपूर्ण तथ्यों को विचार में लेने में असफल रहता है जिन्हें या तो अभिव्यक्त रूप से या आवश्यक विवक्षा द्वारा, कानून के अधीन अर्थात् संविधान द्वारा विचार में लिया जाना अपेक्षित है। यह इस आधार पर किया जा सकता है कि वह कानूनी या सांविधानिक अपेक्षाओं के अनुरूप नहीं है या यह कि उससे संविधान के अनुच्छेद 14 या 19 (1) (क) का अतिक्रमण होता है। निस्सन्देह यह मात्र इस आधार पर नहीं किया जा सकता कि वह युक्तियुक्त नहीं है या यह कि उसने उन सुसंगत परिस्थितियों को विचार में नहीं लिया है, जिन्हें न्यायालय सुसंगत समझता है।

75. अतः हमें इस दलील में अधिक सार दिखाई नहीं पड़ता है कि न्यायालय आपक्षित अधिसूचनाओं पर न्यायिक नियन्त्रण बिल्कुल ही नहीं कर सकते। उन मामलों में, जिनमें सरकार में निहित शक्ति, ऐसी शक्ति है, जिसका प्रयोग लोकहित में करना पड़ता है, जैसा कि यहां पर है, न्यायालय सरकार से यह अपेक्षा कर सकता है कि वह उस शक्ति का प्रयोग संविधान की भावना के अनुसार युक्तियुक्त रूप से करे। इस तथ्य से कि सीमा-शुल्क अधिनियम, 1962 की धारा 25(1) के अधीन निकाली गई अधिसूचना की बाबत यह अपेक्षित है कि उसकी धारा 159 के अधीन उसे संसद् के समक्ष रखा जाए। जहां तक उसकी विधिमान्यता के सम्बन्ध में निर्णय देने विषयक न्यायालय की अधिकारिता का सम्बन्ध है, कोई सारवान् अन्तर नहीं पड़ता।

76. तथापि छूट देने की शक्ति का प्रयोग युक्तियुक्त रूप से किया जाना चाहिए। लार्ड ग्रीन एम० आर० ने **एसोशिएटिड प्रोविन्शियल पिक्चर हाउसेज लिमिटेड** बनाम **वेडनेसबरी कार्पोरेशन**[1] वाले मामले में यह स्पष्ट किया है कि 'युक्तियुक्त रीति' से जो अभिप्रेत है, वह निम्नलिखित है—

> "यह सच है कि विवेकाधिकार का प्रयोग युक्तियुक्त रूप से किया जाना चाहिए, तो फिर उससे क्या अभिप्रेत है? ऐसे वकील जो कि कानूनी विवेकाधिकारों के प्रयोग के सम्बन्ध में आमतौर से प्रयुक्त भाषा से परिचित होते हैं, कुछ अधिक व्यापक अर्थ में "युक्तियुक्त" शब्द का उपयोग करते हैं। प्रायः इसका उपयोग किया गया है और

---

[1] (1948) 1 किंग्स बेंच 223.

प्रायः उसका उपयोग उन बातों के सम्बन्ध में जो कि अवश्य ही की जानी चाहिए, साधारण वर्णन के रूप में किया जाता है। उदाहरण के लिए ऐसे व्यक्ति को जिसे विवेकाधिकार (प्रयोग का कार्य) सौंपा गया हो, यदि ऐसा कहा जाए, विधि की दृष्टि से स्वयं ही कार्य करना चाहिए। उसे उन बातों की ओर अपना ध्यान देना चाहिए, जिन पर वह विचार करने के लिए आबद्ध है। उसे उन बातों को अपने विचार में नहीं लेना चाहिए जो कि उन से असंगत हैं, जिन पर उसे विचार करना है। यदि वह इन नियमों का पालन नहीं करता तो निश्चित रूप से उसके बारे में कहा जाएगा और प्रायः उसके बारे में यह कहा जाता है कि वह अयुक्तियुक्त रूप से कार्य कर रहा है। उसी प्रकार से ऐसी भद्दी बात हो सकती है जिसका कि कोई भी समझदार व्यक्ति कभी भी इस बात का सपना नहीं देख सकता कि वह प्राधिकरण की शक्तियों के भीतर है। लार्ड जस्टिस वारिंगटन ने शार्ट **बनाम** पूल कार्पोरेशन [(1926) चांसरी डिवीजन 66] वाले मामले में लाल रंग के बालों वाली उस अध्यापिका का उदाहरण दिया, जिसे इसलिए पदच्युत कर दिया गया था क्योंकि उसके बाल लाल थे। एक अर्थ में वह बात अयुक्तियुक्त है, दूसरे अर्थ में उसमें असंगत बातों को विचार में लिया गया है। वह उतना अयुक्तियुक्त है कि उसकी बाबत लगभग यह कहा जा सकता है कि वह असद्भाव के साथ किया गया है; और वास्तव में थे सभी बातें एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं।"

77. इसलिए सरकार की ओर से किए गए इस दावे को कि आपेक्षित अधिसूचनाएँ प्रशासनिक विधि की परिधि के बाहर हैं, किसी शर्त के बिना स्वीकार नहीं किया जा सकता, भले ही ऐसे सभी आधार जिन पर प्रशासनिक आदेश के विरुद्ध जोर दिया जा सकता है, उनके विरुद्ध उपलभ्य न हों।

78. और न ही 1 मार्च, 1981 को और 28 फरवरी, 1982 को सीमा-शुल्क अधिनियम, 1962 की धारा 25 के अधीन निकाली गई अधिसूचनाएं, जो कि उनमें उल्लिखित बातों से परे कतिपय शुल्क के संदाय से छूट देती हैं, कार्यपालक सरकार द्वारा निकाली गई हैं। वे पहले वाली अधिसूनाओं के, जिन्होंने पूरी तरह से छूट दी थी, स्थान पर निकाली गई थीं। सरकार को ऐसी अधिसूचनाएँ उन सभी सुसंगत बातों को जिनका सम्बन्ध अखबारी कागज पर उद्ग्रहण की युक्तियुक्तता से होता है, विचार में लेने के बाद निकालनी होती हैं। सरकार को एक ओर लोगों के वाक् और अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य के अधिकार को सुनिश्चित करने की आवश्यकता के, और दूसरी ओर,

समाचार-पत्र के प्रकाशन के कारबार पर सामाजिक नियन्त्रण अधिरोपित करने की आवश्यकता के बीच न्यायोचित और युक्तियुक्त सन्तुलन कायम करना चाहिए। अन्य शब्दों में, सरकार को चाहिए कि वह सभी सुसंगत समयों पर इस तथ्य के प्रति सचेत रहे कि वह संविधान के अनुच्छेद 19(1)(क) द्वारा संरक्षित क्रियाकलाप के सम्बन्ध में विचार कर रही है, जो कि हमारे लोकतांत्रिक अस्तित्व के लिए महत्त्वपूर्ण है। किसी मूल अधिकार पर अधिरोपित निर्बन्धनों की युक्तियुक्तता को निश्चित करने में न्यायालय को उस अधिकार की प्रकृति को, जिसकी बाबत यह अभिकथन किया गया हो कि उसका अतिलंघन किया गया है, अधिरोपित निर्बन्धनों के अन्तर्निहित प्रयोजन को, अधिरोपण के अनुपात को और समाज के उन मूल्यों सहित, जिनकी आवश्यकताओं की बाबत यह ईप्सा की गई है कि उनकी पूर्ति निर्बन्धनों के जरिए की जानी चाहिए, सुसंगत समय पर अभिभावी दशाओं को विचार में लेना चाहिए। (इस सम्बन्ध में **मद्रास राज्य बनाम वी० जी० राव**[1] वाला मामला देखिए)। प्रश्नगत निर्बन्धन अखबारी कागज पर अधिरोपित आयात-शुल्क का भार है। सीमा-शुल्क अधिनियम, 1962 की धारा 25, जिसके अधीन सूचनाएं जारी की गई हैं, लोकहित की रोशनी में सम्पूर्ण विवाद्यक की परीक्षा करने सम्बन्धी कर्तव्य के साथ-साथ केन्द्रीय सरकार को शक्ति प्रदत्त करती है। उसमें यह उपबन्ध किया गया है कि यदि केन्द्रीय सरकार का समाधान हो गया है कि ऐसा करना लोकहित में आवश्यक है, तो वह या तो आत्यंतिक रूप से या ऐसी शर्तों के अध्यधीन रहते हुए, माल पर उद्ग्रहणीय सम्पूर्ण सीमा-शुल्क या उसके किसी भाग से किसी प्रकार के माल को साधारण रूप से छूट दे सकेगी। यदि केन्द्रीय सरकार का यह समाधान हो गया है कि ऐसा करना लोकहित में है, तो वह आपवादिक प्रकृति की परिस्थितियों में जो कि ऐसे आदेश में बताई जानी चाहिए, किसी ऐसे माल पर जिस पर शुल्क उद्ग्रहणीय है, प्रत्येक मामले में विशेष आदेश द्वारा शुल्क के संदाय से छूट दे सकेगी। सीमा-शुल्क अधिनियम, 1962 की धारा 25 के अधीन प्रयोज्य शक्ति निस्सन्देह वैवेकिक है, किन्तु वह अनिर्बन्धित नहीं है। यहां पर **ब्रीन बनाम अम्लगामेटेड इन्जीनियरिंग यूनियन**[2] वाले मामले में मास्टर ऑफ रोल्स लार्ड डेनिंग के पृष्ठ 190 पर व्यक्त मत के प्रति निर्देश करना उपयोगी है, जो कि इस प्रकार है—

> "कानूनी निकाय का विवेकाधिकार कभी भी अनियन्त्रित नहीं होता। यह ऐसा विवेकाधिकार है, जिसका प्रयोग विधि के अनुसार

---

[1] [1952] एस० सी० आर० 597.

[2] (1971) 2 क्यू० बी० डी० 175.

करना होता है। उससे कम-से-कम यह अभिप्रेत है : कानूनी निकाय को सुसंगत बातों से मार्गदर्शन प्राप्त करना चाहिए, न कि असंगत बातों से। यदि उसके विनिश्चय पर ऐसी असंगत बातों का प्रभाव पड़ता है, जिन्हें उसे विचार में नहीं लेना चाहिए था, तो उस विनिश्चय को कायम नहीं रखा जा सकता। इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता कि कानूनी निकाय ने सद्भाविक रूप से कार्य किया था, फिर भी विनिश्चय को अपास्त करना ही होगा। यह बात पैड-फील्ड **बनाम** मिनिस्टर आफ एग्रीकल्चर, फिशरीज एण्ड फूड [(1968) अपील केसेज 997] वाले मामले में साबित हो गई थी, जो कि आधुनिक प्रशासनिक विधि में युगान्तकारी घटना है।

79. किसी भी स्थिति में कानून के अधीन निकाली गई कोई ऐसी अधिसूचना जो कि संविधान के अनुच्छेद 13(3)(क) के अधीन यथापरिभाषित "विधि" है, उस दशा में अभिखण्डित किए जाने के लायक है, यदि वह संविधान के भाग III के अधीन गारन्टीकृत मूल अधिकारों में से किसी के भी प्रतिकूल है।

VI

क्या सीमा-शुल्क अधिनियम, 1962 की धारा 25(1) के अधीन शक्ति का उचित प्रयोग किया गया है ?

80. जैसा कि पिटीशनरों ने ठीक तौर से ही प्राख्यान किया है, प्रैस के स्वातंत्र्य से प्राधिकारी द्वारा किए जाने वाले हस्तक्षेप से स्वातंत्र्य अभिप्रेत है, जिसका प्रभाव समाचार-पत्रों की प्रकाशित सामग्री और परिचालन में हस्तक्षेप करना होगा। समाचार-पत्रों के उत्पादन में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कच्ची सामग्री अखबारी कागज है। अखबारी कागज की लागत और उपलभ्यता प्रकाशन की कीमत, आकार और प्रसार को तथा उसमें छपने वाले समाचारों, विचारों और विज्ञापनों की मात्रा को भी अवधारित करती है। इस सम्बन्ध में कोई विवाद नहीं है कि अखबारी कागज की लागत समाचार के उत्पादन की लागत का 60% आता है। बड़े समाचार-पत्रों की दशा में समाचार-पत्र के विक्रय द्वारा जो वसूल किया जाता है, वह उत्पादन की उसकी लगभग 40% होता है। शेष लागत की पूर्ति विज्ञापनों से प्राप्त राजस्व से जो कि लगभग 40% होता है, रद्दी के विक्रय से और जाब-वर्क से प्राप्त राजस्व से जोकि लगभग 5% आता है और अन्य स्रोतों से प्राप्त राजस्व से जैसे कि समाचार-पत्रों के स्थापन की सम्पत्तियों और अन्य विनिधानों से प्राप्त आय से की जाती है। ये आंकड़े बड़े समाचार-पत्रों में से एक द्वारा पेश किए गए

विवरण से प्राप्त किए गए हैं। सभी अन्य बड़े-बड़े समाचार-पत्रों का मामला भी न्यूनाधिक रूप से ऐसा ही है। हाल के वर्षों में अखबारी कागज प्राप्त करने में समाचार-पत्र के प्रैसों को धन की व्यवस्था करने की और अन्य प्रकार की जो कठिनाइयां महसूस की जाती हैं, जो कि अन्तर्राष्ट्रीय तथ्य हो गया है, वे उपर्युक्त निर्दिष्ट संचार समस्याओं के अध्ययन के लिए (नियुक्त) अन्तर्राष्ट्रीय आयोग के अन्तिम रिपोर्ट के पृष्ठ 141 पर इस प्रकार उपवर्णित की गई हैं—

> महत्त्वपूर्ण सामग्री या सुविधाओं की ऊंची लागत का प्रभाव अन्तर्राष्ट्रीय पैमाने पर अत्यधिक गम्भीर रहा है……। कागज ऐसी सामग्री है, जिसका उपयोग अत्यधिक मात्रा में किया जाता है, जिसकी कीमत हाल के वर्षों में विश्वव्यापी साधारण मुद्रा-स्फीति के अनुपात के बाहर हो गई है… । जहां तक कि अखबारी कागज का सम्बन्ध हैं, विश्व के बाजारों में उसकी कीमत 1970 में 100 के आधारिक आंकड़े से बढ़कर मई, 1977 में 329 हो गई और आज तक बढ़ती ही चली जा रही है। इस स्थिति का दुखदायी उप-परिणाम प्रच्छन्न रूप में सैंसर लगाना है। जैसे कि कुछ सरकारें अखबारी कागज के आयात को सीमित कर देती हैं, शासकीय आवंटन स्कीम के जरिए उसका वितरण करती हैं और उन स्कीमों का उपयोग विरोधी समाचार-पत्रों के विरुद्ध विभेद करने के लिए करती हैं।"

81. अन्तर्राष्ट्रीय आयोग ने उसी रिपोर्ट के पृष्ठ 100 के अध्याय 4 में इस प्रकार मत व्यक्त किया है—

> "जबकि समाचार-पत्र, जोकि वाणिज्य उद्यम हैं, विक्रयों और विज्ञापनों द्वारा अपने-आप को बनाए रखने के सिवाय, सदैव इस पारम्परिक आधार पर अपने अस्तित्व को बनाए रखने के योग्य नहीं होते। पूंजी और अन्य माध्यमों से और साधारण रूप से कारबार से प्राप्त लाभों का उपयोग समाचार-पत्र उद्योग में प्रायः किया जाता है। अनेक मामलों में सरकारी या राजनैतिक निकाय धन की व्यवस्था करने का कार्य या, कम-से-कम, कमी (धन सम्बन्धी कमी) पूरा करने का कार्य करते हैं। राज्य से प्राप्त सहायता ने अनेक रूप प्राप्त कर लिए हैं, जिनके अन्तर्गत कर सम्बन्धी ऐसी रियायतें, जिनका लाभ अन्य उद्योगों को नहीं मिलता, घटी हुई डाक और टेलीफोन की दरें सरकार के गारन्टीकृत विज्ञापन और अखबारी कागज की कीमत को प्राप्त होने वाली सहायता में आती हैं। यद्यपि प्रैस को सरकार के

उसके कार्यों में अन्तर्ग्रस्त होने के प्रति सन्देह रहता है, तथापि कमजोर अखबारों को जीवित बनाए रखकर विभिन्नता को परिरक्षित करने की इच्छा के परिणामस्वरूप भिन्न-भिन्न स्कीमों पर विचार किया जाता है। यूरोप के सात राष्ट्रों में जरूरतमंद समाचार-पत्रों को सीधे ही अनुदान दिए जाते हैं।

छोटे समाचार-पत्रों को और "क्वालिटी" या विशेषज्ञता प्राप्त-प्रैस के कुछ भागों को उनके परिचालन और आकार के घटाए जाने से कठिनाइयों का अनुभव हुआ है जिसके परिणामस्वरूप विभिन्न सूचना-सूत्र परिसीमित हो गए हैं। इसने अनेक सरकारों को सहायता देने की सम्भावना की परीक्षा करने के लिए उत्प्रेरित किया है, जिस से कि समाचार-पत्रों को जीवित रखा जा सके या एकाधिकार परिचालन क्षेत्रों में नए समाचार-पत्रों को स्थापित किया जा सके और साधारण रूप से अनेक और विभिन्न प्रकार के समाचार-पत्रों को बढ़ावा दिया जा सके।"

82. यदि सरकार अखबारी कागज पर कोई शुल्क उद्‌गृहीत करती है, तो उसे निश्चित रूप से समाचार-पत्रों के क्रेताओं पर संक्रांत करना होगा, जब तक कि वह उद्योग उसे सहन करने योग्य न हो। उपभोक्ताओं को उस शुल्क को संक्रांत करने की दृष्टि से समाचार-पत्रों की कीमत में वृद्धि करनी होती है। ऐसी वृद्धि का प्रभाव स्वभावतः समाचार-पत्रों के परिचालन पर प्रतिकूल रूप से पड़ता है। **सकल पेपर्स (प्राइवेट) लिमिटेड और अन्य** बनाम **भारत संघ**[1] वाले मामले में इस न्यायालय ने निम्नलिखित रूप में मत व्यक्त किया है—

"प्रैस आयोग ने समाचार-पत्र की विक्रय-कीमत में वृद्धि करने के प्रभाव पर विचार किया है। उस रिपोर्ट के पैरा 164 में यह मत व्यक्त किया गया है कि :

"समाचार-पत्र की विक्रय-कीमत का स्वभावतः उसके परिचालन पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव होगा। इस सम्बन्ध में हमने उन दोनों समाचार-पत्रों के तथा एक ऐसे मुख्य समाचार-पत्र के, जिसने अपनी कीमत नहीं घटाई थी, परिचालन पर अंग्रेजी भाषा में निकलने वाले मुम्बई के दो समाचार-पत्रों द्वारा कीमत में की गई कटौती के प्रभाव की जांच की थी। 27 अक्तूबर, 1952 के पूर्व टाइम्स ऑफ इण्डिया, जिसका परिचालन मुम्बई

[1] [1962] 3 एस० सी० आर० 842.

में सबसे अधिक था, 2 आने 6 पाई की दर से बेचा जा रहा था, जबकि फ्री प्रैस जर्नल और नेशनल स्टैंडर्ड जो परिचालन की दृष्टि से दूसरे नम्बर पर थे, 2 आने की दर से बेचे जा रहे थे। 27 अक्तूबर, 1952 को फ्री प्रैस जर्नल ने अपनी कीमत घटा कर 1 आने कर दी और एक वर्ष के भीतर उसने यह दावा किया कि उसका परिचालन दुगना हो गया है। पहली जुलाई, 1953 को नेशनल स्टैंडर्ड का नाम बदल कर इण्डियन एक्सप्रैस, मुम्बई संस्करण रख दिया गया और उसकी कीमत 1 आने 6 पाई रखी गई। छह मास के भीतर उसने भी दावा किया कि उसका परिचालन दुगना हो गया है......... । इस कालावधि के दौरान टाइम्स ऑफ इण्डिया ने, जिसने अपने पत्र की विक्रय कीमत कम नहीं की थी, अपने पाठकों की पहले वाली संख्या बनाए रखी। इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि फ्री प्रैस जर्नल और इण्डियन एक्सप्रैस अपनी कीमत कम करके उन नए लोगों को जोकि पढ़ सकते थे, किन्तु जो पहले अभि-भावी ऊंची कीमत नहीं दे सकते थे, अपना पाठक बनाने में समर्थ हो गए।"

... ...

यद्यपि समाचार-पत्रों की कीमतें कम की गई प्रतीत होती हैं, तथापि यह तथ्य कि उतने अधिक लोगों के लिए इतनी थोड़ी कीमत देने में कठिनाई का अनुभव होता है। प्रैस कमीशन ने अपनी रिपोर्ट के पैरा 52 में यही बात बताई है। उसके अनुसार, लोगों के लिए समाचार-पत्र न खरीदने का सर्वाधिक सामान्य कारण समाचार-पत्रों की लागत और घर-गृहस्थी में आवश्यक रकम खर्च करने में असमर्थता है। यह निष्कर्ष अनेक व्यक्तियों और संगमों (एसोसिएशनों) के प्रतिनिधियों के साक्ष्य पर आधारित है। अतः इस पर हमारा विश्वास करना और यह अभिनिर्धारित करना न्यायोचित है कि समाचार-पत्र की थोड़ी-सी भी कीमत को जैसे कि एक नया पैसा, इस दृष्टि से बढ़ाने का कि उसके वर्तमान आकार को बनाए रखा जाए, उसके परिचालन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा।"

83. यह नई बात नहीं है। समाचार-पत्रों पर स्टाम्प कर 1712 में इंग्लैंड में उद्गृहीत किया गया था। वस्तुतः उसके परिणामस्वरूप इंग्लैंड के प्रैस का विकास ठप्प पड़ गया और इस प्रकार वह बदनाम हो गया। उक्त कर के

विरुद्ध बहुत बड़ा आन्दोलन हुआ किन्तु 1861 में उसकी समाप्ति पर समाचार-पत्रों का परिचालन अत्यधिक बढ़ गया। इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका (1962) खण्ड 16, पृष्ठ 339 पर जो निम्नलिखित वर्णन किया गया है, वह काफी शिक्षाप्रद है—

"ज्ञान पर कर की समाप्ति" : प्रैस के विकास में "ज्ञान पर कर" को धीरे-धीरे समाप्त करके और सस्ती डाक व्यवस्था आरम्भ करके भी अत्यधिक सहायता नहीं की गई थी............

पार्लियामेंट में इस प्रश्न को सुलझाने का उचित श्रेय मुख्यतः लार्ड लिटन, जोकि उपन्यासकार और राजनीतिज्ञ थे और बाद में मिल्नर गिब्सन और रिचर्ड गोब्डन को जाता है, जिन्होंने 1836 में कर को घटाकर एक पैंस कर दिया था और बाद में 1855 में पूरी तरह से समाप्त करने की बात सुनिश्चित की थी। जब उस शुल्क को समाप्त करने की बात निश्चित हो गई और 1857 के प्रारम्भ में वह उसी प्रकार बना रहा, तो 1855 के प्रारम्भ में स्थापित समाचार-पत्रों की संख्या 107 थी; उनमें से 26 महानगर में निकाले जाते थे और 81 प्रान्तों में। स्वयं समाचार-पत्रों पर जो शुल्क लगाए गए थे, उन्हें 1861 के अन्त में समाप्त कर दिया गया।

स्टाम्प करों की समाप्ति के परिणामस्वरूप समाचार-पत्रों की कीमतों में उतनी कमी हो गई कि वे थोड़े से लोगों के बीच परि-चालित होने के साथ अनेक लोगों के पास तेजी से पहुंचने लगे। 19वीं शताब्दी के प्रारम्भ में ज्ञान पर अधिरोपित कर की सीमा के सम्बन्ध में कुछ विचार इस तथ्य से प्राप्त हो सकता है कि 1820 में जारी किए गए स्टाम्पों की संख्या लगभग 2 करोड़ 94 लाख थी और विज्ञापनों के कर के, जोकि 1804 में 3 शिलिंग 4 पैंस नियत किया गया था, आपतन के परिणामस्वरूप समाचार-पत्रों के स्वामियों के लिए स्टाम्प-कर विज्ञापनदाता को संक्रांत करना असम्भव हो गया। 1828 में टाइम्स के स्वत्वधारियों को स्टाम्प और विज्ञापन-करों तथा समाचार-पत्र पर लगे शुल्क के रूप में 68,000 पौंड्स से भी अधिक राज्य के पक्ष में संदत्त करना पड़ा था। किन्तु 1836 में स्टाम्प कर को 4 पैंस से घटाकर 1 पैंस कर दिए जाने के बाद इंग्लैंड के समाचार-पत्रों का परिचालन, जोकि स्टाम्प की विवरणियों पर आधा-रित था, 1854 में 3 करोड़ 90 लाख से बढ़कर 12 करोड़ 20 लाख हो गया।"

84. दूसरे प्रैस आयोग ने अपनी रिपोर्ट (खण्ड II) के पृष्ठ 182-83 पर यह मत व्यक्त किया है कि जनवरी से लेकर जून, 1981 की कालावधि के लिए आडिट ब्यूरो ऑफ सर्कुलेशन (परिचालन सम्परीक्षा ब्यूरो) द्वारा संगृहीत समाचार-पत्रों के परिचालन के आंकड़ों से यह पता चलता है कि जनवरी से लेकर जून, 1981 की कालावधि की बनिस्बत 1.9% कम था। दैनिक समाचार-पत्रों के परिचालन में जो गिरावट आई थी, वह ऐसे बड़े समाचार-पत्रों की दशा में, जिनका परिचालन एक लाख और उससे ऊपर था, छोटे समाचार-पत्रों की बनिस्बत अधिक थी। आयोग का मत यह था कि परिचालन में जो गिरावट हुई थी, वह मुख्यतः दो बातों के कारण प्रतीत होती है—सितम्बर-अक्तूबर, 1980 में और पुनः अप्रैल-मई, 1981 में समाचार-पत्रों की खुदरा कीमत में वृद्धि के कारण और यह कि ऐसा प्रतीत होता है कि खुदरा कीमतों में जो वृद्धि हुई थी, वह 1981 में आयात-शुल्क के उद्ग्रहण सहित, अन्तिम कुछ वर्षों में अखबारी कागजों की कीमतों में लगातार हुई वृद्धि के तथा पालेकर अधिनिर्णय के कारण मजदूरी और वेतन में हुई वृद्धि के कारण आवश्यक हो गई। जिन बातों के परिणामस्वरूप वृद्धि हुई थी, उनकी बाबत अखबारी कागज पर आयात शुल्क का अधिरोपिण राज्य की कार्रवाई के कारण था। इस विषय के इस पहलू के सम्बन्ध में सरकार ने गम्भीरता के साथ कोई विवाद नहीं उठाया।

85. ऐसे नागरिक जो कि सीमा-शुल्क का संदाय करने के दायित्वाधीन हैं, सीमा-शुल्क अधिरोपित करने वाली विधि के ढ़ंग के और उस रीति के कारण जिससे वह प्रवर्तित की जाती है, कुछ सीमा तक, कार्यपिलका के विवेकाधिकार के प्रयोग की सनक का शिकार होते हैं, जबकि संसद ने सीमा-शुल्क अधिनियम, 1962 और सीमा-शुल्क टैरिफ अधिनियम, 1975 अधिनियमित करके शुल्क अधिरोपित किया है, कार्यपालक सरकार को सीमा-शुल्क अधिनियम, 1962 की धारा 25 द्वारा सीमा-शुल्क के उद्ग्रहण से छूट देने की विस्तृत शक्ति दी गई है। मामूली तौर से यह धारणा की जाती है कि जब छूट देने की ऐसी शक्ति सरकार को दी जाती है, तो वह इस प्रश्न को लागू सभी सुसंगत पहलुओं पर विचार करेगी कि क्या छूट दी जानी चहिए या नहीं। प्रस्तुत मामले में 1975 में उस समय जबकि सीमा-शुल्क टैरिफ अधिनियम, 1975 अधिनियमित किया गया था, अखबारी कागज पर 40% मूल्यानुसार सीमा-शुल्क उद्गृहीत किया गया था, यद्यपि उसे ऐसे शुल्क के संदाय से छूट दे दी गई थी। यदि वह छूट बनी न रहती, तो समाचार-पत्रों के प्रकाशकों को सीमा-शुल्क टैरिफ अधिनियम, 1975 के प्रवृत्त होने पर

सीमा-शुल्क 40% मूल्यानुसार संदत्त करना पड़ता। फिर 1982 में वित्त अधिनियम, 1982 द्वारा मूल 40% मूल्यानुसार शुल्क के अतिरिक्त 1,000 रुपए प्रति टन की दर से शुल्क का अतिरिक्त उद्ग्रहण अधिरोपित किया गया। यद्यपि छूट सम्बन्धी अधिसूचना के अधीन आधारिक शुल्क आयातित अखबारी कागज के मूल्य का 10% नियत किया गया था। इस के सम्बन्ध में सरकार से कोई भी सूचना प्राप्त नहीं हुई है कि क्या कोई ऐसी सामग्री मौजूद थी, जिससे उक्त अतिरिक्त उद्ग्रहण न्यायोचित ठहरता हो। इससे भी यह बात स्पष्ट नहीं होती कि 1,000 रुपए प्रति टन का अतिरिक्त शुल्क उद्ग्रहण करने का व्यर्थ का यह कार्य क्यों किया गया था, जबकि सीमा-शुल्क अधिनियम, 1962 की धारा 25 के अधीन जो कि उस समय प्रवृत्त थी, 1 मार्च, 1981 को निकाली गई अधिसूचना के अधीन अखबारी कागज पर मूल्यानुसार 10% से अधिक सीमा-शुल्क से छूट प्राप्त होती थी। जैसा कि इस निर्णय के दौरान अन्यत्र उल्लेख किया जा चुका है, उस क्रियाकलाप पर कर उद्गृहीत करने में जिसको अनुच्छेद 19 (1) (क) का समर्थन प्राप्त है, अधिक सावधानी बरतनी चाहिए। जबकि इस सम्बन्ध में कोई विवाद नहीं है कि उद्योग को शेष समुदाय के साथ-साथ कराधान के कुल भार का उचित हिस्सा उस समय वहन करना चाहिए, जबकि कोई कर विशेष रूप से समाचार-पत्र उद्योग पर अधिरोपित किया जाता है, तो उसे न्यायालय में जबकि उसकी विधिमान्यता को चुनौती दी जाए, उस उद्ग्रहण को युक्तियुक्त उद्ग्रहण के रूप में न्यायोचित ठहराया जाना चाहिए। पर्याप्त सामग्री के अभाव में 40% तथा 1,000 रुपए प्रति टन के उद्ग्रहण को चुनौती दी जा सकेगी। यदि स्वयं कानून द्वारा अधिरोपित उद्ग्रहण असफल रहता है, तो सीमा-शुल्क अधिनियम की धारा 25 के अधीन निकाली गई अधिसूचनाओं को प्रश्नगत करने की कोई भी आवश्यकता नहीं होगी। किन्तु अभिभावी विधायी परिपाटी का ध्यान रखते हुए हम यह धारणा करना चाहेंगे कि वास्तविक उद्ग्रहण का अवधारण करने की दृष्टि से हमें न केवल सीमा-शुल्क टैरिफ अधिनियम, 1975 में उल्लिखित शुल्क की दर को विचार में लेना चाहिए, बल्कि सीमा-शुल्क अधिनियम, 1962 की धारा 25 के अधीन जो कि प्रवृत्त है, निकाली गई किसी भी अधिसूचना को विचार में लेना चाहिए। फिर भी, सरकार ने 1 मार्च, 1981 से उद्गृहीत 15% की या 825 रुपए प्रति टन की दर से, जैसा कि इस समय उद्गृहीत किया जा रहा है, कुल सीमा-शुल्क को न्यायोचित ठहराने के लिए जो कारण बताए हैं, वे अपर्याप्त प्रतीत होते हैं। 1981 में लोक सभा में दिए गए वित्त मंत्री के भाषण में 15% शुल्क के उद्ग्रहण के लिए जो पहला कारण बताया गया था, वह यह था कि उसका आशय आयातित अखबारी

कागज की खपत पर निर्बन्धन के अभ्युपाय को बढ़ावा देना और विदेशी मुद्रा की परिरक्षा में सहायता करना है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह आधार दो कारणों से स्वीकार्य नहीं था। सरकार की ओर से फाइल किए गए प्रतिशपथ-पत्र में यह कहा गया है कि यह अभिकथन कि विदेशी मुद्रा आरक्षिति की स्थिति संतोषजनक है, असंगत है। इससे यह पता चलता है कि सरकार में किसी व्यक्ति ने कभी भी 15% शुल्क उद्गृहीत करने वाली अधिसूचनाएं निकालने के पूर्व विदेशी मुद्रा आरक्षिति पर अखबारी कागज के आयात के प्रभाव को विचार में नहीं लिया था। दूसरी बात यह है कि समाचार-पत्र का कोई भी स्वामी सीधे ही अखबारी कागज का आयात कर सकता है। अखबारी कागज के आयात को राज्य व्यापार निगम के जरिए नियंत्रित किया जाता है। यदि अखबारी कागज के अत्यधिक आयात का प्रभाव विदेशी मुद्रा आर-क्षिति पर प्रतिकूल रूप से पड़ता है, तो राज्य व्यापार निगम अखबारी कागज के आयात को घटा सकता है और समाचार-पत्रों के स्थानों को आयातित अखबारी कागज की कम मात्रा आवंटित कर सकता है। तथापि, अखबारी कागज के अत्यधिक आयात को नियंत्रित करने की दृष्टि से आयात शुल्क अधिरोपित करने की कोई भी आवश्यकता नहीं है। वित्त मंत्री के भाषण में, समाचार-पत्र उद्योग द्वारा 15% शुल्क के उद्ग्रहण को सहन करने की क्षमता के प्रति कोई भी निर्देश नहीं है। प्रतिशपथपत्र में यह प्राख्यान किया गया है कि भारत में समाचार-पत्र उद्योग पर जिस सीमा तक बोझ है, वह अखबारी कागज पर आयात शुल्क के उद्ग्रहण के लिए असंगत है। पुनः इस बात से स्पष्ट रूप से दर्शित होता है कि सरकार ने उस सम्पूर्ण छूट को जो समाचार-पत्र उद्योग को 1 मार्च, 1981 तक मिली हुई थी, वापस लेने और अखबारी कागज पर 15% की दर से शुल्क अधिरोपित करने के पूर्व इस प्रश्न के महत्त्वपूर्ण पहलू पर विचार नहीं किया था।

86. पिटीशनरों ने यह अभिकथन किया है कि सीमा-शुल्क के अधि-रोपण के परिणामस्वरूप वे इस बात के लिए विवश हुए हैं कि वे उन विज्ञापनों के लिए जो कि समाचार-पत्रों के साधन के अधिकांश भाग का प्रदाय करते हैं, समाचार-पत्रों के क्षेत्र की सीमा घटाएं, और उसके परिणामस्वरूप विज्ञापनों से प्राप्त होने वाले उनके राजस्व पर प्रतिकूल रूप से प्रभाव पड़ा। उन्होंने बैनेट कोलमैन कंपनी लिमिटेड और अन्य बनाम भारत संघ और अन्य[1] वाले मामले में किए गए विनिर्णय का अवलम्ब लेते हुए यह दलील दी है कि अनुच्छेद 19 (1) (क) का उससे अतिलंघन होता है। हमारा ध्यान बैनेट

---

[1] [1963] 1 उम० नि० प० 527=ए० आई० आर० 1973 एस० सी० 106.

कोलमैन वाले मामले[1] में आए हुए निम्नलिखित अवतरण की ओर आकृष्ट किया गया है, जो कि पृष्ठ 777-778 और पृष्ठ 782 पर आए हुए हैं—

"प्रकाशन से प्रसार और परिचालन अभिप्रेत है। प्रेस को अपने क्रियाकलाप पाठकों के वर्ग, श्रमिकों की शर्तों, सामग्री की कीमत, विज्ञापनों की उपलभ्यता, अखबार, के आकार तथा प्रकाशित और परिचालित की जाने वाली खबरों, टिप्पणियों और विचारों तथा विज्ञापनों को ध्यान में रखते हुए करने होते हैं। जो विधि ऐसे अत्यधिक और प्रतिषेधात्मक भार डालती है जिससे किसी अखबार का परिचालन निर्बन्धित हो जाता है, वह अनुच्छेद 19 (2) से व्यावृत नहीं हो सकती। यदि विज्ञापन की जगह सीमित कर दी जाती है तो अखबारों की कीमत बढ़ जाती है और यदि कीमत बढ़ जाती है तो परिचालन कम हो जाता है। सकल पेपर्स के मामले [1962] 3 एस० सी० आर० 842) में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि यह विज्ञापन को कम करने का प्रत्यक्ष परिणाम है। किसी अखबार द्वारा मनचाही संख्या में पृष्ठ प्रकाशित करने या कितने ही व्यक्तियों में उसे परिचालित करने के स्वातंत्र्य के बारे में इस न्यायालय द्वारा यह अभिनिर्धारित किया गया है कि वह वाक और अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य का अभिन्न अंग है। इस स्वातंत्र्य पर अवरोध लगाने में या किसी ऐसी बात पर, जो स्वातंत्र्य का आवश्यक अंग है, अवरोध लगाने से इस स्वातंत्र्य का अतिक्रमण होता है। पृष्ठों की संख्या पर अवरोध, परिचालन पर अवरोध और विज्ञापन पर अवरोध से प्रसारण, प्रकाशन और परिचालन के पहलू पर अनुच्छेद 19 (1) (क) के अधीन मूल अधिकारों पर प्रभाव पड़ेगा..............।

अखबारी कागज आयात नीति के विभिन्न उपबंधों की परीक्षा यह इंगित करने के लिए की गई है कि पृष्ठ संख्या पर निर्बन्ध लगाने, नए अखबारों और नए संस्करणों को प्रतिषिद्ध करने से पिटीशनरों के मूल अधिकारों का किस प्रकार अतिलंघन हुआ है। अखबारों पर आक्षेपित नीति का प्रभाव और परिणाम अखबारों के विकास और परिचालन को प्रत्यक्षतः नियन्त्रित करना है। प्रत्यक्ष प्रभाव अखबारों के विकास और परिचालन पर निर्बन्धन लगाना है। प्रत्यक्ष प्रभाव पृष्ठों के माध्यम से अखबारों के विकास पर पड़ता है। प्रत्यक्ष प्रभाव यह

[1] [1973] 1 उम० नि० प० 527=ए० आई० आर० 1973 एस० सी० 106.

है कि अखबार विज्ञापन के अपने क्षेत्र से वंचित हो जाते हैं। प्रत्यक्ष प्रभाव यह है कि उन्हें आर्थिक हानि उठानी पड़ती है। प्रत्यक्ष प्रभाव यह है कि वाक् और अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य का अतिलंघन होता है।"

87. उपर्युक्त दलील का उत्तर देने की दृष्टि से सरकार ने **हमदर्द दवाखाना (वक्फ), लाल कुंआ, दिल्ली और एक अन्य बनाम भारत संघ और अन्य**[1] वाले मामले में किए गए विनिश्चय का अवलम्ब लेते हुए अपनी इस कार्रवाई की प्रतिरक्षा में यह अभिवचन किया है कि वाणिज्यिक विज्ञापन प्रकाशित करने का अधिकार वाक् और अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य का भाग नहीं है। हमने **हमदर्द दवाखाना वाले मामले**[1] में किए गए विनिश्चय पर सावधानी के साथ विचार किया है। उस विनिश्चय का मुख्य आधार यह था कि जिस प्रकार के विज्ञापन के सम्बन्ध में उसमें विचार व्यक्त किए गए थे, उसमें अनुच्छेद 19 (1) (क) की संरक्षा मौजूद नहीं थी। विधान के इतिहास की आस-पास की परिस्थितियों की और अधिनियम की उस स्कीम की, जिसको उसमें चुनौती दी गई थी, अर्थात् ड्रग्स एण्ड मैजिक रेमेडीज (ओब्जेक्शनेबल ऐडवर्टाइजमेंट) ऐक्ट, 1954 (1954 का 21) की स्कीम की परीक्षा करने पर न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि उस अधिनियम का उद्देश्य ऐसे साधनों को प्रतिषिद्ध करके, जिनका उपयोग उसके पक्ष में वकालत करने के लिए किया जा सकता है या जिसके परिणामस्वरूप बुराई की जा सकती है, स्व-औषध-प्रयोग और स्व-उपचार-निवारण करना था। न्यायालय ने **लुई जे० वेलेन्टाइन** बनाम **एफ० जे० क्रेस्टेन्सन**[2] वाले मामले के पृष्ठ 687-689 पर अमेरिका के सुप्रीम कोर्ट द्वारा किए गए विनिश्चय का अवलम्ब लेते हुए इस प्रकार मत व्यक्त किया—

> "यह नहीं कहा जा सकता है कि किसी व्यक्ति के व्यक्तिगत कारबार के सम्बन्ध में विज्ञापन देते हुए वाणिज्यिक विज्ञापनों को प्रकाशित करने और वितरण करने का अधिकार संविधान द्वारा गारन्टीकृत वाक्-स्वातंत्र्य के अधिकार का एक भाग है। **लुई जे० वेलेन्टाइन** बनाम **एफ० जे० क्रेस्टेन्सन**[2] वाले मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि वाक्-स्वातंत्र्य के सांविधानिक अधिकार का उन पर्चों के जिन पर एक ओर लोक पदधारियों द्वारा की गई कार्रवाई पर आपत्ति रहती है और उसकी दूसरी ओर, विज्ञापन संबंधी

---

[1] [1960] 2 एस० सी० आर० 671.

[2] [1942] 86 लायर्स एडीशन 1262.

सामग्री रहती है, नगर की सड़कों पर वितरण को प्रतिषिद्ध करने के कारण अतिलंघन नहीं होता। विज्ञापन परिपत्र पर आपत्ति निबंध का उद्देश्य, वाणिज्यक और कारबार सम्बन्धी विज्ञापन की सामग्री के, नगर की सड़कों पर, वितरण को निषिद्ध करने वाले नगर अध्यादेश के प्रतिषेध से बचना था। जस्टिस रोबर्ट्स ने न्यायालय का मत व्यक्त करते हुए यह कहा था —

> "इस न्यायालय ने असंगत रूप से यह अभिनिर्धारित किया है कि सड़कें सूचना देने और अपने विचारों को फैलाने की स्वतंत्रता के (अधिकार के) प्रयोग के लिए उचित स्थान हैं और यह कि यद्यपि राज्य और नगरपालिकाएं लोकहित में विशेषाधिकार को उचित रूप से विनियमित कर सकती हैं, तथापि वे इन सार्वजनिक रास्तों में उसका उपयोग करके उसे बोझिल नहीं बना सकतीं या उसके सम्बन्ध में विधान नहीं बना सकती। उसी प्रकार हमें यह स्पष्ट है कि संविधान के अधीन वाणिज्यिक विज्ञापन के संबंध में सरकार पर इस प्रकार का कोई भी निर्बन्धन अधिरोपित नहीं किया गया है..... । यदि प्रत्यर्थी वाणिज्यिक विज्ञापनों का वितरण करके न्यूयार्क की सड़कों का उपयोग करने की कोशिश कर रहा था, तो संहिता के उपबंधों के प्रतिषेध का सहारा ऐसे आचरण के विरुद्ध विधिपूर्ण रूप से लिया गया था।"

अतः यह नहीं कहा जा सकता कि प्रत्येक विज्ञापन वाक्-स्वातंत्र्य संबंधी विषय है और न ही यह कहा जा सकता है कि वह विचारों की अभिव्यक्ति है। प्रत्येक मामले में यह बात देखनी होती है कि विज्ञापन की प्रकृति क्या है और अनुच्छेद 19(1) के अधीन आने वाले क्रियाकलाप से कौन-सी बात अग्रसर की जानी ईप्सित है। प्रस्तुत मामले में जो विज्ञापन हैं, उनका सम्बन्ध वाणिज्य या व्यापार से है, न कि विचारों का प्रचार करने से; प्रतिषिद्ध औषधियों का या उन वस्तुओं का, जिनका विक्रय साधारण जनता के हित में नहीं है, विज्ञापन करने का कार्य वाक्-स्वातंत्र्य के अर्न्तगत 'वाक्' नहीं कहा जा सकता और वह अनुच्छेद 19(1) (क) की परिधि के भीतर नहीं आएगा। अधिनियम का मुख्य प्रयोजन और वास्तविक आशय और लक्ष्य, उद्देश्य और विस्तार स्व-औषध-प्रयोग या स्व-उपचार को रोकना है और उस प्रयोजन के लिए ऐसे विज्ञापन

जो कतिपय औषधियों और औषधियों के प्रयोग की सिफारिश करते हैं, प्रतिषिद्ध किए गए हैं। क्या यह कहा जा सकता है कि यह पिटीशनरों के वाक्स्वातंत्र्य के अधिकार का न्यूनीकरण है? हमारी राय में यह नहीं है। जिस प्रकार चमरबागवाले मामले ([1957] एस० सी० आर० 930) में यह कहा गया था कि लाभ उपार्जित करने की दृष्टि से हाथ में लिए गए या चलाए गए क्रियाकलाप को, उदाहरण के लिए दावों पर लगाने और जुआ खेलने के कारबार को, इस आधार पर सरक्षा प्राप्त नहीं होगी कि वह कारबार या व्यापार चलाने के गारन्टीकृत अधिकार की परिधि के भीतर आते हैं और इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि ऐसा विज्ञापन, जिस में कतिपय लोगों के लिए उचित निदान के रूप में औषधियों और पदार्थों के उपयोग की सिफारिश की गई हो, वाक्-स्वतंत्र्य के अधिकार का प्रयोग है।"

88. उपर्युक्त मामले में न्यायालय मुख्यत: प्रतिषिद्ध औषधियों के विज्ञापन और स्व-औषध-प्रयोग और स्व-उपचार को निवारित करने के अधिकार पर विचार कर रहा था। उस मामले में वही मुख्य विवाद्यक था। निस्सन्देह यह सच है कि ऊपर निर्दिष्ट विचारों में से कुछ उस मामले की आवश्यकता की परिधि के बाहर हैं और सभी वाणिज्यिक विज्ञापनों को प्रकाशित करने के अधिकारों पर प्रभाव पड़ना सम्भाव्य है। ऐसा प्रतीत होता है कि ऐसे विस्तृत विचार **लूई जे० वेलेन्टाइन** बनाम **एफ० जे० क्रेस्टेंन्सन**[1] वाले मामले में अमरीका के न्यायालय द्वारा किए गए विनिश्चय को देखते हुए व्यक्त किए गए हैं। किन्तु इस ओर ध्यान दिया जाना चाहिए कि अमरीका के इस मामले में जो विचार व्यक्त किया गया है, उसे अमरीका के सुप्रीम कोर्ट ने स्वयं बाद वाले इस विनिश्चय में पूरी तरह से अनुमोदित नहीं किया है। हम उनमें से दो के प्रति ही निर्देश करेंगे। **विलियम बी० कैमुरानो** बनाम **यूनाइटेड स्टेट्स ऑफ अमेरिका**[2] वाले मामले में जस्टिस डगलस ने अपने सम्मत निर्णय में यह मत व्यक्त किया था कि **वेलेन्टाइन** बनाम **क्रेस्टेन्सन**[1] वाले मामले में......यह अभिनिर्धारित किया गया था कि विज्ञापनों और वाणिज्यिक विषयों के कारबार को 'फर्स्ट अमेंडमेंट' की संरक्षा प्राप्त नहीं है जोकि फोर्टीन्थ अमेंडमेंट द्वारा यूनाइटेड स्टेट्स को लागू किया गया था। वह विनिर्णय प्रसंगवश था या अधिक सोच-समझकर नहीं किया गया था, और वह आक्षेप से बचा भी

[1] [1942] 86 लायर्स एडीशन 1262.

[2] [1959] 358 यू० एस० 498 : 3 लायर्स एडीशन सेकेंड 462.

नहीं है। **जैफ्रे कोल बिगलो** बनाम **कामनवैल्थ ऑफ वर्जीनिया**[1] वाले मामले में अमरीका के सुप्रीम कोर्ट ने यह अभिनिर्धारित किया कि **लूई जे० वेलेन्टाइन** बनाम **एफ० जे० क्रेस्टन्सन**[2] वाले मामले में जो अभिनिर्धारित किया गया था, वह सुभिन्न रूप से सीमित निर्णय था। पूर्वगामी बात को देखते हुए हम यह महसूस करते हैं कि **हमदर्द दवाखाना वाले मामले**[3] में जो मत व्यक्त किए गए हैं, वे बहुत ही विस्तृत ढंग से बताए गए हैं और सरकार उससे कोई भी समर्थन प्राप्त नहीं कर सकती। हमारा मत यह है कि सभी वाणिज्यिक विज्ञापनों को संविधान के अनुच्छेद 19(1)(क) को संरक्षा से मात्र इसलिए वंचित नहीं किया जा सकता है, क्योंकि उन्हें व्यापारियों ने निकलवाए हैं। किसी भी स्थिति में सरकार आक्षेपित अधिसूचनाओं को कायम रखने में कोई सहायता प्राप्त नहीं कर सकती।

89. इसके बाद सरकार की ओर से इस बात पर ज़ोर दिया गया कि अखबारी कागज पर सीमा-शुल्क का उद्ग्रहण उस रूप में कड़ाई के साथ नहीं किया गया था, क्योंकि, यद्यपि सीमा-शुल्क का उद्ग्रहण माल के प्रति निर्देश करके किया गया था, कराधेय प्रक्रम सीमा-शुल्क की परिसीमाओं के भीतर माल का आयात करना था और इसी कारण से अखबारी कागज पर सीमा-शुल्क के उद्ग्रहण के बल पर वाक् और अभिव्यक्ति के स्वातंत्र्य पर कोई सीधा प्रभाव नहीं पड़ सकता था। उपर्युक्त दलील के समर्थन में **सी कस्टम्स ऐक्ट से संबंधित मामले**[4] में किए गए विनिश्चय का अवलम्ब लिया गया। वह विनिश्चय संविधान के अनुच्छेद 143 के अधीन राष्ट्रपति द्वारा किए गए निर्देश के आधार पर किया गया था, जिसके द्वारा राष्ट्रपति ने इस न्यायालय से यह प्रार्थना की थी कि वह इस प्रश्न के सम्बन्ध में अपना मत व्यक्त करे कि क्या केन्द्रीय सरकार राज्य द्वारा आयातित माल पर सीमा-शुल्क का उद्ग्रहण कर सकती है। उस मामले में अधिकांश राज्यों की दलील यह थी कि चूंकि उनके द्वारा आयातित माल उनकी सम्पत्ति है, इसलिए सीमा-शुल्क के तौर पर कोई भी कर संविधान के अनुच्छेद 289(1) के कारण जोकि राज्य की सम्पत्ति को संघ द्वारा कराधान से छूट देता है, उद्गृहीत नहीं किया जा सकता। इस न्यायालय ने (5 के बहुमत से और 4 के अल्पमत से) यह अभिनिर्धारित किया कि अनुच्छेद 289 के खण्ड (1) को देखते हुए, जोकि उसके खण्ड (2) से सुभिन्न था, जिसमें यह उपबंध किया गया था कि खण्ड (1) की कोई बात संघ को

---

1 [1975] 421 यू० एस० 809 : 44 लायर्स एडीशन सेकेंड 600 पृष्ठ 610.

2 [1942] 86 लायर्स एडीशन 1262.

3 [1960] 2 एस० सी० आर० 671.

[1964] 3 एस० सी० आर० 787.

जो कतिपय औषधियों और औषधियों के प्रयोग की सिफारिश करते हैं, प्रतिषिद्ध किए गए हैं। क्या यह कहा जा सकता है कि यह पिटीशनरों के वाक्स्वातंत्र्य के अधिकार का न्यूनीकरण है? हमारी राय में यह नहीं है। जिस प्रकार चमर बागवाले मामले ([1957] एस० सी० आर० 930) में यह कहा गया था कि लाभ उपार्जित करने की दृष्टि से हाथ में लिए गए या चलाए गए क्रियाकलाप को, उदाहरण के लिए दावों पर लगाने और जुआ खेलने के कारबार को, इस आधार पर सरक्षा प्राप्त नहीं होगी कि वह कारबार या व्यापार चलाने के गारन्टीकृत अधिकार की परिधि के भीतर आते हैं और इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि ऐसा विज्ञापन, जिस में कतिपय लोगों के लिए उचित निदान के रूप में औषधियों और पदार्थों के उपयोग की सिफारिश की गई हो, वाक्-स्वतंत्र्य के अधिकार का प्रयोग है।''

88. उपर्युक्त मामले में न्यायालय मुख्यत: प्रतिषिद्ध औषधियों के विज्ञापन और स्व-औषध-प्रयोग और स्व-उपचार को निवारित करने के अधिकार पर विचार कर रहा था। उस मामले में वही मुख्य विवाद्यक था। निस्सन्देह यह सच है कि ऊपर निर्दिष्ट विचारों में से कुछ उस मामले की आवश्यकता की परिधि के बाहर हैं और सभी वाणिज्यिक विज्ञापनों को प्रकाशित करने के अधिकारों पर प्रभाव पड़ना सम्भाव्य है। ऐसा प्रतीत होता है कि ऐसे विस्तृत विचार **लूई जे० वेलेन्टाइन** बनाम **एफ० जे० क्रेस्टेंन्सन**[1] वाले मामले में अमरीका के न्यायालय द्वारा किए गए विनिश्चय को देखते हुए व्यक्त किए गए हैं। किन्तु इस ओर ध्यान दिया जाना चाहिए कि अमरीका के इस मामले में जो विचार व्यक्त किया गया है, उसे अमरीका के सुप्रीम कोर्ट ने स्वयं बाद वाले इस विनिश्चय में पूरी तरह से अनुमोदित नहीं किया है। हम उनमें से दो के प्रति ही निर्देश करेंगे। **विलियम बी० कैमुरानो** बनाम **यूनाइटेड स्टेट्स ऑफ अमेरिका**[2] वाले मामले में जस्टिस डगलस ने अपने सम्मत निर्णय में यह मत व्यक्त किया था कि **वेलेन्टाइन** बनाम **क्रेस्टेन्सन**[1] वाले मामले में……यह अभिनिर्धारित किया गया था कि विज्ञापनों और वाणिज्यिक विषयों के कारबार को 'फर्स्ट अमेंडमेंट' की संरक्षा प्राप्त नहीं है जोकि फोर्टीन्थ अमेंडमेंट द्वारा यूनाइटेड स्टेट्स को लागू किया गया था। वह विनिर्णय प्रसंगवश था या अधिक सोच-समझकर नहीं किया गया था, और वह आक्षेप से बचा भी

---

[1] [1942] 86 लायर्स एडीशन 1262.

[2] [1959] 358 यू० एस० 498 : 3 लायर्स एडीशन सेकेंड 462.

नहीं है। जैफ्रे कोल बिगलो बनाम कामनवैल्थ ऑफ वर्जीनिया[1] वाले मामले में अमरीका के सुप्रीम कोर्ट ने यह अभिनिर्धारित किया कि लुई जे० वेलेन्टाइन वनाम एफ० जे० क्रेस्टन्सन[2] वाले मामले में जो अभिनिर्धारित किया गया था, वह सुभिन्न रूप से सीमित निर्णय था। पूर्वगामी बात को देखते हुए हम यह महसूस करते हैं कि हमदर्द दवाखाना वाले मामले[3] में जो मत व्यक्त किए गए हैं, वे बहुत ही विस्तृत ढंग से बताए गए हैं और सरकार उससे कोई भी समर्थन प्राप्त नहीं कर सकती। हमारा मत यह है कि सभी वाणिज्यिक विज्ञापनों को संविधान के अनुच्छेद 19(1)(क) को संरक्षा से मात्र इसलिए वंचित नहीं किया जा सकता है, क्योंकि उन्हें व्यापारियों ने निकलवाए हैं। किसी भी स्थिति में सरकार आक्षेपित अधिसूचनाओं को कायम रखने में कोई सहायता प्राप्त नहीं कर सकती।

89. इसके बाद सरकार की ओर से इस बात पर ज़ोर दिया गया कि अखबारी कागज पर सीमा-शुल्क का उद्ग्रहण उस रूप में कड़ाई के साथ नहीं किया गया था, क्योंकि, यद्यपि सीमा-शुल्क का उद्ग्रहण माल के प्रति निर्देश करके किया गया था, कराधेय प्रक्रम सीमा-शुल्क की परिसीमाओं के भीतर माल का आयात करना था और इसी कारण से अखबारी कागज पर सीमा-शुल्क के उद्ग्रहण के बल पर वाक् और अभिव्यक्ति के स्वातंत्र्य पर कोई सीधा प्रभाव नहीं पड़ सकता था। उपर्युक्त दलील के समर्थन में सी कस्टम्स ऐक्ट से संबंधित मामले[4] में किए गए विनिश्चय का अवलम्ब लिया गया। वह विनिश्चय संविधान के अनुच्छेद 143 के अधीन राष्ट्रपति द्वारा किए गए निर्देश के आधार पर किया गया था, जिसके द्वारा राष्ट्रपति ने इस न्यायालय से यह प्रार्थना की थी कि वह इस प्रश्न के सम्बन्ध में अपना मत व्यक्त करे कि क्या केन्द्रीय सरकार राज्य द्वारा आयातित माल पर सीमा-शुल्क का उद्ग्रहण कर सकती है। उस मामले में अधिकांश राज्यों की दलील यह थी कि चूंकि उनके द्वारा आयातित माल उनकी सम्पत्ति है, इसलिए सीमा-शुल्क के तौर पर कोई भी कर संविधान के अनुच्छेद 289(1) के कारण जोकि राज्य की सम्पत्ति को संघ द्वारा कराधान से छूट देता है, उद्गृहीत नहीं किया जा सकता। इस न्यायालय ने (5 के बहुमत से और 4 के अल्पमत से) यह अभिनिर्धारित किया कि अनुच्छेद 289 के खण्ड (1) को देखते हुए, जोकि उसके खण्ड (2) से सुभिन्न था, जिसमें यह उपबंध किया गया था कि खण्ड (1) की कोई बात संघ को

---

1 [1975] 421 यू० एस० 809 : 44 लायर्स एडीशन सेकेंड 600 पृष्ठ 610.

2 [1942] 86 लायर्स एडीशन 1262.

3 [1960] 2 एस० सी० आर० 671.

[1964] 3 एस० सी० आर० 787.

किसी राज्य की सरकार द्वारा या उसकी ओर से किए जाने वाले किसी प्रकार के व्यापार या कारबार के सम्बन्ध में अथवा उससे सम्बन्धित किन्हीं संक्रियाओं के सम्बन्ध में अथवा ऐसे व्यापार या कारबार के प्रयोजनों के लिए प्रयुक्त या अधिभुक्त किसी सम्पत्ति के सम्बन्ध में अथवा उसके सम्बन्ध में प्रोद्भूत या उद्भूत किसी आय के बारे में, किसी कर को ऐसी मात्रा तक, यदि कोई हो, जिसका संसद् विधि द्वारा उपबंध करे, अधिरोपित करने या कर का अधिरोपण प्राधिकृत करने से नहीं रोकेगी, और संविधान के उन अन्य उपबंधों को देखते हुए, जोकि संघ को विभिन्न प्रकार के कर उद्गृहीत करने में समर्थ बनाते हैं, माल के आयात करने पर उद्गृहीत सीमा-शुल्क मात्र ऐसा कर था जोकि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर, न कि सम्पत्ति पर, उद्गृहीत किया गया था। इसके अलावा न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि राज्यों के पक्ष में अनुच्छेद 189 (1) के अधीन अनुदत्त उन्मुक्ति केवल उन्हीं करों तक, जिनका उद्ग्रहण सम्पत्ति पर सीधे ही किया जाता है, निर्बन्धित की जानी थी, और यद्यपि सीमा-शुल्क के सम्बन्ध में माल और वस्तुओं के प्रति निर्देश किया गया था, वे सम्पत्ति पर कर नहीं थे और इसी कारण से वे अनुच्छेद 189 (1) में दी गई छूट की परिधि के अन्तर्गत नहीं आते थे। उपर्युक्त विनिश्चय से सरकार को कुछ भी फायदा नहीं मिलता है, क्योंकि इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता है कि समाचार-पत्रों के उत्पादन में प्रयुक्त अखबारी कागज पर सीमा-शुल्क का उद्ग्रहण समाचार-पत्र को प्रकाशित करने के क्रियाकलाप पर निर्बन्धन और सीमा-शुल्क के उद्ग्रहण का सीधा प्रभाव उस क्रियाकलाप पर पड़ता था। संविधान के अनुच्छेद 289(1) और अनुच्छेद 19(1)(क) और (2) के बीच कोई भी सादृश्य नहीं है। इसलिए उसके उद्ग्रहण को मात्र इस आधार पर न्यायोचित नहीं ठहराया जा सकता कि वह समाचार-पत्रों के प्रकाशकों की किसी सम्पत्ति पर नहीं किया गया था।

90. हमारा ध्यान विशेषकर वित्त मंत्री के उस कथन की ओर आकृष्ट किया गया है कि जो बातें सीमा-शुल्क उद्गृहीत करने के लिए सरकार के मन पर छाई रहीं, उनमें से एक यह थी कि समाचार-पत्रों में निरर्थक बातें (पिफिल्स) रहती हैं। "पिफिल्स" से मूर्खतापूर्ण निरर्थक बात अभिप्रेत है। ऐसा प्रतीत होता है कि शुल्क उद्गृहीत करने के कारणों में से एक यह था कि समाचार-पत्रों में प्रकाशित कुछ बातें मंत्री महोदय को निरर्थक बातें प्रतीत हुई थीं। ऐसी कार्रवाई संविधान के अधीन दो कारणों से अनुज्ञेय नहीं है— (i) यह कि लिखी गई बातों की प्रकृति के सम्बन्ध में मंत्री महोदय का निर्णय उनका वास्तविक वर्णन नहीं हो सकता और (ii) यह कि यदि वे लिखित बातें

निरर्थक बातें हैं, तो भी वह ऐसा शुल्क अधिरोपित करने का आधार नहीं हो सकता, जिससे कि समाचारपत्रों के परिचालन में बाधा उत्पन्न हो। इस सम्बन्ध में **ई० हन्नेगन** बनाम **एस्कवायर आई० एन० सी०**[1] वाले मामले में विनिश्चय के प्रति निर्देश करना उपयोगी है, जिसमें यह अभिनिर्धारित किया गया था कि किसी प्रकाशन को द्वितीय श्रेणी की डाक दरों के उस फायदे से वंचित नहीं किया जा सकता, जो लोक स्वरूप की जानकारी या उत्सृष्ट साहित्य, विज्ञान, कला या किसी विशेष उद्योग से सम्बन्धित जानकारी का प्रसार करने वाले प्रकाशनों को दिया जाता है, क्योंकि महा डाकपाल को अश्लीलता या निम्न स्तर की रुचि के कारण ऐसा प्रतीत हो सकता है कि उनमें छपी हुई बातों से लोक कल्याण के प्रति कोई भी योगदान नहीं होता। जस्टिस डग्लस ने उस विनिश्चय में इस प्रकार मत व्यक्त किया था :—

"जैसा कि हमने कहा है, यह स्पष्ट है कि उपर्युक्त द्वितीय श्रेणी की दरें उन पत्र-पत्रिकाओं के पक्ष में अनुदत्त की गई थीं जो चौथी शर्त (फोर्थ कन्डीशन) की अपेक्षाओं की पूर्ति करती हैं, जिससे कि वर्णित वर्ग के पत्र-पत्रिकाओं के प्रसार के जरिए लोक कल्याण किया जा सके। किन्तु इस बात के कारण यह उपधारणा नहीं की जा सकती कि कांग्रेस के पास ऐसा कोई विचार था कि द्वितीय श्रेणी की दर के लिए प्रत्येक आवेदक को यह चाहिए कि वह महा डाकपाल को इस बात का विश्वास दिलाए कि उसके प्रकाशन से जनता की भलाई या लोक कल्याण के प्रति निश्चित रूप से योगदान होता है। हमारी शासन प्रणाली के अधीन विभिन्न प्रकार की रुचियां और विचारों के लिए विस्तृत स्थान है। कौन-सा अच्छा साहित्य है, क्या शैक्षणिक मूल्य है, कौन-सी बात परिष्कृत लोक जानकारी है, अच्छी कला क्या है— ये सभी बातें भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में भिन्न-भिन्न होती हैं, जैसी कि वह एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में भिन्न होती है। निस्सन्देह सर्वेंट्स डॉन क्वीज़ोटे शेक्सपीयर के वीनस और एडोनिस या ज़ोलाज़ नाना के सम्बन्ध में मतवैभिन्न्य होगा। किन्तु इस अपेक्षा से कि साहित्य या कला को किसी पदधारी द्वारा विहित किसी मानक के अनुरूप होना चाहिए, ऐसी विचारधारा की गंध आती है, जो हमारी पद्धति के लिए अनजानी है। चौथी शर्त (फोर्थ कंडीशन) की अपेक्षाओं में विवक्षित आधारिक मूल्य के अनुसार उसी दशा में कार्य हो सकता है, जबकि साहित्य का असेंसरकृत वितरण हो। ऐसी बहुत सी प्रस्तुत की गई

[1] [1946] 327 यू० एस० 146 : 90 लायर्स एडीशन 586.

प्रतिस्पर्धात्मक बातों में से जनता चुन लेगी। अच्छी बात किसी व्यक्ति को कूड़ा-कर्कट प्रतीत होती है, वही बात दूसरे व्यक्तियों के लिए अस्थायी मूल्य की हो सकती है या स्थायी मूल्य की भी हो सकती है।"

91. बुद्धि और नैतिकता से सम्बन्धित विषयों में एक युग से दूसरे युग में परिवर्तन होता है। मस्तिष्क का संसार प्रयत्नशील संसार है। वह स्थिर नहीं है। साहित्य के और उस क्षेत्र में रुचि और निर्णय करने के स्रोत गतिहीन नहीं होते। उनमें ताज़गी और सजीवता का गुण रहता है। उनमें समय-समय पर, एक स्थान से दूसरे स्थान पर और एक समुदाय से दूसरे समुदाय में परिवर्तन होता रहता है।

92. यह कहना एक बात है कि लोक वित्त के लिए सुसंगत उन बातों को देखते हुए जो प्रत्येक नागरिक से इस बात की अपेक्षा करती हैं कि वह लोक राजकोष में युक्तियुक्त रकम का योगदान करे, सीमा-शुल्क समाचारपत्र उद्योग द्वारा उपयोग में लाए गए अखबारी कागज पर भी उद्ग्रहणीय होता है, और यह कहना दूसरी बात है कि उद्ग्रहण इसलिए अधिरोपित किया जाता है, क्योंकि समाचारपत्रों में साधारण रूप से निरर्थक बातें भरी ही रहती हैं, जबकि पूर्वकथित उस दशा में विधिमान्य हो सकता है, यदि समाचारपत्रों के परिचालन पर प्रतिकूल रूप से प्रभाव नहीं पड़ता है, पश्चात्कथित संविधान के अधीन अननुज्ञेय है, क्योंकि उद्ग्रहण उस बात के आधार पर किया जाता है जोकि सांविधानिक परिसीमाओं की परिधि के पूरी तरह से बाहर है। सरकार स्वयं अनधिकृत रूप से ऐसी शक्ति नहीं ले सकती, जिसके परिणामस्वरूप समाचारपत्रों के मुद्रित किए जाने के पहले ही उनमें दी गई बातों की प्रकृति के सम्बन्ध में पूर्व-निर्णय किया जा सके। उपर्युक्त प्रकार के निर्बन्धन का अधिरोपण वस्तुतः समाचारपत्र का पूर्व-सेंसर करने की शक्ति सरकार को प्रदत्त करने की कोटि में आता है। सीमा-शुल्क का उद्ग्रहण करने के लिए मंत्री महोदय ने जो कारण ऊपर बताया है, वह पूर्णतः असंगत है।

93. यदि इस बात को संक्षेप में कहा जाए, तो इन मामलों में सरकार की ओर से फाइल किए गए शपथ-पत्र से यह प्रकट नही होता कि क्या सरकार ने सुसंगत बातों पर विचार भी किया था। उसमें यह कहा गया है कि आक्षेपित उद्ग्रहण द्वारा अधिरोपित समाचारपत्र उद्योग पर भार की सीमा असंगत है। उसमें यह कहा गया है कि यह स्थिति कि विदेशी-मुद्रा-आरक्षिति सन्तोषजनक है, संगत नहीं है। उसमें यह नहीं कहा गया है कि आयातित अखबारी कागज

की बढ़ती हुई लागत को विचार में लिया गया था। वित्त मंत्री का कथन यह है कि उद्ग्रहण इसलिए अधिरोपित किया गया था, क्योंकि उन्होंने कुछ समाचारपत्रों में कुछ निरर्थक बातें पाई थीं। समाचारपत्र उद्योग पर पालेकर अधिनिर्णय के कार्यान्वयन के प्रभाव के सम्बन्ध में कोई भी निर्देश नहीं किया गया है। उसमें यह भी नहीं कहा गया है कि जनता के लोगों पर जोकि समाचारपत्र पढ़ते हैं, उसका क्या प्रभाव होगा और वह समाचारपत्रों के परिचालन को किस सीमा तक कम कर देगा।

94. सरकार की ओर से यह दलील दी गई है कि चूंकि आक्षेपित उद्ग्रहण का प्रभाव अनन्तिम है, इसलिए पिटीशनरों ने जिन दलीलों पर ज़ोर दिया है, उन पर विचार करने की कोई आवश्यकता नहीं है। जैसा कि मालटा के एक मामले में अर्थात् **आनरेबल डाक्टर पाल बोर्ग ओलिवर और एक अन्य** बनाम **आनरेबल डाक्टर एन्टन बटिगियेज़**[1] वाले मामले में बोर्थ-वाई-गैस्ट के लार्ड मौरिस ने मत व्यक्त किया था, जहां कि किसी व्यक्ति के मूल अधिकारों और उसके स्वातंत्र्य पर विचार किया जा रहा हो, वहां न्यायालय को यह मत स्वीकार करने के पूर्व सतर्क रहना चाहिए कि कुछ विशिष्ट प्रकार की उनकी उपेक्षा न्यूनतम है। विद्वान् लार्ड ने उपर्युक्त मामले में यह मत व्यक्त किया था कि दण्डाभाव में इस बात की सदैव सम्भाव्यता रहती है कि उनका पर्याप्त और अधिक अतिक्रमण होता है। उसने 'पोर्शिया' के इन शब्दों के प्रति भी "नज़ीर के लिए इसे अभिलिखित किया जाएगा और उसी उदाहरण के आधार पर राज्य बहुत सी गलतियों का शिकार हो जाएगा" और अमरीका के एक मामले अर्थात् **टॉमस** बनाम **कोलिन्स**[2] वाले मामले से निम्नलिखित अवतरण के प्रति भी निर्देश किया—

> "अवरोध तब छोटा नहीं होता जबकि इस पर विचार किया जाता है कि किस बात को अवरुद्ध किया गया था। अधिकार ऐसा राष्ट्रीय अधिकार होता है जोकि परिसंघीय रूप से गारन्टीकृत है। विचार, वाक् और एकत्र होने का स्वातन्त्र्य उस सीमा तक है जिसका प्रयोग गणतंत्र के सभी नागरिक देश के एक छोर से दूसरे छोर के बीच कर सकते हैं, जिसे कोई भी राज्य, सभी मिलकर या स्वयं राष्ट्र न तो प्रतिषिद्ध कर सकते हैं, न अवरुद्ध कर सकते हैं, और न ही बाधा उत्पन्न कर सकते है। यदि अवरोध उससे छोटा है या उससे कम है जोकि वह है, तो छोटे-छोटे अत्याचार ही बड़े-बड़े अत्याचार

---

1 [1967] ए० सी० 115 (पी० सी०).

2 [1944] 323 यू० एस० 516.

बन जाते हैं, जोकि जड़ें जमा लेते हैं और बढ़ जाते हैं। यह तथ्य उससे अधिक स्पष्ट तब हो सकता है, जबकि वे सबके आधारिक अधिकारों पर अधिरोपित किए जाते हैं। उस भूमि में लगाई गई पौध में अधिक वृद्धि होती है और वृद्धि होने पर वह स्वाधीनता के आधार को ही नष्ट कर देती हैं।"

95. उपर्युक्त विनिश्चय में प्रिवी कौंसिल ने **रमेश थापर** बनाम **मद्रास राज्य**[1] वाले मामले में इस न्यायालय द्वारा तथा **मार्टिन** बनाम **सिटी आफ स्टुर्थर्स**[2] वाले मामले में यूनाइटेड स्टेट्स ऑफ अमेरिका के न्यायालय द्वारा व्यक्त मत की सानुमोदन प्रोद्धृत किया था। प्रिवी कौंसिल ने इस प्रकार मत व्यक्त किया था :—

"समाचारपत्रों और उसके परिचालन के सम्बन्ध में निर्बाध रूप से कार्रवाई करने के मामले में कुछ हस्तक्षेप उस प्रतिषेध में अन्तर्ग्रस्त था, जोकि परिपत्र ने अधिरोपित किया था। भारतीय मामले में (**रमेश थापर** बनाम **मद्रास राज्य**[1]) यह कहा गया था कि :—

'इस सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं हो सकता कि वाक् और अभिव्यक्ति के स्वातंत्र्य के अन्तर्गत विचारों के प्रसार का स्वातंत्र्य है और वह स्वातंत्र्य परिचालन के स्वातंत्र्य द्वारा सुनिश्चित है। परिचालन की स्वाधीनता उस स्वातंत्र्य के लिए इतनी ही आवश्यक है, जितनी कि प्रकाशन की स्वाधीनता। वास्तव में परिचालन के बिना प्रकाशन का कोई मूल्य नहीं होगा।' "

जस्टिस ब्लैक ने **मार्टिन** बनाम **सिटी आफ स्टुर्थर्स**[2] में दिए गए अपने निर्णय में उसी प्रकार के विचार तब व्यक्त किए जबकि उन्होंने यह कहा कि :—

"जहां कहीं भी कोई नागरिक सूचना प्राप्त करना चाहता है, उसको सूचना वितरित करने की स्वतन्त्रता स्वतन्त्र समाज के परिरक्षण के लिए स्पष्ट रूप से इतनी महत्त्वपूर्ण है कि वितरण के समय और उसकी रीति सम्बन्धी पुलिस और

---

[1] [1950] एस० सी० आर० 594.

[2] [1943] 319 यू० एस० 141.

स्वास्थ्य विषयक युक्तियुक्त विनियमों को एक ओर रखते हुए, उसे पूरी तरह से परिरक्षित किया जाना चाहिए ।"

96. हम उपर्युक्त मामले में प्रिवी कौंसिल द्वारा प्रतिपादित उच्च सिद्धांत का सादर समर्थन करते हैं । इसके अलावा सभी सुसंगत विषयों की उचित परीक्षा के अभाव में यह अभिनिर्धारित करना सम्भव नहीं है कि उद्ग्रहण का प्रभाव न्यूनतम नहीं है । वास्तव में इन मामलों में अक्षेपित उद्ग्रहण का प्रभाव बिलकुल ही न्यूनतम नहीं है, उदाहरण के लिए 1983-84 वाले वर्ष के दौरान आयातित अखबारी कागज पर सीमा-शुल्क के तौर पर ट्रिब्यून ट्रस्ट को 18.7 लाख रुपए और दि स्टेट्समैन लिमिटेड को 35.9 लाख रुपए का संदाय करना है । अन्य बड़े-बड़े समाचारपत्रों को भी वार्षिक रूप से सीमा शुल्क के तौर पर बड़ी रकम का संदाय करना है ।

97. प्रस्तुत मामले में प्रश्न यह है कि क्या कर के सम्बन्ध में यह दर्शित किया गया है कि उसका भार इतना अधिक है जिससे कि उसको अभिखण्डित किए जाने की बात न्यायोचित ठहरायी जा सके ? पिटीशनर परिचालन में हुई गिरावट को दर्शित करने में सफल हुए हैं, किन्तु यह बात सम्यक् रूप से साबित नहीं की गई है कि यह सीमा-शुल्क के उद्ग्रहण और कीमत में हुई वृद्धि का सीधा परिणाम है । यह बात विभिन्न परिस्थितियों के कारण हो सकती है । परिचालन में हुई गिरावट रहन-सहन की लागत में हुई साधारण वृद्धि के कारण और लोगों की इतने समाचारपत्र खरीदने की जितने कि वे पहले खरीदते थे, अनिच्छा के कारण हो सकती है । वह खराब प्रबन्ध के कारण हो सकती है । वह सम्यक् नीति में परिवर्तन के कारण हो सकती है । वह समाचारपत्रों में महत्त्वपूर्ण लेखों के कतिपय लेखकों द्वारा लिखे गए लेखों के कारण हो सकती है । वह अन्य परिस्थितियों के कारण हो सकती है, जिन्हें गिनाना सम्भव नहीं है । समसामयिक होने के सिवाय यह उपदर्शित करने के लिए कोई बात मौजूद नहीं है कि परिचालन में थोड़ी-सी गिरावट प्रत्यक्षत: सीमा-शुल्क के उद्ग्रहण के कारण है । इस मामलें की एक विचित्र बात यह है कि पिटीशनरों ने अपना तुलन-पत्र या लाभ और हानि विवरणियां पेश करने की कोशिश नहीं की जिससे कि हमें इस बात का पता चल सके कि सीमा-शुल्क का उद्ग्रहण वास्तव में कितना अधिक भारी होता है । दूसरी ओर सरकार ने यह दर्शित करने की कोई भी कोशिश नहीं की है कि सम्पूर्ण तौर से समाचारपत्र उद्योग पर इस उद्ग्रहण का क्या प्रभाव पड़ा है । इन वर्षों के दौरान जो भी छूट उन्होंने दी, वह इस बात का संकेत है कि उद्ग्रहण का गम्भीर रूप से प्रभाव समाचारपत्र उद्योग पर पड़ना संभाव्य है । अब भी

छोटे और मध्यम श्रेणी के समाचारपत्रों को जो छूट दी गई है, उससे यह दर्शित होता है कि प्रभाव पड़ना अवश्यंभावी है। सरकार की ओर से यह दर्शित करने की कोई कोशिश नहीं की गई है कि उस प्रभाव की निश्चित प्रकृति क्या है। दूसरी ओर सरकार का पक्षकथन यह प्रतीत होता है कि ऐसी बातें पूरी तरह से असंगत हैं, यद्यपि महत्त्वपूर्ण तथ्य यह बच रहता है कि अनेक वर्षों तक स्वयं सरकार ने यह समझा था कि अखबारी कागज को पूरी छूट दी जानी चाहिए। जो सामग्री हमें उपलभ्य है, उसके आधार पर जबकि यह निष्कर्ष निकालना संभव नहीं है कि उदग्रहण का प्रभाव वास्तव में इतना भारी है कि उससे प्रेस के स्वातंत्र्य पर प्रभाव पड़ता है, हम यह निष्कर्ष भी नहीं निकाल सकते हैं कि वह भारी नहीं होगा। यह ऐसा मामला है, जिसका सम्बन्ध प्रेस के स्वातंत्र्य से है, जोकि, जैसा कि हमने कहा है, लोकतन्त्र की जान है। निश्चित रूप से यह ऐसा प्रश्न नहीं है जो सबूत के भार के प्रश्न के आधार पर विनिश्चित किया जाना चाहिए। यह दर्शित करने वाले कारक मौजूद हैं कि वर्तमान उदग्रहण भारी है और कदाचित् इतना अधिक भारी है कि उसका प्रभाव परिचालन पर पड़ता है। ऐसे महत्त्वपूर्ण विवाद्यक के संबंध में हम केवल इतना ही नहीं कह सकते कि पिटीशनरों ने यह साबित करने के लिए पर्याप्त सामग्री पेश नहीं की है कि परिचालन में हुई गिरावट का सीधा संबंध उदग्रहण में हुई वृद्धि से है, जबकि सरकार की ओर से यह मत व्यक्त किया गया है कि वह सब असंगत है। इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि केन्द्रीय सरकार को यह निदेश देने के लिए वैध आधार मौजूद है कि वह उसकी रोशनी में जोकि ऊपर कही गई है, इस मामले पर नए सिरे से विचार करे।

VII

क्या छूट के प्रयोजन के लिए किए गए समाचारपत्रों के वर्गीकरण से अनुच्छेद 14 का अतिक्रमण होता है ?

98. तथापि हमें कुछ पिटीशनरों की इस दलील में अधिक सार दिखाई नहीं पड़ता है कि सीमा-शुल्क उद्गृहीत करने के प्रयोजन के लिए समाचारपत्रों का छोटे, मध्यम और बड़े समाचारपत्रों में वर्गीकरण करने से संविधान के अनुच्छेद 14 का अतिक्रमण होता है। सीमा-शुल्क के संदाय से छोटे समाचारपत्रों को छूट देने का और मध्यम श्रेणी के समाचारपत्रों पर 5% (अब 275.00 रुपए प्रति मीट्रिक टन) मूल्यानुसार उद्गृहीत करने का, जबकि बड़े समाचारपत्रों पर पूरा सीमा-शुल्क उद्गृहीत करने का उद्देश्य छोटे और मध्यम श्रेणी के समाचारपत्रों को इस दृष्टि से सहायता देना है, जिससे कि उत्पादन

की उनकी लागत कम हो जाए। ऐसे समाचारपत्रों को विज्ञापनों से बड़े पैमाने पर राजस्व प्राप्त नहीं होता। परिचालन का उनका क्षेत्र सीमित होता है और उनमें से अधिकांश ऐसी भारतीय भाषाओं में छपते हैं, जोकि ग्रामीण क्षेत्रों की आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। हमें इस उद्देश्य में कोई भी बात अकल्याणकारी प्रतीत नहीं होती और न ही यह कहा जा सकता है कि इस वर्गीकरण का कोई भी संबंध प्राप्त किए जाने वाले उद्देश्य से नहीं है। जैसा कि **बैनेट कोलमैन**[1] वाले मामले में न्यायाधिपति मैथ्यू ने मत व्यक्त किया था कि राज्य का यह कर्तव्य है कि वह संविधान के अनुच्छेद 41 के अधीन प्रैस के माध्यम से जनता के बीच शिक्षा को प्रोत्साहित करे। अतः हम इस दलील को अस्वीकार करते हैं।

VIII

अनुतोष

99. अब उस अनुतोष की प्रकृति के सम्बन्ध में जोकि इन पिटीशनों में दिया जा सकता है, प्रश्न उत्पन्न होता है। इन मामलों में ऐसी विचित्र कठिनाई है, जोकि विचाराधीन विधान के नमूने से उत्पन्न हुई है। यदि अपेक्षित अधिसूचनाएं केवल अभिखण्डित की जाती हैं तो छूट देने वाली अधिसूचनाएं होने के कारण उनके अधीन दी गई छूट समाप्त हो जाएगी। क्या इस प्रकार अभिखण्डित करने के परिणामस्वरूप तारीख 15 जुलाई, 1977 वाली अधिसूचना, जोकि 1 मार्च, 1981 के पूर्व प्रवृत्त थी, और जिसके अधीन कुल छूट अनुदत्त की गई थी, पुनरुज्जीवित हो जाएगी? हम ऐसा नहीं समझते। तारीख, 1 मार्च, 1981 वाली आक्षेपित अधिसूचना तारीख 15 जुलाई, 1977 वाली अधिसूचना का अधिक्रमण करके निकाली गई थी और उसके द्वारा दो उद्देश्य प्राप्त हुए थे—तारीख 15 जुलाई, 1977 वाली अधिसूचना निरसित कर दी गई थी और अखबारी कागज पर 10% मूल्यानुसार सीमाशुल्क अधिरोपित किया गया था। चूंकि तारीख 15 जुलाई, 1977 वाली अधिसूचना स्वयं भारत सरकार ने निरसित कर दी थी, इसलिए 1 मार्च, 1981 वाली अधिसूचना को अभिखण्डित करने पर वह पुनरुज्जीवित नहीं हो सकती। जिस पूर्वतर अधिसूचना के स्थान पर बाद वाली अधिसूचना निकाली गई थी, उस पर इस न्यायालय ने बाद वाली अधिसूचना के इस प्रकार अभिखण्डित किए जाने के पड़ने वाले प्रभाव पर **बी० एन० तिवारी बनाम भारत संघ और अन्य**[2] वाले मामले में विचार किया है। उस मामले में तथ्य ये

[1] [1973] 1 उम० नि० प० 527=[1972] ए० आई० आर० 1973 एस० सी० 106.
[2] [1965] 2 एस० सी० आर० 421.

थे : 1952 में केन्द्रीय सेवाओं को शासित करने वाला "अग्रनयन का नियम" पुर:स्थापित किया गया, जिसके द्वारा किसी विशिष्ट वर्ष की ऐसी आरक्षित रिक्तियां, जो भरी न गई हों, केवल एक वर्ष के लिए अग्रेनीत की जाएंगी। 1955 में उपर्युक्त नियम के स्थान पर एक दूसरा नियम पुर:स्थापित किया गया, जिसमें यह उपबन्ध किया गया था कि किसी विशिष्ट वर्ष की ऐसी आरक्षित रिक्तियां जो भरी न गई हों, दो वर्ष के लिए अग्रेनीत की जाएंगी। **टी० देवदासन** बनाम **भारत संघ और एक अन्य**[1] वाले मामले में, 1955 वाला नियम असांवधानिक घोषित किया गया था। उस मामले में अर्थात् (बी० एन० तिवारी **बनाम** भारत संघ और अन्य वाले मामले में विचार के लिए जो प्रश्न उत्पन्न हुए थे, उसमें से एक यह था कि क्या 1952 वाला नियम 1965 वाले नियम के अभिखण्डित किए जाने के बाद पुनरुज्जीवित हो गया है। इस न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि वह पुनरुज्जीवित नहीं हो सकता। उपर्युक्त प्रश्न के सम्बन्ध में इस न्यायालय के विचार निम्नलिखित हैं---

> "सबसे पहले हम इस प्रश्न पर विचार करेंगे कि क्या 1952 वाला 'अग्रनयन नियम' इस समय भी विद्यमान है। यह सच है कि देवदासन वाले मामले में, इस न्यायालय का अन्तिम आदेश निम्नलिखित पदों में था—
>
> > 'परिणामतः पिटीशन भागतः सफल होती है और 1955 में यथाउपान्तरित अग्रनयन नियम को अविधिमान्य घोषित किया जाता है।' "

तथापि, उससे यह अभिप्रेत नहीं है कि इस न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया था कि 1952 वाले नियम की बाबत यह अवश्य ही समझा जाना चाहिए कि वह इसलिए विद्यमान है, क्योंकि इस न्यायालय ने यह कहा था कि 1955 में यथाउपान्तरित अग्रनयन नियम को अविधिमान्य घोषित किया गया। 1952 वाले अग्रनयन नियम के स्थान पर, 1955 का अग्रनयन नियम प्रतिस्थापित किया गया। इस प्रतिस्थापन पर 1952 वाला अग्रनयन नियम विद्यमान नहीं रह गया, क्योंकि 1955 वाला अग्रनयन नियम ने उसका स्थान ले लिया। इस प्रकार 1955 में नया अग्रनयन नियम प्रख्यापित करके स्वयं भारत सरकार ने 1952 वाले अग्रनयन नियम को रद्द कर दिया। अतः जबकि इस न्यायालय ने 1952 में यथाउपान्तरित अग्रनयन नियम को अभिखण्डित

---

1 [1964] 4 एस० सी० आर० 680.

किया था, उस समय उससे यह अभिप्रेत नहीं था कि 1952 का वह अग्रनयन नियम जोकि पहले ही अस्तित्व में नहीं रह गया था, क्योंकि स्वयं भारत सरकार ने उसे रद्द कर दिया था और उसके स्थान पर 1955 में यथाउपान्तरित नियम प्रतिस्थापित कर दिया था, पुनरुज्जीवित हो सकता हैं। अतः हमारी राय यह है कि देवदासन वाले मामले में किए गए इस न्यायालय के निर्णय के बाद अग्रनयन का कोई नियम ही नहीं है, क्योंकि इस न्यायालय ने 1955 के अग्रनयन नियम को अभिखण्डित कर दिया था, जबकि 1952 वाला अग्रनयन नियम उस समय अस्तित्व में नही रह गया था, जबकि भारत सरकार ने उसके स्थान पर 1955 का अग्रनयन नियम प्रतिस्थापित किया।"

100. **फर्म ए० टी० बी० मेहताब मजीद एण्ड कम्पनी** बनाम **मद्रास राज्य और एक अन्य**[1] वाले मामले में इस न्यायालय का यह मत था कि यदि पुराने नियम के स्थान पर नया नियम प्रतिस्थापित कर दिया गया है, तो वह विद्यमान नहीं रह जाता और वह उस समय पुनरुज्जीवित नहीं हो जाता, जबकि नया नियम अविधिमान्य अभिनिर्धारित किया जाता है।

101. **मोहम्मद शौकत हुसैन खान** बनाम **आन्ध्र प्रदेश राज्य**[2] वाले मामले में जो विनिर्णय किया गया था, वह इन मामलों को लागू नहीं होता। उस मामले में बाद वाली विधि, जिसने पूर्वतर विधि को उपान्तरित किया था और जिसकी बाबत यह अभिनिर्धारित किया गया था कि वह शून्य है, ऐसी विधि है, जोकि न्यायालय के मतानुसार, राज्य विधानमण्डल द्वारा बिलकुल ही पारित नहीं की जा सकती थी। ऐसे मामले में पूर्वतर विधि की बाबत यह समझा जा सकता था कि वह कभी भी उपान्तरित या निरसित नहीं की गई थी और इसी कारण से वह प्रवृत्त बनी रही। वह यथार्थतः पूर्वतर ऐसी विधि के पुनरुज्जीवित होने का मामला नहीं था जो कि बाद वाली ऐसी विधि के, जिसका तात्पर्य पूर्वतर विधि को उपान्तरित या निरसित करना था, अभिखण्डित कर दिए जाने पर निरसित या उपान्तरित कर दी गई थी। यह ऐसा मामला था, जिसमें पूर्वतर विधि प्रभावी रूप से न तो उपान्तरित की गई थी और न ही निरसित। **श्री मूलचन्द उधवजी** बनाम **राजकोट बर म्युनिसिपैलिटी**[3] वाले मामले में इस न्यायालय ने जो विनिश्चय किया था, वह भी प्रभेद्य है। उस मामले में राज्य सरकार को सौराष्ट्र टर्मिनल टैक्स एण्ड ऑक्ट्राय आर्डिनेन्स

1 [1963] सप्लीमेंट 2 एस० सी० आर० 435 पृष्ठ 446.

2 [1974] 2 उम० नि० प. 1652=[1975] 1 एस० सी० आर० 429.

3 ए० आई० आर० 1970 एस० सी० 685.

(सौराष्ट्र सीमा-कर और चुंगी अध्यादेश), 1949 (1949 का अध्यादेश सं० 45) की धारा 3 द्वारा इस बात के लिए सशक्त किया गया था कि वह उसकी अनुसूची-I में विनिर्दिष्ट कस्बों और नगरों में चुंगी अधिरोपित कर सकेगी और धारा 4 के अधीन सरकार इस बात के लिए प्राधिकृत की गई थी कि वह चुंगी के अधिरोपण के संग्रहण के लिए नियम बना सकेगी। ये नियम तब तक प्रवृत्त रहने थे, जब तक कि नगरपालिका अपने ही नियम न बना ले। संबंधित नगरपालिका द्वारा विरचित नियमों की बाबत यह अभिनिर्धारित किया गया कि वे अप्रवर्तनीय हैं। तो प्रश्न यह उत्पन्न हुआ कि क्या सरकार के नियम प्रवृत्त बने हुए हैं। न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि—

> "तथापि सरकारी नियम प्रवृत्त नहीं रह गए थे, क्योंकि अधिसूचना में यह उपबंध किया गया था : 'उस तारीख से जिसको उक्त नगरपालिका अपनी स्वतंत्र उपविधियां प्रवृत्त करती हैं।' सन्देह से परे यह बात स्पष्ट है कि सरकार के नियम उस समय से ही लागू नहीं रह गए, जिस समय प्रत्यर्थी नगरपालिका ने अपनी उन उपविधियों और नियमों को प्रवृत्त किया था, जिनके अधीन वह विधिमान्य रूप से चुंगी अधिरोपित, उद्गृहीत और वसूल कर सकती थी। उक्त अधिसूचना का आशय क्रमभंग करना नहीं था। उस समय क्रमभंग नहीं हुआ था, जबकि न तो सरकारी नियम और न ही नगरपालिका के नियम इस क्षेत्र में विद्यमान हैं। अतः यह बात स्पष्ट है कि यदि प्रत्यर्थी नगरपालिका द्वारा बनाई गई उपविधियों को इस या उस कारण से उदाहरणार्थ, इस कारण से कि वे विधिमान्य रूप से नहीं बनाई गई हैं, वैध रूप से प्रवृत्त नहीं रह सकती थीं, तो सरकार के नियम प्रवृत्त बने रहेंगे, क्योंकि यह नहीं कहा जा सकता कि नगरपालिका ने अपनी स्वतंत्र उपविधियां प्रवृत्त की थीं। अतः विचारण न्यायालय और ज़िला न्यायालय का यह अभिनिर्धारित करना ठीक था कि प्रत्यर्थी नगर-पालिका सरकारी नियमों के अधीन अपीलार्थी फ़र्म से चुंगी उद्गृहीत और संगृहीत कर सकती थी। सरकारी नियमों के पुनरुज्जीवित होने का तो कोई प्रश्न ही नहीं था, क्योंकि प्रत्यर्थी नगरपालिका के विधि-मान्य नियमों के अभाव में वे प्रवर्तित बने रहे। अतः इस सम्बन्ध में काउन्सेल की दलील को कायम नहीं रखा जा सकता।"

102. हमारे समक्ष प्रस्तुत मामलों में हमारे पास दोनों भिन्न-भिन्न प्राधिकारियों द्वारा बनाए गए नियम नहीं हैं, जैसी बात मूलचन्द[1] वाले मामले

---

[1] ए० आई० आर० 1970 एस० सी० 685.

में थी, और बाद वाली अधिसूचना के अभिखण्डित कर दिए जाने की स्थिति में सरकार की ओर से उस छूट को बनाए रखने का आशय भी साबित नहीं हुआ है। **कोटेश्वर विट्ठल कामथ** बनाम **के० रंगप्पा बालिगा एण्ड कम्पनी**[1] वाले मामले में इस न्यायालय ने जो विनिश्चय किया था, उससे पिटीशनरों को कोई समर्थन प्राप्त नहीं होता। पुन: उस मामले में प्रश्न यह था कि क्या बाद वाले विधान का प्रभाव जिसे विधान मण्डल ने सक्षमता के बिना पारित कर दिया था, पूर्वतर नियम को पुनरुज्जीवित करना है, जिसका उद्देश्य उसे अधिक्रांत करना था। पुन: यह मामला **मोहम्मद शौकत हुसैन खान**[2] वाले मामले की कोटि का है। इस ओर भी ध्यान दिया जा सकता है कि **कोटेश्वर विट्ठल कामथ**[2] वाले मामले में, **फर्म ए० टी० बी० मेहताब मजीद एण्ड कम्पनी**[3] वाले मामले में किए गए विनिर्णय से प्रभेद किया गया। **महाराष्ट्र राज्य और अन्य** बनाम **सैंट्रल प्रोविन्सेज मैंगनीज और कम्पनी लिमिटेड**[4] वाला मामला भी प्रभेद्य है। इस मामले में सम्पूर्ण विधायी प्रक्रिया, जिसे प्रतिस्थापन कहा गया था, विफल हो गई थी, क्योंकि वह गवर्नर-जनरल की अनुमति के अभाव में प्रभावी नहीं हुई थी और न्यायालय ने उस मामले का **बी० एन० तिवारी**[5] वाले मामले से प्रभेद किया था। हम यहां पर यह भी कथन कर सकते हैं कि उस समय जब कि पूर्वतर विधि के स्थान पर अधिनियमित बाद वाली विधि को अविधिमान्य घोषित किया जाता है, तो पूर्वतर विधि पर पड़ने वाला विधिक प्रभाव "प्रतिस्थापन" या "अधिक्रमण" जैसे शब्दों के उपयोग मात्र पर निर्भर नहीं है। यह बात सम्पूर्ण परिस्थितियों पर और उस सन्दर्भ पर निर्भर होती है, जिन पर उनका उपयोग किया जाता है।

103. हमारे समक्ष प्रस्तुत मामलों में तारीख 15 जुलाई, 1977 वाली अधिसूचना को निरसित, बातिल या अधिक्रांत करने विषयक केन्द्रीय सरकार की सक्षमता को प्रश्नगत नहीं किया गया है, इसलिए ऐसी आक्षेपित अधिसूचनाओं के, जिनकी बाबत यह अभिनिर्धारित किया गया हो कि वे शून्य हैं, पुनरुज्जीवित होने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। प्रस्तुत मामलों को **बी० एन० तिवारी**[5] वाले मामले में अधिकथित नियम लागू होता है।

104. अत: यदि तारीख 15 जुलाई, 1977 वाली अधिसूचना

---

1 [1969] 3 उम० नि० प० 367=[1969] 3 एस० सी० आर० 40.
2 [1974] 2 उम० नि० प० 1652=[1975] 1 एस० सी० आर० 429.
3 [1963] सप्लीमेंट 2 एस० सी० आर० 435 पृष्ठ 446.
4 [1977] 4 उम० नि० प० 542=[1977] 1 एस० सी० आर० 1002.
5 [1965] 2 एस० सी० आर० 421.

आक्षेपित अधिसूचनाओं के अभिखण्डित किए जानें पर पुनरुज्जीवित नहीं हो सकती, तो इसका परिणाम इन पिटीशनरों के लिए अमंगलकारी होगा, क्योंकि उन्हें 1 मार्च, 1981 से 28 फरवरी, 1982 तक के लिए 40% मूल्यानुसार और 1 मार्च, 1982 से आगे 1000·00 रुपए प्रति मीट्रिक टन सहित 40% मूल्यानुसार सीमा-शुल्क संदत्त करना होगा। इसके अलावा वे 1982-83 वाले वित्तीय वर्ष के लिए 30% मूल्यानुसार और 1983-84 वाले वित्तीय वर्ष के दौरान 50% मूल्यानुसार अतिरिक्त शुल्क संदत्त करने के दायित्वाधीन होंगे। वे सीधे ही चालू वित्तीय वर्ष के दौरान सम्पूर्ण सीमा-शुल्क और कोई अन्य शुल्क का संदाय करने के दायित्वाधीन होंगे।

105. निस्सन्देह यह सच है कि कुछ पिटीशनरों ने सीमा-शुल्क टैरिफ अधिनियम, 1975 द्वारा विहित उद्ग्रहण की विधिमान्यता को भी प्रश्नगत किया है। किन्तु हमारा मत यह है कि उसे सीमा-शुल्क उद्गृहीत करने वाले ऐसे विधायी उपबंधों के नमूने के कारण, जोकि अभिभावी परिस्थितियों का ध्यान रखते हुए सीमा-शुल्क अधिनियम, 1962 की धारा 25 के अधीन शुल्क कम करने के लिए या कुल छूट अनुदत्त करने के लिए और समय-समय पर ऐसी रियायतों में परिवर्तन करने के लिए समुचित मामलों में सरकार को प्राधिकृत करते हैं, अभिखण्डित करना अनावश्यक है। सीमा-शुल्क के मामले में सरकारी परिपाटी ने सीमा-शुल्क अधिरोपित करने वाली विधि को वस्तुतः अनिश्चित विधान बना दिया है। संसद् सरकार से यह आशा करती है कि वह समय-समय पर प्रत्येक मामले की स्थिति का पुनर्विलोकन करे और निनिश्चित करे कि सीमा-शुल्क टैरिफ अधिनियम, 1975 द्वारा विहित सीमाओं के भीतर कितना शुल्क उद्गृहीत किया जाना चाहिए। इसलिए सीमा-शुल्क टैरिफ अधिनियम, 1975 में उपबंधों की विधिमान्यता की अब परीक्षा करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि यह साबित कर दिया गया है कि सरकार 1 मार्च, 1981 को और उसके बाद सीमा-शुल्क अधिनियम, 1962 की धारा 25 के अधीन निकाली गई आक्षेपित अधिसूचनाएं निकालते हुए विधि के अनुसार अपनी कानूनी बाध्यताओं का निर्वहन करने में असफल रही, इसलिए सरकार को यह निदेश दिया जाना चाहिए कि वह उस छूट की जोकि 1 मार्च, 1981 के बाद की कालावधि के लिए सभी सुसंगत बातों को विचार में लेने के बाद अखबारी कागजों के आयात के सम्बन्ध में दी जानी चाहिए, सीमा से सम्बन्धित सम्पूर्ण विवाद्यक की पुनर्परीक्षा करे। हम यह रास्ता इसलिए अपनाते हैं कि हम भी यह नहीं चाहते कि सरकार को उस वैध शुल्क से वंचित कर दिया जाए, जोकि पिटीशनरों को सुसंगत कालावधि

के दौरान आयातित अखबारी कागज पर संदत्त करना होगा ।

106. परिणामत: इन मामलों के विचित्र लक्षणों को देखते हुए और संविधान के अनुच्छेद 32 का ध्यान रखते हुए, जोकि इस न्यायालय पर मूल अधिकारों को प्रवृत्त करने की बाध्यता अधिरोपित करता है और संविधान के अनुच्छेद 142 का ध्यान रखते हुए, जोकि इस न्यायालय को इस बात में समर्थ बनाता है कि वह अपनी अधिकारिता का प्रयोग करते हुए अपने समक्ष लम्बित किसी वाद-हेतुक में या मामले में ऐसा आदेश करे, जैसा कि पूर्ण न्याय करने के लिए आवश्यक हो, हम इन मामलों में निम्नलिखित आदेश करते हैं—

1. भारत सरकार समाचारपत्रों, पत्र-पत्रिकाओं आदि को मुद्रित करने के लिए प्रयुक्त अखबारी कागज पर पिटीशनरों और अन्य व्यक्तियों द्वारा 1 मार्च, 1981 से संदेय आयात-शुल्क या अतिरिक्त शुल्क के उद्ग्रहण के सम्पूर्ण प्रश्न पर छह मास के भीतर विचार करेगी । पिटीशनर और अन्य व्यक्ति, जो कि समाचारपत्र के कारबार में लगे हुए हैं, सरकार को ऐसी सभी सूचना उपलभ्य कराएंगे, जोकि इस प्रश्न को विनिश्चित करने के लिए आवश्यक हो ।

2. यदि ऐसे विचार करने पर सरकार यह विनिश्चित करती है कि 1 मार्च, 1981 से सीमा-शुल्क या अतिरिक्त शुल्क के उद्ग्रहण में कोई उपान्तरण किया जाना चाहिए, तो वह अपने विनिश्चय को कार्यान्वित करने के लिए आवश्यक कदम उठाएगी ।

3. पिटीशनर और अन्य व्यक्तियों के दायित्व का ऐसा पुनरावधारण किए जाने तक सरकार सीमा-शुल्क और अतिरिक्त शुल्क के तौर पर आयातित अखबारी कागज पर मात्र 550/- रुपए प्रति मीट्रिक टन की दर से वसूल करेगी और आक्षेपित अधिसूचनाओं के अनुसार शुल्क के संदाय पर जोर नहीं डालेगी । तथापि, मध्यम और छोटे समाचारपत्रों को जो रियायतें दी गई हैं, वे प्रवृत्त बनी रहेंगी ।

4. यदि ऐसे पुनरावधारण के पश्चात् यह पाया जाता है कि पिटीशनरों में से कोई शुल्क के रूप में संदेय किसी रकम से कम संदाय करने का दायी है, तो ऐसा पिटीशनर ऐसी कम रकम उस तारीख से, जिसको सम्बन्धित प्राधिकारी मांग की सूचना ऐसे पिटीशनर पर तामील करता है, 4 मास के भीतर संदत्त करेगा । पिटीशनरों

द्वारा दी गई कोई भी प्रत्याभूति या प्रतिभूति ऐसी कम रकम की वसूली के लिए उपलभ्य होगी ।

5. यदि ऐसे पुनरावधारण के पश्चात् यह पाया जाता है कि पिटीशनरों में से कोई, रकम वापस लेने का हकदार है, तो सरकार ऐसी रकम पुनरावधारण की तारीख से चार मास के भीतर संदत्त कर देगी ।

6. इन मामलों में प्रत्यर्थियों को तदनुसार, रिट जारी किया जाए । तथापि, पक्षकार अपने-अपने खर्चे वहन करेंगे ।

तदनुसार, पिटीशन मंजूर किए जाते हैं ।

पिटीशन मंजूर किए गए ।

श्री०/भू०/स०

———

गोवा सैम्पलिंग एम्पलाईज एसोसिएशन

बनाम

मैसर्स जनरल सुपरिण्टेन्डेन्स कंपनी आफ इण्डिया प्राइवेट लिमिटेड और अन्य

(11 दिसम्बर, 1984)

(न्यायाधिपति डी० ए० देसाई और अमरेन्द्र नाथ सेन)

औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947 (1947 का 14)—धारा 2(क)(1) और धारा 10 (1) [सपठित संविधान, 1950, अनुच्छेद 239 और संघ राज्यक्षेत्र शासन अधिनियम, 1963]—समुचित सरकार— गोवा सैम्पलिंग एम्पलाईज एसोसिएशन द्वारा प्रतिनिधित्व किए गए कर्मकारों का एक महापत्तन पर काम करना—कर्मकारों और नियोजकों में औद्योगिक विवाद होना— विवाद न्यायनिर्णयन के लिए केन्द्रीय सरकार द्वारा औद्योगिक अधिकरण के पास निर्देशित किया जाना— यह आरंभिक आक्षेप किया जाना कि विवाद को निर्देशित करने के प्रयोजन के लिए केन्द्रीय सरकार समुचित सरकार नहीं है— संघ राज्यक्षेत्र का प्रशासन राष्ट्रपति अपने द्वारा नियुक्त प्रशासक के माध्यम से करता है, अतः धारा 10 (1) के अधीन निर्देश करने के लिए केन्द्रीय सरकार ही धारा 2 (क) (1) के अर्थ में समुचित सरकार है।

केन्द्रीय सरकार ने औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947 की धारा 10 (1) (घ) के अधीन फाइल की गई प्रत्येक अर्जी में अपीलार्थी-गोवा सैम्पलिंग एम्पलाईज एसोसिएशन और प्रथम प्रत्यर्थी के बीच औद्योगिक विवाद केन्द्रीय सरकार के औद्योगिक अधिकरण, मुम्बई को निर्देशित किया। अधिकरण के समक्ष सुनवाई के समय आरम्भिक आक्षेप किया गया कि केन्द्रीय सरकार प्रस्तुत औद्योगिक विवाद के विषय में समुचित सरकार नहीं है। अतः केन्द्रीय सरकार को अधिनियम की धारा 10(1)(घ) के अधीन निर्देश करने की कोई शक्ति नहीं है और तदनुसार अधिकरण को निर्देश करने की कोई अधिकारिता नहीं होगी। संघ ने इस बात पर जोर देकर इस दलील को काटने का प्रयास किया कि कर्मकार डाक कर्मकार (नियोजन का विनियमन)

अधिनियम, 1948 में आए पद के अर्थ में "डाक कर्मकार" हैं और चूंकि वे एक महापत्तन पर काम करते हैं, इसलिए केन्द्रीय सरकार संघ और कर्मकारों में उत्पन्न औद्योगिक विवाद के संबंध में समुचित सरकार होगी और, इसीलिए, निर्देश विधिमान्य है और अधिकरण को विधि के अनुसार गुणागुण के आधार पर उन पर कार्यवाही करनी चाहिए। दूसरे यह दलील दी गई कि संघ राज्यक्षेत्र के सम्बन्ध में केन्द्रीय सरकार ही समुचित सरकार है। अधिकरण ने अभिनिर्धारित किया कि निर्देश के अन्तर्गत आने वाले कर्मकार मर्मुगांव पत्तन पर काम करते हैं, इसलिए उनके द्वारा उठाए गए औद्योगिक विवाद की बाबत केन्द्रीय सरकार समुचित सरकार है। नियोजक ने प्रत्येक निर्देश में मुम्बई उच्च न्यायालय में संविधान के अनुच्छेद 227 के अधीन विशेष सिविल आवेदन फाइल किया। उच्च न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया कि अपीलार्थी संघ द्वारा प्रतिनिधित्व किए गए कर्मकार महापत्तन से संसक्त या सम्बन्धित कोई काम नहीं करते। उच्च न्यायालय ने यह निश्चय किया कि प्रशासक ही अधिनियम की धारा 2(क)(1) के प्रयोजन के लिए समुचित सरकार है और इसीलिए केन्द्रीय सरकार समुचित सरकार नहीं है और उसे आक्षेपित निर्देश करने की कोई अधिकारिता नहीं है। इस प्रकार विशेष इजाज़त लेकर यह अपील फाइल की गई। अपील मंजूर करते हुए,

अभिनिर्धारित—संघ राज्यक्षेत्र शासन अधिनियम, 1963 का उद्देश्य है कुछ संघ राज्यक्षेत्रों के लिए विधानसभाओं और मंत्री परिषदों के लिए कुछ अन्य विषयों के लिए उपबंध करना। गोवा, दमण और दीव सघ राज्यक्षेत्र 1963 के अधिनियम द्वारा शासित होता है। "प्रशासक" शब्द की परिभाषा 1963 के अधिनियम की धारा 2(क) में इस अर्थ में दी गई है—"अनुच्छेद 239 के अधीन राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त संघ राज्यक्षेत्र का प्रशासक"। धारा 18 यह विनिर्दिष्ट करती है कि सातवीं अनुसूची में राज्य सूची में या समवर्ती सूची में प्रगणित किसी भी विषय के सम्बन्ध में संघ राज्यक्षेत्र की विधानसभा की विधायी शक्ति कहां तक है। धारा 44 में उपबंधित है कि प्रत्येक संघ राज्य क्षेत्र में मंत्री परिषद होगी, जिसका प्रमुख मुख्य मंत्री होगा और जो प्रशासक का उन विषयों की बाबत, जिनकी बाबत संघ राज्यक्षेत्र की विधान सभा को विधियां बनाने की शक्ति प्राप्त हो, उसके कार्यों का पालन करने में मदद और सलाह देगी। इसमें वह विषय शामिल नहीं है, जिसके संबंध में अधिनियम द्वारा या के अधीन उससे यह अपेक्षित है कि वह अपने विवेकानुसार कार्य करे अथवा किसी विधि द्वारा या के अधीन उससे अपेक्षित है कि वह कोई न्यायिक या न्यायिककल्प कार्य करे। धारा 44(1) का एक परन्तुक है,

जो प्रशासक की स्थिति और मंत्री परिषद् की शक्तियों पर प्रकाश डालता है। इस परन्तुक के अनुसार किसी विषय पर प्रशासक और मंत्री परिषद् में मतभेद होने पर प्रशासक उस विषय को विनिश्चय के लिए राष्ट्रपति के पास भेजेगा। इस प्रकार, प्रशासक की कार्यपालक शक्ति का विस्तार उन सब विषयों तक है, जो विधायी शक्ति के अन्तर्गत आते हैं किन्तु मतभेद की दशा में राष्ट्रपति विनिश्चय करता है। जब राष्ट्रपति उस मुद्दे पर विनिश्चय करता है तो वास्तव में केन्द्रीय सरकार ही विनिश्चय करती है और वह विनिश्चय प्रशासक पर तथा मंत्री परिषद् पर भी आबद्धकर होता है। (पैरा 12)

औद्योगिक विवाद अधिनियम की धारा 10(1), इस धारा में प्रगणित विभिन्न प्राधिकारियों में से किसी भी प्राधिकारी के पास न्यायनिर्णयन के लिए औद्योगिक विवाद निर्देशित करने के लिए समुचित सरकार को शक्ति प्रदान करती है। इस प्रकार यह शक्ति निर्देश करने वाली समुचित सरकार की शक्ति है। (पैरा 14)

इसमें संदेह की कोई गुंजाइश नहीं है कि "संघ राज्यक्षेत्र का प्रशासन" पद चाहे प्रशासक का वर्णन किसी भी रूप में किया गया हो, "राज्य सरकार" पद, में समाविष्ट नहीं होगा, जैसा कि किसी भी अधिनियमिति में प्रयुक्त किया गया हो। साधारण खण्ड अधिनियम, 1897 की धारा 3 में उपबंधित है कि सभी सांधारण अधिनियमों और अधिनियम के आरम्भ के बाद बनाये गये विनियमनों में जब तक कि विषय या संदर्भ में कोई बात प्रतिकूल न हो परिभाषित किये गये शब्द का वही अर्थ होगा जो उन्हें दिया गया है। यह निर्विवाद है कि औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947 एक केन्द्रीय अधिनियम है जो साधारण खण्ड अधिनियम के प्रारंभ के बाद बनाया गया था और सुसंगत परिभाषाओं को संवैधानिक और कानूनी अपेक्षाओं के अनुरूप ढाला गया इसलिए "केन्द्रीय सरकार", "राज्य सरकार" और "संघ राज्यक्षेत्र" पदों का वही अर्थ होना चाहिए जो इन्हें साधारण खण्ड अधिनियम में दिया गया है जब तक कि उस विषय या संदर्भ में कोई प्रतिकूल बात न हो जिसमें इनका प्रयोग किया गया है। ऐसी कोई प्रतिकूलता न्यायालय की दृष्टि में नहीं लाई गई। अत: इन पदों का वही अर्थ होना चाहिए जो इन्हें दिया गया है। (पैरा 15)

संविधान के और संघ राज्यक्षेत्र शासन अधिनियम, 1963 के सुसंगत उपबंधों की पृष्ठभूमि में यह स्पष्ट हो जाता है कि राज्य सरकार की सकल्पना संघ राज्यक्षेत्र के प्रशासन के लिए अपरिचित है और अनुच्छेद 239 में उपबंधित

है कि प्रत्येक संघ राज्यक्षेत्र का प्रशासन राष्ट्रपति करेगा । राष्ट्रपति अपने द्वारा नियुक्त प्रशासक के माध्यम से ऐसा कर सकता है । इस प्रकार, प्रशासक राष्ट्रपति का प्रत्यायोजिती है । उसकी स्थिति राज्य के राज्यपाल की स्थिति से पूर्णत: भिन्न है । प्रशासक अपने मंत्री से मतभेद रख सकता है लेकिन उसे ऐसी स्थिति में राष्ट्रपति अर्थात् केन्द्रीय सरकार के आदेश लेने होंगे । इस प्रकार, किसी भी स्थिति में, राज्य सरकार को संघ राज्यक्षेत्र का प्रशासक नहीं कहा जा सकता । अत: केन्द्रीय सरकार ही समुचित सरकार है । (पैरा 18)

निर्दिष्ट निर्णय

पैरा

[1962] [1962] 2 एस० सी० आर० 794:
मध्य प्रदेश राज्य बनाम **श्री मौलाबख्श और अन्य;** 16

[1955] [1955] एस० सी० आर० 549:
सत्य देवी बुशहरी बनाम **पदमदेव और अन्य.** 16

सिविल अपीली अधिकारिता : 1984 की सिविल अपील सं० 4904-4908

विशेष सिविल आवदेन सं० 97ख/80, 98ख/80, 100ख/80 और 99ख/80 और 67ख/80 में मुम्बई उच्च न्यायालय के तारीख 19 सितम्बर, 1983 वाले निर्णय और आदेश के विरुद्ध की गई अपीलें।

अपीलार्थी की ओर से — सर्वश्री वी० ए० बोबडे, के० जे० जॉन और कुमारी एन० श्रीवास्तव

प्रत्यर्थियों की ओर से — सर्वश्री एफ० एस० नारीमन, कुमारी ए० सुभाषिणी, श्री एम० एस० उसगावकर, श्री एस० के० मेहता, श्री पी० एन० पुरी और श्री एम० के० दुआ.

न्यायालय का निर्णय न्यायाधिपति डी० ए० देसाई ने दिया।

न्यायाधिपति देसाई—

1. विशेष इजाजत दी गई ।

2. पुन: नितान्त अमान्य आरम्भिक आक्षेप की वही फिजूल प्रक्रिया

तथा देश की मूल्यवान सामाजिक-आर्थिक न्याय की तलाश को गुमराह करने वाली इस बेतुकी प्रक्रिया में एक दशक का मूल्यवान समय गवां दिया गया है जिससे यह स्वप्न, यदि मृगमरीचिका नहीं तो, कम से कम एक दुर्लभ स्वप्न अवश्य बन गया है।

3. समुचित सरकार के नाते केन्द्रीय सरकार ने औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947 (संक्षेप में अधिनियम) की धारा 10 (1) (घ) के अधीन फाइल की गई प्रत्येक अर्जी में अपीलार्थी—गोवा सैम्पलिंग एम्पलाईज एसोसिएशन (संक्षेप में जिसे 'संघ' कहा गया है) और प्रथम प्रत्यर्थी (संक्षेप में जिसे "नियोजक" कहा गया है), के बीच औद्योगिक विवाद वर्ष 1974 और 1975 में किए गए भिन्न-भिन्न आदेशों द्वारा केन्द्रीय सरकार के औद्योगिक अधिकरण सं० 2 मुम्बई को निर्देशित किया। पांच पृथक्-पृथक् निर्देश किए गए, क्योंकि हालांकि कर्मचारियों का प्रतिनिधित्व करने वाला संघ सभी निर्देशों में एक ही है, फिर भी नियोजक भिन्न हैं। किन्तु प्रत्येक निर्देश में एक-ही प्रश्न उत्पन्न हुआ है। जब अधिकरण के समक्ष सुनवाई के लिए निर्देश प्रस्तुत किए गए तो, ऐसा प्रतीत होता है कि, प्रत्येक मामले में प्रत्यर्थी ने आरम्भिक आक्षेप किया। किन्तु सबसे पहले कौन-सा आरम्भिक आक्षेप किया गया, यह हमारी समझ में नहीं आया। अधिकरण ने आरम्भिक आक्षेप अस्वीकार कर दिया, जिस पर नियोजक ने एक प्राधिकरण के समक्ष कोई अपील फाइल की थी, जिसका अभिलेख में स्पष्ट उल्लेख नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि ये मामले अधिकरण को भेज दिए गए थे और तत्पश्चात् पांचों निर्देश केन्द्रीय सरकार के औद्योगिक अधिकरण सं० 1 (संक्षेप में "अधिकरण" को निर्देशित किए गए थे।

4. जब निर्देश सुनवाई के लिए पुनः अधिकरण के समक्ष आए तो वही पुनरावृत्ति की गई। आरम्भिक आक्षेप किया गया कि केन्द्रीय सरकार संघ और नियोजक के बीच उत्पन्न औद्योगिक विवाद के विषय में समुचित सरकार नहीं है, अतः केन्द्रीय सरकार को अधिनियम की धारा 10 (1) (घ) के अधीन निर्देश करने की कोई शक्ति नहीं है और तदनुसार अधिकरण को निर्देश करने की कोई अधिकारिता नहीं होगी। संघ ने इस बात पर जोर देकर इस दलील को काटने का प्रयास किया कि कर्मकार 'डाक कर्मकार' (नियोजन का विनियमन) अधिनियम, 1948 में आए पद के अर्थ में 'डाक कर्मकार' हैं और चूंकि वे एक महापत्तन पर काम करते हैं, इसलिए केन्द्रीय सरकार संघ और कर्मकारों में उत्पन्न औद्योगिक विवाद के संबंध में समुचित सरकार होगी और, इसीलिए, निर्देश विधिमान्य है और अधिकरण को विधि

है कि प्रत्येक संघ राज्यक्षेत्र का प्रशासन राष्ट्रपति करेगा । राष्ट्रपति अपने द्वारा नियुक्त प्रशासक के माध्यम से ऐसा कर सकता है । इस प्रकार, प्रशासक राष्ट्रपति का प्रत्यायोजिती है । उसकी स्थिति राज्य के राज्यपाल की स्थिति से पूर्णतः भिन्न है । प्रशासक अपने मंत्री से मतभेद रख सकता है लेकिन उसे ऐसी स्थिति में राष्ट्रपति अर्थात् केन्द्रीय सरकार के आदेश लेने होंगे । इस प्रकार, किसी भी स्थिति में, राज्य सरकार को संघ राज्यक्षेत्र का प्रशासक नहीं कहा जा सकता । अतः केन्द्रीय सरकार ही समुचित सरकार है । (पैरा 18)

निर्दिष्ट निर्णय

पैरा

[1962] [1962] 2 एस० सी० आर० 794:
मध्य प्रदेश राज्य बनाम **श्री मौलाबख्श और अन्य**; 16

[1955] [1955] एस० सी० आर० 549:
सत्य देवी बुशहरी बनाम **पदमदेव और अन्य**. 16

सिविल अपीली अधिकारिता : 1984 की सिविल अपील सं० 4904-4908

विशेष सिविल आवेदन सं० 97ख/80, 98ख/80, 100ख/80 और 99ख/80 और 67ख/80 में मुम्बई उच्च न्यायालय के तारीख 19 सितम्बर, 1983 वाले निर्णय और आदेश के विरुद्ध की गई अपीलें ।

अपीलार्थी की ओर से सर्वश्री वी० ए० बोवडे, के० जे० जॉन और कुमारी एन० श्रीवास्तव

प्रत्यर्थियों की ओर से सर्वश्री एफ० एस० नारीमन, कुमारी ए० सुभाषिणी, श्री एम० एस० उसगावकर, श्री एस० के० मेहता, श्री पी० एन० पुरी और श्री एम० के० दुआ.

न्यायालय का निर्णय न्यायाधिपति डी० ए० देसाई ने दिया ।

न्यायाधिपति देसाई—

1. विशेष इजाजत दी गई ।

2. पुनः नितान्त अमान्य आरम्भिक आक्षेप की वही फिजूल प्रक्रिया

तथा देश की मूल्यवान सामाजिक-आर्थिक न्याय की तलाश को गुमराह करने वाली इस बेतुकी प्रक्रिया में एक दशक का मूल्यवान समय गवां दिया गया है जिससे यह स्वप्न, यदि मृगमरीचिका नहीं तो, कम से कम एक दुर्लभ स्वप्न अवश्य बन गया है।

3. समुचित सरकार के नाते केन्द्रीय सरकार ने औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947 (संक्षेप में अधिनियम) की धारा 10 (1) (घ) के अधीन फाइल की गई प्रत्येक अर्जी में अपीलार्थी—गोवा सैम्पलिंग एम्पलाईज एसोसिएशन (संक्षेप में जिसे 'संघ' कहा गया है) और प्रथम प्रत्यर्थी (संक्षेप में जिसे "नियोजक" कहा गया है), के बीच औद्योगिक विवाद वर्ष 1974 और 1975 में किए गए भिन्न-भिन्न आदेशों द्वारा केन्द्रीय सरकार के औद्योगिक अधिकरण सं० 2 मुम्बई को निर्देशित किया। पांच पृथक्-पृथक् निर्देश किए गए, क्योंकि हालांकि कर्मचारियों का प्रतिनिधित्व करने वाला संघ सभी निर्देशों में एक ही है, फिर भी नियोजक भिन्न हैं। किन्तु प्रत्येक निर्देश में एक-ही प्रश्न उत्पन्न हुआ है। जब अधिकरण के समक्ष सुनवाई के लिए निर्देश प्रस्तुत किए गए तो, ऐसा प्रतीत होता है कि, प्रत्येक मामले में प्रत्यर्थी ने आरम्भिक आक्षेप किया। किन्तु सबसे पहले कौन-सा आरम्भिक आक्षेप किया गया, यह हमारी समझ में नहीं आया। अधिकरण ने आरम्भिक आक्षेप अस्वीकार कर दिया, जिस पर नियोजक ने एक प्राधिकरण के समक्ष कोई अपील फाइल की थी, जिसका अभिलेख में स्पष्ट उल्लेख नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि ये मामले अधिकरण को भेज दिए गए थे और तत्पश्चात् पांचों निर्देश केन्द्रीय सरकार के औद्योगिक अधिकरण सं० 1 (संक्षेप में "अधिकरण" को निर्देशित किए गए थे।

4. जब निर्देश सुनवाई के लिए पुनः अधिकरण के समक्ष आए तो वही पुनरावृत्ति की गई। आरम्भिक आक्षेप किया गया कि केन्द्रीय सरकार संघ और नियोजक के बीच उत्पन्न औद्योगिक विवाद के विषय में समुचित सरकार नहीं है, अतः केन्द्रीय सरकार को अधिनियम की धारा 10 (1) (घ) के अधीन निर्देश करने की कोई शक्ति नहीं है और तदनुसार अधिकरण को निर्देश करने की कोई अधिकारिता नहीं होगी। संघ ने इस बात पर जोर देकर इस दलील को काटने का प्रयास किया कि कर्मकार 'डाक कर्मकार' (नियोजन का विनियमन) अधिनियम, 1948 में आए पद के अर्थ में 'डाक कर्मकार' हैं और चूंकि वे एक महापत्तन पर काम करते हैं, इसलिए केन्द्रीय सरकार संघ और कर्मकारों में उत्पन्न औद्योगिक विवाद के संबंध में समुचित सरकार होगी और, इसीलिए, निर्देश विधिमान्य है और अधिकरण को विधि

द्वारा दी गई कोई भी प्रत्याभूति या प्रतिभूति ऐसी कम रकम की वसूली के लिए उपलभ्य होगी।

5. यदि ऐसे पुनरावधारण के पश्चात् यह पाया जाता है कि पिटीशनरों में से कोई, रकम वापस लेने का हकदार है, तो सरकार ऐसी रकम पुनरावधारण की तारीख से चार मास के भीतर संदत्त कर देगी।

6. इन मामलों में प्रत्यर्थियों को तदनुसार, रिट जारी किया जाए। तथापि, पक्षकार अपने-अपने खर्चे वहन करेंगे।

तदनुसार, पिटीशन मंजूर किए जाते हैं।

पिटीशन मंजूर किए गए।

श्री०/भू०/स०

———

तथा देश की मूल्यवान सामाजिक-आर्थिक न्याय की तलाश को गुमराह करने वाली इस बेतुकी प्रक्रिया में एक दशक का मूल्यवान समय गवां दिया गया है जिससे यह स्वप्न, यदि मृगमरीचिका नहीं तो, कम से कम एक दुर्लभ स्वप्न अवश्य बन गया है।

3. समुचित सरकार के नाते केन्द्रीय सरकार ने औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947 (संक्षेप में अधिनियम) की धारा 10 (1) (घ) के अधीन फाइल की गई प्रत्येक अर्जी में अपीलार्थी—गोवा सैम्पलिंग एम्पलाईज़ एसोसिएशन (संक्षेप में जिसे 'संघ' कहा गया है) और प्रथम प्रत्यर्थी (संक्षेप में जिसे "नियोजक" कहा गया है), के बीच औद्योगिक विवाद वर्ष 1974 और 1975 में किए गए भिन्न-भिन्न आदेशों द्वारा केन्द्रीय सरकार के औद्योगिक अधिकरण सं० 2 मुम्बई को निर्देशित किया। पांच पृथक्-पृथक् निर्देश किए गए, क्योंकि हालांकि कर्मचारियों का प्रतिनिधित्व करने वाला संघ सभी निर्देशों में एक ही है, फिर भी नियोजक भिन्न हैं। किन्तु प्रत्येक निर्देश में एक-ही प्रश्न उत्पन्न हुआ है। जब अधिकरण के समक्ष सुनवाई के लिए निर्देश प्रस्तुत किए गए तो, ऐसा प्रतीत होता है कि, प्रत्येक मामले में प्रत्यर्थी ने आरम्भिक आक्षेप किया। किन्तु सबसे पहले कौन-सा आरम्भिक आक्षेप किया गया, यह हमारी समझ में नहीं आया। अधिकरण ने आरम्भिक आक्षेप अस्वीकार कर दिया, जिस पर नियोजक ने एक प्राधिकरण के समक्ष कोई अपील फाइल की थी, जिसका अभिलेख में स्पष्ट उल्लेख नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि ये मामले अधिकरण को भेज दिए गए थे और तत्पश्चात् पांचों निर्देश केन्द्रीय सरकार के औद्योगिक अधिकरण सं० 1 (संक्षेप में "अधिकरण" को निर्देशित किए गए थे।

4. जब निर्देश सुनवाई के लिए पुनः अधिकरण के समक्ष आए तो वही पुनरावृत्ति की गई। आरम्भिक आक्षेप किया गया कि केन्द्रीय सरकार संघ और नियोजक के बीच उत्पन्न औद्योगिक विवाद के विषय में समुचित सरकार नहीं है, अत: केन्द्रीय सरकार को अधिनियम की धारा 10 (1) (घ) के अधीन निर्देश करने की कोई शक्ति नहीं है और तदनुसार अधिकरण को निर्देश करने की कोई अधिकारिता नहीं होगी। संघ ने इस बात पर जोर देकर इस दलील को काटने का प्रयास किया कि कर्मकार 'डाक कर्मकार' (नियोजन का विनियमन) अधिनियम, 1948 में आए पद के अर्थ में 'डाक कर्मकार' हैं और चूंकि वे एक महापत्तन पर काम करते हैं, इसलिए केन्द्रीय सरकार संघ और कर्मकारों में उत्पन्न औद्योगिक विवाद के संबंध में समुचित सरकार होगी और, इसीलिए, निर्देश विधिमान्य है और अधिकरण को विधि

के अनुसार गुणागुण के आधार पर उन पर कार्यवाही करनी चाहिए। दूसरे तौर के रूप में यह दलील दी गई कि संघ राज्यक्षेत्र के सम्बन्ध में केन्द्रीय सरकार ही समुचित सरकार है।

5. ऐसा प्रतीत होता है कि अधिकरण के समक्ष दोनों पक्षों की ओर से साक्ष्य पेश किया गया। अधिकरण ने पूरी तरह से साक्ष्य की जांच-पड़ताल करने के बाद यह अभिनिर्धारित किया कि निर्देश के अन्तर्गत आने वाले कर्मकार डाक कर्मकार (नियोजन का विनियमन) अधिनियम में परिभाषित "डाक कर्मकार" की परिभाषा के अन्तर्गत आते हैं और चूंकि वे मर्मुगांव पत्तन, जोकि एक महापत्तन है, पर काम करते हैं, इसलिए उनके द्वारा उठाए गए औद्योगिक विवाद की बाबत केन्द्रीय सरकार समुचित सरकार है। इसके बाद अधिकरण ने आगे जांच की कि क्या निर्देश इस धारणा पर चलने योग्य है कि कर्मचारी 'डाक कर्मकार, पद के अंतर्गत नहीं आते और यह अभिनिर्धारित किया कि कर्मचारी जो काम करते हैं, वह महापत्तन में किया जाता है और जो विवाद उत्पन्न होते हैं, वे महापत्तन में किए गए कर्तव्य और काम से उत्पन्न होते हैं और इसीलिए केन्द्रीय सरकार ही निर्देश करने के लिए समुचित सरकार होगी। इसके बाद अधिकरण ने इस आनुकल्पिक निवेदन पर विचार किया कि क्या निर्देश तब भी चलेगा जब राज्य सरकार इस तथ्य की दृष्टि से समुचित सरकार है कि गोवा, दमण और दीव संविधान की प्रथम अनुसूची में वर्णित संघ राज्यक्षेत्र है और उसका प्रशासन संविधान के अनुच्छेद 239 के अधीन राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किए गए प्रशासक द्वारा चलाया जाता है। अत: इस कारण भी केन्द्रीय सरकार ही समुचित सरकार है। दोनों पक्षों की दलीलों की चर्चा करने के बाद अधिकरण ने इस दलील पर निष्कर्ष लेखबद्ध नहीं किया। अधिकरण ने आरम्भिक आक्षेप अस्वीकार कर दिया और 14 जुलाई, 1980 के अपने आदेश द्वारा निर्देश को अंतिम सुनवाई के लिए तय कर दिया।

6. प्रत्येक निर्देश में नियोजक ने मुम्बई उच्च न्यायालय में संविधान के अनुच्छेद 227 के अधीन विशेष सिविल आवेदन फाइल किया। सभी पांचों विशेष सिविल आवेदनों की अंतिम सुनवाई मुम्बई उच्च न्यायालय के पणजी न्यायपीठ के समक्ष की गई और उनका निपटारा एक ही निर्णय से किया गया। उच्च न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया कि अपीलार्थी संघ द्वारा प्रतिनिधित्व किए गए लौह अयस्क प्रतिचयक (आइरन ओर सैम्पलर्स) कर्मकार ऐसा कोई काम नहीं करते, जो महापत्तन से संसक्त या संबंधित है। उच्च न्यायालय ने आगे कहा कि औद्योगिक विवाद, जिसमें लौह अयस्क

प्रतिचयन शामिल हैं, औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947 की धारा 2 (क) (1) के अर्थ में महापत्तन से संबंधित औद्योगिक विवाद नहीं है और न ही कर्मकार डाक कर्मकार (नियोजन का विनियमन) अधिनियम, 1948 में दी गई परिभाषा के रूप में "डाक कर्मकार" पद के अन्तर्गत आते हैं और इसीलिए केन्द्रीय सरकार अधिकरण को औद्योगिक विवाद निर्देशित करने के लिए समुचित सरकार नहीं है। इस निवेदन के दूसरे भाग पर विचार करते समय कि केन्द्रीय सरकार स्वयं गोवा, दमण और दीव संघ राज्यक्षेत्र के लिए राज्य सरकार कही जा सकती है, उच्च न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया कि केन्द्रीय सरकार अधिनियम की धारा 2 (क) (ii) के अधीन गोवा, दमण और दीव संघ राज्य क्षेत्र के लिए राज्य सरकार नहीं है, बल्कि भारत के संविधान के अनुच्छेद 239 के अधीन नियुक्त प्रशासक ही गोवा, दमण और दीव संघ राज्यक्षेत्र के लिए राज्य सरकार है और वही अधिनियम की धारा 2 (क) के अर्थ में समुचित सरकार है। उच्च न्यायालय समझता था कि यदि केन्द्रीय सरकार को इस प्रयोजन के लिए राज्य सरकार मान लिया जाए तो गोवा, दमण और दीव संघ राज्यक्षेत्र के लिए दो राज्य सरकारें हो जाएंगी और इससे नितांत भ्रान्ति उत्पन्न हो जाएगी। तदनुसार उच्च न्यायालय ने यह निश्चय किया कि प्रशासक ही अधिनियम की धारा 2 (क) (i) के प्रयोजन के लिए समुचित सरकार है और इसीलिए केन्द्रीय सरकार समुचित सरकार नहीं है और उसे आक्षेपित निर्देश करने की कोई अधिकारिता नहीं है। इस निष्कर्ष के अनुसार उच्च न्यायालय ने निर्देशों को अभिखण्डित करते हुए न्यादेश आत्यंतिक बना दिया। इस प्रकार विशेष इजाजत लेकर यह अपील फाइल की गई।

7. हमारे समक्ष विचारणीय प्रश्न यह है कि संघ द्वारा प्रतिनिधित्व प्राप्त कर्मचारियों और नियोजक के बीच औद्योगिक विवाद के संबंध में समुचित सरकार कौन है जो अधिनियम की धारा 10 के अधीन शक्ति का प्रयोग कर सकती है ? धारा 10 में उपबंधित है कि "जहां कि समुचित सरकार की यह राय है कि कोई औद्योगिक विवाद विद्यमान है या उसके होने की आशंका है, वहां वह लिखित आदेश द्वारा किसी भी समय विवाद आदि को न्यायनिर्णयन के लिए किसी अधिकरण को निर्देशित कर सकेगी। इस धारा के दो परन्तुक हैं, जो वर्तमान प्रयोजन के लिए सुसंगत नहीं हैं। इस प्रकार न्यायनिर्णयन के लिए औद्योगिक विवाद निर्देशित करने की शक्ति समुचित सरकार को दी गई है, जो या तो अस्तित्वयुक्त है या आशंकित है।

8. "समुचित सरकार" की परिभाषा अधिनियम की धारा 2 (क)

में इस अर्थ में दी गई है कि "समुचित सरकार से (i) केन्द्रीय सरकार द्वारा या उसके प्राधिकार के अधीन......चलाए जाने वाले किसी उद्योग से संपृक्त ......या...... महापत्तन से सम्पृक्त औद्योगिक विवाद के संबंध में केन्द्रीय सरकार तथा (ii) किसी अन्य औद्योगिक विवाद के संबंध में राज्य सरकार अभिप्रेत है।"

9. नियोजक ने दलील दी कि प्रत्येक मामले में संघ द्वारा प्रतिनिधित्व किए गए कर्मचारी लौह अयस्क प्रतिचयक (आइरन ओर सैम्पलर्स) हैं और वे किसी महापत्तन के काम से संसक्त नहीं हैं या उनका कर्तव्य किसी महापत्तन के कार्य के आनुषंगिक या पारिणामिक नहीं हैं और इसीलिए धारा 2 (क)(i) लागू नहीं होगी। इसके परिणामस्वरूप यह निवेदन किया गया कि यह मामला अवशिष्ट खण्ड (ii) के अन्तर्गत आएगा और इसीलिए राज्य सरकार समुचित सरकार होगी। कर्मचारियों ने इस दलील को काटते हुए कहा कि वे महापत्तन में कार्यरत कर्मचारी हैं और महापत्तन की कार्यप्रणाली और प्रशासन से सीधे संबंधित हैं और इसलिए केन्द्रीय सरकार समुचित सरकार है। आनुकल्पिक रूप में संघ/अपीलार्थी की ओर से दलील दी गई कि संघ राज्यक्षेत्र के संबंध में कोई भी राज्य सरकार नहीं होती और यदि यह कहा जा सकता है कि कोई सरकार होती है तो वह केवल केन्द्रीय सरकार ही है तथा राज्य सरकार की अनुपस्थिति में केन्द्रीय सरकार को राज्य सरकार की भी शक्तियां प्राप्त होंगी और इसीलिए केन्द्रीय सरकार निर्देश करने के प्रयोजन के लिए समुचित सरकार होगी। किन्तु अपील में हमारे समक्ष विचारणीय यह दूसरा पहलू है क्योंकि हमारी राय में इसका इस मामले से गहरा संबंध है और इन अपीलों का अंतिम रूप से निपटारा इस दलील के उत्तर से ही किया जा सकता है।

10. इस दलील पर गुणागुण के आधार पर विचार करने से पूर्व इस दलील से सुसंगत सांविधानिक और कानूनी उपबंधों पर ध्यान आकर्षित करना आवश्यक है।

11. अनुच्छेद 239 (1) में उपबंधित है कि "संसद् द्वारा बनाई गई विधि द्वारा जैसा उपबंधित है, उसके सिवाय राष्ट्रपति प्रत्येक संघ राज्यक्षेत्र का प्रशासन अपने द्वारा ऐसे पदाभिधान सहित जो वह निर्दिष्ट करें, नियुक्त किए गए किसी प्रशासक के माध्यम से उस मात्रा तक कार्य करते हुए, जितनी वह ठीक समझे, करेगा।" अनुच्छेद 239क संविधान (चौदहवां संशोधन) अधिनियम, 1962 द्वारा जोड़ा गया था। यह अनुच्छेद गोवा, दमण और

दीव सहित कुछ संघ राज्यक्षेत्रों के लिए स्थानीय विधानमण्डलों या मंत्रि-परिषद् का या दोनों का विधि द्वारा सृजन करने के लिए संसद् को शक्ति प्रदान करता है। यह विधि, जिसके द्वारा स्थानीय विधानमंडल और/या मंत्री परिषद् सृष्ट किए जाएं, हर दशा में उनका गठन, शक्तियां और कार्य भी विनिर्दिष्ट करेगी। उप-अनुच्छेद (2) द्वारा यह अभिनिश्चित किया गया कि अधिनियमित किए जाने पर ऐसी विधि अनुच्छेद 368 के प्रयोजन के लिए संविधान का संशोधन नहीं समझी जाएगी। अनुच्छेद 240 इसमें विनिर्दिष्ट संघ राज्यक्षेत्रों की शान्ति, प्रगति और सुशासन के लिए विनियम बनाने के लिए राष्ट्रपति को शक्ति प्रदान करता है। अनुच्छेद 246 (4) में उपबंधित है कि "संसद् को भारत के राज्यक्षेत्र के ऐसे भाग के लिए जो किसी राज्य के अन्तर्गत नहीं है, किसी भी विषय के संबंध में विधि बनाने की शक्ति है, चाहे वह विषय राज्य सूची में प्रगणित विषय ही क्यों न हो।" "केन्द्रीय सरकार" पद की परिभाषा साधारण खण्ड अधिनियम, 1897 की धारा 3 (8) में (उन शब्दों को छोड़कर जो हमारे प्रयोजन के लिए सुसंगत नहीं हैं) इस प्रकार दी गई है—

(8) "केन्द्रीय सरकार" से—

(क) ....

(ख) संविधान के प्रारम्भ के पश्चात् की गई या की जाने वाली किसी बात के संबंध में राष्ट्रपति अभिप्रेत होगा और इसके अन्तर्गत आएंगे—

(i) ....

(ii) ....

(iii) किसी संघ राज्यक्षेत्र के प्रशासन के संबंध में संविधान के अनुच्छेद 239 के अधीन उसे दिए गए प्राधिकार की परिधि के भीतर कार्य करते हुए उसका प्रशासक।"

"राज्य सरकार" की परिभाषा धारा 3(60) में (उन शब्दों को छोड़ दिया गया है, जो वर्तमान प्रयोजन के लिए आवश्यक नहीं हैं) इस प्रकार दी गई है—

"(60) "राज्य सरकार" से—

(क) ....

(ख) ....

(ग) संविधान (सप्तम संशोधन) अधिनियम, 1956 के प्रारम्भ के पश्चात् की गई या की जाने वाली किसी बात के बारे में, राज्य में राज्यपाल और संघ राज्यक्षेत्र में केन्द्रीय सरकार अभिप्रेत होगी;"

12. संसद् ने संघ राज्यक्षेत्र शासन अधिनियम, 1963 (संक्षेप में जिसे "1963 का अधिनियम" कहा गया है) बनाया। इसके शीर्षक से अधिनियमिति में अन्तर्निहित उद्देश्य का पता चलता है और वह है कुछ संघ राज्यक्षेत्रों के लिए विधानसभाओं और मंत्री परिषदों के लिए कुछ अन्य विषयों के लिए उपबंध करना। गोवा, दमण और दीव संघ राज्यक्षेत्र 1963 के अधिनियम द्वारा शासित होता है [देखिए धारा 2 (ज)] "प्रशासक" शब्द की परिभाषा 1963 के अधिनियम की धारा 2 (क) में इस अर्थ में दी गई है—"अनुच्छेद 239 के अधीन राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त संघ राज्यक्षेत्र का प्रशासक"। धारा 18 यह विनिर्दिष्ट करती है कि सातवीं अनुसूची में राज्य सूची में या समवर्ती सूची में प्रगणित किसी भी विषय के संबंध में संघ राज्यक्षेत्र की विधानसभा की विधायी शक्ति कहां तक है। धारा 44 में उपबंधित है कि प्रत्येक संघ राज्यक्षेत्र में मंत्री परिषद् होगी, जिसका प्रमुख मुख्य मंत्री होगा और जो प्रशासक को उन विषयों की बाबत, जिनकी बाबत संघ राज्यक्षेत्र की विधानसभा को विधियां बनाने की शक्ति प्राप्त हो, उसके कार्यों का पालन करने में मदद और सलाह देगी। इसमें वह विषय शामिल नहीं है, जिसके सम्बन्ध में अधिनियम द्वारा या के अधीन उससे यह अपेक्षित है कि वह अपने विवेकानुसार कार्य करे अथवा किसी विधि द्वारा या के अधीन उससे अपेक्षित है कि वह कोई न्यायिक या न्यायिक-कल्प कार्य करें। धारा 44 (1) का एक परन्तुक है, जो प्रशासक की स्थिति और मंत्री परिषद् की शक्तियों पर प्रकाश डालता है। इस परन्तुक के अनुसार किसी विषय पर प्रशासक और मंत्री परिषद् में मतभेद होने पर प्रशासक उस विषय को विनिश्चय के लिए राष्ट्रपति के पास भेजेगा। इस प्रकार, प्रशासक की कार्यपालक शक्ति का विस्तार उन सब विषयों तक है, जो विधायी शक्ति के अन्तर्गत आते हैं किन्तु मतभेद की दशा में राष्ट्रपति विनिश्चय करता है। जब राष्ट्रपति उस मुद्दे पर विनिश्चय करता है तो वास्तव में केन्द्रीय सरकार ही विनिश्चय करती है और वह विनिश्चय प्रशासक पर तथा मंत्री-परिषद् पर भी आबद्धकर होता है।

13. धारा 45 में उपबंधित है कि "मंत्रीमंडल की नियुक्ति राष्ट्रपति करेगा तथा मंत्रियों की नियुक्ति राष्ट्रपति मुख्य मंत्री की सलाह से करेगा" धारा 46 राष्ट्रपति को कार्य संचालन के लिए नियम बनाने की शक्ति प्रदान करती है। धारा 55 में उपबंधित है कि किसी संघ राज्यक्षेत्र के प्रशासन से सम्बन्धित सभी सविदाएं संघ राज्यक्षेत्र की कार्यपालिक शक्ति के प्रयोग में की गई संविदाएं हैं और किसी संघ राज्यक्षेत्र के प्रशासन से संबधित सभी वादों तथा कार्यवाहियों को भारत सरकार द्वारा या उसके विरुद्ध संस्थित किया जायेगा। अनुच्छेद 240 द्वारा प्रदत्त शक्ति का प्रयोग करते हुए राष्ट्रपति ने अन्य बातों के साथ-साथ गोवा, दमण, दीव (विधियां) विनियम, 1962 अधिनियमित किया। विनियम के खंड 3 द्वारा अधिनियम में उपाबद्ध अनुसूची में प्रगणित अधिनियमों का विस्तार अनुसूची में विनिर्दिष्ट उपान्तरणों, यदि कोई हैं, के अधीन रहते हुए गोवा, दमण और दीव तक किया गया है। अनुसूची में औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947 बिना किसी उपान्तरण के संपूर्ण रूप में शामिल है।

14. अधिनियम की धारा 10 (1), इस धारा में प्रगणित विभिन्न प्राधिकारियों में से किसी भी प्राधिकारी के पास न्यायनिर्णयन के लिए औद्योगिक विवाद निर्देशित करने के लिए समुचित सरकार को शक्ति प्रदान करती है। इस प्रकार यह शक्ति निर्देश करने वाली समुचित सरकार की शक्ति है। उच्च न्यायालय को यह दलील सही प्रतीत हुई कि संघ द्वारा प्रतिनिधित्व किये गये कर्मकारों द्वारा, जिन्हें मोटे तौर पर लौह अयस्क अपचयक कहा गया है, उठाये गये औद्योगिक विवाद के संबंध में समुचित सरकार राज्य सरकार है, न कि केन्द्रीय सरकार और यह कि चूंकि इस मामले में निर्देश केन्द्रीय सरकार ने किया है, इसलिए वे अधिकारितारहित होने के कारण औद्योगिक अधिकरण को इस पर न्यायनिर्णयन करने की कोई अधिकारिता नहीं थी।

15. क्या संघ राज्यक्षेत्र के प्रशासक को राज्य सरकार कहना सांविधानिक दृष्टि से सही होगा? अनुच्छेद 1 में उपबंधित है कि "भारत" अर्थात् इण्डिया राज्यों का संघ होगा। यद्यपि अनुच्छेद 1 में उपबंधित है कि राज्य और उनके राज्यक्षेत्र वे होंगे जो पहली अनुसूची में विनिर्दिष्ट हैं, फिर भी अनुच्छेद 3 द्वारा यह उपबंध करके कि भारत के राज्य-क्षेत्र में—राज्यों के क्षेत्र, पहली अनुसूची में विनिर्दिष्ट संघ राज्यक्षेत्र समाविष्ट होंगे, संविधान में समझे गये राज्य और संघ राज्यक्षेत्र में द्विभाजन का समावेश किया है। संविधान के भाग 6 के उपबंध संघ राज्यक्षेत्र के संबंध

में लागू नहीं होते। संविधान का भाग 6 राज्यों के विषय में है। इससे साफ पता चलता है कि संघ राज्यक्षेत्र राज्य नहीं है। अत: सांविधानिक दृष्टि से यों कह सकते हैं कि संघ राज्यक्षेत्र राज्य से भिन्न है। जहां तक राज्यों का संबंध है हर राज्य में एक राज्यपाल होगा हालांकि उसी व्यक्ति को दो या अधिक राज्यों का राज्यपाल नियुक्त किया जा सकता है। भाग 8 में संघ राज्यक्षेत्र के प्रशासन के लिए उपबंध किया गया है। अनुच्छेद 239 के अनुसार राष्ट्रपति को संघ राज्यक्षेत्र के प्रशासन की शक्ति दी गई है जब तक कि संसद् के अधिनियम द्वारा अन्यथा उपबंध न किया जाए। अत: साधारण खण्ड अधिनियम, 1897 में अधिनियमित "केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकार और संघ राज्यक्षेत्र" पदों की परिभाषाओं के अलावा संविधान में ही राज्य और उसकी सरकार में अंतर किया गया है जिसे राज्य सरकार और संघ राज्यक्षेत्र तथा संघ राज्यक्षेत्र का प्रशासन कहते हैं। जब तक अन्यथा स्पष्ट रूप से अधिनियमित न किया गया हो, "राज्य" शब्द के अंतर्गत संघ राज्यक्षेत्र भी शामिल होगा। और "राज्य" के अंतर्गत संघ राज्यक्षेत्र का प्रशासन शामिल नहीं होगा। यदि हम साधारण खण्ड अधिनियम में "केन्द्रीय सरकार" धारा 3 (8), राज्य सरकार धारा 3 (60) और संघ राज्यक्षेत्र धारा 3 (62क) पदों की परिभाषाओं पर दृष्टिपात करें तो बिल्कुल स्पष्ट पता चल जाएगा कि इन परिभाषाओं को अधिनियमित करके संविधान निर्माताओं एवं संसद् ने राज्य सरकार और संघ राज्यक्षेत्र के प्रशासन में स्पष्ट रूप से अंतर रखा है जैसा कि संविधान में उपबंध किया गया है। 'केन्द्रीय सरकार' पद की परिभाषा में यह विशेष रूप से स्पष्ट कर दिया गया है कि संघ राज्यक्षेत्र के प्रशासन के संबंध में संविधान के अनुच्छेद 239 के अधीन प्रशासक 'केन्द्रीय सरकार' पद के अंतर्गत आयेगा। जब 'राज्य सरकार' पद की परिभाषा में जिसमें यह उपबंधित है कि जहां तक संविधान (सातवां संशोधन अधिनियम, 1956) के आरंभ के बाद की गई या की जाने वाली किसी बात का संबंध है इससे किसी राज्य में राज्यपाल और किसी संघ राज्यक्षेत्र में केन्द्रीय सरकार अभिप्रेत होगा, इस समावेशनकारी भाग को अपवर्जनकारी भाग के साथ जोड़ा जाए तो, संकल्पना की दृष्टि से, राज्य सरकार और संघ राज्यक्षेत्र के प्रशासन के बीच अंतर साफ प्रकट हो जाएगा। अत: इसमें संदेह की कोई गुंजाइश नहीं है कि "संघ राज्यक्षेत्र का प्रशासन" पद चाहे प्रशासक का वर्णन किसी भी रूप में किया गया हो, "राज्य सरकार" पद में समाविष्ट नहीं होगा जैसा कि किसी भी अधिनियमिति में प्रयुक्त किया जाए। इन परिभाषाओं को विधियों का अनुकूलन, (संख्या 1) आदेश, 1956 द्वारा रूपान्तरित किया गया जिससे कि ये वर्तमान रूप में विद्यमान हैं।

साधारण खण्ड अधिनियम, 1897 की धारा 3 में उपबंधित है कि सभी साधारण अधिनियमों में और अधिनियम के आरंभ के बाद बनाए गये विनियमनों में जब तक कि विषय या संदर्भ में कोई बात प्रतिकूल न हो परिभाषित किये गये शब्द का वही अर्थ होगा जो उन्हें दिया गया है। यह निर्विवाद है कि औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947 एक केन्द्रीय अधिनियम है जो साधारण खण्ड अधिनियम के प्रारंभ के बाद बनाया गया था और सुसंगत परिभाषाओं को संवैधानिक और कानूनी अपेक्षाओं के अनुरूप ढाला गया इसलिए 'केन्द्रीय सरकार', 'राज्य सरकार' और 'संघ राज्यक्षेत्र' पदों का वही अर्थ होना चाहिए जो इन्हें साधारण खण्ड अधिनियम में दिया गया है जब तक कि उस विषय या संदर्भ में कोई प्रतिकूल बात न हो जिसमें इनका प्रयोग किया गया है। ऐसी कोई प्रतिकूलता हमारी दृष्टि में नहीं लाई गई। अतः इन पदों का वही अर्थ होना चाहिए जो इन्हें दिया गया है।

16. उच्च न्यायालय ने यहां उल्लिखित और वर्णित उपरोक्त तीनों पदों की परिभाषाओं का उल्लेख करने के बाद सबसे पहले यह कहा कि परिभाषा को ध्यानपूर्वक पढ़ने से यह प्रतीत होता है कि "संघ राज्यक्षेत्र" के प्रशासन के संबंध में उसका प्रशासक जो संविधान के अनुच्छेद 239 में दी गई परिभाषा की परिधि के अंतर्गत कार्य करता है केन्द्रीय सरकार है"। यहां तक कोई विवाद नहीं है। इसके बाद उच्च न्यायालय ने मत व्यक्त किया कि इसका तात्पर्य यह होगा कि जहां तक संघ राज्यक्षेत्र का संबंध है इसका प्रशासक राज्य सरकार है और साधारण खंड अधिनियम की धारा 3(60) में राज्य सरकार की परिभाषा में ऐसा उपबंध किया गया है। उच्च न्यायालय ने धारा 3(60) के खण्ड (ग) का निर्वचन करने में गलती कर दी। इसका सही अर्थान्वयन करने पर पता चलेगा कि संघ राज्यक्षेत्र की कोई संकल्पना नहीं है किन्तु जहां कहीं संघ राज्यक्षेत्र के संबंध में 'राज्य सरकार' पद का प्रयोग किया गया है वहां केन्द्रीय सरकार राज्य सरकार होगी। संघ राज्यक्षेत्र के संबंध में राज्य सरकार की संकल्पना ही इसकी परिभाषा के आधार पर निराधार हो जाती है। फिर भी, हमारा ध्यान **सत्या देव बुशहरी बनाम पदमदेव और अन्य**[1] में तथा **मध्य प्रदेश राज्य** बनाम **श्री मौलाबख्श और अन्य**[2] में इस न्यायालय के विनिश्चय की ओर आकर्षित किया गया। इन मामलों में भाग ग वाले राज्यों के संबंध में यह मत व्यक्त किया गया है कि तत्समय विद्यमान

---

[1] **[1955] एस० सी० आर० 549.**
[2] **[1962] 2 एस० सी० आर० 794.**

अनुच्छेद 239 द्वारा भाग ग के राज्यों के प्रशासक को प्रदत्त प्राधिकार का यह आशय नहीं है कि ये राज्य केन्द्रीय सरकार में बदल गये हैं, तथा यह कि अनुच्छेद 239 के अनुसार भाग ग वाले राज्यों के संबंध में राष्ट्रपति भाग क के राज्यों में राज्यपाल की और भाग ख वाले राज्यों में राजप्रमुख जैसी स्थिति रखता है। यह भी मत व्यक्त किया गया था कि "यद्यपि भाग क के राज्य अनुच्छेद 239 के उपबंधों के अनुसार केन्द्र द्वारा प्रशासित किये जाते हैं फिर भी वे राज्य ही रहते हैं और केन्द्रीय सरकार में विलीन नहीं होते।" इसके बाद इस बात पर जोर दिया गया कि संविधान (सातवां संशोधन) अधिनियम, 1956 द्वारा अनुच्छेद 239 और 240 में किये गये संशोधन द्वारा तथा संविधान (चौदहवां संशोधन) अधिनियम, 1962 द्वारा अनुच्छेद 239क और 239ख के समावेश से भाग ग के राज्यों के नाम में ही परिवर्तन हुआ है क्योंकि अब उन्हें संघ राज्यक्षेत्र कहा जाता है। किन्तु संघ राज्यक्षेत्र की स्थिति वही है जो भाग ग के राज्यों की थी और इसीलिए ऊपर वर्णित विनिश्चयों में व्यक्त किया गया मत कि भाग क वाले राज्यों के, प्रशासन को संघ राज्यक्षेत्र के रूप में वर्णित करना समुचित होगा, आवश्यक परिवर्तनों सहित संघ राज्यक्षेत्र के प्रशासन में लागू होगा। दूसरे शब्दों में, यह कहा गया था कि उन्हें विभिन्न प्रयोजनों के लिए राज्य सरकारों के रूप में वर्णित करना समुचित हो सकता है। किन्तु ये विनिश्चय 1956 में संविधान के भाग 8 के संशोधन से पहले और 1962 में अनुच्छेद 239क और 239ख के समावेश से पहले तथा और भी अधिक विशेष रूप से 1963 के अधिनियम के अधिनियमन के बाद दिये गये थे। विधानसभा सहित या रहित और विनिर्दिष्ट विधायी तथा कार्यपालिक शक्तियों से युक्त मंत्री परिषद् सहित या रहित संघ राज्यक्षेत्र की संकल्पना का उल्लेख 1963 के अधिनियम में किया गया है। इसके साथ-साथ उपरोक्त तीन पदों की परिभाषाओं में परिवर्तन किये गये। अतः वर्तमान संविवाद को हल करने के लिए उपरोक्त विनिश्चय से कोई सहायता नहीं मिलेगी।

17. इसके बाद यह उल्लेख किया गया कि अधिनियम की धारा 2 (क)(i) में 'समुचित सरकार' पद की परिभाषा यह दी गई है कि केन्द्रीय सरकार द्वारा या उसके प्राधिकार के अधीन चलने वाले किसी उद्योग या प्रगणित उद्योगों या बैंककारी या बीमा कम्पनी, खान, तेल क्षेत्र, छावनी बोर्ड या महापत्तन से संपृक्त औद्योगिक विवाद के संबंध में समुचित सरकार केन्द्रीय सरकार होगी और अन्य किसी दशा में राज्य सरकार होगी। अतः यह निवेदन किया गया कि जब तक यह दर्शित न कर दिया जाए कि संघ द्वारा उठाये गये

औद्योगिक विवाद के संबंध में समुचित सरकार केन्द्रीय सरकार होगी यह मामला अवशिष्ट उपबंध के अन्तर्गत आयेगा अर्थात् किसी अन्य औद्योगिक विवाद के संबंध में समुचित सरकार राज्य सरकार होगी । यह निवेदन हमें उचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि इससे पहले कि कोई यह कह सके कि किसी औद्योगिक विवाद के सम्बन्ध में समुचित सरकार राज्य सरकार है कोई राज्य सरकार होनी चाहिए जिसमें वह शक्ति निर्देश करने के लिए ढूंढनी होगी । यदि कोई राज्य सरकार नहीं है बल्कि संघ राज्यक्षेत्र का प्रशासन नामक कोई अन्य सरकार है तो प्रश्न यह उत्पन्न होगा कि क्या ऐसी स्थिति में संघ राज्यक्षेत्र के प्रशासकको धारा 10(1) के साथ पठित धारा 2(क) (i) के प्रयोजन के लिए राज्य सरकार कहा जाए ।

18. उच्च न्यायालय ने यह मत व्यक्त करके साफ गलती की है कि 'राज्य सरकार' पद की समावेशनकारी परिभाषा इस पद की व्याप्ति को आवश्यक रूप से नहीं बढ़ाती बल्कि कभी भी इसके प्रतिकूल हो सकता है । इस बारे में विनिश्चय किये बिना यह मान लेना कि ऐसा है बल्कि उच्च न्यायालय ने उस समय गलती की जब उसने यह अभिनिर्धारित किया कि केन्द्रीय सरकार के प्रतिनिधि रूप में राष्ट्रपति और राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त और राष्ट्रपति के सभी आदेशों के अधीन रहते हुए प्रशासक संघ राज्यक्षेत्र के लिए दो भिन्न-भिन्न सरकारें हैं, राष्ट्रपति के सम्बन्ध में प्रशासक की स्थिति, शक्ति, कर्तव्य और कार्यों की उपेक्षा कर दी गई है । संविधान के और 1963 के अधिनियम के सुसंगत उपबंधों की पृष्ठभूमि में यह स्पष्ट हो जाता है कि राज्य सरकार की संकल्पना संघ राज्यक्षेत्र के प्रशासन के लिए अपरिचित है और अनुच्छेद 239 में उपबंधित है कि प्रत्येक संघ राज्यक्षेत्र का प्रशासन राष्ट्रपति करेगा । राष्ट्रपति अपने द्वारा नियुक्त प्रशासक के माध्यम से ऐसा कर सकता है । इस प्रकार, प्रशासक राष्ट्रपति का प्रत्यायोजिती है । उसकी स्थिति राज्य के राज्यपाल की स्थिति से पूर्णतः भिन्न है । प्रशासक अपने मंत्री से मतभेद रख सकता है लेकिन उसे ऐसी स्थिति में राष्ट्रपति अर्थात् केन्द्रीय सरकार के आदेश लेने होंगे । इस प्रकार, किसी भी स्थिति में, राज्य सरकार को संघ राज्यक्षेत्र का प्रशासक नहीं कहा जा सकता । अतः केन्द्रीय सरकार ही समुचित सरकार है ।

19. यदि समुचित सरकार के रूप में केन्द्रीय सरकार ने निर्देश किया है तो उच्च न्यायालय ने निर्देश को विखण्डित करके स्पष्ट रूप से गलती की है ।

20. अपीलार्थी-संघ के विद्वान काउन्सेल ने यह आनुकल्पिक निवेदन किया कि विवाद में अंतर्ग्रस्त कर्मकार महापत्तन में काम करने वाले कर्मकार हैं और डाक कर्मकार हैं और इसीलिए केन्द्रीय सरकार धारा 10(1) के अधीन निर्देश करने के प्रयोजन के लिए समुचित सरकार होगी। अधिकरण को यह दलील ठीक लगी। उच्च न्यायालय ने इसके विपरीत निष्कर्ष निकाला और यह मत व्यक्त किया कि लौह अयस्क अपचयक किसी महापत्तन से संसक्त या संबंधित कोई काम नहीं करते और न ही वे डाक कर्मकार हैं। हम इस आनुकल्पिक निवेदन का विवेचन करना नहीं चाहते क्योंकि यदि निर्देश को सक्षम अभिनिर्धारित किया जाये तो निर्देश को कायम रखने के लिए दूसरी दलील का विशद विवेचन करना आवश्यक नहीं है। फिर भी, इस बात पर जोर दिया गया कि जब गुणागुण के आधार पर औद्योगिक विवाद न्यायनिर्णयन के लिए अधिकरण के समक्ष रखा जायेगा तो इस पहलू का सामने आना संभाव्य है। ऐसी स्थिति में उचित यही होगा कि पक्षकारों के बीच इस दलील को अनिर्णीत रखा जाए। अधिकरण को यह स्वतंत्रता होगी कि वह इस दलील पर विचार करे कि लौह अयस्क अपचयक किसी महापत्तन से संसक्त या संबंधित कोई काम करते है अथवा डाक कर्मकार हैं या नहीं। अधिकरण उच्च न्यायालय के मत से अप्रभावित रहकर अपना विनिश्चय कर सकता है और यदि इस प्रश्न के लिए इसका विवेचन करना आवश्यक हो तो उसका पुन: विवेचन किया जायेगा।

21. तदनुसार ये पांचों अपीलें मंजूर की जाती हैं और उच्च न्यायालय का निर्णय अभिखण्डित तथा अपास्त किया जाता है तथा औद्योगिक विवाद अधिनियम की धारा 10(1) के अधीन निर्देश करने के लिए विशेष रूप से केन्द्रीय सरकार की क्षमता के बारे में आरंभिक मुद्दे पर अधिकरण का अधिनिर्णय, यहां दिये गये कारणों से, पुष्ट किया जाता है। प्रत्यर्थी हर मामले में अपीलार्थी को एक-एक हजार रुपये अर्थात् कुल 5 हजार रुपये खर्चे के रूप में देंगे।

22. यह विवाद एक पुराना विवाद है जो वर्षों से लटका हुआ है, इसलिए अधिकरण को निदेश दिया जाता है कि इसे सर्वोच्च प्राथमिकता दी जाए और इसका निपटारा आज से छह मास के भीतर गुणागुण के आधार पर किया जाए।

अपीलें मंजूर की गईं।

कु०

———

एस० कंदस्वामी चेट्टियार

वनाम

तमिलनाडू राज्य और एक अन्य

(12 दिसम्बर, 1984)

(न्यायाधिपति वी० डी० तुलजापुरकर, आर० एस० पाठक और सव्यसाची मुखर्जी)

संविधान, 1950—अनुच्छेद 14—समान संरक्षण खण्ड—[सपठित तमिलनाडु बिल्डिंग्स (लीज एण्ड रेंट कण्ट्रोल) ऐक्ट, 1960 (1960 का तमिलनाडु अधिनियम सं० 18) की धारा 29]—कतिपय भवनों के किसी वर्ग के पक्ष में छूट अनुदत्त किया जाना—ऐसे मामले में यह अपेक्षित है कि वर्गीकरण वैवेकिक आधारों पर आधृत होना चाहिए—चूंकि धारा 29 की उद्देशिका में पर्याप्त मार्गदर्शन किए गए है, इसलिए इसे मार्गविहीन समर्थनरहित और विभेदात्मक नहीं कहा जा सकता और इस रूप में इससे अनुच्छेद 14 का अतिक्रमण नहीं होता।

तमिलनाडु बिल्डिंग्स (लीज एण्ड रेंट कन्ट्रोल) ऐक्ट, 1960 (1960 का तमिलनाडु अधिनियम सं० 18)—धारा 29—तमिलनाडु राज्य में हिन्दू, ईसाइयों और मुसलमानों के धार्मिक लोक न्यासों तथा लोक पूर्त न्यासों के भवनों के किरायेदारों द्वारा उक्त धारा के अधीन उक्त अधिनियम के सभी उपबंधों से ऐसे भवनों को पूर्ण छूट देने की विधिमान्यता को चुनौती दी जाना—यदि ऐसी छूट पूर्त, धार्मिक या लौकिक संस्थाओं के सभी भवनों के वर्ग के पक्ष में दी जाती है, तो ऐसा वर्गीकरण तर्कसंगत आधारों पर, अर्थात् अधिनियम की नीति या प्रयोजन को कार्यान्वित करने से संबंधित आधारों पर आधारित होना चाहिए और ऐसे वर्गीकरण का संबंध छूट की शक्ति का प्रयोग करके वांछित उद्देश्य से होना चाहिए—ऐसे भवनों की पूर्ण छूट को अत्यधिक या भिन्न आधार की नहीं माना जा सकता।

इन रिट पिटीशनों और विशेष इजाजत लेकर की गई सिविल अपीलों में पिटीशनरों और अपीलार्थियों ने, जो तमिलनाडु राज्य में हिन्दू, ईसाइयों और मुसलमानों के धार्मिक लोक न्यासों तथा लोक पूर्त न्यासों के कई भवनों

के किराएदार हैं, तमिलनाडु बिल्डिंग्स (लींज़ एण्ड रेंट कन्ट्रोल) ऐक्ट, 1960 की धारा 29 के अधीन राज्य सरकार को प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग करते हुए उक्त अधिनियम के सभी उपबंधों से ऐसे सभी भवनों को दी गई कुल छूट की विधिमान्यता को चुनौती दी है। प्रारम्भ में तारीख 12 अगस्त, 1974 से राज्य सरकार ने धारा 29 के अधीन अपनी शक्तियों का प्रयोग करते हुए अधिनियम के सभी उपबंधों से हिन्दू, ईसाइयों और मुसलमानों के धार्मिक न्यासों और पूर्त संस्थानों के स्वामित्व के सभी भवनों को छूट प्रदान की थी। दूसरे शब्दों में, छूट प्राइवेट धार्मिक न्यासों तथा प्राइवेट पूर्त न्यासों के भवनों को उपलभ्य थी। इसके पश्चात् तारीख 16 अगस्त, 1976 द्वारा राज्य सरकार ने तारीख 12 अगस्त, 1974 की पूर्ववर्ती अधिसूचना को अतिष्ठित करते हुए हिन्दू, ईसाइयों और मुसलमानों के धार्मिक लोक न्यासों और लोक पूर्त न्यासों तक ही छूट सीमित कर दी थी। किराएदारों ने अधिनियम के सभी उपबंधों से हिन्दू, ईसाइयों और मुसलमानों के धार्मिक लोक न्यासों और लोक पूर्त न्यासों के सभी भवनों को पूर्ण रूप से छूट प्रदान करने वाली उपर्युक्त अधिसूचना को तीन आधारों पर चुनौती दी है—(क) कि अधिनियम की धारा 29 में विधायी शक्तियों के अत्यधिक प्रत्यायोजन की त्रुटि है चूंकि वह राज्य सरकार में छूट देने के मामले में मार्गविहीन और अनियंत्रित विवेकाधिकार निहित करती है और इसलिए वह संविधान के अनुच्छेद 14 की अतिक्रमणकारी है, (ख) 16 अगस्त, 1976 की अधिसूचना ऐसे सभी भवनों के किराएदारों को अधिनियम के ऐसे फायदाप्रद उपबंधों के समान संरक्षण से वंचित करती है जो अन्य भवनों के किराएदारों को उपलभ्य हैं और इसलिए संविधान के अनुच्छेद 14 के समान संरक्षण खण्ड की विभेदकारी तथा अतिक्रमणकारी है, और (ग) किसी भी दशा में ऐसे भवनों को अधिनियम के सभी उपबंधों से दी गई पूर्ण छूट, जहां आंशिक छूट पर्याप्त हो सकती थी, आधार और समर्थन से रहित है। उच्चतम न्यायालय द्वारा रिट पिटीशन और सिविल अपीलें खारिज करते हुए,

अभिनिर्धारित—यद्यपि अनुच्छेद 14 के अधीन तमिलनाडु बिल्डिंग्स (लीज एण्ड रेंट कन्ट्रोल) ऐक्ट, 1960 की धारा 29 को चुनौती पिटीशनों और अपीलों में दी गई है तथा पिटीशनरों और अपीलार्थियों की ओर से स्पष्ट रूप से और सही तौर पर यह कहा गया है, कि मद्रास की पूर्वतर अधिनियमिति (1949 का मद्रास अधिनियम सं० 25) में अन्तर्विष्ट समान उपबंध से सम्बन्धित एक मामले में उच्चतम न्यायालय की संविधान न्यायपीठ के विनिश्चय को देखते हुए चुनौती कायम नहीं रह सकती। (पैरा 4)

हिन्दू, ईसाइयों और मुसलमानों के धार्मिक लोक न्यासों तथा लोक

पूर्त न्यासों के भवनों के वर्गीकरण को तर्कसंगत आधार पर आधारित युक्ति-युक्त वर्गीकरण के रूप माना जा सकता है किन्तु उस सबंध में कसौटी, अनुछेद 14 के प्रयोजनों के लिए भी पूरी की जानी अपेक्षित है। (पैरा 7)

अधिनियम की उद्देशिका और प्रभावी उपबन्ध राज्य सरकार में निहित वैवेकिक शक्ति के प्रयोग के लिए पर्याप्त मार्गदर्शन प्रदान करते हैं, अर्थात् उक्त शक्ति का ऐसे मामलों में प्रयोग किया जाना चाहिए था जहां अधिनियम द्वारा दिए गए संरक्षण से मकान मालिक को अधिक कठिनाई हुई हो अथवा जहां संरक्षण किराएदार द्वारा दुरुपयोग की विषयवस्तु रहा हो और प्रस्तुत मामले की उद्देशिका और प्रभावी उपबन्ध द्वारा समान मार्गदर्शन दिया गया है, इस लिए धारा 29 को संविधान के अनुच्छेद 14 का अतिक्रमणकारी नहीं कहा जा सकता। जहां मामला भवनों के किसी वर्ग के पक्ष में छूट देने वाला हो, वहां अपेक्षित यह है कि वर्गीकरण तर्कसंगत आधारों पर अर्थात् अधिनियम की नीति या प्रयोजन को कार्यान्वित करने से सम्बन्धित आधारों पर निश्चित रूप से आधृत होना चाहिए। यदि ऐसी छूट पूर्त, धार्मिक या लौकिक संस्थानों के सभी भवनों के पक्ष में दी जानी थी तो ऐसा वर्गीकरण युक्तियुक्त और उचित होगा क्योंकि वह तर्कसंगत विभेद पर आधारित था जिसका छूट की शक्ति का संबंध प्रयोग करके वांछित उद्देश्य था। (पैरा 3)

अधिनियम की धारा 29 के अधीन छूट देने की शक्ति विभिन्न किराए-दारों के बीच कोई प्रभेद करने के लिए प्रदत्त नहीं की गई है किन्तु अनावश्यक कठिनाई या फायदाप्रद उपबंधों के दुरुपयोग से बचने के लिए दी गई है जो ऐसे उपबन्ध ऐसे मामलों को समान रूप से लागू करने के परिणामस्वरूप हो सकती है जिसमें विभेदकारी व्यवहार अपेक्षित है। शक्ति का प्रयोग अधिनिय-मिति की नीति और उद्देश्य के अनुसार किया जाना चाहिए जिसका पता अधिनियम की उद्देशिका और उसके प्रभावी उपबन्ध से लगाया जा सकता है। शक्ति का प्रयोग अधिनियमिति के साधारण प्रयोजनों को समाप्त किए बिना, किया जाना चाहिए। (पैरा 5)

अधिनियम की उद्देशिका से दर्शित होता है कि वे तीन प्रयोजन, जिन्हें पूरा करने के लिए वह अधिनियमित किया गया है, वही है जो पूर्ववर्ती अधि-नियमिति अर्थात् 1949 के मद्रास अधिनियम सं० 25 के अधीन थे। ये प्रयो-जन इस प्रकार हैं : (1) रिहायशी और गैर-रिहायशी भवनों के किराए का विनियमन, (2) ऐसे भवनों के किरायों का नियंत्रण, और (3) ऐसे भवनों से किराएदारों की अयुक्तियुक्त बेदखली को रोकना, सिवाए इस बात के कि अधिनियमिति तत्समय पर्यन्त राज्य में प्रचलित किराया नियंत्रण विधि का

संशोधन और समेकन करने वाले रूप में व्यापक प्रकृति की है। बिना किसी विवाद के वह फायदाप्रद विधान है जो अत्यधिक किराया लेने और अयुक्तियुक्त बेदखली जैसी दो बुराइयों का उपचार करने के लिए आशयित है। अधिनियमिति स्पष्टतया ऐसे क्षेत्रों में भवनों के अधिभोगी किराएदारों से अयुक्तियुक्त किराया प्रभारित किए जाने और भवनों से अयुक्तियुक्त बेदखली किए जाने के अधिकारों के संरक्षण के लिए है। इसके अतिरिक्त, वह किराएदारों के कब्जे को 'किराएदार' की परिभाषा को व्यापक बनाए जाने से उनकी संविदात्मक किराएदारी के समाप्त किए जाने के पश्चात् भी संरक्षण प्रदान करती है जिससे उसमें ऐसे व्यक्ति सम्मिलित किए जा सकें जो ऐसे अवधारण के पश्चात् भी कब्जा धारण किए हुए हैं। छूट देने या अपवाद करने की शक्ति का राज्य सरकार द्वारा ऐसे क्षेत्रों या मामलों में वैध रूप से प्रयोग किया जा सकता जहां अधिनियम द्वारा हटाए जाने वाली रिष्टि न तो प्रचलित है और न ही उसकी आशंका है तथा ऐसे मामलों में भी उस शक्ति का प्रयोग किया जा सकता है जहां कठोरता से या समरूप विधि के लागू किए जाने के परिणामस्वरूप अनावश्यक या असम्यक् कठिनाई (यहां पर मकान मालिकों को) होने की संभावना है अथवा ऐसे मामलों में जहां फायदाप्रद उपबन्ध का ऐसे व्यक्ति द्वारा दुरुपयोग किए जाने की संभावना है या उसका दुरुपयोग किया जा रहा है जिसके लिए वह (किराएदारों के लिए) आशयित है। (पैरा 6)

लोक धार्मिक और पूर्त विन्यास या न्यास अच्छी तरह से मान्यता-प्राप्त सुभिन्न वर्ग का गठन करते हैं, चूंकि वे न केवल लोक प्रयोजनों को पूरा करते हैं, बल्कि उनकी आय का वितरण, उन उद्देश्यों द्वारा शासित होता है जिससे वे सृजित किए गए हैं तथा ऐसे लोक धार्मिक और पूर्त विन्यासों या न्यासों के भवन ऐसे सुभिन्न वर्ग में आते हैं जो प्राइवेट मकान मालिकों के स्वामित्व वाले भवनों से भिन्न हैं और इसलिए राज्य सरकार द्वारा आक्षेपित अधिसूचना जारी करके किए गए एक वर्ग में उनके वर्गीकरण को तर्कसंगत आधार पर आधृत किया हुआ माना जाना चाहिए। (पैरा 8)

अधिनियमिति के दो उद्देश्य अर्थात् किराया नियंत्रण और अयुक्तियुक्त बेदखली को निवारित करना, परस्पर रूप से संबंधित हैं और जो उपबंध इन उद्देश्यों को पूरा करते हैं, एक-दूसरे के अनुपूरक हैं। यदि लोक धार्मिक न्यासों और लोक खैरातों के न्यासियों को साधारण बाजार किराया प्रभारित करने की स्वतन्त्रता देना है और उस स्वतन्त्रता को प्रभावित करना है, तो ऐसे बाजार के किराए के संदाय न किए जाने पर किराएदारों को बेदखल करने के अधिकार से न्यासियों को सशक्त करना आवश्यक होगा। राज्य सरकार ने पने समक्ष वाली सामग्री के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला था कि अधि-

नियम के अधीन नियत 'उचित किराया' ऐसे भवनों के मामले में अन्यायोचित था और ऐसे भवनों के न्यासियों को अपने किराएदारों से युक्तियुक्त बाजार में प्रचलित किराया वसूल करने के लिए अनुज्ञात करना आवश्यक था और यदि ऐसा है तो जब युक्तियुक्ति बाजार-किराया संदत्त नहीं किया जाता है तब बेदखली न करना अयुक्तियुक्त होगा और यदि किराएदारों द्वारा बाजार किराया संदत्त किया जाता है, तो कोई भी न्यासी उन्हें बेदखल नहीं करेगा। इस लिए यह बात स्पष्ट है कि पूर्ण छूट को अत्यधिक या भिन्न आधार की नहीं माना जा सकता। (पैरा 13)

लोक धार्मिक संस्थाएं या लोक खैरातों के भवनों के न्यासी बड़ी या महत्त्वपूर्ण मरम्मत करने के प्रयोजन के लिए या भवन को गिराने और उसके पुर्ननिर्माण के प्रयोजन के लिए अपने किराएदारों को बेदखल करने की इच्छा कर सकते हैं तथा राज्य सरकार ने यह महसूस किया होगा कि ऐसे भवनों के न्यासियों को ऐसी अन्य महत्त्वपूर्ण शर्तों को पूरा करने की अपेक्षा किए बिना बेदखली को प्रभावी करने के लिए समर्थ बनाना चाहिए जिनका प्राइवेट मकान मालिकों द्वारा अनुपालन किया जाना तब आवश्यक है जब वे ऐसे प्रयोजनों के लिए बेदखली चाहते हैं। आक्षेपित अधिसूचना के अधीन ऐसे भवनों को दी गई पूर्ण छूट पूर्ण रूप से न्यायोचित है। (पैरा 14)

जिस रीति में किराया नियंत्रण संबंधी उपबंधों से छूट दी जानी चाहिए, चाहे छूट आंशिक या पूर्ण हो और किन निबंधनों और शर्तों पर दी जानी चाहिए, यह बात अधिनियमिति से संबंधित स्कीम और उपबंधों तथा किए गए वर्गीकरण से संबंधित तथ्यों और परिस्थियों के प्रकाश में प्रत्येक राज्य सरकार द्वारा विनिश्चय करने की विषयवस्तु होगी। यदि इस प्रकार दी गई छूट अवैध या असांविधानिक नहीं है और मद्रास राज्य ने आक्षेपित अधिसूचना द्वारा किसी विशेष रीति में छूट देना उचित माना है, तो उसमें कोई त्रुटि ढूंढना कठिन होगा। बेदखली तभी की जा सकती है जब लोक धार्मिक या पूर्त न्यासों के ऐसे भवनों के किराएदारों द्वारा अनुज्ञात वर्धित किराया संदत्त नहीं किया जाता है अथवा दो क्रमवर्ती मासों का किराया बकाया हो जाता है। (पैरा 15)

निर्दिष्ट निर्णय

		पैरा
[1970]	(1970) 15 एम० पी० एल० जे० 973 : **मध्य प्रदेश राज्य** बनाम **कन्हैया लाल**;	4, 8
[1964]	[1964] 6 एस० सी० आर० 903 : **राजस्थान राज्य** बनाम **मुकन चन्द और अन्य**;	11

[1962] [1962]2 एस० सी० आर० 169 :
पी० जे० ईरानी बनाम मद्रास राज्य ; 3, 4, 5, 8

[1926] (1926) 71 लॉ एडीशन 1228 :
गोरिब बनाम फाक्स 5

सिविल आरम्भिक और अपीली अधिकारिता : **1978 के रिट पिटीशन सं० 4433, 4642-57, 1979 के 337-339, 757-58, 913, 291 और 1351, 1980 के 4103 और 6271, 1981 के 731 और 1943, 1983 के 8274 और 9879 तथा 1981 की सिविल अपील सं० 3108-3109 और 1981 के रिट पिटीशन सं० 7941 और 7883.**

पिटीशनरों की ओर से (1978 के रि०पि०सं० 4642-57 और 4433 में)	सर्वश्री एन० नटेशन, ए० टी० एम० सम्पत और पी० एन० रामलिंगम्
पिटीशनरों की ओर से (1979 के रि०पि०सं० 337-339 में)	सर्वश्री (डा०) वाई० एस० चितले ए० टी० एम० सम्पत, एस० ए० राजन और पी० एन० रामलिंगम्
पिटीशनर की ओर से (1981 के रि०पि०सं० 1943 में)	सर्वश्री एम० नटेशन और रघुरमण
पिटीशनरों की ओर से (1979 के रि०पि०सं० 757-58 में)	सर्वश्री ए० टी०एम० सम्पत और पी० एन० रामलिंगम्
पिटीशनर की ओर से (1979 के रि०पि०सं० 943 में)	श्री एस० श्रीनिवासन्
पिटीशनर की ओर से (1982 के रि०पि०सं० 731 में)	श्री पी० आर० रामशीष
पिटीशनर की ओर से : (1982 के रि०पि०सं० 7941 और 7883 में)	सर्वश्री ए० टी० एम० सम्पत और पी० एन० रामलिंगम्
पिटीशनर की ओर से (1979 के रि०पि०सं० 1351 में)	सर्वश्री ए० टी० एम० सम्पत और पी० एन० रामलिंगम्

पिटीशनर की ओर से (1983 के रि०पि०सं० 8274 में)	श्री पी० सिन्हा
अपीलार्थियों की ओर से (1981 की सि०अ०सं० 3108-09 में)	श्री पी० एन० रामलिंगम्
प्रत्यर्थियों की ओर से (1980 के रि०पि०सं० 6271 और 1978 के रि०पि०सं० 4642-57 और 4433 में)	सर्वश्री के० एस० राममूर्ति, पी० गोविन्दन नायर, एम०के०डी०नम्बूदरी, एस०बालकृष्णन् और ई०सी० अग्रवाल
प्रत्यर्थियों की ओर से (1980 के रि०पि०सं० 4103 में)	श्री टी०एस० कृष्णमूर्ति, श्रीमती एस० गोपालकृष्णन् और श्री गोपाल सुब्रमण्यम्
प्रत्यर्थियों की ओर से (1979 के रि०पि०सं० 943 में)	सर्वश्री शंकर घोष और डी० एन० गुप्ता
प्रत्यर्थियों की ओर से (1982 के रि०पि०सं० 731 में)	सर्वश्री एस० टी० देसाई, टी० एस० कृष्णमूर्ति, ए० वी० रंगम, के० राममूर्ति और एस० बालकृष्णन्
मध्यक्षेपियों की ओर से (1978 के रि०पि०सं०4642-57 में)	सर्वश्री मोहन पांडे और अली अहमद

न्यायालय का निर्णय न्यायाधिपति बी० डी० तुलज़ापुरकर ने दिया।

न्यायाधिपति तुलज़ापुरकर—

इन रिट पिटीशनों और विशेष इजाज़त लेकर की गई सिविल अपीलों में पिटीशनरों और अपीलार्थियों ने, जो तमिलनाडु राज्य में हिन्दू, ईसाइयों और मुसलमानों के धार्मिक लोक न्यासों तथा लोक पूर्त न्यासों के कई भवनों के किराएदार हैं, तमिलनाडु बिल्डिंग्स (लीज़ एण्ड रेंट कण्ट्रोल) ऐक्ट, 1960 (1960 का तमिलनाडु अधिनियम सं० 18) (जिसे संक्षेप में अधिनियम कहा गया है) की धारा 29 के अधीन राज्य सरकार को प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग करते हुए उक्त अधिनियम के सभी उपबंधों से ऐसे सभी भवनों को दी गई कुल छूट की वैधता और/या विधिमान्यता को चुनौती दी है। अधिनियम की धारा 29 इस प्रकार है—

> *"29. **छूट**—इस अधिनियम में अन्तर्विष्ट किसी बात के होते हुए राज्य सरकार ऐसी शर्त के, जो वह उचित समझे, अध्यधीन

---

*अंग्रेज़ी में यह इस प्रकार है :—

> "29. *Exemptions.*—Notwithstanding anything contained in this Act, the Government may, subject to

अधिसूचना द्वारा इस अधिनियम के सभी या किन्हीं उपबंधों से किसी भवन या भवनों के वर्ग को छूट प्रदान कर सकती है ।"

यह प्रतीत होता है कि प्रारम्भ में जी० ओ० एम० एस० सं० 1998 (होम) तारीख 12 अगस्त, 1974 द्वारा राज्य सरकार ने धारा 29 के अधीन अपनी शक्तियों का प्रयोग करते हुए अधिनियम के सभी उपबंधों से हिन्दू, ईसाइयों और मुसलमानों के धार्मिक न्यासों और पूर्त संस्थानों के स्वामित्व के सभी भवनों को छूट प्रदान की थी । अन्य शब्दों में छूट प्राइवेट धार्मिक न्यासों तथा प्राइवेट पूर्त न्यासों के भवनों को उपलभ्य थी । किन्तु इसके पश्चात् एक नवीन जी० ओ० एम० एस० सं० 2000 (होम) तारीख 16 अगस्त, 1976 द्वारा राज्य सरकार ने तारीख 12 अगस्त, 1974 की पूर्ववर्ती अधिसूचना को अतिष्ठित करते हुए छूट हिन्दू, ईसाइयों और मुसलमानों के धार्मिक लोक न्यासों और लोक पूर्त न्यासों तक ही सीमित कर दी थी । सुसंगत अधिसूचना, जिसे यहां पर चुनौती दी गई है, इस प्रकार है—

"जी० ओ० एम० एस० सं० 2000, होम, तारीख 16 अगस्त, 1976—सं० 11 (2)/एच०ओ० 4520/76—तमिलनाडु बिल्डिंग्स (लीज़ एण्ड रेंट कण्ट्रोल) ऐक्ट, 1960 (1960 का तमिलनाडु अधिनियम सं० 18) की धारा 29 द्वारा प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग करते हुए और गृह विभाग की अधिसूचना सं० II (2)/एच०ओ०/3811/74 तारीख 12 अगस्त, 1974 को, जो तमिलनाडु सरकार के तारीख 12 अगस्त, 1974 के राजपत्र के भाग II के खण्ड 2 के पृष्ठ 444 पर प्रकाशित हुई है, अतिष्ठित करते हुए तमिलनाडु के राज्यपाल एतद्द्वारा उक्त अधिनियम के सभी उपबंधों से हिन्दू, ईसाइयों और मुसलमानों के धार्मिक लोक न्यासों और लोक पूर्त न्यासों के स्वामित्व के सभी भवनों को छूट प्रदान करते हैं ।"

2. किराएदारों ने अधिनियम के सभी उपबंधों से हिन्दू, ईसाइयों और मुसलमानों के धार्मिक लोक न्यासों और लोक पूर्त न्यासों के सभी भवनों को पूर्ण रूप से छूट प्रदान करने वाली उपर्युक्त अधिसूचना को तीन आधारों पर चुनौती दी है—(क) कि अधिनियम की धारा 29 में विधायी शक्तियों के अत्यधिक प्रत्यायोजन की त्रुटि है चूंकि वह राज्य सरकार में छूट देने के मामले में अमार्गदर्शित और अनियंत्रित विवेकाधिकार निहित करती है और इसलिए वह संविधान के अनुच्छेद 14 की अतिक्रमणकारी है, (ख) तारीख 16 अगस्त,

---

such condition as they deem fit, by notification, exempt any building or class of buildings from all or any of the provisions of this Act."

1976 की अधिसूचना ऐसे सभी भवनों के (हिन्दू, ईसाइयों और मुसलमानों के धार्मिक लोक न्यासों और लोक पूर्त न्यासों के भवनों) किराएदारों को अधिनियम के ऐसे फायदाप्रद उपबंधों के समान संरक्षण से वंचित करती है, जो अन्य भवनों के किराएदारों को उपलभ्य हैं और इसलिए संविधान के अनुच्छेद 14 के समान संरक्षण खण्ड से विभेदकारी और उसकी अतिक्रमणकारी है, और (ग) किसी भी दशा में ऐसे भवनों को अधिनियम के सभी उपबंधों से दी गई पूर्ण छूट, जहां आंशिक छूट पर्याप्त हो सकती थी, अत्यधिक, बिना आधार के और बिना समर्थन के है।

3. दूसरी ओर, राज्य सरकार और प्रत्यर्थी-मकान मालिकों ने उन सभी आधारों का खण्डन किया है जिन पर छूट को चुनौती दी गई है। इस बात से इनकार किया गया है कि राज्य सरकार को अधिनियम की धारा 29 द्वारा अमार्गदर्शित और अनियंत्रित विवेकाधिकार प्रदत्त किया गया है और यह दलील दी गई है कि राज्य सरकार में निहित वैवेकिक शक्ति के प्रयोग के लिए अधिनियम की उद्देशिका और प्रभावी उपबंधों द्वारा पर्याप्त मार्गदर्शन दिया गया है। यह बताया गया है कि **पी० जे० ईरानी** बनाम **मद्रास राज्य**[1] वाले मामले में पूर्वतर अधिनियमिति अर्थात् मद्रास बिल्डिंग्स (लीज़ एण्ड रेंट कण्ट्रोल) ऐक्ट, 1949 में अन्तर्विष्ट समान उपबंध को इस न्यायालय द्वारा संविधान के अनुच्छेद 14 के संदर्भ में इस आधार पर कायम रखा गया था कि उस अधिनियम की उद्देशिका और प्रभावी उपबंध राज्य सरकार में निहित वैवेकिक शक्ति के प्रयोग के लिए पर्याप्त मार्गदर्शन प्रदान करते हैं, अर्थात् उक्त शक्ति का ऐसे मामलों में प्रयोग किया जाना चाहिए था जहां अधिनियम द्वारा दिए गए संरक्षण से मकान मालिक को अधिक कठिनाई हुई है अथवा जहां संरक्षण किराएदार द्वारा दुरुपयोग की विषयवस्तु रहा हो और यह दलील दी गई है कि प्रस्तुत मामले की उद्देशिका और प्रभावी उपबंध द्वारा समान मार्गदर्शन दिया गया है, इसलिए धारा 29 को संविधान के अनुच्छेद 14 का अतिक्रमणकारी नहीं कहा जा सकता। प्रत्यर्थियों ने आगे यह भी दलील दी है कि अनुच्छेद 14 के समान संरक्षण खण्ड के संदर्भ में धार्मिक या लौकिक पूर्त संस्थानों के, भवनों को दी गई छूट की सांविधानिक विधिमान्यता से संबंधित प्रश्न **पी० जे० ईरानी के मामले**[1] में इस न्यायालय द्वारा व्यक्त मत द्वारा ऐसे भवनों के किराएदारों के विरुद्ध विनिश्चित कहा जा सकता है। यह बताया गया है कि यद्यपि उस मामले में इस न्यायालय ने किसी विशेष व्यक्तियों के भवन के पक्ष में छूट देने वाली अधिसूचना पर विचार किया था, और न्यायालय

---

[1] [1962] 2 एस० सी० आर० 169.

ने जो मत व्यक्त किए हैं वे स्पष्ट रूप से यह उपदर्शित करते हैं कि जहां ऐसा मामला भवनों के किसी वर्ग के पक्ष में छूट देने वाला हो, वहां अपेक्षित यह है कि वर्गीकरण तर्कसंगत आधारों पर, अर्थात् अधिनियम की नीति या प्रयोजन को कार्यान्वित करने से संबंधित आधारों पर निश्चित रूप से आधृत होना चाहिए, तथा उदाहरण के तौर पर न्यायालय ने स्पष्ट रूप से यह कहा है कि यदि ऐसी छूट पूर्त, धार्मिक या लौकिक संस्थाओं के सभी भवनों के पक्ष में दी जानी थी तो ऐसा वर्गीकरण युक्तियुक्त और उचित होगा क्योंकि वह तर्कसंगत विभेद पर आधारित था जिसका छूट की शक्ति का सम्बन्ध प्रयोग करके चाहे जाने वाले उद्देश्य से था। अन्यथा भी राज्य सरकार ने तारीख 10 फरवरी, 1981 के अपने प्रति-शपथपत्र और तारीख 24 सितम्बर, 1983 के अपने अनुपूरक शपथपत्र में ऐसी सामग्री पेश की है जिसके आधार पर उसने उक्त छूट को न्यायोचित ठहराना चाहा है और यह दलील दी गई है कि वह शक्ति के प्रयोग को लागू होने वाले उस विनिश्चय में उपदर्शित मार्गदर्शक सिद्धान्तों के अनुरूप है और उसके अन्तर्गत आती है। प्रत्यर्थियों ने पूर्ण छूट देने को मुख्यतः इस आधार पर न्यायोचित ठहराना चाहा है कि युक्तियुक्त बाजार में प्रचलित किराया वसूल करने की स्वतंत्रता (अधिकार) किराएदार को बेदखल करने की स्वतंत्रता के बिना निष्प्रभावी होगी।

4. स्वयं अधिनियम की धारा 29 के विरुद्ध दी गई चुनौती के संबंध में हम प्रारम्भ में ही यह मत व्यक्त करना चाहेंगे कि यद्यपि अनुच्छेद 14 के अधीन उक्त धारा को चुनौती पिटीशनों और अपीलों में दी गई है, तथा पिटीशनरों और अपीलार्थियों की ओर से हाजिर होने वाले काउन्सेल ने हमारे समक्ष स्पष्ट रूप से यह कहा है, जो हमारे मत से सही है, कि मद्रास की पूर्वतर अधिनियमिति (1949 का मद्रास अधिनियम सं० 25) में अन्तर्विष्ट समान उपबंध से संबंधित **पी० जे० ईरानी के मामले**[1] में इस न्यायालय की संविधान न्यायपीठ के विनिश्चय को देखते हुए चुनौती कायम नहीं रह सकती। 1949 के मद्रास अधिनियम सं० 25 की धारा 13, जिस पर उस मामले में इस न्यायालय द्वारा विचार किया गया था, इस प्रकार है—

> *"इस अधिनियम में अन्तर्विष्ट किसी बात के होते हुए भी राज्य सरकार फोर्ट सेंट जार्ज गज़ट में अधिसूचना द्वारा इस अधिनियम

*अंग्रेज़ी में यह इस प्रकार है :—

> "Notwithstanding anything contained in this Act the State Government may by a notification in the Fort

[1] [1962] 2 एस० सी० आर० 169.

के सभी या किन्हीं उपवंधों से किसी भी भवन या भवनों के किसी वर्ग को छूट प्रदान कर सकती है ।"

इस न्यायालय ने अनुच्छेद 14 के अधीन उस उपवंध की चुनौती के संदर्भ में उसकी सांविधानिक विधिमान्यता को इस आधार पर कायम रखा था कि अधिनियम के सभी या किन्हीं उपबंधों से किसी भवन या भवनों के किसी वर्ग को छूट प्रदान करने के सम्बन्ध में सरकार में निहित वैवेकिक शक्ति के प्रयोग के लिए अधिनियम की उद्देशिका और प्रभावी उपवंधों द्वारा पर्याप्त मार्गदर्शन दिया गया था । यह कहा जा सकता है कि उक्त विनिश्चय का अनुसरण करने पर इस न्यायालय ने **मध्य प्रदेश राज्य** बनाम **कन्हैया लाल**[1] वाले मामले में मध्य प्रदेश अकमोडेशन कण्ट्रोल ऐक्ट, 1961 (1961 का अधिनियम सं० 41) की धारा 3(2) में कोई त्रुटि नहीं पाई थी । इस अधिनियम की धारा 3(2) इस प्रकार है---

**"राज्य सरकार अधिसूचना द्वारा किसी भी निवास-स्थान को, जो किसी शैक्षणिक, धार्मिक या पूर्त संस्था या किसी परिचर्या-गृह या प्रसूति-गृह के स्वामित्व का है और जिससे व्युत्पन्न सम्पूर्ण आय का, उस संस्था या परिचर्या-गृह या प्रसूति-गृह के लिए उपयोग किया जाता है, इस अधिनियम के सभी या किन्हीं उपबंधों से छूट प्रदान कर सकती है ।"

इसलिए प्रस्तुत मामले में धारा 29 की चुनौती को, जिस पर बल नहीं दिया गया है, नामंजूर कर दिया जाना चाहिए ।

5. इस पर भी चूंकि धारा 29 के अधीन जारी की गई तारीख 16 अगस्त, 1976 की अधिसूचना को चुनौती दी गई है, इसलिए अधिनियम की उद्देशिका और प्रभावी उपबंधों द्वारा किए गए मार्गदर्शन का इस प्रश्न से सम्बन्ध होगा कि क्या शक्ति का यह विशेष प्रयोग ऐसे मार्गदर्शन के अनुरूप है

St. George Gazette exempt any building or class of buildings from all or any of the provision of this Act."

**"The Government may by notification exempt from all or any of the provisions of this Act any accommodation which is owned by any educational, religious or charitable institution or by any nursing or maternity home, the whole of the income derived from which is utilised for that institution or nursing home or maternity home."

---

1 [1970] (15) एम० पी० एल० जे० 973.

अथवा नहीं और इसलिए इस प्रकार दिए गए मार्गदर्शन को संक्षेप में उल्लिखित करना उपयोगी होगा। प्रारम्भ में ही हम यह बतलाना चाहेंगे कि छूट देने या अपवाद का उपबंध करने के लिए ऐसी शक्ति प्रदान करने के पीछे निहित तर्कसंगत आधार गोरिब बनाम फाक्स[1] के निदर्शक मामले में अमेरिका की सुप्रीम कोर्ट द्वारा स्पष्ट रूप से समझाया गया है। उस मामले में न्यायालय का ऐसे अध्यादेश (आर्डिनेंस) से सम्बन्ध था जो सार्वजनिक मार्गों पर भवनों की लाइन स्थापित करने से सम्बन्धित था किन्तु उसमें अपवाद का उपबंध करने और स्ट्रीट (सड़क) के नजदीक भवन खड़े करने को अनुज्ञात करने के लिए सिटी कौंसिल में शक्ति का आरक्षण अन्तर्विष्ट था। यह दलील दी गई थी कि इस आरक्षण ने अध्यादेश को अविधिमान्य कर दिया था चूंकि उसमें विधियों के समान संरक्षण से इनकार किया गया था। न्यायालय की ओर से न्या० सुदरलैंड ने दलील नामंजूर करते हुए निम्नलिखित मत व्यक्त किया था—

> "परन्तुक को, जिसके अधीन कौंसिल ने कार्यवाही की है, भी समान संरक्षण खण्ड के अतिक्रामी रूप में इस आधार पर चुनौती दी है कि ऐसा परन्तुक कौंसिल को समान परिस्थितियों में समान प्रकार के भवनों को खड़ा करने के लिए सड़क से असमान दूरियां तय करके लाट-आनर्स के बीच विभेद करने के लिए अनुचित रूप से समर्थ बनाता है .... । स्पष्ट रूप से परन्तुक इस बात पर कार्यवाही करता है कि अध्यादेश (आर्डिनेंस) के कठोरता से लागू किए जाने से कुछ परिस्थितियों में अनावश्यक कठिनाई हो सकती है। साधारण नियम, जिससे हमारा यहां पर संबंध है, अधिकथित करने में अग्रिम रूप से पुर्वानुमान करने की व्यावहारिक असम्भाव्यता और प्रत्येक आपवादिक मामले के लिए, जो उद्भूत हो सकता है, विशिष्ट शब्दों में उपबन्ध करना स्पष्ट है। फिर भी ऐसे मामलों को सम्मिलित करने से बहुत ही अनावश्यक कठिनाई हो सकती है जो कि उस अच्छाई से पूर्णतः अननुपातिक होगी जो साधारण नियम के शाब्दिक प्रवर्तन के परिणामस्वरूप होगी। अतः यहां इस बात को अवधारित करने के लिए प्राधिकार आरक्षित करने का चातुर्य और आवश्यकता है कि क्या आवश्यकता के विनिर्दिष्ट मामलों में, अध्यादेश के साधारण प्रयोजन को ध्वंस किए बिना अपवाद के उपबन्ध किए जा सकते हैं। हमारे विचार से यह बात स्पष्ट है कि ऐसे आपवादिक मामलों सहित

[1] (1926) 71 लॉ एडीसन 1228, 1230.

विशेष रीति में कार्यवाही करने के लिए वर्तमान अध्यादेश में प्राधिकार का आरक्षण सांविधानिक आधारों पर चुनौती देने योग्य नहीं है।"

हमारे मत में यही तर्क प्रस्तुत अधिनियमिति जैसे फायदाप्रद विधानों के मामलों में भी छूट देने या अपवाद का उपबन्ध करने के लिए राज्य सरकार को ऐसी शक्ति देने में भी लागू होना चाहिए। फायदाप्रद विधानों के मामले में भी ऐसे मामले होना निश्चित हैं जिनमें अधिनियमित के उपबन्धों को कठोरता से लागू करने के परिणामस्वरूप अनावश्यक और असम्यक् कठिनाई हो सकती है जो विधानमण्डल द्वारा अनुध्यात नहीं है। स्पष्ट रूप से अधिनियम की धारा 29 के अधीन छूट देने की शक्ति विभिन्न किराएदारों के बीच कोई प्रभेद करने के लिए प्रदत्त नहीं की गई है किन्तु अनावश्यक कठिनाई या फायदाप्रद उपबन्धों के दुरुपयोग से बचने के लिए दी गई है जो ऐसे उपबन्ध ऐसे मामलों को समान रूप से लागू करने के परिणामस्वरूप हो सकती है जिसमें विभेद-कारी व्यवहार अपेक्षित है। यद्यपि, जैसा कि **पी० जे० ईरानी के मामले**[1] में इस न्यायालय द्वारा मत व्यक्त किया गया है, शक्ति का प्रयोग अधिनि-यमिति की नीति और उद्देश्य के अनुसार किया जाना चाहिए जिसका पता अधिनियम को उद्देशिका और उसके प्रभावी उपबन्ध से लगाया जा सकता है, अथवा जैसा अमेरिका के विनिश्चय में कहा गया है, शक्ति का प्रयोग अधिनियमिति के साधारण प्रयोजनों को समाप्त किए बिना किया जाना चाहिए।

6. जैसा कि प्रस्तुत अधिनियम की उद्देशिका से दर्शित होता है कि वे तीन प्रयोजन, जिन्हें पूरा करने के लिए वह अधिनियमित किया गया है, वही हैं जो पूर्ववर्ती अधिनियमिति अर्थात् 1949 के मद्रास अधिनियम सं० 25 के अधीन थे। ये प्रयोजन इस प्रकार हैं: (1) रिहायशी और गैर रिहायशी भवनों के किराए का विनियमन, (2) ऐसे भवनों के किरायों का नियंत्रण, और (3) ऐसे भवनों से किराएदारों की अयुक्तियुक्त बेदखली को रोकना, सिवाय इस बात के कि अधिनियमिति तत्समय पर्यन्त राज्य में प्रचलित किराया नियंत्रण विधि का संशोधन और समेकन करने वाले रूप में व्यापक प्रकृति की है। बिना किसी विवाद के वह फायदाप्रद विधान है जो अत्यधिक किराया लेने और पिछले द्वितीय विश्व-युद्ध की कालावधि में बड़े शहरों और शहरी क्षेत्रों में जनसंख्या के बहुत बड़े पैमाने पर आने से ऐसे क्षेत्रों में निवास-स्थान की बहुत ही कमी हो गई है तथा अधिनियमिति स्पष्टतया ऐसे क्षेत्रों में भवनों के अधिभोगी किराएदारों से अयुक्तियुक्त किराया प्रभारित किए जाने और भवनों से अयुक्तियुक्त बेदखली किए जाने के अधिकारों के संरक्षण के

---

[1] [1962] 2 एस० सी० आर० 169.

लिए है। इसके अतिरिक्त, वह किराएदारों के कब्जे को 'किराएदार' की परिभाषा को व्यापक बनाए जाने से उनकी संविदात्मक किराएदारी के समाप्त किए जाने के पश्चात् भी संरक्षण प्रदान करती है जिससे उसमें ऐसे व्यक्ति सम्मिलित किए जा सकें जो ऐसे अवधारण के पश्चात् भी कब्जा धारण किए हुए हैं। धारा 3 और 3-क किराए के विनियमन से सम्बन्धित है जबकि धारा 4 से 8 किरायों के नियंत्रण के उद्देश्य को प्रभावशील बनाती रहे तथा धारा 10 और 14 से 16 तक कतिपय निबन्धनों शर्तों और/या आरक्षणों के अध्यधीन उल्लिखित आधारों पर किराएदार की बेदखली को सीमित करती है जिससे अयुक्तियुक्त बेदखली निवारित की जा सके। दूसरे शब्दों में, बाज़ार-किराया (यदि वह यथा-परिभाषित 'उचित किराए' से अधिक है) भी प्रभारित करने के लिए संविदा करने की मकान-मालिक की स्वतंत्रता और उसके पट्टा विलेख के अधीन या सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम के अधीन उसे उपलभ्य कई आधारों पर किराएदार को बेदखल करने की उसकी स्वतंत्रता में बहुत बड़ी और सारवान् सीमा तक कमी कर दी गई है। इसके साथ ही अधिनियमिति में अन्य महत्त्वपूर्ण उपबंध हैं जो यह उपदर्शित करते हैं कि स्वयं विधानमण्डल ने यह अनुभव किया था कि ऐसे बहुत क्षेत्र से और मामले हो सकते हैं जिसमें दो बुराइयां न तो प्रचलित थीं और न ही आशंकित थीं और इसलिए मकान-मालिक की स्वतंत्रता में कटौती करने की सर्वथा आवश्यकता नहीं थी तथा जहां घटाई हुई स्वतंत्रता मकान मालिक को अनुज्ञात की जा सकती थी वहां सीमित संरक्षण किराएदार तक विस्तारित किया जाना चाहिए। उदाहरण के लिए, स्वयं अधिनियम की धारा 1(2) (क) (i) सम्पूर्ण राज्य को लागू नहीं होती है किन्तु केवल मद्रास शहर, मदुरई शहर और सभी नगरपालिकाओं (अर्थात् नगरपालिका के क्षेत्रों) को लागू होती है जो यह दर्शाती है कि गैर-शहरी क्षेत्र या ग्रामीण क्षेत्र अधिनियम के प्रवर्तन से अपवर्जित हैं, संभवत: चूंकि ऐसे क्षेत्रों में अत्यधिक किराया लेने और अयुक्तियुक्त बेदखली की बुराइयां नहीं होती हैं; और उसके परन्तुक के अधीन भी शक्ति ऐसी तारीख से, जो अधिसूचना में उल्लिखित की जाए किसी भी नगरपालिका क्षेत्र में अथवा मद्रास शहर अथवा मदुरई शहर में अधिनियम के लागू किए जाने को वापस लेने के लिए तथा अधिनियम को ऐसे क्षेत्रों में जहां परन्तुक के अधीन जारी की गई अधिसूचना के कारण उसका लागू किया जाना समाप्त कर दिया गया है पुन: लागू करने के लिए सरकार के पास आरक्षित की गई है। इसी प्रकार धारा 1 (2) (ग) सरकार को राज्य के किसी अन्य क्षेत्र में, जिसे वह स्वयं अधिनियम द्वारा पहले से लागू नहीं किया गया है, अधिसूचना द्वारा अधिनियम के किन्हीं या

सब उपबंधों को लागू करने और ऐसी किसी अधिसूचना को रद्द करने या उपांतरित करने की शक्ति प्रदत्त करती है। पुनः धारा 10(1) के परन्तुक द्वारा धारा 10 और धारा 14 से 16 द्वारा अधिरोपित निर्बन्धन (जो वे आधार और परिस्थितियां उल्लिखित करते हैं जिनके अधीन ही केवल बेदखली अधिनियम के अधीन चाही जा सकती है) ऐसे भवनों के जिनके मकान-मालिक सरकार है, किराएदारों को लागू नहीं किए गए हैं। इसी प्रकार धारा 10(3) (ख) के अधीन धार्मिक, पूर्त, शैक्षणिक या अन्य लोक संस्थानों के मालिकों को किराएदार को बेदखल करने के लिए बहुत ही व्यापक छूट दी गई है, यदि कब्जा ऐसी संस्थाओं के प्रयोजन के लिए अपेक्षित हो, चूंकि धारा 10(3) (क) (i), (ii) और (iii) के अधीन आने वाले मामलों के विपरीत इस पर कोई बल नहीं दिया गया है कि ऐसे मकान-मालिक सम्बन्धित शहर, नगर या ग्राम में अपने स्वयं के किसी अन्य भवन के अधिभोगी नहीं होना चाहिए। अन्य शब्दों में, स्वयं विधानमण्डल ने सरकार के भवनों और धार्मिक, पूर्त, शैक्षणिक और अन्य लोक संस्थानों के भवनों का तर्कसंगत वर्गीकरण किया है और ऐसे भवनों के साथ किया गया भिन्न व्यवहार स्पष्टतः इस प्रकार की सुआधारित उपधारणा पर आधारित है कि सरकार तथा ऐसे भवनों के मालिकों से अत्यधिक किराया लेने या अयुक्तियुक्त बेदखली की अपेक्षा नहीं की जाती है। ये और इसी प्रकार के अन्य उपबंध अधिनियम की नीति और प्रयोजन को स्पष्ट करते हैं और अपेक्षित मार्गदर्शन पेश करते हैं जो वैध रूप से अधिनियम की धारा 29 के अधीन राज्य सरकार को प्रदत्त शक्ति के प्रयोग को लागू होते हैं। इस प्रकार किया गया मार्गदर्शन यह कहकर के उदाहरण के तौर पर उपदर्शित किया जा सकता है कि छूट देने या अपवाद करने की शक्ति का राज्य सरकार द्वारा ऐसे क्षेत्रों या मामलों में वैध रूप से प्रयोग किया जा सकता है जहां अधिनियम द्वारा हटाये जाने वाली रिष्टि न तो प्रचलित है और न ही उसकी आशंका है तथा ऐसे मामलों में (वैयक्तिक या मामलों के वर्ग में) भी उस शक्ति का प्रयोग किया जा सकता है जहां कठोरता से या एक समान विधि के लागू किए जाने के परिणामस्वरूप अनावश्यक या असम्यक् कठिनाई (यहां पर मकान मालिकों को) होने की सम्भावना है अथवा ऐसे मामलों में जहां फायदाप्रद उपबन्ध का ऐसे व्यक्ति द्वारा दुरुपयोग किए जाने की सम्भावना है या दुरुपयोग किया जा रहा है जिसके लिए वह (यहां पर किराएदारों के लिए) आशयित है। प्रश्न यह है कि क्या राज्य सरकार ने तारीख 16 अगस्त, 1976 की अधिसूचना जारी करने में ऐसे मार्गदर्शन के अनुसार शक्ति का प्रयोग किया है और वह विधिमान्य है तथा संविधान के अनुच्छेद 14 की अतिक्रमणकारी नहीं है।

7. हम पहले ही बतला चुके हैं कि प्रत्यर्थियों ने यह दलील दी है कि खैरातों, धार्मिक या लौकिक संस्थाओं के भवनों, किराया नियंत्रण विधान से छूट देने की सांविधानिक विधिमान्यता तथा अनुच्छेद 14 के समान संरक्षण खण्ड के अतिक्रमणकारी होने के प्रश्न को पी० जे० ईरानी के मामले[1] में इस न्यायालय द्वारा व्यक्त मतों द्वारा हल कर दिया गया है तथा दूसरे अपीलार्थियों ने यह दलील दी है कि वह ऐसा मामला नहीं है। पिटीशनरों और अपीलार्थियों के काउन्सेल के अनुसार उस मामले में इस न्यायालय द्वारा व्यक्त मत इस बात का विनिश्चय करने के लिए है कि हिन्दू, ईसाइयों और मुसलमानों के धार्मिक लोक न्यासों तथा लोक पूर्त न्यासों के भवनों के वर्गीकरण को तर्कसंगत आधार पर आधारित युक्तियुक्त वर्गीकरण के रूप में माना जा सकता है किन्तु उस सम्बन्ध में कसौटी, जो अनुच्छेद 14 के प्रयोजनों के लिए भी पूरी की जानी अपेक्षित है, इस न्यायालय द्वारा प्रख्यापित नहीं की गई है और इस पहलू पर अभी भी बहस की जानी है। हम इस आधार पर आगे विचार करेंगे कि प्रश्न अनिर्णीत विषय है और इस बात पर विचार करेंगे कि क्या प्रत्यर्थी विशेषतः राज्य सरकार ने उचित सामग्री पेश की है जिसके आधार पर दी गई छूट न्यायोचित हो सकती है।

8. इस बारे में विवाद नहीं किया जा सकता कि लोक धार्मिक और पूर्त विन्यास या न्यास अच्छी तरह से मान्यताप्राप्त सुभिन्न वर्ग का गठन करते हैं चूंकि वे न केवल लोक प्रयोजनों को पूरा करते हैं, बल्कि उनकी आय का वितरण उन उद्देश्यों द्वारा शासित होता है जिससे वे सृजित किए गए हैं तथा ऐसे लोक धार्मिक और पूर्त विन्यासों या न्यासों के भवन ऐसे सुभिन्न वर्ग में आते हैं जो प्राइवेट मकान-मालिकों के स्वामित्व वाले भवनों से भिन्न हैं और इसलिए राज्य सरकार द्वारा आक्षेपित अधिसूचना जारी करके किए गए एक वर्ग में उनसे वर्गीकरण को तर्कसगत आधार पर आधृत किया हुआ माना जाना चाहिए। पिटीशनरों और अपीलार्थियों के काउन्सेल ने भी उचित रूप से यह स्वीकार किया है कि ऐसा वर्गीकरण तर्कसंगत होगा और वह भी पी० जे० ईरानी के मामले[1] में उस निमित्त इस न्यायालय द्वारा व्यक्त मतों को देखते हुए अधिक तर्कसगत होगा। प्रश्न यह है कि क्या उक्त वर्गीकरण का उस उद्देश्य से कोई सम्बन्ध है जिससे अधिनियम की धारा 29 के अधीन राज्य सरकार को छूट देने की शक्ति प्रदत्त की गई है। राज्य सरकार द्वारा पेश की गई उस सामग्री पर हमारे द्वारा मामले के इस पहलू से विचार किए जाने पर, जिसके आधार पर ऐसा सम्बन्ध स्थापित करना चाहा गया

[1] [1962] 2 एस० सी० आर० 169.

है, मध्य प्रदेश राज्य बनाम कन्हैया लाल[1] के मामले में इस न्यायालय द्वारा व्यक्त कतिपय मतों को निर्दिष्ट करना उपयोगी होगा जो इस बारे में स्पष्ट रूप से संकेत देते हैं कि किस प्रकार की सामग्री ऐसा सम्बन्ध सिद्ध करेगी। उस मामले के तथ्य इस प्रकार थे। उस मामले में प्रत्यर्थी सं० 4 मध्य प्रदेश पब्लिक ट्रस्ट ऐक्ट के अधीन रजिस्ट्रीकृत लोक न्यास था और उसके स्वामित्व में एक मकान था जिसका एक भाग कन्या विद्यालय के अधिभोग में था और शेष भाग किराएदारों को किराए पर दिया हुआ था। चूंकि सम्पत्ति से प्राप्त होने वाला किराया पूर्ण रूप से विद्यालय के प्रयोजनों के लिए उपयोग में लाया जाता था इसलिए प्रत्यर्थी सं० 4 का मकान सम्पत्ति के लिए मध्य प्रदेश अकमोडेशन कण्ट्रोल ऐक्ट की धारा 3(2) के उपबंधों से छूट प्राप्त करने के लिए हकदार हो गया था। प्रत्यर्थी सं० 4 द्वारा उस निमित्त आवेदन किए जाने पर राज्य सरकार ने उस उपबंध के अधीन अधिसूचना जारी करके छूट दे दी थी। अधिसूचना को दो आधारों पर चुनौती दी गई थी, (i) कि धारा 3(2) राज्य सरकार को विधायी शक्तियों के अत्यधिक प्रत्यायोजन के आधार पर शून्य थी; और (ii) कि स्वयं अधिसूचना विभेदकारी थी चूंकि छूट का दिया जाना अधिनियम की नीति के अनुरूप नहीं था। उच्च न्यायालय ने धारा 3(2) की विधिमान्यता को कायम रखा था किन्तु अधिसूचना को विभेदकारी होने से अभिखण्डित कर दिया था। इस न्यायालय ने दोनों मुद्दों पर उच्च न्यायालय के मत की पुष्टि की थी। अधिसूचना को, इस आधार पर कि दी गई छूट अधिनियम की नीति के अनुरूप नहीं थी, अविधिमान्य करते समय इस न्यायालय ने निम्नलिखित मत व्यक्त किया था—

> "इस मामले में ऐसे किसी भी अधिकारी का शपथपत्र नहीं है जिसे छूट देने वाले आदेश पर कोई कार्यवाही करनी थी। राज्य सरकार की ओर से फाइल की गई विवरणियां इस प्रश्न पर कोई प्रकाश नहीं डालती है। यह प्रतीत होगा कि छूट देने में राज्य ने केवल अनुभव पर आधारित नियम को ही लागू किया है और न्यास द्वारा किए गए इस प्राख्यान के आधार पर अधिसूचना जारी की थी कि सम्पत्ति से किराए की सम्पूर्ण आय का न्यास के व्ययों को पूरा करने के लिए उपयोग किया जा रहा है। ऐसा कथन केवल छूट के लिए आवेदन करने हेतु किसी संस्था को अनुज्ञात करता है। न्यास का यह पक्षकथन नहीं था कि वे किराएदारों को बेदखल करना चाहते थे क्योंकि वे स्वयं सम्पूर्ण निवास-स्थान चाहते थे और न ही उनका यह

1 (1970) 15 एम० पी० एल० जे० 973.

अभिवाक् था कि उनके अनुसार किराए की आय प्रचलित दरों की तुलना में बहुत ही कम थी और वह न्यास के व्ययों को पूरा करने के लिए पूर्ण रूप से अपर्याप्त थी। यदि इन जैसे आधार या अन्य सुसंगत आधार अधिकथित किए गए थे, तो राज्य सरकार उन पर विचार करने के लिए और उन पर आदेश पारित करने के लिए स्वतंत्र नहीं होगी। हमारे मत से राज्य सरकार ने अपनी विवेक बुद्धि का प्रयोग नहीं किया था जो अधिसूचना जारी करने से पूर्व अधिनियम के अधीन ऐसा करना अपेक्षित था और विवरणी ऐसा कोई आधार प्रकट नहीं करती है जो छूट के लिए दावे का समर्थन करने हेतु अधिनियम के प्रयोजनों के अनुरूप था। (अधो रेखांकन बल देने हेतु किया गया है।)

उपर्युक्त मत स्पष्ट रूप से यह उपदर्शित करते हैं कि राज्य सरकार द्वारा किस प्रकार की सामग्री पर विचार किया जाना अपेक्षित है जो किसी विशेष भवन या वर्ग के भवनों के पक्ष में छूट देना न्यायोचित ठहराती है।

9. राज्य सरकार द्वारा पेश की गई सामग्री पर, जिसके आधार पर आक्षेपित छूट को न्यायोचित ठहराना चाहा गया है, विचार करते समय यह कहा जा सकता है कि तारीख 10 फरवरी, 1981 के उसके प्रतिशपथ-पत्र के पैरा 4 में गृह विभाग के संयुक्त सचिव श्री एच० जे० रामचन्द्रन ने यह कहा है—

"धार्मिक संस्थाओं के भवनों को छूट देने के पीछे मुख्य उद्देश्य संस्थाओं को उनके किराए बढ़ाकर आय में वृद्धि करने हेतु समर्थ बनाना था। भवन कतिपय धार्मिक या पूर्त प्रयोजनों को कार्यान्वित करने के लिए लोक धार्मिक और पूर्त न्यासों को दिए गए थे। कीमतों में वृद्धि होने के कारण धार्मिक और पूर्त न्यास, विन्यास को चलाने की स्थिति में नहीं हैं तथा यदि सम्पत्ति की आय में उचित रूप से वृद्धि नहीं की जाती है तो यह विन्यास के विनिर्दिष्ट प्रयोजनों को अकृत बना देती है।"

पैरा 13 में अभिसाक्षी ने आगे यह भी कहा है—

"जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है, मन्दिरों और लोक खैरातों की दशा (जैसे कि कम आय आदि और विद्यमान हास्यास्पद स्थिति) के बारे में सरकार को कई अभ्यावेदन किए गए थे और राज्य सरकार का मामले के सभी पहलुओं पर विचार करने पर पूर्ण रूप से यह समाधान हो गया था कि किराएदार स्थिति का अनुचित लाभ

उठा रहे हैं तथा किराया नियंत्रण अधिनियम के अधीन उचित किराए का नियत किया जाना कोई मापदंड नहीं है तथा यह बात बहुत ही अन्यायकारी और दमनकारी होगी जहां तक मन्दिरों और धार्मिक विन्यासों तथा लोक खैरातों का सम्बन्ध है। ऐसी गंभीर आशंका और दयनीय स्थिति के संदर्भ में सरकार ने हस्तक्षेप किया था और कठिनाई तथा अन्याय को दूर करने के लिए अधिनियम की धारा 29 के अधीन अधिसूचना जारी की थी।"

यह भी बताया गया है कि उचित किराया तय करने के लिए अधिनियम की धारा 4 और सम्बन्धित नियमावली में उपदर्शित प्रक्रिया और मशीनरी से केवल स्थल के बाज़ार मूल्य के साथ भवन की कुल लागत पर निवासीय भवनों के लिए 9 प्रतिशत और गैर-निवासीय भवनों के लिए 12 प्रतिशत की कुल आय प्राप्त होगी जो बैंक की ब्याज दर की तुलना में बहुत ही कम है और बहुत ही अपर्याप्त है। जब उस इलाके में या पड़ोस में प्राप्त होने वाली बाज़ार दर की युक्तियुक्त किरायों (अर्थात् किराया जो रजामन्द मकान मालिक रजामन्द किराएदार से प्रभारित करेगा) से तुलना की जाती है तो वह अधिनियम के फायदाप्रद उपबंधों से उद्‌भूत होने वाली स्थिति से अनुचित फायदा उठाने वाले ऐसे सब भवनों के किराएदारों का मामला था। तारीख 24 सितम्बर, 1983 के अनुपूरक प्रति-शपथपत्र में गृह-विभाग के उप-सचिव श्री एन० श्रीनिवासन् ने स्पष्ट रूप से यह प्राख्यान किया है, "इन सब मामलों में सरकार का यह समाधान हो गया था कि किराएदारों द्वारा संदत्त किराया बहुत ही कम और नाममात्र का था और अधिनियम के अधीन उचित किराया तय करने के उपबंध न्याय के उद्देश्यों को पूरा नहीं करेंगे और स्थिति वही बनी रहेगी जिसमें किराएदार स्थिति और लोक धार्मिक न्यासों और पूर्त संस्थाओं की असहायता का अनुचित फायदा उठाते रहेंगे। इसलिए सरकार ने यह महसूस किया था कि ऐसे भवनों के किराएदारों को अधिनियम के अधीन दिया गया संरक्षण वापस लेना आवश्यक था।

10. यह कहा जा सकता है कि रिट पिटीशनरों या अपीलार्थियों की ओर से प्रत्युत्तर में कोई भी शपथपत्र फाइल नहीं किया गया है और इसलिए दो प्रति-शपथपत्रों और उसमें किए गए प्रकथनों द्वारा पेश की गई उपर्युक्त सामग्री बगैर चुनौती के रह गई है। हमारे मतानुसार, उपर्युक्त सामग्री स्पष्ट रूप से यह दर्शाती है कि यदि दी गई छूट को अधिनियम की नीति और प्रयोजनों के अनुरूप मानना है तो ऐसे लोक धार्मिक और पूर्त विन्यासों या न्यासों के भवन स्पष्ट रूप से उस वर्ग में आते हैं जहां अधिनियम के फायदाप्रद उपबंधों को समान रूप से लागू किए जाने के परिणामस्वरूप असम्यक् कठिनाई

और अन्याय हुआ है और उसे दूर किया जाना आवश्यक है। अन्य शब्दों में, किए गए वर्गीकरण का उस उद्देश्य से स्पष्ट सम्बन्ध है जिससे राज्य सरकार को अधिनियम की धारा 29 के अधीन छूट देने की शक्ति प्रदत्त की गई है।

11. यह भी कहा जा सकता है कि सुनवाई के दौरान पिटीशनरों और अपीलार्थियों के काउन्सेल ने **राजस्थान राज्य बनाम मुकुलचन्द और अन्य**[1] के मामले में इस न्यायालय के विनिश्चय का अवलम्ब लिया है जिसमें जागीरदार्स डैट रिडक्शन ऐक्ट, 1937 (1937 का राजस्थान अधि० सं० 9) की धारा 2(ई) के आक्षेपित भाग को इस आधार पर संविधान के अनुच्छेद 14 का अतिक्रमणकारी ठहराया गया था कि किये गये वर्गीकरण और प्रश्नगत कानून द्वारा चाहे गए उद्देश्य के बीच सम्बन्ध की कसौटी का समाधान नहीं किया गया था। विनिश्चय का आधार यह था कि जागीरें उनकी भूमियों से वंचित कर दिए जाने से ऋणों की कमी के लिए उपबंध करने वाले अधिनियम के फायदों के लिए हकदार थीं और इससे कोई फर्क नहीं पड़ता था कि क्या ऋण सरकार या स्थानीय प्राधिकरणों या अधिनियम की धारा 2(ई) के आक्षेपित भाग में उल्लिखित अन्य निकायों के थे और इसलिए सरकार, स्थानीय प्राधिकरण और अन्य निकायों को देय ऐसे ऋण, ऋणों की कमी का फायदा देते समय अपवर्जित नहीं किए जा सकते। हमारे मत में विनिश्चयाधार स्पष्ट रूप से प्रस्तुत मामले के तथ्यों को लागू नहीं होता है क्योंकि हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि आक्षेपित अधिसूचना में किए गए भवनों के वर्गीकरण का उस उद्देश्य से स्पष्ट सम्बन्ध है जिससे राज्य सरकार को छूट देने की शक्ति प्रदत्त की गई है।

12. आगे यह दलील दी गई थी कि यदि लोक धार्मिक संस्थानों या लोक पूर्त संस्थाओं के भवनों के छूट देने का उद्देश्य उनके भवनों के किरायों में वृद्धि करके उनकी आय को बढ़ाने के लिए इन संस्थानों को समर्थ बनाना था, तो ऐसा उद्देश्य अधिनियम के उन उपबंधों से छूट देकर पूरा किया जा सकता था जो किराए के नियंत्रण से सम्बन्धित हैं (धारा 4 से 8 और उस निमित्त बनाई गई नियमावली)। किन्तु अधिनियम के सब उपबंधों से उन्हें दी गई पूर्ण छूट को, विशेषतः जो किराएदारों की युक्तियुक्त बेदखली को निवारित करती है, अत्यधिक और बिना आधार के मानी जानी चाहिए और इस निमित्त पिटीशनरों और अपीलार्थियों के काउन्सेल ने सौराष्ट्र रेंट कण्ट्रोल ऐक्ट, 1954 की धारा 4(3) के अधीन राज्य सरकार द्वारा तारीख 27 दिसम्बर, 1954 को जारी की गई सौराष्ट्र अधिसूचना सं० एवी०/15(17)/

---

[1] [1964] 6 एस० सी० आर० 903.

54-55 को निर्दिष्ट किया है जिसके अधीन कतिपय शर्तों के अध्यधीन केवल मानक किराए में परिवर्तन से आंशिक छूट धार्मिक और पूर्त प्रयोजनों के लिए लोक न्यासों के भवनों को दी गई थी। यह बतलाया गया था कि अधिसूचना में यह उपबंध किया गया था कि अधिनियम की धारा 23, 24 और 25 के उपबंधों के सिवाय, अधिनियम के उपबंध उसकी अनुसूची में विनिर्दिष्ट शर्तों और निर्बन्धनों के अध्यधीन ऐसे भवनों को लागू नहीं होंगे तथा अनुसूची 'ए' के निर्बन्धन सं० 1 में यह कहा गया है कि "ऐसे परिसर के किसी भी किराएदार को जिसे परिसर तारीख 30 दिसम्बर, 1948 को या उससे पूर्व पट्टे पर दिया गया है, बेदखल नहीं किया जाएंगे, बशर्ते कि ऐसा किराएदार उक्त तारीख से पहले शीघ्र ही उसके द्वारा संदत्त मासिक किराए में 50 प्रतिशत वृद्धि करने के लिए सहमत हो जाता है और सिवाय विधिमान्य कारणों के, और किसी भी समय देय किराए की रकम को दो लगातार मासों से अधिक के लिए बकाया नहीं होने देता है।" अन्य शब्दों में सौराष्ट्र अधिसूचना का उदाहरण के रूप में अवलम्ब लिया गया था जिसमें निर्बन्धनों और शर्तों के अध्यधीन किराया नियंत्रण अधिनियमिति के उपबंधों से आंशिक छूट दी जा सकती थी। इस प्रकार काउन्सेल ने यह दलील दी है कि उसके समान ही प्रस्तुत मामले में तमिलनाडु सरकार लोक धार्मिक संस्थाओं और लोक खैरातों के भवनों को आंशिक छूट केवल उचित किराए के मामले में ही दे सकती थी और उन उपबंधों के अधीन, जो अयुक्तियुक्त बेदखली को निवारित करते थे, किराएदारों को उपलभ्य संरक्षण वापस लेने की आवश्यकता नहीं थी।

13. हमारे मतानुसार इस दलील में कोई सार नहीं है। इस बारे में कोई विवाद नहीं किया जा सकता कि अधिनियमिति के दो उद्देश्य अर्थात् किराया नियंत्रण और अयुक्तियुक्त बेदखली को निवारित करना, परस्पर रूप से सम्बन्धित हैं और जो उपबंध इन उद्देश्यों को पूरा करते हैं, एक-दूसरे के अनुपूरक हैं। **पी० जे० ईरानी के मामले**[1] में न्या० सरकार ने भी रिपोर्ट के पृष्ठ 193 पर यह मत व्यक्त किया है कि 'अधिनियम का प्रयोजन सर्वथा अयुक्तियुक्त बेदखली को निवारित करना और किराए पर नियंत्रण करना भी है। ये दोनों प्रयोजन एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। यह स्पष्ट है कि यदि लोक धार्मिक न्यासों और लोक खैरातों के न्यासियों को साधारण बाजार-किराया प्रभारित करने की स्वतंत्रता देना है और उस स्वतंत्रता को प्रभावित करना है, तो ऐसे बाज़ार के किराए के संदाय न किए जाने पर किराएदारों को बेदखल करने के अधिकार से न्यासियों को सशक्त करना आवश्यक होगा। राज्य सरकार ने अपने समक्ष वाली सामग्री के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला था

1 [1962] 2 एस० सी० आर० 169.

कि अधिनियम के अधीन नियत 'उचित किराया' ऐसे भवनों के मामले में अन्यायोचित था और ऐसे भवनों के न्यासियों को अपने किराएदारों से युक्ति-युक्त बाज़ार में प्रचलित किराया वसूल करने के लिए अनुज्ञात करना आवश्यक था और यदि ऐसा है तो जब युक्तियुक्त बाज़ार किराया संदत्त नहीं किया जाता है तब बेदखल न करना अयुक्तियुक्त होगा और यदि किराएदारों द्वारा बाज़ार किराया संदत्त किया जाता है तो कोई भी न्यासी उन्हें बेदखल नहीं करेगा। इसलिए यह बात स्पष्ट है कि पूर्ण छूट को अत्यधिक या भिन्न आधार की नहीं माना जा सकता।

14. मामले के इस पहलू के अतिरिक्त यह बात स्वीकार किए जाने योग्य है कि ऐसी लोक धार्मिक संस्थाएं या लोक खैरातों के भवनों के न्यासी बड़ी या महत्वपूर्ण मरम्मत करने के प्रयोजन के लिए या भवन को गिराने और उसके पुनर्निर्माण के प्रयोजन के लिए अपने किराएदारों को बेदखल करने की इच्छा कर सकते हैं तथा राज्य सरकार ने यह महसूस किया होगा कि ऐसे भवनों के न्यासियों को ऐसी अन्य महत्वपूर्ण शर्तों को पूरा करने की अपेक्षा किए बिना बेदखली को प्रभावी बनाने के लिए समर्थ बनाना चाहिए जिनका प्राइवेट मकान-मालिकों द्वारा अनुपालन किया जाना तब आवश्यक है जब वे ऐसे प्रयोजनों के लिए बेदखली चाहते हैं। इसलिए हमारे मतानुसार, आक्षेपित अधिसूचना के अधीन ऐसे भवनों को दी गई पूर्ण छूट पूर्ण रूप से न्यायोचित है।

15. हमारे मतानुसार, सौराष्ट्र अधिसूचना का अवलम्ब पिटीशनरों या अपीलार्थियों के लिए किसी भी प्रकार से उपयोगी नहीं होगा। जिस रीति में किराया नियंत्रण सम्बन्धी उपबंधों से छूट दी जानी चाहिए, चाहे छूट आंशिक या पूर्ण हो और किन निर्बन्धनों और शर्तों पर दी जानी चाहिए, यह बात अधिनियमिति से सम्बन्धित स्कीम और उपबंधों तथा किए गए वर्गीकरण से सम्बन्धित तथ्यों और परिस्थितियों के प्रकाश में प्रत्येक राज्य सरकार द्वारा विनिश्चय करने की विषय-वस्तु होगी। यदि इस प्रकार दी गई छूट अवैध या असांविधानिक नहीं है और मद्रास राज्य ने आक्षेपित अधिसूचना द्वारा किसी विशेष रीति में छूट देना उचित माना है, तो उसमें कोई त्रुटि ढूंढना कठिन होगा। इस बात पर ध्यान देना रुचिकर होगा कि सौराष्ट्र अधिसूचना के अधीन भी उसकी अनुसूची 'ए' में अन्तर्विष्ट निर्बन्धन या शर्त भी इस स्थिति को स्पष्ट करती है कि बेदखली तभी की जा सकती है, जब लोक धार्मिक या पूर्त न्यासों के ऐसे भवनों के किराएदारों द्वारा अनुज्ञात वर्धित किराया संदत्त

नहीं किया जाता है अथवा दो क्रमवर्ती मासों का किराया बकाया हो जाता है।

16. परिणामस्वरूप, आक्षेपित अधिसूचना को दी गई चुनौती असफल होती है और रिट पिटीशन तथा सिविल अपीलें खारिज की जाती हैं। सभी अन्तरिम आदेश, यदि कोई हों, प्रभावोन्मुक्त किए जाते हैं। खर्चों के बारे में कोई आदेश नहीं दिया जाता।

रिट पिटीशन और अपीलें खारिज की गईं।

जैन/भू०

बलबीर सिंह (डा०) और अन्य

वनाम

दिल्ली नगर निगम और अन्य,

दिल्ली नगर निगम

वनाम

उषा रानी और अन्य,

श्रीमती कुलदीप कौर और अन्य

वनाम

नई दिल्ली नगरपालिका और एक अन्य

आई० एस० भट्टा और अन्य,

वनाम

दिल्ली नगर निगम

तथा

जागेश्वर प्रसाद और अन्य

वनाम

नई दिल्ली नगर पालिका

(12 दिसम्बर, 1984)

(न्यायाधिपति पी० एन० भगवती, आर० एस० पाठक और अमरेन्द्र नाथ सेन)

दिल्ली नगर निगम अधिनियम, 1957 (1957 का अधिनियम सं० 66)—धारा 2(47), 116 तथा 120 [सपठित दिल्ली रेंट कण्ट्रोल ऐक्ट (दिल्ली किराया नियंत्रण अधिनियम), 1958 की धारा 2(ट), धारा 6, उपधारा (1) (क) (2) (ख), उपधारा (1) (ख) (2) (ख), उपधारा (2) (क) तथा (2) (ख) और धारा 7 (1)]—रेट-मूल्य अवधारण—प्रश्नगत निवासीय परिसर पर स्वयं मकान-मालिक का अधिभोग होना—प्रश्नगत भवनों का निर्माण 2 जून

1944 के बाद किया जाना—ऐसे परिसर का रेट-मूल्य वह वार्षिक किराया होगा जिस पर मकान-मालिक उसे काल्पनिक किराएदार को किराये पर उठाए जाने की युक्तियुक्त रूप से प्रत्याशा कर सकता है और ऐसा वार्षिक किराया किसी भी दशा में विधि के अनुसार अवधारित मानक किराये से अधिक नहीं हो सकता—निर्धारण प्राधिकारियों को ऐसा वार्षिक किराया तय करते समय प्रश्नगत परिसर का आकार, स्थिति, परिक्षेत्र और अवस्था और उसमें सुलभ सुविधाओं जैसी बातों को ध्यान में रखना होगा।

दिल्ली नगर निगम अधिनियम, 1957 (1957 का अधिनियम सं० 66)—धारा 2(47) 116, और 120 [सपठित दिल्ली रेन्ट कन्ट्रोल ऐक्ट, 1958, धारा 2(ट), धारा 6, उपधारा (1)(क) (2)(ख), उपधारा (1)(ख)(2) (ख), उपधारा (2)(क)(2) (ख) और धारा 7(1)]—रेट-मूल्य अवधारण—प्रश्नगत निवासीय परिसर भागतः मालिक के अधिभोग में और भागतः किरायेदारी में होना—यदि परिसर की सुभिन्न और पृथक् इकाईयां अधिभोग के लिए आशयित हैं तो प्रत्येक इकाई को काल्पनिक किरायेदारी माना जाएगा और ऐसी इकाई की बाबत काल्पनिक किरायेदार से युक्तियुक्त रूप से प्रत्याशित किराये की कुल राशि उस परिसर का रेट-मूल्य होगी—किन्तु ऐसा प्रत्याशित किराया उपरोक्त रीति से निकाले गए मानक किराये से अधिक नहीं हो सकता।

दिल्ली रेन्ट कण्ट्रोल ऐक्ट (दिल्ली किराया नियंत्रण अधिनियम), 1958—धारा 2(ट), धारा 6, उपधारा (1)(क) (2)(ख), उपधारा (1)(ख) (2) (ख), उपधारा (2) (क) (2)(ख) और धारा 7 (1)—मानक किराया—प्रश्नगत परिसर का उप-पट्टे पर दी गई भूमि पर निर्मित होना—उप-पट्टा इस शर्त पर दिया जाना कि पट्टाधृत हित पट्टाकर्ता के अनुमोदन के बिना अन्तरणीय नहीं होगा और अन्तरण सहकारी आवास सोसाइटी के सदस्य को ही किया जा सकता है—निर्धारितियों द्वारा निर्माण की युक्तियुक्त लागत और निर्माण प्रारम्भ की तारीख को उस परिसर में समाविष्ट भूमि के बाजार मूल्य की सकल रकम के बारे में दस्तावेजी साक्ष्य पेश न किया जाना—निर्धारण प्राधिकारी विधि के अनुसार अवधारणीय मानक किराया परिसर के निर्माण की लागत और भूमि का बाजार मूल्य काल्पनिक विक्रय के आधार पर स्वयं प्राक्कलित करके नियत कर सकते हैं।

दिल्ली नगर निगम अधिनियम, 1957 (1957 का अधिनियम सं० 66) — धारा 2(47), 116 और 120 [सपठित दिल्ली रेण्ट कण्ट्रोल ऐक्ट, 1958—धारा 2(ट), धारा 6, उपधारा (1) (क) (2) (ख), उपधारा (1) (ख) (2) (ख), उपधारा (2) (क), (2) (ख) और धारा 7(1)] — रेट-मूल्य अवधारण — परिसरों का निर्माण विभिन्न प्रक्रमों में किया जाना—प्रथम प्रक्रम पर कर-निर्धारण की दशा में, निर्धारण प्राधिकारियों को सबसे पहले उक्तधारा के अनुसार परिसर का ऐसा मानक किराया अवधारित करना होगा जिसकी मकान-मालिक परिसर को काल्पनिक किरायेदार को उठाए जाने पर युक्तियुक्त रूप से प्रत्याशा कर सकता है और ऐसा किराया ही उस परिसर का रेट-मूल्य होगा — किन्तु बाद में मकान-मालिक के अधिभोगाधीन परिसर में विस्तार होने पर रेट-मूल्य धारा 6 के अनुसार अवधारित किया जायेगा, किराये पर उठाये गए परिसर में अभिवृद्धि की दशा में, मानक किराया धारा 7 के अनुसार बढ़ जाएगा और यही बढ़ा हुआ किराया मानक किराया होगा तथा बाद में अभिवृद्धि अधिभोग की एक सुभिन्न और पृथक् इकाई होने की दशा में, परिसर का रेट-मूल्य भागतः मकान-मालिक के अधिभोगाधीन और भागतः किराये पर दिए गए परिसर की दशा में निकाला जाएगा।

प्रस्तुत रिट पिटीशन और अपीलें दिल्ली संघ राज्यक्षेत्र में स्थित कुछ प्रवर्गों की सम्पत्तियों के रेट-मूल्य के अवधारण के सम्बन्ध में फाइल की गई हैं। अपील दिल्ली उच्च न्यायालय में फाइल किए गए रिट पिटीशनों से उत्पन्न हुई है जिनमें दिल्ली नगर निगम द्वारा किए गए कर-निर्धारणों को चुनौती दी गई थी, जबकि रिट पिटीशन मुख्यतः दो प्रवर्गों में आते हैं—एक वह प्रवर्ग जिसमें वे रिट पिटीशन हैं जो मूलतः दिल्ली उच्च न्यायालय में फाइल किए गए थे किन्तु बाद में उच्चतम न्यायालय में अन्तरित कर दिए गए, जबकि दूसरे प्रवर्ग में वे पिटीशन हैं जो सीधे उच्चतम न्यायालय में फाइल किए गए। इन अपीलों और रिट पिटीशनों का सम्बन्ध चार भिन्न प्रकार की सम्पत्तियों से है जो इस प्रकार हैं, (i) जो सम्पत्तियां स्वयं अपने अधिभोग में हैं अर्थात् मकान-मालिकों के अधिभोग में हैं, (ii) जो सम्पत्तियां भागतः अपने अधिभोग में हैं और भागतः किराये पर दी गई हैं, (iii) वह भूमि जिस पर सम्पत्ति बनाई गई है, पट्टाधृत भूमि है और उस पर यह निर्बन्धन है कि पट्टाधृत हित पट्टाकर्ता के अनुमोदन के बिना अन्तरित नहीं किया जाएगा, तथा (iv) जो सम्पत्ति प्रक्रमों में बनाई गई है। इनमें प्रश्न

यह है कि इन चार प्रवर्गों की सम्पत्तियों की बाबत रेट-मूल्य किस प्रकार अवधारित किया जाएगा। नई दिल्ली को छोड़कर दिल्ली संघ राज्यक्षेत्र में स्थित सम्पत्तियों के सम्बन्ध में सम्पत्ति-कर के निर्धारण के लिए रेट-मूल्य के अवधारण के सम्बन्ध में दिल्ली नगर निगम अधिनियम, 1957 लागू होता है, जबकि नई दिल्ली में स्थित सम्पत्तियों की बाबत सम्पत्ति-कर निर्धारण के प्रयोजन के लिए रेट-मूल्य के अवधारण के सम्बन्ध में पंजाब म्युनिसियल ऐक्ट 1911 लागू होता है। सम्पत्ति कर निर्धारण के प्रयोजन के लिए रेट-मूल्य के अवधारण के सम्बन्ध में पंजाब म्युनिसिपल ऐक्ट, 1911 लागू होता है। सम्पत्ति कर निर्धारण के प्रयोजन के लिए रेट-मूल्य के अवधारण की बाबत इन दोनों कानूनों के सुसंगत उपबन्ध प्रायः एक से हैं। परिसरों के तृतीय प्रवर्ग के अन्तर्गत दो प्रकार के मामले आते हैं। प्रथम जहां परिसर सरकार से सीधे पट्टे पर ली गई भूमि के मालिक द्वारा बनाए गए हैं और दूसरा ऐसा मामला है जहां परिसर मकान-मालिक द्वारा किसी ऐसी आवासन सोसाइटी से उप-पट्टे पर ली गई भूमि पर बनाए गए हैं जिसने स्वयं भूमि सरकार से पट्टे पर ली है। मामलों के प्रथम प्रवर्ग में पट्टा शाश्वत पट्टा होता है और इसी प्रकार मामलों के द्वितीय प्रवर्ग में भी पट्टे और उप-पट्टे होते हैं। इन रिट पिटीशनों और अपीलों में इस न्यायालय का सम्बन्ध मामलों के द्वितीय वर्ग से है। मामलों के इस वर्ग में सहकारी आवासन सोसाइटी द्वारा उप-पट्टे पर दी गई भूमि के प्लाट के सम्बन्ध में उप-पट्टा सहकारी आवासन सोसाइटी के सदस्यों में से प्रत्येक सदस्य के पक्ष में निष्पादित किया गया है। निर्धारण प्राधिकारियों ने दिल्ली रेंट कन्ट्रोल ऐक्ट, 1958 की धारा 6 की उपधारा (1) (क) (2) (ख) या (1) (ख) (2) (ख) में दिए गए सिद्धान्तों के अनुसार अवधारणीय मानक किराए के आधार पर दक्षिण दिल्ली में 494 सम्पत्तियों का रेट-मूल्य निर्धारित करने से केवल इस आधार पर इनकार कर दिया कि निर्धारण प्राधिकारियों की राय में "निर्धारिती निर्माण की युक्तियुक्त लागत और निर्माण के प्रारम्भ की तारीख को उस परिसर में समाविष्ट भूमि के बाज़ार मूल्य की सकल रकम के सम्बन्ध में दस्तावेज़ी साक्ष्य पेश करने में असफल रहे हैं। इस प्रकार रिट पिटीशनों और अपीलों का तदनुसार निपटारा करते हुए,

अभिनिर्धारित—दिल्ली नगर निगम अधिनियम, 1957 के उपबन्धों के अनुसार किसी भवन का रेट-मूल्य अवधारित करने की कसौटी वह वार्षिक किराया है जिस पर ऐसा भवन वर्षानुवर्ष किराए पर देने के लिए युक्तियुक्त रूप से प्रत्याशित किया जा सकता है किन्तु इसमें से ऐसी कुछ कटौती करनी होगी जो इस मामले के प्रयोजन के लिए तात्विक नहीं है। यदि वह भवन

वर्षानुवर्ष किराये पर दिया जाए तो भवन का मालिक काल्पनिक किरायेदार से युक्तियुक्त रूप से कितना किराया प्रत्याशित कर सकता है। यह रेट-मूल्य अवधारित करने का कानूनी मापदण्ड है। साधारणतः किन्हीं बाहरी परिस्थितियों से अप्रभावित इच्छुक पट्टाकर्ता और इच्छुक पट्टेदार में सौदा युक्तियुक्तता की मार्गदर्शक कसौटी हो सकती है और प्रसामान्य परिस्थितियों में किरायेदार द्वारा मकान-मालिक को संदेय वास्तविक किराया इस बात का विश्वसनीय साक्ष्य होगा कि मकान-मालिक काल्पनिक किराएदार से युक्तियुक्त रूप से कितना किराया प्रत्याशित कर सकता है, जब तक कि वह किराया बाह्य बातों के कारण जैसे सम्बन्ध, किसी अन्य फायदे की प्रत्याशा आदि से बढ़-घट न जाए। मकान-मालिक द्वारा प्राप्त वास्तविक किराए और उस किराए के बीच जो वह काल्पनिक किराएदार से लेने की युक्तियुक्त रूप से प्रत्याशा कर सकता है, सामान्यतः निकट अनुपात में होगा। किन्तु किराया नियंत्रण विधान के अधीन वाले भवन की स्थिति में यह अनुपात विस्थापित नहीं हो सकता और प्रायः नहीं होता क्योंकि किराया नियंत्रण विधान के अन्तर्गत मकान-मालिक किराएदार से मानक किराए से अधिक वसूल करने का दावा नहीं कर सकता और इसीलिए उसकी युक्तियुक्त प्रत्याशा मानक किराए की सीमा तक सीमित होनी चाहिए जो कि उससे विधिपूर्णतः वसूल किया जा सकता है। (पैरा 5)

किसी भवन का रेट-मूल्य चाहे वह किराए पर उठाया गया हो या मकान-मालिक के अधिभोग में हो, उस मानक किराए तक सीमित होता है जो निर्धारण प्राधिकारी द्वारा किराया अधिनियम में दिए गए सिद्धान्तों को लागू करके निकाला गया है और वह निर्धारण प्राधिकारी द्वारा इस प्रकार निकाले गए मानक किराए के अंक से अधिक नहीं हो सकता। किसी भवन का रेट-मूल्य मानक किराए की सीमा से अधिक नहीं हो सकता चाहे वह किराया अधिनियम की धारा 9 के अधीन नियंत्रक द्वारा अवधारित किया जाए या किराया अधिनियम में अधिकथित सिद्धान्त लागू करके निर्धारण प्राधिकारी द्वारा तय किया जाए। किन्तु यह किसी विशेष मामले में विभिन्न परिस्थितियों और बातों को ध्यान में रखते हुए मानक किराए से कम हो सकता है, उदाहरण के लिए, यदि वह भवन अच्छी हालत में नहीं है और इस प्रकार अवस्थित है कि आसानी से पहुंचने या परिवहन के साधनों या ऐसे ही किसी अन्य कारण से कुछ अलाभप्रद स्थिति में हैं, तो वह वास्तविक किराया, जो मकान-मालिक काल्पनिक किराएदार से लेने की युक्तियुक्त रूप से प्रत्याशा कर सकता है, किराया अधिनियम में अधिकथित सिद्धान्तों पर अवधारणीय मानक किराए से कम हो सकता है। यह भी सम्भव है कि यदि वह भवन हाल

ही में बना है, तो किराया अधिनियम में अधिकथित सिद्धान्तों के अनुसार अवधारणीय मानक किराया पिछले कुछ वर्षों में भूमि के मूल्य में भारी तेजी और निर्माण के खर्च में भारी वृद्धि को ध्यान में रखते हुए बहुत ऊंचा हो सकता है किन्तु हो सकता है काल्पनिक किराएदार से इतना अधिक किराया लेना मकान-मालिक के लिए सम्भव न हो और कदाचित बहुत से मामलों में सम्भव नहीं होगा। यह भी सम्भव है कि मकान-मालिक द्वारा बनाया गया भवन एक इकाई के रूप में इतना बड़ा हो कि उसके लिए ऐसा किराएदार ढूंढना मुश्किल हो जो किराए की बहुत ऊंची रकम देने के लिए तैयार हो जोकि अनिवार्यत: मानक किराया होगा यदि वह किराया अधिनियम में दिए गए सिद्धान्तों के अनुसार अवधारित किया जाए तथा ऐसे भवन के इक्के-दुक्के किराएदारों की संख्या को ध्यान में रखते हुए, हो सकता है, जो किराया मकान-मालिक काल्पनिक किराएदार से लेने की युक्तियुक्त रूप से प्रत्याशा करे, वह मानक किराए से बहुत अधिक कम हो। अत: कसौटी यह नहीं है कि भवन का मानक किराया क्या है, बल्कि कसौटी यह है कि मकान-मालिक काल्पनिक किराएदार से कितना किराया लेने की युक्तियुक्त रूप से प्रत्याशा कर सकता है और ऐसी युक्तियुक्त प्रत्याशा किसी भी दशा में किराया अधिनियम में दिए गए सिद्धान्तों के अनुसार अवधारणीय भवन के मानक किराए से अधिक नहीं हो सकती, भले ही किसी मामले में वह मानक किराए से कम हो जाए। (पैरा 6)

दिल्ली रेण्ट कण्ट्रोल ऐक्ट, 1958 की धारा 2(ट) में अन्तर्विष्ट 'मानक किराया' की परिभाषा से स्पष्ट है कि किसी भवन के मानक किराए से वह मानक किराया अभिप्रेत है, जो धारा 6 में निर्दिष्ट है या जहां मानक किराया धारा 7 के अधीन बढ़ा दिया गया है, वहां ऐसा बढ़ाया गया किराया अभिप्रेत है। यह परिभाषा अपूर्ण नहीं है बल्कि निःशेषी परिभाषा है और इसके अनुसार मानक किराए से या तो धारा 6 में निर्दिष्ट मानक किराया या धारा 7 में निर्दिष्ट बढ़ाया गया मानक किराया अभिप्रेत है। धारा 6 मामलों के सभी स्वीकार्य वर्गों में मानक किराए के अवधारण के लिए सिद्धान्त अधिकथित करती है। धारा 7 मानक किराए में वृद्धि के लिए उपबंध करती है जहां मकान-मालिक ने परिसरों में किसी सुधार, अभिवृद्धि या संरचना में परिवर्तन के लिए कोई व्यय किया हो। नियंत्रक को धारा 9 की उपधारा (1) और (2) द्वारा धारा 6 में उल्लिखित सिद्धान्तों अथवा धारा 7 के उपबंधों और मामले की किन्हीं अन्य सुसंगत परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए किसी परिसर का मानक किराया तय करने का काम सौंपा गया है। 'मामले की परिस्थितियों को······ध्यान में रखते हुए' शब्द निस्सन्देह मानक किराया तय करने में नियंत्रक को कुछ विवेकाधिकार प्रदान करते हैं। किन्तु यह

विवेकाधिकार इतना अनियंत्रित और दिशाहीन विवेकाधिकार नहीं है जिससे कि नियंत्रक कोई भी मानक किराया तय कर सके जो वह युक्तियुक्त समझता है। उससे धारा 6 या धारा 7 में अधिकथित सूत्र के अनुसार मानक किराया तय करने की अपेक्षा की जाती है और वह यह कहकर उस सूत्र की उपेक्षा नहीं कर सकता कि मामले की परिस्थितियों को देखते हुए वह ऐसा करना युक्तियुक्त समझता है। उसे दिया गया एकमात्र विवेकाधिकार सुसंगत सूत्र को लागू करने पर निकाले गए परिणाम में समायोजन करने का है, जहां इस तथ्य के कारण ऐसा करना आवश्यक हो कि मकान-मालिक ने मकान में कुछ परिवर्तन या सुधार किए हों अथवा परिस्थितियों से भवन की दशा या उपयोगिता को प्रभावित करना प्रतीत हो या इसी प्रकार की कुछ ऐसी परिस्थितियां हों। (पैरा 8)

परिसरों का रेट (आनुपातिक) मूल्य वह वार्षिक किराया होगा जिस पर परिसरों को युक्तियुक्त रूप से काल्पनिक किरायेदार को किराए पर देने की प्रत्याशा की जाती है। ऐसी युक्तियुक्त प्रत्याशा किसी भी दशा में परिसरों के मानक किराए से अधिक नहीं हो सकती, यद्यपि किसी स्थिति में वह मानक किराये से कम हो सकती है। परिसरों का मानक किराया वार्षिक किराए की वह अधिकतम सीमा होगी जो मालिक काल्पनिक किराएदार से प्राप्त करने की युक्तियुक्त प्रत्याशा कर सकता है, यदि उसे परिसर किराये पर देना हो। जहां परिसर स्वाधिभोगाधीन है और किसी किरायेदार को किराये पर नहीं दिये गये वहां काल्पनिक किरायेदारी के आधार पर परिसरों का मानक किराया अवधारित करना अभी भी संभव होगा। ऐसी स्थिति में प्रश्न यह होगा कि परिसरों का मानक किराया कितना होगा यदि वे किरायेदार को किराये पर दे दिए जाएं। स्पष्टतः ऐसी दशा में मानक किराया, दिल्ली किराया नियंत्रण अधिनियम, 1958 की धारा 6 की उपधारा (1) (क) (2) (ख) में उल्लिखित सिद्धांतों पर अवधारणीय होगा। मानक किराया निर्माण के प्रारंभ की तारीख को परिसर में समाविष्ट भूमि के बाजार मूल्य और युक्तियुक्त निर्माण लागत की कुल रकम के 7-1/2 (साढ़े सात प्रतिशत) या 8-1/4 प्रतिशत के आधार पर संगणित किराया होगा। यह बात मालूम करना कठिन है कि धारा 6 की उपधारा (2) (ख) में अधिनियमित उपबंध परिसरों के मानक किराये के अवधारण के लिए किस प्रकार लागू किये जाएं जबकि परिसर किसी भी समय वास्तविक रूप से किराये पर न दिया गया हो। धारा 6 की उपधारा 2(ख) स्पष्ट रूप से ऐसा मामला अनुध्यात करती है जहां काल्पनिक रूप से किराये पर देने से भिन्न परिसर वास्तविक रूप से किराये पर दिए गए हों क्योंकि इस उपबन्ध के अधीन प्रथमतः किराये पर देने

के समय मकान-मालिक और किरायेदार के बीच सहमत वार्षिक किराया ऐसी किरायेदारी की तारीख से पांच वर्ष की कालावधि के लिए मानक किराया माना जाता है और इस बात की कल्पना करना असंभव है कि प्रथम किरायेदारी की धारणा वास्तविक रूप से किराये पर देने के सिवाय किसी भी बात से मेल खा सकती है और किसी प्रकार से पांच वर्ष की कालावधि की किसी काल्पनिक किरायेदारी की तारीख से संगणना की जा सकती है। केवल वास्तविक रूप से प्रथमतः किराये पर देने की तारीख से ही पांच वर्ष की कालावधि प्रारम्भ हो सकती है और पांच वर्ष की इस कालावधि के लिए प्रथमतः वास्तविक रूप से किराये पर देने के समय मकान-मालिक और किरायेदार के बीच करार पाया गया वार्षिक किराया मानक किराया माना जायेगा। धारा 6 की उपधारा (2) (ख) वहां लागू नहीं हो सकती जहां परिसर वास्तविक रूप से किराये पर न दिये गये हों और इसलिए ऐसे परिसरों के मामले में, जो तारीख 9 जून, 1955 को या उसके पश्चात् बनाये गये हैं और जो किसी भी समय किराये पर नहीं दिये गये हैं, मानक किराया धारा 6 की उपधारा (1) (क) (2) (ख) में अधिकथित सिद्धान्तों के अनुसार अवधारणीय होगा। इसी प्रकार ऐसे परिसरों के मामले में, जो तारीख 9 जून, 1955 से पूर्व किन्तु तारीख 2 जून, 1951 के पश्चात् बनाये गये थे, मानक किराया इन्हीं कारणों से धारा 6 की उपधारा (1) (क) (2) (ख) के उपबंधों के अधीन अवधारणीय होगा यदि वे उनके निर्माण के समय से किसी भी समय वास्तविक रूप से किराये पर न दिये गये हों। किन्तु यदि परिसरों के युक्ति-युक्त दो प्रवर्ग पहले किसी समय वास्तविक रूप से किराये पर दिये गये हों तब प्रथम प्रवर्ग के मामले में, जब परिसर प्रथमतः वास्तविक रूप से किराये पर दिये गये थे, मकान-मालिक और किरायेदार के बीच सहमत वार्षिक किराया, और दूसरे प्रवर्ग के मामले में उस किराये के, जिस पर परिसर मार्च, 1958 मास के लिए वास्तविक रूप से किराये पर दिये गये थे, निर्देश में परिकलित वार्षिक किराया या यदि वे इस प्रकार किराये पर नहीं दिये गये थे तो उस किराये के, जिस पर वे अन्त में वास्तविक रूप से किराये पर दिए गये थे, निर्देश में परिकलित वार्षिक किराया परिसरों के ऐसे किराये पर देने की तारीख से पांच वर्ष की कालावधि के लिए मानक किराया माना जाएगा। तथापि, परिसरों के इन दो प्रवर्गों के मामले में भी मानक किराया, यथास्थिति, पांच वर्ष या 7 वर्ष की समाप्ति के पश्चात् धारा 6 की उपधारा (1) (क) (2) (ख) में उल्लिखित सिद्धान्तों पर अवधारणीय होगा। इस प्रकार स्वाधिभोगाधीन निवासीय परिसरों के मामले में, उन उपबंधों की परिधि के अन्तर्गत आने वाले मामलों में धारा 6 की उपधारा (2) (क) या (2) (ख)

के उपबन्धों के अधीन अवधारणीय मानक किराया और अन्य मामलों में धारा 6 की उपधारा (1) (क) (2) (ख) के उपबन्धों के अधीन अवधारणीय मानक किराया परिसरों के रेट (आनुपातिक) मूल्य की अधिकतम सीमा होगी। इसी प्रकार की तार्किक प्रक्रिया के आधार पर इन उपबन्धों की परिधि के अन्तर्गत आने वाले मामलों में धारा 6 की उपधारा (2) (क) या (2) (ख) के उपबंधों के अधीन अवधारणीय मानक किराया और अन्य मामलों में धारा 6 की उपधारा (1) (क) या (1) (ख) के उपबन्धों के अधीन अवधारणीय मानक किराया रेट-मूल्य की अधिकतम सीमा होगी। जहां तक स्वाधिभोगाधीन अ-निवासीय परिसरों का सम्बन्ध है, परिसरों का, चाहे निवासीय या अ-निवासीय हो, रेट-मूल्य मानक किराये से अधिक नहीं हो सकता, किन्तु, जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है, किसी दिये गये मामले में मानक किराये से कम हो सकता है। वार्षिक किराया, जो परिसरों का मालिक प्राप्त करने की युक्तियुक्त रूप से प्रत्याशा कर सकता है, यदि परिसर किराए पर दिए गए हों, परिसर के आकार, स्थिति, परिक्षेत्र और अवस्था तथा उसमें दी गई सुविधाओं पर निर्भर करेगा। इन सब बातों और अन्य सुसंगत तथ्यों तथा मानक किराये द्वारा नियत अधिकतम सीमा का रेट-मूल्य अवधारित करने में ध्यान में रखना होगा। यदि इस मूल सिद्धांत को ध्यान में रखा जाता है तो इससे उसी इलाके में स्थित समान परिसरों के रेट-मूल्य के बीच व्यापक भिन्नता नहीं रहेगी, जहां कुछ परिसर पुराने हैं जो कई वर्ष पहले बनाये गये थे जब भूमि की कीमत इतनी अधिक नहीं थी तथा निर्माण लागत में वृद्धि नहीं हुई थी और अन्य परिसर हाल ही में निर्मित परिसर हैं जब जमीन की कीमतें अधिकांशत: 40 से 50 गुणा बढ़ गई हैं और निर्माण लागत भी पिछले 20 वर्षों में अधिकांशत: 3 से 5 गुणा बढ़ गई हैं। धारा 6 की उपधारा (1) (क) (2) (ख) या (1) (ख) (2) (ख) में उल्लिखित सिद्धान्तों पर परिसरों के पहले प्रवर्ग का मानक किराया अपेक्षाकृत कम होगा, जबकि परिसरों के बाद वाले प्रवर्ग की दशा में, इन सिद्धान्तों पर अवधारणीय मानक किराया असम्यक् रूप से अधिक होगा। यदि मानक किराया रेट (आनुपातिक) मूल्य का माप है तो पुराने परिसरों के और हाल ही में निर्मित परिसरों के रेट (आनुपातिक) मूल्य के बीच बहुत अधिक अंतर होगा भले ही वे समान हों और उसी या निकटतम इलाके में स्थित हों। यह बात पूर्णत: अतर्कसंगत और अयुक्तियुक्त होगी। इसलिए हाल ही में निर्मित परिसरों के मामले में रेट (आनुपातिक) मूल्य अवधारित करने के लिए जिस बात पर विचार करने की आवश्यकता है वह यह है कि वह किराया क्या है जो मालिक प्राप्त करने की युक्तियुक्त रूप से प्रत्याशा कर सकता है। यदि परिसर किराये पर दिए जाएं

और ऐसे किराये की उस किराये से निश्चित रूप से प्रभावित होने की संभावना है जो पहले निर्मित समान परिसरों के लिए और उसी या निकटतम इलाके में स्थित समान परिसरों के लिए प्राप्य है और जो निश्चित रूप से ऐसे परिसरों के मानक किराये द्वारा सीमित होगा। इस प्रकार स्वाधिभोगाधीन निवासीय और अ-निवासीय परिसरों के रेट (आनुपातिक) मूल्य के अवधारण के सम्बन्ध में स्थिति इस प्रकार कही जा सकती है : धारा 6 की उपधारा (2) (क) या (2) (ख) या (1) (क) (2) (ख) या (1) (ख) (2) (ख) में उल्लिखित सिद्धांतों पर, जो लागू होती हैं, अवधारणीय मानक किराया परिसरों के रेट-मूल्य की अधिकतम सीमा तय करेगा और ऐसी अधिकतम सीमा के भीतर ही कर-निर्धारण करने वाले प्राधिकारी को वह किराया अवधारित करना होगा जो मकान-मालिक प्राप्त करने की युक्तियुक्त रूप से प्रत्याशा कर सकता है यदि परिसर काल्पनिक किराएदार को किराये पर दिए जाएं'। ऐसे अवधारण के प्रयोजन के लिए निर्धारण करने वाले प्राधिकारी को इन तथ्यों का, जैसे परिसर का आकार, स्थिति, इलाका और दशा तथा परिसर में दी गई सुविधाओं का भी मूल्यांकन करना होगा। कर-निर्धारण प्राधिकारी को उस किराये को भी ध्यान में रखना होगा जो पहले निर्मित समान परिसरों और उसी या निकटतम इलाके में स्थित समान परिसरों के मालिक किसी काल्पनिक किरायेदार से प्राप्त करने की युक्तियुक्त प्रत्याशा कर सकते हैं। ऐसा किराया निश्चित रूप से ऐसे परिसरों के मानक किराये की अधिकतम सीमा के भीतर होगा जिससे प्रति वर्ग फुट या वर्ग गज की दर के बीच बहुत अधिक अन्तर न होगा और जिसे मालिक दोनों परिसरों की दशा में प्राप्त करने की युक्तियुक्त प्रत्याशा कर सकता है। परिसरों के आकार, स्थिति, इलाका और दशा तथा परिसरों में दी गई सुविधाओं के कारण कुछ अन्तर होना निश्चित है। एक सीमा से बड़े आकार से किराये की दर कम हो जाएगी और इसी प्रकार परिसरों की कम अनुकूल स्थिति या इलाका या निर्माण की घटिया क्वालिटी या असंतोषप्रद दशा या आवश्यक सुविधाओं की कमी और इसी के समान अन्य बातों के कारण किराये की दर कम होगी। किन्तु इन विभिन्न बातों को ध्यान में रखने पर अन्तर का अनुपात अधिक नहीं होना चाहिए। हम यह उल्लेख करना चाहेंगे कि वर्ष 1980 तक निर्धारण करने वाले प्राधिकारी स्वाधिभोगाधीन निवासीय परिसरों पर निर्धारित संपत्ति कर में 20 प्रतिशत की स्वाधिभोगाधीन छूट (रिबेट) दे रहे थे। हम यह सुझाव देना चाहेंगे कि निर्धारण करने वाले प्राधिकारी द्वारा 20 प्रतिशत की यह छूट उचित रूप से पुन: दी जा सकती है क्योंकि मालिक के दृष्टिकोण से स्वाधि-भोगाधीन परिसरों और किराये पर दी गई परिसरों के बीच महत्वपूर्ण अन्तर

है तथा मकान में संरक्षण देने का अधिकार प्रत्येक मानव की मूल आवश्यकता होने से निवासीय परिसरों को, जो स्वाधिभोगाधीन हैं, किराये पर दिए गए परिसरों से अधिक अनुकूल आधार पर माना जाना चाहिए जहां तक संपत्ति कर निर्धारण किये जाने का सम्बन्ध है। (पैरा 10)

इस प्रवर्ग में ऐसे परिसर आते हैं जो आंशिक रूप से स्वाधिभोगाधीन हैं और आंशिक रूप से किराये पर दिए हुए हैं। वह एक पूर्ण परिसर है जो संपत्ति करके निर्धारण के दायित्वाधीन है और जो ऐसे परिसरों के भिन्न भाग नहीं हैं जो सुभिन्न और पृथक् इकाईयां हैं। किन्तु उस किराये के आधार पर जो मकान-मालिक प्राप्त करने की प्रत्याशा कर सकता है यदि परिसर किराये पर दिए जाते हैं, परिसरों का रेट (आनुपातिक) मूल्य निर्धारित करते समय इस बात की अपेक्षा नहीं की जा सकती कि जहां परिसर के भिन्न भाग हों जो भिन्न और पृथक् यूनिटों इकाईयों के रूप में अधिभोग किये जाने के लिए आशयित हों, काल्पनिक किरायेदारी, जिस पर विचार करना होगा, अधिभोग के भिन्न और पृथक् इकाई के रूप में प्रत्येक भाग की काल्पनिक किरायेदारी होगी तथा ऐसी भिन्न और पृथक् इकाई के सम्बन्ध में काल्पनिक किरायेदारी से युक्तियुक्त रूप से प्रत्याशित की जाने वाली कोई राशि परिसरों का आनुपातिक मूल्य होगी। अब स्पष्टत: किराया, जो परिसरों का मालिक ऐसी प्रत्येक भिन्न और पृथक् इकाई के सम्बन्ध में प्राप्त करने की युक्तियुक्त रूप से प्रत्याशा कर सकता है, ऐसी इकाई के मानक किराये से अधिक नहीं हो सकता तथा कर-निर्धारण करने वाले प्राधिकारी को किराये की अधिकतम सीमा तय करने की दृष्टि से मानक किराया अवधारित करना होगा जो मकान-मालिक द्वारा किसी काल्पनिक किरायेदार को ऐसी इकाई किराये पर देकर प्राप्त करने की युक्तियुक्त रूप से प्रत्याशित किया जा सकता है। यह कैसे किया जाए? (पैरा 11)

जहां मामला धारा 6 की उपधारा (2) (क) या (2) (ख) के अन्तर्गत आता है वहां कोई समस्या पैदा नहीं होती क्योंकि सुभिन्न और पृथक् इकाई, जिसका मानक किराया अवधारित किया जाना है, स्वाधिभोगाधीन है या किराए पर दिया गया है इससे कोई फर्क नहीं पड़ता क्योंकि किसी भी मामले में मानक किराया इन दो उपबंधों में से किसी एक या दूसरे उपबंध द्वारा शासित होगा। इसी प्रकार, धारा 6 की उपधारा (2) (क) और (2) (ख) से बाहर आने वाले मामलों में भी इस बात सें कोई फर्क नहीं पड़ेगा कि पृथक् इकाई, जिसका मानक किराया अवधारित किया जाना है, स्वाधि-भोगाधीन है या किराया पर दी हुई है, क्योंकि किसी भी मामले में मानक किराया धारा 6 की उपधारा (1) (क) और (2) (ख) या (1) (ख)

या (2) (ख) में के उपबंधों के अनुसार अवधारणीय होगा। उल्लिखित सूत्र किस प्रकार से लागू किया जाए। स्पष्टत: सूत्र लागू करने में कोई कठिनाई नहीं होगी यदि परिसर जिसका मानक किराया अवधारित किया जाना है, सम्पूर्ण भवन है। इसके पश्चात् भवन के निर्माण की युक्तियुक्त लागत ली जा सकती है और उसे भवन के निर्माण की तारीख को भवन की भूमि की बाजार मूल्य के साथ जोड़ा जा सकता है और ऐसी कुल रकम की 7½ प्रतिशत रकम भवन का मानक किराया होगी। किन्तु जहां भवन में एक से अधिक सुभिन्न और पृथक् इकाईयां हैं वहां अवधारणीय मानक किराया किसी विशेष इकाई का होता है, सूत्र लागू किये जाने पर कुछ कठिनाई हो सकती है यदि यह सूत्र केवल किसी विशेष इकाई के सम्बन्ध में शाब्दिक रूप से लागू किया जाए, क्योंकि यदि उस विशेष इकाई के निर्माण की युक्तियुक्त लागत अभिनिश्चित की जा सके तो भी निर्माण के प्रारम्भ की तारीख को परिसर में सम्मिलित भूमि की बाजार कीमत अवधारित करना कठिन नहीं होगा क्योंकि सम्पूर्ण भवन, न कि केवल वह विशेष इकाई, भूमि पर खड़ी होगी और वह भूमि जिस पर भवन खड़ा है भवन में समाविष्ट भूमि होगी और उसे उस विशेष इकाई में समाविष्ट भूमि कहना असंगत और गलत होगा। तथापि सूत्र के अनुसार भवन के मानक किराये की संगणना करके किसी विशेष इकाई का मानक किराया अवधारित करने के लिए सूत्र लागू किया जा सकता है और इसके पश्चात् विभिन्न इकाइयों की स्थिति और दशा तथा ऐसी इकाइयों में दी गई सुविधाओं के कारण अन्तरों (यदि कोई हों) पर विचार करते हुए फर्श के क्षेत्रफल के आधार पर भवन में समाविष्ट विभिन्न अधिभोगी इकाइयों के बीच इस प्रकार संगणित मानक किराये का प्रभाजन किया जा सकता है। यह बहुत ही संगत तर्क होगा जिसमें निर्माण के प्रारम्भ की तारीख को भवन में समाविष्ट भूमि का बाजार मूल्य भवन में समाविष्ट विभिन्न अधिभोग की इकाइयों के बीच विभाजित कियो जाए। जब विभिन्न और पृथक् अधिभोग की यूनिटों वाले भवन का रेट (आनुपातिक) मूल्य अवधारित किया जाना हो तब प्रत्येक यूनिट का मानक किराया उल्लिखित सिद्धांतों के अनुसार अवधारित करना होगा और मानक किराये द्वारा नियत अधिकतम सीमा के भीतर निर्धारण प्राधिकारी को वह किराया अवधारित करना होगा जो मकान-मालिक युक्तियुक्त रूप से प्राप्त करने की आशा कर सकता है यदि ऐसी इकाई किसी काल्पनिक किरायेदार को किराये पर दे दी जाए। कुल किराये की राशि, जो स्वामी प्रत्येक सुभिन्न और पृथक् अधिभोग की इकाई के सम्बन्ध में किसी काल्पनिक किरायेदार से प्राप्त करने की आशा कर सकता है, उपर्युक्त रीति में संगणित की जायेगी और वह भवन का रेट (आनुपातिक) मूल्य होगा।

आनुपातिक मूल्य अवधारित करने के लिए यह सूत्र इस बात के बावजूद लागू होगा कि क्या भवन में समाविष्ट सुभिन्न और पृथक् अधिभोगी इकाइयों में से कोई भी इकाई स्वाधिभोगाधीन है या किराये पर दी हुई है। पृथक् और सुभिन्न अधिभोगी इकाई में, जो किराये पर दी हुई है, एकमात्र अन्तर यह होगा कि मानक किराये की अधिकतम सीमा के अध्यधीन रहते हुए मकान-मालिक द्वारा प्राप्त वास्तविक किराया, ऐसे किराये को, जो मकान-मालिक काल्पनिक किरायेदार से प्राप्त करने की युक्तियुक्त रूप से आशा कर सकता है, तब तक उचित विश्वसनीय दर्शित करेगा जब तक कि यह न दर्शाया जाए कि इस प्रकार का वास्तविक किराया अधिरिक्त वाणिज्यिक बातों से प्रभावित है। (पैरा 12)

भूमि का प्लाट, जिस पर परिसर बनाये गये हैं, आवासन सोसाइटी के सदस्य के सिवाय और सरकार की पूर्व सम्मति के बिना बेचा, अन्तरित या समनुदेशित नहीं किया जा सकता, इससे अनिवार्य रूप से यह अभिप्रेत नहीं है कि भूमि के प्लाट के लिए कोई बाजार मूल्य नहीं हो सकता। यह बात ऐसी नहीं है कि भूमि के प्लाट के विक्रय, अन्तरण या समनुदेशन पर पूर्ण प्रतिबंध है ताकि किन्हीं भी स्वीकार्य परिस्थितियों में वह बेचा, अन्तरित या समनुदेशित न किया जा सके। भूमि का प्लाट व्यक्तियों के सम्बन्धित वर्ग अर्थात् जो सहकारी आवासन सोसाइटी के सदस्य हैं, में से किसी एक को ही केवल विक्रय, अन्तरित या समनुदेशित किया जा सकता है और नियमों तथा विनियमों के अध्यधीन कोई भी पात्र व्यक्ति सहकारी आवासन सोसाइटी के सदस्य के लिए प्रविष्ट किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त एक यह भी निर्बन्धन है अर्थात् विक्रय, अन्तरण या समनुदेशन केवल सरकार की पूर्व सम्मति से ही हो सकता है किन्तु इन निर्बन्धनों के अध्यधीन विक्रय, अन्तरण या समनुदेशन हो सकता है इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि भूमि के प्लाट का बाजार मूल्य अभिनिश्चित नहीं किया जा सकता। यद्यपि जब फायदाप्रद क्रेताओं, अन्तरितियों या समनुदेशितियों का वर्ग निर्बन्धित किया जाता है तब बाजार मूल्य निश्चित रूप से कम होगा। इस पर भी वह अभिनिश्चित किया जा सकता है और यह कहना सही नहीं होगा कि वह अवधारणीय नहीं है। एक अन्य तथ्य भी है जो बाजार मूल्य कम करेगा और जो उप-पट्टे के इस खण्ड से प्रतीत होता है जिसमें यह उपबंध है कि भूमि के प्लाट के विक्रय, अन्तरण या समनुदेशन पर, सरकार भूमि के प्लाट के मूल्य में अनोपार्जित वृद्धि के 50 प्रतिशत का दावा करने के लिए हकदार होगी और सरकार बाजार में प्राप्त किए जाने योग्य कीमतों में से अनोपार्जित वृद्धि की 50 प्रतिशत कटौती करने के पश्चात् उस कीमत पर भूमि के प्लाट को खरीदनें के लिए हकदार होगी। चूंकि भूमि के प्लाट में

उप-पट्टाधृत हित इस भार को निर्बन्धन द्वारा कम कर दिया गया है, इसलिए भूमि के प्लाट का बाज़ार मूल्य अवधारित नहीं किया जा सकता मानो पट्टाधृत हित इस भार के निर्बन्धन से मुक्त होते हैं। पट्टाधृत हित से संलग्न इस भार या सीमा पर भूमि के प्लाट का बाजार मूल्य निकालने के लिए अवश्य विचार किया जाना चाहिए क्योंकि सहकारी आवासन सोसाइटी का कोई भी सदस्य, जो विक्रय, अन्तरण या समनुदेशन के रूप में भूमि का प्लाट लेता है, इस भार या निर्बन्धन द्वारा आबद्ध होगा जो भूमि के साथ चलता है और उसका उस बाजार मूल्य को कम करने के लिए निश्चित रूप से प्रभाव होगा जो वह भूमि के प्लाट के लिए संदाय करने हेतु तत्पर होगा। इसलिए हमें भूमि के प्लाट के बाजार मूल्य का उचित अवधारण करने के लिए इस भार या निर्बन्धन का अवश्य ही मूल्यांकन करना चाहिए तथा एकमात्र तर्क जिसमें यह कहा जा सकता है कि उस भूमि के प्लाट के बाजार मूल्य को इस प्रकार मानना होगा मानो कि वह इस भार या निर्बन्धन से अप्रभावित है तथा काल्पनिक विक्रय के आधार पर भूमि के प्लाट के मूल्य में अनोपार्जित वृद्धि के 50 प्रतिशत की उससे कटौती करने पर उसे ऐसे भार या निर्बन्धन के मूल्य को दर्शाने वाला मानना होगा। परिसरों के निर्माण के प्रारम्भ की तारीख को भूमि के प्लाट का बाजार मूल्य उप-पट्टे में अन्तर्विष्ट अन्तरण के निर्बन्धन के होते हुए भी भूमि के प्लाट पर निर्मित परिसरों का मानक किराया धारा 6 की उपधारा (1) (क) (2) (ख) या (1) (ख) (2) (ख) के उपबंधों के अधीन अवधारणीय था। (पैरा 16)

यदि निर्धारिती परिसर के निर्माण की युक्तियुक्त लागत या परिसर में समाविष्ट भूमि के बाजार मूल्य को सिद्ध करने के लिए दस्तावेज़ी साक्ष्य पेश नहीं कर सके तो निर्धारण प्राधिकारी धारा 6 की उपधारा (1) (क) (2) (ख) या (1) (ख) (2) (ख) में वर्णित सिद्धान्तों का प्रयोग करके इन दो संघटक मदों का अपना प्राक्कलन निकाल सकते थे किन्तु इस आधार पर निर्धारण प्राधिकारी धारा 9 की उपधारा (4) का सहारा लेना न्यायोचित नहीं ठहरा सकते। जहां किसी कारण धारा 6 में वर्णित सिद्धान्तों पर किसी परिसर का मानक किराया अवधारित करना सम्भव नहीं है केवल वहीं मानक किराया धारा 9 की उपधारा (4) के अनुसार नियत किया जा सकता है और मात्र इसलिए कि मकान-मालिक यह दर्शित करने के लिए कोई समाधानप्रद साक्ष्य पेश नहीं करता है कि परिसर के निर्माण की युक्तियुक्त लागत या निर्माण के प्रारम्भ की तारीख को भूमि का बाजार मूल्य कितना था, यह नहीं कहा जा सकता कि धारा 6 की उपधारा (1) (क) (2) (ख) या (1) (ख) (2) (ख) में वर्णित सिद्धांतों पर मानक किराया अवधारित करना सम्भव नहीं है।

परिसरों का विचारणीय चौथा प्रवर्ग वह प्रवर्ग है, जिसमें परिसर प्रक्रमों में बनाए जाते हैं। सबसे पहले निर्धारण प्राधिकारियों को धारा 6 की उपधारा (2) (क) या (2) (ख) या (1) (क) (2) (ख) या (1) (ख) (2) (ख) जो भी लागू हो, के अधीन परिसर का मानक किराया अवधारित करना होगा तथा मानक किराए द्वारा नियत अधिकतम सीमा को मस्तिष्क में रखते हुए और उल्लिखित विभिन्न बातों को ध्यान में रखते हुए निर्धारण प्राधिकारियों को वह किराया अवधारित करना होगा, जिसकी परिसरों का मालिक परिसरों को काल्पनिक किराएदार को किराए पर उठाए जाने पर पाने की युक्तियुक्त रूप में प्रत्याशा कर सकता है और ऐसे किराए से परिसर का रेट-मूल्य दर्शित होगा। जब बाद के प्रक्रम में परिसर में कोई अभिवृद्धि की जाय तो तीन विभिन्न स्थितियां उत्पन्न हो सकती हैं। पहली, हो सकता है अभिवृद्धि अधिभोग की सुभिन्न और पृथक् इकाई न हो किन्तु अपने अधिभोगाधीन वर्तमान परिसर में केवल विस्तार किया गया हो। ऐसी स्थिति में अतिरिक्त संरचना सहित मूल परिसरों को निर्धारण के प्रयोजन के लिए एक इकाई के रूप में मानना होगा और उसका रेट-मूल्य उस किराए के आधार पर अवधारित करना होगा, जिसकी सम्पूर्ण परिसर किराए पर उठाए जाने पर मकान-मालिक युक्तियुक्त रूप से प्रत्याशा कर सकता है। किन्तु वह धारा 6 की उपधारा (1) (क) (2) (ख) के उपबंधों के अनुसार अवधारणीय मानक किराए की अधिकतम सीमा के अधीन होगा, दूसरी, हो सकता है, अभिवृद्धि से पूर्व वर्तमान परिसर किराए पर उठा दिया गया हो और अभिवृद्धि किराए पर उठाए गए परिसर में की गई हो जिससे कि अतिरिक्त संरचना भी उसी किराएदारी का भाग बन हो गई हो। जहां ऐसी स्थिति होती, वहां मानक किराया धारा 6 के अधीन बढ़ जाएगा और ऐसा बढ़ा हुआ किराया उस सम्पूर्ण परिसर का मानक किराया होगा तथा ऐसे मानक किराए द्वारा नियत अधिकतम सीमा के अन्तर्गत निर्धारण प्राधिकारियों को वह किराया अवधारित करना होगा जिसकी सम्पूर्ण परिसर को एक इकाई के रूप में काल्पनिक किराएदार को किराए पर उठाए जाने पर मकान-मालिक युक्तियुक्त रूप से प्रत्याशा कर सकता है और ऐसी स्थिति में वास्तविक किराया उस किराए का सही माप होगा जिसकी मकान-मालिक ऐसे काल्पनिक किराएदार से युक्तियुक्त रूप से प्रत्याशा कर सकता है जब तक कि वह अतिरिक्त वाणिज्यिक बातों से प्रभावित न हो। अन्त में, हो सकता है वह अभिवृद्धि अधिभोग की सुभिन्न और पृथक् इकाई के रूप में अभिवृद्धि हो और ऐसी स्थिति में परिसर का रेट-मूल्य निर्धारित करने के लिए मानक किराया इस न्यायालय द्वारा अधिकथित सूत्र के आधार पर अवधारित किया जाएगा जबकि वे परिसर भागतः अपने

अधिभोग में हैं और भागतः किराए पर उठाए गए हैं । वर्तमान परिसरों में बाद में की गई अभिवृद्धि की दशा में प्रकटतः रेट-मूल्य अवधारित करने का यही सिद्धांत लागू होगा । इन सभी स्थितियों में यह मूलभूत बात दृष्टव्य है और यह वही है कि धारा 6 की उपधारा (1) (क) (2) (ख) और (1) (ख) (2) (ख) में वर्णित सूत्र अभिवृद्धि का मानक किराया अवधारित करने के लिए इस रूप में लागू नहीं किया जा सकता मानो कि वह अभिवृद्धि उस भूमि पर खड़ी एकमात्र संरचना हो । निर्धारण प्राधिकारी अतिरिक्त संरचना के निर्माण की युक्तियुक्त लागत लेकर और बाद में भूमि का बाजार मूल्य जोड़कर तथा सकल रकम का कानूनी साढ़े सात प्रतिशत लागू करके अतिरिक्त संरचना का मानक किराया अवधारित नहीं कर सकते । भूमि का बाजार मूल्य दो बार नहीं जोड़ा जा सकता, एक बार उस समय मूल संरचना का मानक किराया अवधारित करते समय और दोबारा अतिरिक्त संरचना का मानक किराया अवधारित करते समय । जब एक बार अभिवृद्धि कर दी जाए तो धारा 6 की उपधारा (1) (क) (2) (ख) और (1) (ख) (2) (ख) में वर्णित सूत्र सम्पूर्ण परिसर के संबंध में ही लागू किया जा सकता है और जहां अतिरिक्त संरचना अधिभोग की सुभिन्न और पृथक् इकाई और रूप में है, वहां मानक किराया उस रीति से प्रभाजित किया जाएगा जैसा कि इससे पूर्व संकेत किया गया है (पैरा 18)

अवलम्बित निर्णय पैरा

[1980] [1980] 4 उम० नि० प० 1062 = [1980] 2 एस० सी० आर० 607 :
दीवान दौलत राम बनाम **नई दिल्ली नगरपालिका** 2,5

[1978] [1978] 2 उम० नि० प० 1219 = [1977] 2 एस० सी० सी० 798 :
धनकर आयुक्त बनाम पी० एन० सिकन्द 14, 16

आरम्भिक अधिकारिता : 1980 के रिट पिटीशन सं० 483-86 और 471.
संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन रिट पिटीशन ।

पिटीशनरों की ओर से सर्वश्री एस० रंगराजन, एस० सी० मिश्र, एम० एस० बत्ता, कुमारी कैलाश मेहता, श्री और श्रीमती एम० कमरुद्दीन, बी० वी० तवाकलोय, श्रीनाथ सिंह, मोहन पाण्डे, राजीव दत्ता, कुमारी रेणु गुप्त, डी० के० गर्ग, एस० आर०

	श्रीवास्तव, डी० आर० गुप्त, बी० आर कपूर, बी० पी० महेश्वरी, आर० बी० दातार, के० बी० रोहतगी और ए० सुब्बाराव
प्रत्यर्थियों की ओर से	सर्वश्री एल० एन० सिन्हा, बी० पी० महेश्वरी, आर० बी० दातार, और कुमारी सीता वैद्यलिंगम (अनुपस्थित)
नगर निगम, लुधियाना की ओर से	श्री एस० के० मेहता

न्यायालय का निर्णय न्यायाधिपति पी० एन० भगवती ने दिया ।

न्यायाधिपति भगवती—

रिट पिटीशनों और अपीलों के इस समूह में दिल्ली संघ राज्यक्षेत्र में स्थित कुछ प्रवर्गों की सम्पत्तियों के रेट-मूल्य के अवधारण के संबंध में विधि के रोचक प्रश्न उत्पन्न हुए हैं । ये बहुत महत्त्वपूर्ण प्रश्न हैं क्योंकि इनका दिल्ली नगर निगम अधिनियम, 1957 और पंजाब म्युनिसिपल ऐक्ट, 1911 के अधीन सम्पत्ति कर देने के लिए दिल्ली संघ राज्यक्षेत्र में असंख्य संपत्ति स्वामियों के दायित्व पर प्रभाव पड़ता है । हमारे समक्ष अपील दिल्ली उच्च न्यायालय में फाइल किए गए रिट पिटीशनों से उत्पन्न हुई हैं, जिनमें नगर निगम द्वारा किए गए कर-निर्धारणों को चुनौती दी गई थी जबकि रिट पिटीशन मुख्यतः दो प्रवर्गों में आते हैं—एक, वह प्रवर्ग जिसमें वे रिट पिटीशन हैं, जो मूलतः दिल्ली उच्च न्यायालय में फाइल किए गए थे किन्तु बाद में इस न्यायालय में अन्तरित कर दिए गए थे, जबकि दूसरे प्रवर्ग में वे पिटीशन हैं जो सीधे इस न्यायालय में फाइल किए गए हैं । निश्चित रूप से हमारा यह मत है कि सीधे इस न्यायालय में फाइल किए गए रिट पिटीशन संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन चलने योग्य नहीं हैं क्योंकि उनमें से किसी में भी किसी मूल अधिकार के अतिक्रमण की शिकायत नहीं की गई है । साधारणतः हम उनके गुणागुण पर विचार किए बिना उन्हें सीधे अस्वीकृत कर देते किन्तु हमारे समक्ष के पक्षकार इसके लिए सहमत थे कि इस तथ्य की दृष्टि से कि इन रिट पिटीशनों में वही प्रश्न अन्तर्ग्रस्त है जो इस न्यायालय में अन्तरित पिटीशनों और अपीलों में हैं और उन प्रश्नों का अवधारण हर दशा में हमें ही करना है, इसलिए हमें इस आधार पर ये पिटीशन खारिज नहीं करने चाहिएं कि ये चलने योग्य नहीं हैं बल्कि यह मानकर कि वे चलने योग्य हैं, उनके गुणागुण के आधार पर उनका निपटारा करने के लिए अग्रसर होना चाहिए ।

2. इन अपीलों और रिट पिटीशनों में हमारा सम्बन्ध चार भिन्न प्रकार की सम्पत्तियों से है जो इस प्रकार हैं, (i) जो सम्पत्तियां स्वयं अपने अधिभोग में हैं यानी मकान-मालिकों के अधिभोग में हैं, (ii) जो सम्पत्तियां भागत: अपने अधिभोग में हैं और भागत: किराए पर दी गई हैं, (iii) वह भूमि जिस पर सम्पत्ति बनाई गई है, पट्टाधृत भूमि है और उस पर यह निर्बन्धन है कि पट्टाधृत हित पट्टाकर्ता के अनुमोदन के बिना अन्तरित नहीं किया जाएगा तथा (iv) जो सम्पत्ति प्रक्रमों में बनाई गई है। प्रश्न यह है कि इन चार प्रवर्गों की सम्पत्तियों की बाबत रेट-मूल्य किस प्रकार अवधारित किया जाएगा। नई दिल्ली को छोड़कर दिल्ली संघ राज्यक्षेत्र में स्थित सम्पत्तियों के सम्बन्ध में सम्पत्ति-कर के निर्धारण के प्रयोजन के लिए रेट-मूल्य के अवधारण के संबंध में दिल्ली नगर निगम अधिनियम, 1957 लागू होता है, जबकि नई दिल्ली में स्थित सम्पत्तियों की बाबत सम्पत्ति-कर निर्धारण के प्रयोजन के लिए रेट-मूल्य के अवधारण के सम्बन्ध में पंजाब म्युनिसिपल ऐक्ट, 1911 लागू होता है। सम्पत्ति-कर निर्धारण के प्रयोजन के लिए रेट-मूल्य के अवधारण की बाबत इन दोनों कानूनों के सुसंगत उपबंध प्राय: एक से हैं, जैसा कि इस न्यायालय ने **दीवान दौलत राम** बनाम **नई दिल्ली नगरपालिका**[1] में मत व्यक्त किया है। अत: दिल्ली नगर निगम अधिनियम, 1957 के उपबंधों का उल्लेख करना पर्याप्त होगा। दिल्ली नगर निगम अधिनियम, 1957 के उपबंधों के अधीन रेट-मूल्य अवधारित करने के संबंध में हम जो कुछ कहेंगे, वह पंजाब म्युनिसिपल ऐक्ट, 1911 के उपबंधों के अधीन रेट-मूल्य के अवधारण के संबंध में भी उसी प्रकार लागू होगा।

3. दिल्ली नगर निगम अधिनियम, 1957 में प्रयुक्त शब्दों की परिभाषाएं इस की धारा 2 में दी गई हैं। धारा 2 की उपधारा (3) में "भवन" शब्द की परिभाषा में "भवन से कोई गृह, उपगृह, अस्तबल, शौचालय, मूत्रालय, शैड, झोंपड़ी (सीमा दीवाल से भिन्न), दीवाल या कोई अन्य संरचना, भले ही वह पत्थर की हो, ईंटों की हो, लकड़ी की हो, मिट्टी की हो, धातु की हो या किसी अन्य पदार्थ से बनी हो, अभिप्रेत है, किन्तु इसके अन्तर्गत अन्य संवहनीय आश्रय-स्थल नहीं है। धारा 2 की उपधारा (47) में 'रेट-मूल्य' की परिभाषा के अनुसार रेट-मूल्य से किसी भवन या भवन का वह मूल्य अभिप्रेत है जो इस अधिनियम और इसके अधीन बनाई गई उपविधियों के उपबंधों के अनुसार सम्पत्ति करों के निर्धारण के प्रयोजन के लिए नियत किया जाता है।" अधिनियम का अध्याय 8 कराधान विषय के बारे में है और इसमें धारा 113 से लेकर 184 तक की धाराएं हैं। धारा 113 की उपधारा (1) के खण्ड (क)

---

[1] [1980] 4 उम० नि० प० 1062=[1980] 2 एस० सी० आर० 607.

में उपबंधित है कि निगम अधिनियम के प्रयोजनों के लिए सम्पत्ति-कर उद्गृहीत करेगा। इसके बाद सम्पत्ति-कर विषय धारा 114 से धारा 135 में दिया गया है धारा 114 की उपधारा (1) में अधिकथित है कि सम्पत्ति-कर दिल्ली की भूमि और भवनों पर उद्गृहीत किए जाएंगे और उनमें अन्य करों के साथ-साथ साधारण कर शामिल होगा, जो नगर क्षेत्रों के भीतर भूमि और भवनों के रेट-मूल्य के 10 प्रतिशत से अन्यून और 30 प्रतिशत से अनधिक होगा। धारा 114 की उपधारा में एक परन्तुक है, जिसका कहना है कि जिस दर पर साधारण कर किसी वर्ष में उद्गृहीत किया जाएगा, उसके नियंत करते समय निगम यह अवधारित कर सकता है कि जिन भूमियों और भवनों या भूमि और भवनों के भाग में किसी विशिष्ट प्रकार का व्यवसाय या कारोबार चलाया जाता है, उनकी बाबत उदग्रहणीय दर उस दर से, जो अन्य भूमि और भवनों या अन्य भूमि और भवनों के भागों की बाबत अवधारित है, ऐसी नियत दर के आधे से अनधिक रकम तक उच्चतर होगी। इसके बाद एक स्पष्टीकरण है, जिसमें उपबंधित है कि जहां भवन या भूमि का कोई भाग साधारण कर की उच्चतर दर के दायित्वाधीन है, वहां ऐसा भाग नगरपालिक कराधान के प्रयोजन के लिए पृथक् सम्पत्ति समझा जाएगा। धारा 115 की उपधारा (4) में अधिकथित है कि इस अधिनियम में जैसा उपबंधित है, उसके सिवाए साधारण कर दिल्ली में निम्नलिखित के सिवाए सभी भूमि और भवनों की बाबत उद्गृहीत किया जाएगा, अर्थात् ऐसे भवन और भूमि या ऐसी भूमि और भवनों के भाग, जो केवल सार्वजनिक पूजा या किसी पूर्त प्रयोजन के लिए किसी संस्था या निकाय के अधिभोग में है, और उसके द्वारा प्रयोग में लाए जाते हैं। धारा 115 की उपधारा (6) में उपबंधित है कि जहां किसी भूमि या भवन के किसी भाग को केवल सार्वजनिक पूजा के लिए या पूर्त के प्रयोजन के लिए अधिभोग में या प्रयोग में लाए जाने के कारण साधारण कर से छूट दे दी जाती है, वहां ऐसा भाग नगरपालिक कराधान के प्रयोजन के लिए पृथक् सम्पत्ति समझा जाएगा। इन उपबंधों से यह प्रतीत होगा कि साधारण कर सम्पूर्ण भूमि और भवनों पर उद्ग्रहणीय है तथा भूमि और भवनों के पृथक भागों पर निम्नलिखित के सिवाए सुभिन्न और स्वतंत्र इकाइयों के रूप में साधारण कर निर्धारित नहीं किया जा सकता अर्थात् जहां भूमि या भवन का कोई भाग धारा 114 की उपधारा (1) के खण्ड (घ) के परन्तुक के अधीन साधारण कर की उच्चतर दर के दायित्वाधीन है या धारा 115 की उपधारा (4) के अधीन सार्वजनिक पूजा के लिए या पूर्त प्रयोजन के लिए अनन्तः अधिभोग या प्रयोग में लाए जाने के कारण साधारण कर से छूट प्राप्त है, ऐसी स्थिति में भूमि या भवन का ऐसा भाग

नगरपालिक कराधान के प्रयोजन के लिए पृथक् सम्पत्ति समझा जाएगा। हम यह उल्लेख करना चाहेंगे कि साधारण कर के अलावा तीन अन्य प्रकार के कर अर्थात् जल कर, सफाई कर, और अग्नि-कर भी सम्पत्ति-कर में शामिल होते हैं और भूमि और भवनों के रेट-मूल्य के प्रतिशत के रूप में वे भी उद्ग्रहणीय हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि ये रेट-मूल्य किस प्रकार अवधारित किया जाएगा। इसका उत्तर धारा 116 में दिया गया है। धारा 116 की उपधारा (1) में अधिकथित है कि सम्पत्ति-कर से निर्धारणीय किसी भूमि या भवन का रेट-मूल्य उतना होगा जितना निम्नलिखित राशियों को कम करने के पश्चात् उसका वह वर्षानुवर्षी भाटक (किराया) को जिस पर उसके पट्टे पर उठने की युक्तियुक्त प्रत्याशा की जा सकती है, अर्थात् उक्त वार्षिक भाटक के 10 प्रतिशत के बराबर राशि। धारा 116 की उपधारा (2) में उपबंधित है कि जिस भूमि पर कोई निर्माण नहीं हुआ है किन्तु जिस पर निर्माण किया जा सकता है और जिस भूमि पर भवन खड़ा किया जा रहा है, उसका रेट-मूल्य ऐसी भूमि के प्राक्कलित पूंजी मूल्य का 5 प्रतिशत नियत किया जाएगा। धारा 120 में सम्पत्ति-करों का भार उपबंधित है। इस धारा की उपधारा (1) का कहना है कि सम्पत्ति-कर प्रथमतः निम्नलिखित पर उद्ग्रहणीय होंगे अर्थात् यदि भूमि या भवन पट्टे पर दिया हुआ है तो पट्टाकर्ता, यदि भूमि या भवन उप-पट्टे पर दिया हुआ है, तो वरिष्ठ पट्टाकर्ता और यदि भूमि या भवन पट्टे पर नहीं दिया हुआ है तो वह व्यक्ति, जिसमें उसे पट्टे पर देने का अधिकार निहित है, धारा 120 की उपधारा (2) आपवादिक स्थिति के बारे में, जिसमें कोई भूमि किसी किराएदार को एक वर्ष से अधिक की अवधि के लिए पट्टे पर दी गई है और ऐसे किराएदार ने उस भूमि पर निर्माण कर लिया है और ऐसी स्थिति में उपधारा में उपबंधित है कि सम्पत्ति-कर प्रथमतः किराएदार पर उद्ग्रहणीय होगा। धारा 120 की उपधारा (3) एक महत्वपूर्ण उपबंध है, अतः उसे हम यहां विस्तारपूर्वक उद्धृत करना चाहेंगे—

> "जिस भवन के भाग या फ्लैट या कमरे विभिन्न व्यक्तियों के अलग-अलग स्वामित्वाधीन है या जिनका इस प्रकार से स्वामित्वाधीन होना तात्पर्यित है, उसके विभिन्न स्वामियों का सम्पत्ति-करों या उनकी किन्हीं किस्तों के संदाय का दायित्व ऐसे स्वामित्व की अवधि दौरान संयुक्त और पृथक् होगा।"

4. इस उपबंध में ऐसी स्थिति अनुध्यात है जिसमें किसी भवन के अनेक मालिक हैं, जो अलग-अलग भागों के फ्लैटों के या कमरों के अलग-अलग स्वामी हैं या तात्पर्यित हैं, जिससे कि प्रत्येक भाग या फ्लैट या कमरा

पृथक् स्वामी के स्वामित्वाधीन है और प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि सम्पत्ति-कर कैसे निर्धारित किया जाए और उसे देने के लिए कौन दायी ठहराया जाए। इस उपबंध में अन्तर्निहित मूलभूत धारणा यह है कि सम्पूर्ण भवन पर सम्पत्ति-कर निर्धारित किया जाएगा न कि पृथक् स्वामी का पृथक्-पृथक् भाग या फ्लैट या कमरा तथा भवन पर निर्धारित सम्पत्ति-कर की रकम के संदाय के लिए अनेक स्वामियों का दायित्व संयुक्त और पृथक्-पृथक् होगा जिससे कि उनमें से प्रत्येक निगम के संबंध में भवन पर निर्धारित सम्पत्ति-कर की सम्पूर्ण रकम देने के लिए दायी होगा। यह ठीक है कि भवन पर निर्धारित सम्पत्ति-कर की रकम प्रत्येक स्वामी के हिस्से के भाग या फ्लैट या कमरे के क्षेत्र के अनुपात में अनेकों स्वामियों में विभाजित की जानी चाहिए, किन्तु जहां तक निगम का संबंध है, अनेक स्वामियों का दायित्व संयुक्त और पृथक्-पृथक् होगा। इसके बाद निर्धारण करने की मशीनरी से संबंधित कुछ अन्य उपबंध हैं। किन्तु इन अपीलों में और रिट पिटीशनों में हमारा उनसे फिलहाल संबंध नहीं है।

5. इस प्रकार यह दिखाई देगा कि दिल्ली नगर निगम अधिनियम, 1957 के उपबंधों के अनुसार किसी भवन का रेट-मूल्य अवधारित करने की कसौटी वह वार्षिक किराया है जिस पर ऐसा भवन वर्षानुवर्ष किराए पर देने के लिए युक्तियुक्त रूप से प्रत्याशित किया जा सकता है किन्तु इसमें से ऐसी कुछ कटौती करनी होगी जो हमारे प्रयोजन के लिए तात्विक नहीं हैं। इस परिभाषा में "युक्तियुक्त रूप से" शब्द बहुत महत्वपूर्ण हैं। यदि वह भवन वर्षानुवर्ष किराए पर दिया जाए तो भवन का मालिक काल्पनिक किराएदार से युक्तियुक्त रूप से कितना किराया प्रत्याशित कर सकता है। यह रेट-मूल्य अवधारित करने का कानूनी मापदण्ड है। इसके बाद युक्तियुक्त क्या है ? यह एक तथ्य का प्रश्न है और हर मामले के तथ्यों और परिस्थितियों पर निर्भर करता है। साधारणतः, किन्हीं बाहरी परिस्थितियों से अप्रभावित इच्छुक पट्टाकर्ता और इच्छुक पट्टेदार में सौदा युक्तियुक्तता की मार्गदर्शक कसौटी हो सकती है और प्रसामान्य परिस्थितियों में किराएदार द्वारा मकान-मालिक को संदेय वास्तविक किराया इस बात का विश्वसनीय साक्ष्य होगा कि मकान-मालिक किराएदार से युक्तियुक्त रूप से कितना किराया प्रत्याशित कर सकता है, जब तक कि वह किराया बाह्य बातों के कारण जैसे संबंध, किसी अन्य फायदे की प्रत्याशा आदि से घट-बढ़ न जाए। मकान-मालिक द्वारा प्राप्त वास्तविक किराए और उस किराए के बीच जो वह काल्पनिक किराएदार से लेने की युक्तियुक्त रूप से प्रत्याशा कर सकता है, सामान्यतः निकट अनुपात होगा। किन्तु किराया नियंत्रण विधान के अधीन

वाले भवन की स्थिति में यह अनुपात विस्थापित नहीं हो सकता और प्रायः नहीं होता क्योंकि किराया नियंत्रण विधान के अन्तर्गत मकान-मालिक किराएदार से मानक किराए से अधिक वसूल करने का दावा नहीं कर सकता और इसीलिए उसकी युक्तियुक्त प्रत्याशा मानक किराए की सीमा तक सीमित होनी चाहिए जोकि उससे विधिपूर्णतः वसूल किया जा सकता है। ऐसे अनेक विनिश्चय हैं जिनमें इस न्यायालय ने रेट-मूल्य के अवधारण पर किराया नियंत्रण विधान के प्रभाव के बारे में विचार किया है। सबसे बाद का ऐसा विनिश्चय **दीवान दौलत राम** बनाम **नई दिल्ली नगरपालिका**[1] है। इस विनिश्चय में इस न्यायालय द्वारा पहले दिए गए सभी विनिश्चयों का पुनर्मूल्यांकन किया गया है और जहां तक इस न्यायालय का संबंध है, उसने इस विषय पर अंतिम निर्णय दे दिया है। अतः कुछ विस्तार से इसका उल्लेख करना शिक्षाप्रद और सहायक होगा।

6. **दीवान दौलत राम**[1] वाले मामले में तीन अपीलों का विनिश्चय एक ही निर्णय द्वारा किया गया था और इन अपीलों में अवधारण के लिए जो प्रश्न उत्पन्न हुआ था, वह यह था कि किसी भवन का रेट-मूल्य सम्पत्ति-कर लगाने के लिए कैसे अवधारित किया जाना चाहिए जहां भवन के सम्बन्ध में दिल्ली किराया नियंत्रण अधिनियम, 1958 (जिसे इसमें इसके पश्चात् "किराया अधिनियम" कहा गया है) लागू होता है। किन्तु अभी तक मानक किराया तय नहीं किया गया है। इनमें से एक अपील का सम्बन्ध ऐसे मामले से था, जिसमें भवन नई दिल्ली नगरपालिका की अधिकारिता में था और उस पर सम्पत्ति-कर पंजाब नगरपालिका अधिनियम, 1911 के अधीन लगाया जाना था और यही स्थिति हमारे समक्ष की बहुत-सी अपीलों और रिट पिटीशनों में है, जबकि अन्य दो अपीलें ऐसे मामलों से सम्बन्धित थीं, जिनमें भवन नगर निगम की सीमाओं के अन्तर्गत थे और उन पर सम्पत्ति-कर दिल्ली नगर निगम अधिनियम, 1957 के अधीन लगाया जाना था। इन दोनों कानूनों के अधीन सम्पत्ति-कर भवन के रेट-मूल्य के निर्देश में उद्गृहीत किया गया और जैसा कि हम पहले ही उल्लेख कर चुके हैं, रेट-मूल्य दूसरे परन्तुक को छोड़कर, जोकि दिल्ली नगर निगम अधिनियम, 1957 की धारा 116 में आया है किन्तु जो पंजाब नगरपालिका अधिनियम, 1911 की धारा 3(1) (ख) नहीं है, एक-से शब्दों में दोनों कानूनों में परिभाषित था, और स्वीकृत रूप से इसका कोई महत्व नहीं था। पक्षकारों में संविवाद इस प्रश्न पर केन्द्रित था कि "...... दोनों कानूनों में परिभाषा में आए वह सकल वार्षिक भाटक (किराया) जिस

[1] [1980] 4 उम० नि० प० 1062=[1980] 2 एस० सी० आर० 607.

पर ऐसी भूमि या भवन की पट्टे (किराए) पर उठने की युक्तियुक्त रूप से प्रत्याशा की जा सकती है", पद का सही अर्थ क्या है। नगरपालिक प्राधिकारियों का तर्क था कि चूंकि भवन का मानक किराया न्यायालय के समक्ष वाले किसी भी मामले में किराया अधिनियम की धारा 9 के अधीन नियंत्रक द्वारा तय नहीं किया गया था और प्रत्येक मामले में मानक किराया तय करने के लिए आवेदन करने के लिए किराया अधिनियम की धारा 12 द्वारा विहित परिसीमाकाल बीत चुका था, इसलिए मकान-मालिक बिना किसी कानूनी बाधा के किराएदार से वास्तविक किराया लेते रहने के लिए हकदार था, और इस प्रकार भवन का रेट-मूल्य उस मानक किराए तक सीमित नहीं था जो किराया अधिनियम में अधिकथित सिद्धान्तों के अनुसार अवधारणीय था बल्कि मकान-मालिक द्वारा किराएदार से वसूलनीय संविदागत किराए के निर्देश में निर्धारित किया जाना था। नगरपालिक प्राधिकारियों ने इस बात पर जोर दिया कि यदि किराएदार से संविदागत किराया लेना मकान-मालिक के लिए तब भी दाण्डिक नहीं है जबकि वह किराया अधिनियम के उपबंधों के अनुसार अवधारणीय मानक किराए से अधिक है, तो यह कहना गलत नहीं होगा कि मकान-मालिक भवन को संविदागत किराए पर उठाने की युक्तियुक्त रूप से प्रत्याशा कर सकता था और इसीलिए संविदागत किराया भवन के रेट-मूल्य के अवधारण के लिए सही मापदण्ड माना जा सकता है। किन्तु न्यायालय ने यह तर्क अस्वीकार कर दिया और यह अभिनिर्धारित किया था कि यदि किसी भवन का मानक किराया किराया अधिनियम की धारा 9 के अधीन संविदा द्वारा तय नहीं किया गया है तो मकान-मालिक काल्पनिक किराएदार से किराया अधिनियम के उपबंधों के अनुसार अवधारणीय मानक किराए से अधिक किराया लेने की युक्तियुक्त रूप से प्रत्याशा नहीं कर सकता और यह तब भी उतना ही लागू होगा चाहे वह भवन ऐसे किराएदार को किराए पर उठाया गया हो जो किराया अधिनियम की धारा 12 द्वारा विहित परिसीमाकाल अवसित किए जाने के कारण किराया तय करने का अपना अधिकार गंवा चुका है और वह भवन स्वयं मकान-मालिक के अधिभोग में है। अतः न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया था कि दोनों कानूनों में दी गई रेट-मूल्य की परिभाषा के अनुसार, किसी भी स्थिति में किराया अधिनियम के उपबंधों के अनुसार, अवधारणीय मानक किराया, न कि मकान-मालिक द्वारा किराएदार से प्राप्त वास्तविक किराया, भवन के रेट-मूल्य का सही मापदण्ड होगा। न्यायालय ने संकेत किया था कि प्रत्येक स्थिति में निर्धारण प्राधिकारी को मानक किराया अवधारित करने के लिए किराया अधिनियम में दिए गए सिद्धान्तों को लागू करके मानक किराए के अपने अंक निकालने होंगे और मकान-मालिक द्वारा प्राप्त वास्तविक किराये के आधार पर

भवन का रेट-मूल्य अवधारित करना होगा तथा यह मत व्यक्त किया था कि भवन का रेट-मूल्य किराया अधिनियम में दिए गए सिद्धान्तों पर अवधारित मानक किराए तक सीमित अभिनिर्धारित किया जाना चाहिए, और वह मानक किराए से अधिक नहीं होगा। अतः यह विनिश्चय इस सिद्धान्त के लिए स्पष्ट नज़ीर है कि किसी भवन का रेट-मूल्य, चाहे वह किराए पर उठाया गया हो या मकान-मालिक के अधिभोग में हो, उस मानक किराए तक सीमित होता है जो निर्धारण प्राधिकारी द्वारा किराया अधिनियम में दिए गए सिद्धान्तों को लागू करके निकाला गया है और वह निर्धारण प्राधिकारी द्वारा इस प्रकार निकाले गए मानक किराए के अंक से अधिक नहीं हो सकता। इस प्रकार, हमारे समक्ष की गई बहस के दौरान हमने यह देखा कि इस विनिश्चय के सही अर्थ के बारे में कुछ भ्रांति थी। नगरपालिका के प्राधिकारियों ने दलील दी कि इस विनिश्चय का आधार था कि मानक किराया चाहे कुछ भी हो, चाहे वह किराया अधिनियम की धारा 9 के अधीन नियंत्रक द्वारा अवधारित किया गया हो या किराया अधिनियम में दिए गए सिद्धान्तों को लागू करके निर्धारण प्राधिकारी द्वारा निकाला गया हो, वही किसी अन्य बात के होते हुए भी, सम्पत्ति-कर निर्धारण के प्रयोजन के लिए भवन के रेट-मूल्य का मापदण्ड माना जाना चाहिए। यदि मकान-मालिक यह समाधानप्रद साक्ष्य पेश करके यह दर्शित कर देता है कि विद्यमान परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए जैसे कि भवन की प्रकृति, उसकी स्थितियां, मरम्मत की अवस्था या आर्थिक-मंदी या अन्य ऐसे ही कारण, वह काल्पनिक किराएदार से किराया अधिनियम में दिए गए सिद्धान्तों के अनुसार अवधारणीय मानक किराए की रकम भी पाने की युक्तियुक्त रूप से प्रत्याशा नहीं कर सकता, तो भी भवन का रेट-मूल्य मानक किराए की सीमा तक अवधारित करना होगा। नगरपालिका - प्राधिकारियों की ओर से यही तर्क दिया गया था। किन्तु हम यह नहीं समझते कि **दीवान दौलत राम**[1] वाले मामले के विनिश्चय का यह सही निर्वचन है। उस मामले में संविवाद था कि क्या भवन के मानक किराए की रकम तब भी उसका रेट-मूल्य माना जाए जबकि वह किराया, जिसकी मकान-मालिक काल्पनिक किराएदार से लेने की युक्तियुक्त रूप से प्रत्याशा कर सकता है, मानक किराए की रकम से कम है। किन्तु क्या मकान-मालिक द्वारा किराएदार से प्राप्य, संविदागत किराया तब भी रेट-मूल्य माना जाए जबकि वह किराया अधिनियम के उपबंधों के अनुसार अवधारणीय मानक किराए से अधिक हो। न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया था कि यदि मकान-मालिक किराएदार से संविदागत किराया लेने के लिए विधि के अनुसार हकदार है तो भी क्योंकि भवन का मानक किराया

---

1 [1980] 4 उम० नि० प० 1062=[1980] 2 एस० सी० आर० 607.

अभी तक तय नहीं किया गया है और मानक किराया तय करने के लिए किराएदार द्वारा आवेदन देने का समय पहले ही बीत चुका है, इसलिए ऐसा संविदागत किराया रेट-मूल्य के अवधारण के लिए मापदण्ड नहीं हो सकता, क्योंकि इस प्रश्न का हल वास्तविक किराए के निर्देश में नहीं निकलेगा बल्कि काल्पनिक किराएदार के निर्देश में निकलेगा तथा रेट-मूल्य के अवधारण के लिए कानून में उपबंधित मापदण्ड यह था कि यदि वह भवन वर्षानुवर्ष किराए पर उठा दिया जाए तो मकान-मालिक उस भवन से, काल्पनिक किराएदार से कितना किराया युक्तियुक्त रूप से प्रत्याशित कर सकता है और काल्पनिक किराएदार के बारे में यह नहीं माना जा सकता कि वह मानक किराए से अधिक देने के लिए इच्छुक है क्योंकि काल्पनिक किराएदारी लेने के बाद वह तुरन्त मानक किराया तय करने के लिए आवेदन कर सकता है। अत: न्यायालय इस निष्कर्ष पर पहुंचा था कि यदि मकान-मालिक किराएदार से संविदागत किराया लेने के लिए विधिपूर्णत: हकदार है, तो ऐसा संविदागत किराया भवन का रेट-मूल्य नहीं माना जा सकता क्योंकि काल्पनिक किराएदार से किराया लेने की मकान-मालिक की युक्तियुक्त प्रत्याशा किराया अधिनियम में दिए गए उपबंधों के अनुसार अवधारणीय मानक किराये से सम्भवत: अधिक नहीं हो सकती। किराया अधिनियम में वर्णित सिद्धान्तों के अनुसार अवधारित मानक-किराया इस न्यायालय ने उस किराये की अधिकतम सीमा के रूप में अधिकथित किया था, जिसकी मकान-मालिक काल्पनिक किराएदार से लेने की प्रत्याशा कर सकता है यदि वह भवन वर्षानुवर्ष उसे किराए पर उठा दिया जाए। न्यायालय ने यह कभी नहीं कहा था कि यदि मकान-मालिक द्वारा किराएदार से प्राप्य वास्तविक किराया और वह किराया, जिसे किराएदार से लेने की मकान-मालिक युक्तियुक्त रूप से प्रत्याशा कर सकता है, किराया अधिनियम में दिए गए सिद्धान्तों के अनुसार अवधारणीय मानक किराये से कम है तो भी मानक किराया भवन का रेट-मूल्य माना जाना चाहिए। ऐसा मत दोनों कानूनों में दी गई रेट-मूल्य की परिभाषा के सामने नहीं टिक पाएगा और सम्भवत: इस मामले में न्यायालय यह मत नहीं अपना सकता था। उल्लेखनीय है कि न्यायालय ने इस मामले में कहा था और यहां हम न्यायालय द्वारा दिए गए निर्णय से उद्धृत कर रहे हैं कि भवन का रेट-मूल्य दिल्ली किराया नियंत्रण अधिनियम, 1958 में अधिकथित सिद्धांतों के अनुसार "अवधारणीय मानक किराए तक सीमित अभिनिर्धारित किया जाना चाहिए और वह मानक किराए की ऐसी सीमा से अधिक नहीं हो सकता" (रेखांकन किया गया)। इस प्रकार इस विनिश्चय से स्पष्ट है कि किसी भवन का रेट-मूल्य मानक किराए की सीमा से अधिक नहीं हो सकता चाहे वह किराया अधिनियम

की धारा 9 के अधीन नियंत्रक द्वारा अवधारित किया जाए या किराया अधिनियम में अधिकथित सिद्धान्त लागू करके निर्धारण प्राधिकारी द्वारा तय किया जाए । किन्तु यह किसी विशेष मामले में विभिन्न परिस्थितियों और बातों को ध्यान में रखते हुए मानक किराए से कम हो सकता है, उदाहरण के लिए, यदि वह भवन अच्छी हालत में नहीं है और इस प्रकार अवस्थित है कि आसानी से पहुंचने या परिवहन के साधनों या ऐसे ही किसी अन्य कारण से कुछ अलाभप्रद स्थिति में हैं, तो वास्तविक किराया, जो मकान-मालिक काल्पनिक किराएदार से लेने की युक्तियुक्त रूप से प्रत्याशा कर सकता है, किराया अधिनियम में अधिकथित सिद्धान्तों पर अवधारणीय मानक किराए से कम हो सकता है । यह भी सम्भव है कि यदि वह भवन हाल ही में बना है, तो किराया अधिनियम में अधिकथित सिद्धान्तों के अनुसार अवधारणीय मानक किराया पिछले कुछ वर्षों में भूमि के मूल्य में भारी तेजी और निर्माण के खर्च में भारी वृद्धि को ध्यान में रखते हुए बहुत ऊंचा हो सकता है किन्तु हो सकता है, काल्पनिक किराएदार से इतना अधिक किराया लेना मकान-मालिक के लिए सम्भव न हो और कदाचित बहुत से मामलों में सम्भव नहीं होगा । यह भी सम्भव है कि मकान-मालिक द्वारा बनाया गया भवन एक इकाई के रूप में इतना बड़ा हो कि उसके लिए ऐसा किराएदार ढूंढना मुश्किल हो जो किराए की बहुत ऊंची रकम देने के लिए तैयार हो जोकि अनिवार्यतः मानक किराया होगा यदि वह किराया अधिनियम में दिए गए सिद्धान्तों के अनुसार अवधारित किया जाए तथा ऐसे भवन के इक्के-दुक्के किराएदारों की संख्या को ध्यान में रखते हुए, हो सकता, जो किराया मकान-मालिक काल्पनिक किराएदार से लेने की युक्तियुक्त रूप से प्रत्याशा करे, वह मानक किराए से बहुत अधिक कम हो । अतः कसौटी यह नहीं है कि भवन का मानक किराया क्या है, बल्कि कसौटी यह है कि मकान-मालिक काल्पनिक किराएदार से कितना किराया लेने की युक्तियुक्त रूप से प्रत्याशा कर सकता है और ऐसी युक्तियुक्त प्रत्याशा किसी भी दशा में किराया अधिनियम में दिए गए सिद्धान्तों के अनुसार अवधारणीय भवन के मानक किराए से अधिक नहीं हो सकती, भले ही किसी मामले में वह मानक किराए से कम हो जाए ।

7. अब हम किराया अधिनियम के सुसंगत उपबन्धों पर आते हैं । यही अधिनियम दिल्ली नगर निगम और नई दिल्ली नगरपालिका के क्षेत्राधिकार में स्थित भवनों के किराये के नियन्त्रण के सम्बन्ध में 9 फरवरी, 1959 से प्रवृत्त विधि है । धारा 2(ट) में किसी परिसर के सम्बन्ध में 'मानक किराए' की परिभाषा, इस रूप में दी गई है कि इससे धारा 6 में निर्दिष्ट मानक किराया या जहां मानक किराया धारा 7 के अधीन बढ़ा दिया गया है,

ऐसा बढ़ाया गया किराया अभिप्रेत है। धारा 6 में विभिन्न प्रकार के मामलों में मानक किराया अवधारित करने के विभिन्न सूत्र दिए गए हैं और प्रत्येक सूत्र में उसके अन्तर्गत आने वाले भवन की बाबत निश्चित मानक किराया निकालने की सुनिश्चित और सुस्पष्ट पद्धति दी गई है। इन अपीलों और रिट पिटीशनों में हमारा सम्बन्ध निवासीय परिसर के रेट-मूल्य अवधारण से है। अत: हम धारा 6 का वहीं तक उल्लेख करने जहां यह निवासीय परिसर के विषय में है। धारा 6 की उपधारा 1(क)(1) में, निवासीय परिसर की दशा में, मानक किराया अवधारित करने का सूत्र दिया गया है, जबकि ऐसे परिसर 2 जून, 1944 से पहले किसी समय किराए पर उठाए गए हैं किन्तु यह उपबन्ध हमारे प्रयोजन के लिए तात्विक नहीं है, क्योंकि जिन निवासीय परिसरों का इन अपीलों और रिट पिटीशनों में हमारा सम्बन्ध है, वे सब भवन 2 जून, 1944 के बाद बनाए गए हैं। धारा 6 की उपधारा 1(क)(2)(क) का भी हमारे प्रयोजन के लिए कोई महत्व नहीं है क्योंकि यह निवासीय परिसरों के बारे में है जो 2 जून, 1944 को या उसके बाद किसी समय किराए पर उठाए गए हों और जिनकी बाबत किराया दिल्ली तथा अजमेर-मारवाड़ा भाटक नियन्त्रण अधिनियम, 1947 या दिल्ली तथा अजमेर भाटक नियन्त्रण अधिनियम, 1952 के अधीन नियत किया गया हो। किन्तु वर्तमान रिट पिटीशनों और अपीलों की विषय-वस्तु अर्थात् वर्तमान निवासीय भवनों में से किसी की भी ऐसी स्थिति नहीं है। फिर भी धारा 6 की उपधारा (1)(क)(2)(क) तात्विक है। अत: हम उसका विस्तारपूर्वक उल्लेख करना चाहेंगे—

*"धारा 6(1). उपधारा (2) के उपबन्धों के अधीन रहते हुए किसी परिसर के सम्बन्ध में 'मानक किराया' से अभिप्रेत है—

(क) निवासीय परिसर की दशा में—

(2) जहां ऐसे परिसर 2 जून, 1944 से पहले किसी समय किराए पर उठाए गए हों—

---

* अंग्रेजी में यह इस प्रकार है—

"Section 6 (1). Subject to provisions of sub-section (2) 'standard rent' in relation to any premises means—

(a) in case of reidential premises—

(2) where such premises have been let out at any time before the 2nd day of June, 1944—

(ख) किसी अन्य दशा में वह किराया जो निर्माण की युक्तियुक्त लागत और निर्माण प्रारम्भ करने की तारीख को उस परिसर में समाविष्ट भूमि के बाजार मूल्य की सकल रकम के 'साढ़े सात प्रतिशत' वार्षिक दर पर परिकलित किया गया हो :

परन्तु जहां इस प्रकार परिकलित किराया बारह सौ रुपये प्रति वर्ष से अधिक है, वहां यह खण्ड उसी प्रकार प्रभावी होगा मानो 'साढ़े सात प्रतिशत' शब्दों के स्थान पर सवा आठ प्रतिशत' शब्द प्रतिस्थापित कर दिए गए हों;"

यद्यपि, अनिवासीय परिसर से हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है, फिर भी हम यह उल्लेख करना चाहेंगे कि अनिवासीय परिसर की बाबत जो 2 जून, 1944 को या के बाद किसी समय किराया पर उठाए गए हैं और जिनकी बाबत किराया दिल्ली तथा अजमेर-मारवाड़ा भाटक नियन्त्रण अधिनियम, 1947 या दिल्ली तथा अजमेर भाटक नियन्त्रण अधिनियम, 1952 के अनुसार नियत नहीं किया गया है, मानक किराया उसी आधार पर परिकलित किया जाना चाहिए, जैसा कि धारा 6 की उपधारा 1(क) (2) (ख) में वर्णित है, केवल एक अन्तर करना होगा कि किराया इस उपबंध में अधिकथित सवा आठ प्रतिशत की दर पर परिकलित किए जाने के बजाय 8/5/8 प्रतिशत की दर पर परिकलित किया जाना चाहिए। धारा 6 की उपधारा (2) का भी पक्षकारों के बीच उत्पन्न संविवाद से बहुत सम्बन्ध है। अतः हम उसका भी पूर्ण रूप में उल्लेख करना चाहेंगे—

*"(2) उपधारा (1) में अन्तर्विष्ट किसी बात के होते हुए भी—

(b) in any other case, the rent calculated on the basis of seven and one-half per cent, per annum of the aggregate amount of the reasonable cost of construction and the market price of the land comprised in the premises on the date of the commencement of the construction :

Provided that where the rent so calculated exceeds twelve hundred rupees per annum, this clause shall have effect as if for the words 'seven and one-half per cent', the words 'eight and one-fourth per cent,' had been substituted ;"

*"(2) Notwithstanding anything contained in sub-section (1)—

(क) 2 जून, 1951 को या के बाद, किन्तु 9 जून, 1955 से पूर्व, निर्मित किसी परिसर की दशा में, चाहे निवासीय हो या नहीं, उस किराए के निर्देश में परिकलित वार्षिक किराया, जिस पर वे परिसर मार्च, 1958 मास के लिए किराए पर उठाए गए थे, अथवा यदि वे किराए पर नहीं उठाए गए हैं, तो उस किराए के निर्देश में, जिस पर वे अन्तिम बार किराए पर उठाए गए थे, ऐसे परिसर के निर्माण के पूरा होने की तारीख से सात वर्ष की अवधि तक मानक किराया समझा जाएगा; और

(ख) इस अधिनियम के प्रारम्भ के बाद निर्मित परिसर सहित 9 जून, 1955 को या के बाद निर्मित किसी परिसर की दशा में, चाहे वह निवासीय हो या नहीं, वह वार्षिक किराया, जो मकान-मालिक और किराएदार के बीच करार पाए गए किराए के निर्देश में परिकलित किया गया हो, जब ऐसे परिसर पहली बार किराए पर उठाए गए थे, ऐसे किराए पर उठाए जाने की तारीख से पांच वर्ष की अवधि तक मानक किराया समझा जाएगा।"

इसके बाद धारा 7 आती है, जिसकी उपधारा (1) तात्विक है, जो इस प्रकार है—

(a) in the case of any premises, whether residential or not, constructed on or after the 2nd day of June, 1951, but before the 9th day of June, 1955, the annual rent calculated with reference to the rent at which the premises were let for the month of March, 1958, or if they were not so let, with reference to the rent at which they were last let out, shall be deemed to be the standard rent for a period of seven years from the date of the completion of the construction of such premises; and

(b) in the case of any premises, whether residential or not, constructed on or after the 9th day of June, 1955, including premises constructed after the commencement of this Act, the annual rent calculated with reference to the rent agreed upon between the landlord and the tenant when such premises were first let out shall be deemed to be the standard rent for a period of five years from the date of such letting out."

*"7(1) जहां मकान-मालिक ने किराएदार की या नियंत्रक के लिखित अनुमोदन से इस धारा के प्रारम्भ के बाद या किराएदार के अनुमोदन से या के बिना इस अधिनियम के प्रारम्भ से पूर्व, किसी समय, उस परिसर में कोई अनुवृद्धि, अभिवृद्धि या संरचनात्मक फेर-बदल करने के लिए खर्च किया है, जो कि ऐसे परिसर के लिए आवश्यक या प्रायिक सजावट या किराएदारी योग्य मरम्मत पर किया गया खर्च नहीं है, और ऐसी अनुवृद्धि, अभिवृद्धि या फेरबदल की लागत परिसर का किराया अवधारित करने में हिसाब में नहीं ली गई है, वहां मकान-मालिक हर वर्ष मानक किराए की उतनी रकम विधि-पूर्णतः बढ़ा सकता है, जितनी ऐसी लागत के साढ़े सात प्रतिशत से अधिक न हो।"

हमारे प्रयोजन के लिए अगली तात्विक धारा 9 है और चूंकि इस धारा के उपबंधों पर और विशेषकर उपधारा (4) पर काफी बहस की गई है, इसलिए इस धारा के सुसंगत उपबंधों का उल्लेख करना उपयोगी होगा। यह निम्न प्रकार हैं—

**"9(1) नियंत्रक, मकान-मालिक द्वारा या किराएदार द्वारा, विहित रीति से, इस निमित्त किए गए आवेदन पर किसी परिसर की बाबत—

---

*"7 (1) Where a landlord has at any time, before the commencement of this Act with or without the approval of the tenant or after the commencement of this Act with the written approval of the tenant or of the Controller, incurred expenditure for any improvement, addition or structural alteration in the premises, not being expenditure on decoration or tenantable repairs necessary or usual for such premises, and the cost of that improvement, addition or alteration has not been taken into account in determining the rent of the premises, the landlord may lawfully increase the standard rent per year by an amount not exceeding seven and one-half per cent, of such cost."

**"9(1) The Controller shall, on an application made to him in this behalf, either by the landlord or by the tenant, in the prescribed manner, fix in respect of any premises—

(i) धारा 6 में निर्दिष्ट मानक किराया; या
(ii) धारा 7 में निर्दिष्ट वृद्धि, यदि कोई है,

नियत कर सकेगा ।

(2) किसी परिसर का मानक किराया या उसकी विधिपूर्ण वृद्धि करते समय नियंत्रक ऐसी रकम नियत करेगा जो उसे धारा 6 या धारा 7 के उपबंधों को तथा मामले की परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए युक्तियुक्त प्रतीत हों ।

(4) जहां किसी कारण किसी परिसर का मानक किराया धारा 6 में वर्णित सिद्धांतों के आधार पर अवधारित करना सम्भव नहीं है, वहां नियंत्रक ऐसा किराया इस प्रकार नियत कर सकेगा जो उसे परिसर की स्थिति, अवस्थिति और अवस्था तथा उसमें दी गई सुविधाओं को ध्यान में रखते हुए और जहां उस परिक्षेत्र में वैसे ही या उस जैसे परिसर हैं, वहां ऐसे परिसर की बाबत संदेय मानक किराए को भी ध्यान में रखते हुए युक्तियुक्त प्रतीत हो ।"

किराया अधिनियम के ये ही तात्विक उपबन्ध हैं जो वर्तमान अपीलों और रिट पिटीशनों में उत्पन्न संविवाद के अवधारण के लिए सुसंगत हैं ।

8. धारा 2(ट) में अन्तर्विष्ट "मानक किराया" की परिभाषा से

(i) the standard rent referred to in Section 6; or

(ii) The increase, if any, referred to in Section 7.

(2) In fixing the standard rent of any premises or the lawful increase thereof the Controller shall fix an amount which appears to him to be reasonable having regard to the provisions of section 6 or section 7 and the circumstances of the case.

(4) Where for any reason it is not possible to determine the standard rent of any premises setforth under section 6, the Controller may fix such rent as would be reasonable having regard to the situation, locality and condition of the premises and the amenities provided therein and where there are similar or nearly similar premises in the locality, having regard also to the standard rent payable in respect of such premises."

स्पष्ट है कि किसी भवन के मानक किराये से वह मानक किराया अभिप्रेत है, जो धारा 6 में निर्दिष्ट है या जहां मानक किराया धारा 7 के अधीन बढ़ा दिया गया है, वहां ऐसा बढ़ाया गया किराया अभिप्रेत है। यह परिभाषा अपूर्ण नहीं है बल्कि नि:शेषी परिभाषा है और इसके अनुसार मानक किराए से या तो धारा 6 में निर्दिष्ट मानक किराया या धारा 7 में निर्दिष्ट बढ़ाया गया मानक किराया अभिप्रेत है। इस बात पर ध्यान देना महत्वपूर्ण है कि उसमें धारा 9 की उपधारा (4) के बारे में कोई निर्देश अन्तर्विष्ट नहीं है। इसलिए जब कभी किराया अधिनियम के किसी उपबंध में मानक किराए के बारे में कोई निर्देश किया जाता है तो उससे मानक किराया अभिप्रेत होना चाहिए, जैसा कि धारा 6 में अधिकथित है अथवा बढ़ा हुआ मानक किराया अभिप्रेत होना चाहिए, जैसा कि धारा 7 में उपबंधित है और इससे अधिक कुछ भी अभिप्रेत नहीं होना चाहिए। धारा 6 मामलों के सभी स्वीकार्य वर्गों में मानक किराए के अवधारण के लिए सिद्धान्त अधिकथित करती है। धारा 7 मानक किराए में वृद्धि के लिए उपबन्ध करती है जहां मकान-मालिक ने परिसरों में किसी सुधार, परिवर्धन या संरचना में परिवर्तन के लिए कोई व्यय किया हो। धारा 9 में, जैसा कि धारा 2(ट) की परिभाषा स्पष्ट रूप से सुझाव देती है और पार्श्व टिप्पण निश्चित रूप से उपदर्शित करता है, यह बात परिभाषित नहीं है कि मानक किराया क्या है, अपितु केवल मानक किराया तय करने के लिए प्रक्रिया अधिकथित है। धारा 9 की उपधारा (1) यह उपबन्ध करती है कि नियंत्रक उस निमित्त उसे मकान-मालिक या किराएदार द्वारा विहित रीति में आवेदन किए जाने पर किसी भी प्रकार उस सम्बन्ध में धारा 6 में निर्दिष्ट मानक किराया तय करेंगे अथवा धारा 7 में निर्दिष्टानुसार वृद्धि करेंगे। इसके पश्चात् उपधारा (2) में यह कहा गया है कि किसी परिसर का मानक किराया तय करने में अथवा उसमें वैध वृद्धि करने में नियंत्रक ऐसी कोई रकम तय करेगा जो उसे धारा 6 या धारा 7 के उपबन्धों और मामले की परिस्थितियों को देखते हुए युक्तियुक्त प्रतीत हो। इस प्रकार नियन्त्रक को धारा 9 की उपधारा (1) और (2) द्वारा धारा 6 में उल्लिखित सिद्धान्तों अथवा धारा 7 के उपबन्ध और मामले की किन्हीं अन्य सुसंगत परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए किसी परिसर का मानक किराया तय करने का काम सौंपा गया है। 'मामले की परिस्थितियों को······ध्यान में रखते हुए' शब्द निस्सन्देह मानक किराया तय करने में नियन्त्रक को कुछ विवेकाधिकार प्रदान करते हैं। किन्तु यह विवेकाधिकार इतना अनियन्त्रित और दिशाहीन विवेकाधिकार नहीं है जिससे कि नियन्त्रक कोई भी मानक किराया तय कर सके जो वह युक्तियुक्त समझता है। उससें धारा 6 या धारा 7 में अधिकथित

सूत्र के अनुसार मानक किराया तय करने की अपेक्षा की जाती है और वह यह कहकर उस सूत्र की उपेक्षा नहीं कर सकता कि मामले की परिस्थितियों को देखते हुए वह ऐसा करना युक्तियुक्त समझता है। उसे दिया गया एकमात्र विवेकाधिकार सुसंगत सूत्र को लागू करने पर निकाले गए परिणाम में समायोजन करने का है, जहां इस तथ्य के कारण ऐसा करना आवश्यक हो कि मकान-मालिक ने मकान में कुछ परिवर्तन या सुधार किए हों अथवा परिस्थितियों से भवन की दशा या उपयोगिता को प्रभावित करना प्रतीत हो या इसी प्रकार की कुछ ऐसी परिस्थितियां हों। मानक किराया अवधारित करने के लिए धारा 6 में अधिकथित सूत्र का और मानक किराए में वृद्धि के लिए धारा 7 के उपबन्धों का अनिवार्य बल धारा 9 की उपधारा (2) द्वारा किसी भी प्रकार घट नहीं जाता है किन्तु नियन्त्रक को सूत्र की कठिनाई को दूर करने के लिए सीमित विवेकाधिकार दिया गया है जहां मामले की परिस्थितियों में ऐसा अपेक्षित हो।

9. तथापि प्रश्न उद्भूत हो सकता है कि यदि धारा 6 में उल्लिखित सिद्धान्तों पर किसी परिसर का मानक किराया अवधारित करना सम्भव न हो तो क्या होगा। तब धारा 9 की उपधारा (1) और (2) में उल्लिखित मशीनरी लागू होने में असफल होगी, क्योंकि धारा 6 के उपबन्धों को ध्यान में रखते हुए नियन्त्रक के लिए मानक किराया तय करना संभव नहीं होगा। इस आकस्मिकता का ध्यान धारा 9 की उपधारा (4) में रखा गया है। इसमें उपबंध किया गया है कि ऐसी स्थिति में नियन्त्रक ऐसा किराया तय कर सकता है जो परिसर की स्थिति, परिक्षेत्र (इलाके) और अवस्था और उसमें दी गई सुविधाओं को ध्यान में रखते हुए, जहां इलाके में समान या लगभग समान परिसर हों, ऐसे परिसरों के सम्बन्ध में संदेय मानक किराए को ध्यान में रखते हुए युक्तियुक्त हो। किन्तु धारा 9 की उपधारा (4) को लागू करने के लिए मूल शर्त यह है कि धारा 6 में उल्लिखित सिद्धान्तों पर मानक किराया अवधारित करना संभव न हो। जहां ऐसा मामला हो, वहां नियन्त्रक को ऐसा किराया तय करने के लिए सशक्त किया गया है, जो परिसरों की स्थिति परिक्षेत्र और अवस्था तथा उसमें दी गई सुविधाओं को ध्यान में रखते हुए युक्तियुक्त हो। किन्तु ऐसा किराया नियत करते समय भी नियन्त्रक को वह काम करने के लिए अनियन्त्रित विवेकाधिकार नहीं है जो वह करना चाहता है तथा वह उप-परिक्षेत्र इलाके में समान या लगभग समान परिसरों के संबंध में संदेय मानक किराए को ध्यान में रखने के लिए बाध्य है। इसलिए धारा 6 में उल्लिखित सिद्धांतों पर अवधारित किया जाने वाला मानक किराया प्रमुख बात हो जाती है। स्पष्ट रूप से विधानमण्डल का आशय नियन्त्रक को उसके

मार्गदर्शन के लिए किसी सिद्धांत या सूत्र के विना ऐसा किराया, जो वह युक्तियुक्त समझे, तय करने के लिए दिशाहीन विवेकाधिकार निहित करना नहीं था। इसलिए उसने कहा था कि युक्तियुक्त किराया तय करने में नियंत्रक समान या लगभग समान परिसरों के सम्बन्ध में संदेय मानक किराये को ध्यान में रखेगा। नियन्त्रक को इलाके में समान या लगभग समान परिसरों के मानक किराये से मार्गदर्शन लेना चाहिए, और युक्तियुक्त किराया तय करने में नियंत्रक को मार्गदर्शन देने के कृत्य का निर्वहन करने के अलावा इस अपेक्षा द्वारा यह सुनिश्चित करना अभीष्ट है कि नियन्त्रक द्वारा परिसरों के तय किए गये युक्तियुक्त किराये और इलाके में स्थित समान या लगभग समान परिसरों के मानक किराये के बीच बहुत अधिक अन्तर न हो। उस तार्किक प्रक्रिया के अनुसार, जिसे नियन्त्रक को युक्तियुक्त किराया तय करने में अनुसरण करना होगा, प्रथमतः यह अभिनिश्चित करना होगा कि इलाके में समान या लगभग समान परिसरों की स्थिति में संदेय मानक किराया कितना है और इसके बाद इस बात पर विचार करना होगा कि परिसरों के सम्बन्ध में ऐसा मानक किराया लागू करने के लिए परिसरों की स्थिति परिक्षेत्र (इलाकों) और अवस्था तथा परिसर में दी गई सुविधाओं को ध्यान में रखते हुए कितने मानक किराये के समायोजन की आवश्यकता है। इस प्रकार अवधारित युक्तियुक्त किराया नियंत्रक द्वारा परिसरों का तय किया गया मानक किराया होगा। तथापि ऐसे मामले हो सकते हैं जहां इलाके में समान या लगभग समान परिसर न हों और ऐसे मामलों में नियन्त्रक के लिए मार्गदर्शन उपलभ्य नहीं होगा और नियन्त्रक को अपनी सर्वोत्तम विवेक बुद्धि से इस बात का अवधारण करना होगा कि परिसरों की स्थिति, इलाका और दशा तथा उसमें दी गई सुविधाओं को ध्यान में रखते हुए युक्तियुक्त किराया क्या होगा। किन्तु ऐसे मामले अपने प्रकृति के कारण बहुत ही कम होंगे, और इस पर भी नियन्त्रक को अपार शक्ति नहीं होगी। उसे निकटतम इलाके के समान या लगभग समान परिसरों के मानक किराये को ध्यान में रखते हुए और ऐसे मानक किराये में आवश्यक समायोजन करते हुए परिसरों का युक्तियुक्त किराया तय करना होगा।

10. अब हम परिसरों के प्रथम प्रवर्ग के बारे में विचार करेंगे जिसके सम्बन्ध में रेट (आनुपातिक) मूल्य अवधारण करने का प्रश्न उत्पन्न हुआ है अर्थात् जहां परिसर स्वाधिभोगाधीन है अर्थात् मालिक के अधिभोग में है। प्रथमतः हम निवासीय परिसरों की स्थिति पर विचार करेंगे। उपर्युक्त विवेचन से यह बात स्पष्ट है कि परिसरों का रेट (आनुपातिक) मूल्य वह वार्षिक किराया होगा जिस पर परिसरों को युक्तियुक्त रूप से काल्पनिक किरायेदार को किराये पर देने की प्रत्याशा की जाती है। ऐसी युक्तियुक्त प्रत्याशा किसी

भी दशा में परिसरों के मानक किराये से अधिक नहीं हो सकती, यद्यपि प्रस्तुत स्थिति में वह मानक किराये से कम हो सकती है। परिसरों का मानक किराया वार्षिक किराये की वह अधिकतम सीमा होगी जो मालिक काल्पनिक किरायेदार से प्राप्त करने की युक्तियुक्त प्रत्याशा कर सकता है, यदि उसे परिसर किराये पर देना हो। जहां परिसर स्वाधिभोगाधीन है और किसी किरायेदार को किराये पर नहीं दिए गए हैं वहां काल्पनिक किरायेदारी के आधार पर परिसरों का मानक किराया अवधारित करना अभी भी संभव होगा। ऐसी स्थिति में प्रश्न यह होगा कि परिसरों का मानक किराया कितना होगा यदि वे किरायेदार को किराये पर दिये जाते हैं। स्पष्टतः ऐसी दशा में मानक किराया किराया अधिनियम की धारा 6 की उपधारा (1) (क) (2) (ख) में उल्लिखित सिद्धांतों पर अवधारणीय होगा। मानक किराया निर्माण के प्रारम्भ की तारीख को परिसर में समाविष्ट भूमि के बाजार मूल्य और युक्तियुक्त निर्माण लागत की कुल रकम के 7½ (साढ़े सात प्रतिशत) या 8¼ प्रतिशत के आधार पर संगणित किराया होगा। तथापि, दिल्ली नगर निगम ने यह दलील दी कि जहां किसी परिसर का तारीख 9 जून, 1955 को या उसके पश्चात् निर्माण किया गया हो, जैसी हमारे समक्ष के अधिकांश मामलों में परिसर तारीख 9 जून, 1955 के पश्चात् निर्मित परिसर हैं और वे किसी भी समय किराये पर नहीं दिए गए है एवं सदैव स्वाधिभोगाधीन रहे हैं वहां ऐसे परिसर का मानक किराया धारा 6 की उपधारा (2) (ख) के उपबन्धों के अधीन अवधारणीय होगा और कोई भी किराया, जिस पर मकान-मालिक और किराएदार के बीच सहमति हो सकती है यदि परिसर किसी काल्पनिक किरायेदार को किराये पर दिये जाते हैं, परिसरों का मानक किराया माना जाएगा और धारा 6 की उपधारा (1) (क) (2) (ख) में उल्लिखित सूत्र धारा 6 की उपधारा (2) के प्रारम्भिक भाग में अन्तर्विष्ट अध्यारोही खण्ड के कारण मानक किराया अवधारित करने के लिए लागू नहीं होगा। यद्यपि यह दलील स्पष्ट प्रतीत हो सकती है फिर भी वह हमारी राय में ठोस दलील नहीं है। यह बात मालूम करना कठिन है कि धारा 6 की उपधारा (2) (ख) में अधिनियमित उपबन्ध परिसरों के मानक किराये के अवधारण के लिए किस प्रकार लागू किए जाएं जबकि परिसर किसी भी समय वास्तविक रूप से किराये पर न दिया गया हो। धारा 6 की उपधारा 2(ख) स्पष्ट रूप से ऐसा मामला अनुध्यात करती है जहां काल्पनिक रूप से किराये पर देने से भिन्न परिसर वास्तविक रूप से किराये पर दिए गए हों क्योंकि इस उपबन्ध के अधीन प्रथमतः किराये पर देने के समय मकान-मालिक और किरायेदार के बीच सहमत वार्षिक किराया ऐसी किरायेदारी की तारीख से पांच वर्ष की

कालावधि के लिए मानक किराया माना जाता है और इस बात की कल्पना करना असंभव है कि प्रथम किराएदारी की धारणा वास्तविक रूप से किराए पर देने के सिवाय किसी भी बात से मेल खा सकती है और किसी प्रकार से पांच वर्ष की कालावधि की किसी काल्पनिक किरायेदारी की तारीख से संगणना की जा सकती है। केवल वास्तविक रूप से प्रथमतः किराए पर देने की तारीख से ही पांच वर्ष की कालावधि प्रारम्भ हो सकती है और पांच वर्ष की इस कालावधि के लिए प्रथमतः वास्तविक रूप से किराए पर देने के समय मकान-मालिक और किराएदार के बीच करार पाया गया वार्षिक किराया मानक किराया माना जाएगा। धारा 6 की उपधारा (2) (ख) वहां लागू नहीं हो सकती जहां परिसर वास्तविक रूप से किराए पर न दिए गए हों और इसलिए ऐसे परिसरों के मामले में, जो तारीख 9 जून, 1955 को या उसके पश्चात् बनाए गए हैं और जो किसी भी समय किराये पर नहीं दिए गए हैं, मानक किराया धारा 6 की उपधारा (1) (क) (2) (ख) में अधिकथित सिद्धान्तों के अनुसार अवधारणीय होगा। इसी प्रकार ऐसे परिसरों के मामले में, जो तारीख 9 जून, 1955 से पूर्व किन्तु तारीख 2 जून, 1951 के पश्चात् बनाये गये थे, मानक किराया इन्हीं कारणों से धारा 6 की उपधारा (1) (क) (2) (ख) के उपबंधों के अधीन अवधारणीय होगा यदि वे उनके निर्माण के समय से किसी भी समय वास्तविक रूप से किराये पर न दिए गए हों। किन्तु यदि परिसरों के युक्तियुक्त दो प्रवर्ग पहले किसी समय वास्तविक रूप से किराये पर दिये गये हों तब प्रथम प्रवर्ग के मामले में, जब परिसर प्रथमतः वास्तविक रूप से किराये पर दिये गये थे, मकान-मालिक और किरायेदार के बीच सहमत वार्षिक किराया और दूसरे प्रवर्ग के मामले में उस किराये के, जिस पर परिसर मार्च, 1958 मास के लिए वास्तविक रूप से किराये पर दिये गये थे, के निर्देश में तो परिकलित वार्षिक किराया या यदि वे इस प्रकार किराये पर नहीं दिये गये थे तो उस किराये के, जिस पर वे अन्त में वास्तविक रूप से किराये पर दिये गये थे, के निर्देश में परिकलित वार्षिक किराया परिसरों के ऐसे किराये पर देने की तारीख से पांच वर्ष की कालावधि के लिए मानक किराया माना जायेगा। तथापि, परिसरों के इन दो प्रवर्गों के मामले में भी मानक किराया, यथास्थिति, पांच वर्ष या 7 वर्ष की समाप्ति के पश्चात् धारा 6 की उपधारा (1) (क) (2) (ख) में उल्लिखित सिद्धान्तों पर अवधारणीय होगा। इस प्रकार स्वाधिभोगाधीन निवासीय परिसरों के मामले में, उन उपबंधों की परिधि के अन्तर्गत आने वाले मामलों में धारा 6 की उपधारा (2) (क) या (2) (ख) के उपबंधों के अधीन अवधारणीय मानक किराया और अन्य मामलों में धारा 6 की उपधारा (1) (क) (2) (ख) के

उपबंधों के अधीन अवधारणीय मानक किराया परिसरों के रेट (आनुपातिक) मूल्य की अधिकतम सीमा होगी । इसी प्रकार की तार्किक प्रक्रिया के आधार पर इन उपबंधों की परिधि के अन्तर्गत आने वाले मामलों में धारा 6 की उपधारा (2) (क) या (2) (ख) के उपबंधों के अधीन अवधारणीय मानक किराया और अन्य मामलों में धारा 6 की उपधारा (1) (क) या (1) (ख) के उपबंधों के अधीन अवधारणीय मानक किराया रेट-मूल्य की अधिकतम सीमा होगी । जहां तक स्वाधिभोगाधीन गैर-निवासीय परिसरों का सम्बन्ध है, परिसरों का, चाहे निवासीय या गैर-निवासीय हो, रेट-मूल्य मानक किराये से अधिक नहा हो सकता, किन्तु, जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है, किसी दिये गये मामले में मानक किराये से कम भी हो सकता है । वार्षिक किराया, जो परिसरों का मालिक प्राप्त करने की युक्तियुक्त रूप से प्रत्याशा कर सकता है, यदि परिसर किराये पर दिये गये हों, परिसर के आकार, स्थिति, इलाके और दशा तथा उसमें दी गई सुविधाओं पर निर्भर करेगा । इन सब बातों और अन्य सुसंगत तथ्यों तथा मानक किराये द्वारा नियत अधिकतम सीमा को रेट-मूल्य अवधारित करने में ध्यान में रखना होगा । यदि इस मूल सिद्धान्त को ध्यान में रखा जाता है तो इससे उसी इलाके में स्थित समान परिसरों के रेट-मूल्य के बीच व्यापक भिन्नता नहीं रहेगी, जहां कुछ परिसर पुराने हैं जो कई वर्ष पहले बनाये गये थे जब भूमि की कीमत इतनी अधिक नहीं थी तथा निर्माण लागत में वृद्धि नहीं हुई थी और अन्य परिसर हाल ही में निर्मित परिसर हैं जब जमीन की कीमतें अधिकांशत: 40 से 50 गुणा बढ़ गई हैं और निर्माण लागत भी पिछले 20 वर्षों में अधिकांशत: 3 से 5 गुणा बढ़ गई हैं । धारा 6 की उपधारा (1) (क) (2) (ख) या (1) (ख) (2) (ख) में उल्लिखित सिद्धान्तों पर परिसरों के पहले प्रवर्ग का मानक किराया अपेक्षाकृत कम होगा, जबकि परिसरों के बाद वाले प्रवर्ग की दशा में, इन सिद्धान्तों पर अवधारणीय मानक किराया असम्यक् रूप से अधिक होगा । यदि मानक किराया रेट-(आनुपातिक) मूल्य का माप है तो पुराने परिसरों के और हाल ही में निर्मित परिसरों के रेट (आनुपातिक) मूल्य के बीच बहुत अधिक अन्तर होगा भले ही वे समान हों और उसी या निकटतम इलाके में स्थित हों । यह बात पूर्णत: अतर्कसंगत और अयुक्तियुक्त होगी । इसलिए हाल ही में निर्मित परिसरों के मामले में रेट (आनुपातिक) मूल्य अवधारित करने के लिए जिस बात पर विचार करने की आवश्यकता है वह यह है कि वह किराया क्या है जो मालिक प्राप्त करने की युक्तियुक्त रूप से प्रत्याशा कर सकता है यदि परिसर किराये पर दिये जाएं और ऐसे किराये की उस किराये से निश्चित रूप से प्रभावित होने की सम्भावना है जो पहले निर्मित समान परिसरों के लिए और उसी या

निकटतम इलाके में स्थित समान परिसरों के लिए प्राप्य है और जो निश्चित रूप से ऐसे परिसरों के मानक किराये द्वारा सीमित होगा। इस प्रकार स्वाधिभोगाधीन निवासीय और गैर-निवासीय परिसरों के रेट (आनुपातिक) मूल्य के अवधारण के सम्बन्ध में स्थिति इस प्रकार कही जा सकती है : धारा 6 की उपधारा (2) (क) या (2) (ख) या (1) (क) (2) (ख) या (1) (ख) (2) (ख) में उल्लिखित सिद्धान्तों पर, जो लागू होती है, अवधारणीय मानक किराया परिसरों के रेट-मूल्य की अधिकतम सीमा तय करेगा और ऐसी अधिकतम सीमा के भीतर ही कर-निर्धारण करने वाले प्राधिकारी को वह किराया अवधारित करना होगा जो मकान-मालिक प्राप्त करने की युक्तियुक्त रूप से प्रत्याशा कर सकता है यदि परिसर काल्पनिक किरायेदार को किराये पर दिये जाते हैं। ऐसे अवधारण के प्रयोजन के लिए निर्धारण करने वाले प्राधिकारी को इन तथ्यों का, जैसे परिसर का आकार, स्थिति और इलाका और दशा तथा परिसर में दी गई सुविधाओं का भी मूल्यांकन करना होगा। कर-निर्धारण प्राधिकारी को उस किराये को भी ध्यान में रखना होगा जो पहले निर्मित समान परिसरों और उसी या निकटतम इलाके में स्थित समान परिसरों के मालिक किसी काल्पनिक किरायेदार से प्राप्त करने की युक्तियुक्त प्रत्याशा कर सकते हैं। ऐसा किराया निश्चित रूप से ऐसे परिसरों के मानक किराये की अधिकतम सीमा के भीतर होगा जिससे प्रति वर्ग फुट या वर्ग गज की दर के बीच बहुत अधिक अन्तर न हो और जिसे मालिक दोनों परिसरों की दशा में प्राप्त करने की युक्तियुक्त प्रत्याशा कर सकता है। परिसरों के आकार, स्थिति, इलाका और दशा तथा परिसरों में दी गई सुविधाओं के कारण कुछ अन्तर होना निश्चित है। एक सीमा से बड़े आकार से किराये की दर कम हो जाएगी और इसी प्रकार परिसरों की कम अनुकूल स्थिति या इलाका या निर्माण की घटिया क्वालिटी या असन्तोषप्रद दशा या आवश्यक सुविधाओं की कमी और इसी के समान अन्य बातों के कारण किराये की दर कम होगी। किन्तु इन विभिन्न बातों को ध्यान में रखने पर अन्तर का अनुपात अधिक नहीं होना चाहिए। हम यह उल्लेख करना चाहेंगे कि वर्ष 1980 तक निर्धारण करने वाले प्राधिकारी स्वाधिभोगाधीन निवासीय परिसरों पर निर्धारित सम्पत्ति-कर में 20 प्रतिशत की स्वाधिभोगाधीन छूट (रिबेट) दे रहे थे। हम यह सुझाव देना चाहेंगे कि निर्धारण करने वाले प्राधिकारी द्वारा 20 प्रतिशत की यह छूट उचित रूप से पुनः दी जा सकती है क्योंकि मालिक के दृष्टिकोण से स्वाधिभोगाधीन परिसरों और किराये पर दी गई परिसरों के बीच महत्वपूर्ण अन्तर है तथा मकान में संरक्षण देने का अधिकार प्रत्येक मानव की मूल आवश्यकता होने से निवासीय परिसरों को, जो स्वाधिभोगाधीन हैं, किराये पर दिये गये

परिसरों से अधिक अनुकूल आधार पर माना जाना चाहिए जहां तक सम्पत्ति-कर निर्धारण किये जाने का सम्बन्ध है।

11. अब हम परिसरों के द्वितीय वर्ग के सम्बन्ध में विचार कर सकते हैं जिनके सम्बन्ध में रेट (आनुपातिक) मूल्य अवधारण किये जाने की आवश्यकता है। इस प्रवर्ग में ऐसे परिसर आते हैं जो आंशिक रूप से स्वाधिभोगाधीन हैं और आंशिक रूप से किराये पर दिये हुए हैं। जैसा कि हम ऊपर बतला चुके हैं, वह एक पूर्ण परिसर है जो सम्पत्ति-कर के निर्धारण के दायित्वाधीन हैं और जो ऐसे परिसरों के भिन्न भाग नहीं है जो सुभिन्न और पृथक् इकाइयां हैं। किन्तु उस किराये के, जो मकान-मालिक प्राप्त करने की प्रत्याशा कर सकता है यदि परिसर किराये पर दिये जाते हैं, आधार पर परिसरों का रेट (आनुपातिक) मूल्य निर्धारित करते समय इस बात की अपेक्षा नहीं की जा सकती कि जहां परिसर के भिन्न भाग हों जो भिन्न और पृथक् यूनिटों के रूप में अधिभोग किये जाने के लिए आशयित हों, काल्पनिक किरायेदारी, जिस पर विचार करना होगा, अधिभोग के भिन्न और पृथक् इकाई के रूप में प्रत्येक भाग की काल्पनिक किरायेदारी होगी तथा ऐसे भिन्न और पृथक् इकाई के सम्बन्ध में काल्पनिक किरायेदारी से युक्तियुक्त रूप से प्रत्याशित की जाने वाली कोई राशि परिसरों का आनुपातिक मूल्य होगी। अब स्पष्टत: किराया, जो परिसरों का मालिक ऐसी प्रत्येक भिन्न और पृथक् इकाई के सम्बन्ध में प्राप्त करने की युक्तियुक्त रूप से प्रत्याशा कर सकता है, ऐसी इकाई के मानक किराये से अधिक नहीं हो सकता तथा कर-निर्धारण करने वाले प्राधिकारी को किराये की अधिकतम सीमा तय करने की दृष्टि से मानक किराया अवधारित करना होगा जो मकान-मालिक द्वारा किसी काल्पनिक किरायेदार को ऐसी इकाई किराये पर देकर प्राप्त करने की युक्तियुक्त रूप से प्रत्याशित किया जा सकता है। यह कैसे किया जाए ?

12. जहां मामला धारा 6 की उपधारा (2) (क) या (2) (ख) के अन्तर्गत आता है वहां कोई समस्या पैदा नहीं होती क्योंकि सुभिन्न और पृथक् इकाई, जिसका मानक किराया अवधारित किया जाना है, स्वाधिभोगाधीन है या किराये पर दिया गया है इससे कोई फर्क नहीं पड़ता क्योंकि किसी भी मामले में मानक किराया इन दो उपबंधों में से किसी एक या दूसरे उपबंध द्वारा शासित होगा। इसी प्रकार धारा 6 की उपधारा (2) (क) और (2) (ख) से बाहर आने वाले मामलों में भी इस बात से कोई फर्क नहीं पड़ेगा कि पृथक् इकाई जिसका मानक किराया अवधारित किया जाना है, स्वाधिभोगाधीन है या किराये पर दिया हुआ है क्योंकि किसी भी मामले में मानक किराया धारा 6 की उपधारा (1) (क) और (2) (ख) या (1) (ख) या (2) (ख)

के उपबंधों के अधीन अवधारणीय होगा। किन्तु प्रश्न यह है कि धारा 6 की उपधारा (1) (क) (2) (ख) या (1) (ख) (2) (ख) में उल्लिखित सूत्र किस प्रकार से लागू किया जाना है। स्पष्टतः सूत्र लागू करने में कोई कठिनाई नहीं होगी यदि परिसर जिसका मानक किराया अवधारित किया जाना है, सम्पूर्ण भवन है। इसके पश्चात् भवन के निर्माण की युक्तियुक्त लागत ली जा सकती है और उसे भवन के निर्माण की तारीख को भवन की भूमि के बाजार मूल्य के साथ जोड़ा जा सकता है और ऐसी कुल रकम की 7½ प्रतिशत रकम भवन का मानक किराया होगी। किन्तु जहां भवन में एक से अधिक सुभिन्न और पृथक् इकाइयां हैं वहां अवधारणीय मानक किराया किसी विशेष इकाई का होता है। सूत्र लागू किये जाने पर कुछ कठिनाई हो सकती है यदि यह सूत्र केवल किसी विशेष इकाई के सम्बन्ध में शाब्दिक रूप से लागू किया जाता है क्योंकि यदि उस विशेष इकाई के निर्माण की युक्तियुक्त लागत अभिनिश्चित की जा सके तो भी निर्माण के प्रारम्भ की तारीख को परिसर में सम्मिलित भूमि की बाजार कीमत अवधारित करना कठिन नहीं होगा, क्योंकि सम्पूर्ण भवन, न कि केवल वह विशेष इकाई, भूमि पर खड़ा होगा और वह भूमि जिस पर भवन खड़ा है भवन में समाविष्ट भूमि होगी और उसे उस विशेष इकाई में समाविष्ट भूमि कहना असंगत और गलत होगा। तथापि सूत्र के अनुसार भवन के मानक किराये की संगणना करके किसी विशेष इकाई का मानक किराया अवधारित करने के लिए सूत्र लागू किया जा सकता है और इसके पश्चात् विभिन्न इकाइयों की स्थिति और दशा तथा ऐसी इकाइयों में दी गई सुविधाओं के कारण अन्तरों (यदि कोई हों) पर विचार करते हुए फर्श के क्षेत्रफल के आधार पर भवन में समाविष्ट विभिन्न अधिभोगी इकाइयों के बीच इस प्रकार संगणित मानक किराये का प्रभाजन किया जा सकता है। यह बहुत ही तर्कसंगत तर्क होगा जिसमें निर्माण के प्रारम्भ की तारीख को भवन में समाविष्ट भूमि का बाजार मूल्य भवन में समाविष्ट विभिन्न अधिभोगी इकाइयों के बीच विभाजित किया जाए। जब विभिन्न और पृथक् अधिभोगी इकाइयों वाले भवन का रेट (आनुपातिक) मूल्य अवधारित किया जाना हो तब प्रत्येक इकाई का मानक किराया उल्लिखित सिद्धान्तों के अनुसार अवधारित करना होगा और मानक किराये द्वारा नियत अधिकतम सीमा के भीतर निर्धारण प्राधिकारी को वह किराया अवधारित करना होगा जो मकान-मालिक युक्तियुक्त रूप से प्राप्त करने की आशा कर सकता है यदि ऐसी इकाई किसी काल्पनिक किरायेदार को किराये पर दे दी जाए। यह अवधारित करने के लिए निर्धारण अधिकारी को ऐसे कुछ तत्व ध्यान में रखने होंगे जिन पर हम स्वाधिभोगाधीन सम्पत्तियों के निर्धारण के प्रश्न पर विचार करते समय इस निर्णय के पिछले

पैराओं में पहले ही चर्चा कर चुके हैं। कुल किराये की राशि, जो स्वामी प्रत्येक सुभिन्न और पृथक् अधिभोगी इकाई के सम्बन्ध में किसी काल्पनिक किरायेदार से प्राप्त करने की आशा कर सकता है, उपर्युक्त रीति में संगणित की जायेगी और वह भवन का रेट (आनुपातिक) मूल्य होगा। हम यह बतला सकते हैं कि आनुपातिक मूल्य अवधारित करने के लिए यह सूत्र इस बात के बावजूद लागू होगा कि क्या भवन में समाविष्ट सुभिन्न और पृथक् अधिभोगी इकाइयों में से कोई इकाई स्वाधिभोगाधीन है या किराये पर दिया हुआ है। पृथक् और सुभिन्न अधिभोगी इकाई में, जो किराये पर दी हुई है, एकमात्र अन्तर यह होगा कि मानक किराये की अधिकतम सीमा के अध्यधीन रहते हुए मकान-मालिक द्वारा प्राप्त वास्तविक किराया, ऐसे किराये का, जो मकान-मालिक काल्पनिक किरायेदार से प्राप्त करने की युक्तियुक्त रूप से आशा कर सकता है, तब तक उचित विश्वसनीय प्रतिनिधित्व करेगा, जब तक कि यह न दर्शाया जाए कि इस प्रकार का वास्तविक किराया अतिरिक्त वाणिज्यिक बातों से प्रभावित है।

13. इसके पश्चात् हमें परिसरों के तृतीय प्रवर्ग पर विचार करना है जिसमें भूमि, जिस पर परिसर बने हुए हैं, इस निर्बन्धन के साथ पट्टाधृत भूमि है कि पट्टाधृत हित पट्टा कर्ता के अनुमोदन के बिना अन्तरणीय नहीं होगा। इस प्रवर्ण के अन्तर्गत दो प्रकार के मामले आते हैं। प्रथम यह है कि जहां परिसर सरकार से सीधे पट्टे पर ली गई भूमि के मालिक द्वारा बनाये गये हैं और दूसरा ऐसा मामला है जहां परिसर मकान-मालिक द्वारा किसी ऐसी सहकारी आवासन सोसाइटी से उप-पट्टे पर ली गई भूमि पर बनाये गये हैं जिसने स्वयं भूमि सरकार से पट्टे पर ली है। मामलों के प्रथम वर्ग में पट्टा शाश्वत पट्टा होता है और इसी प्रकार मामलों के द्वितीय प्रवर्ग में भी पट्टे और उप-पट्टे होते हैं। इन रिट पिटीशनों और अपीलों में हमारा सम्बन्ध मामलों के द्वितीय वर्ग से है इसलिए हमारा मत केवल उस वर्ग तक सीमित रहेगा। मामलों के इस वर्ग में सहकारी आवासन सोसाइटी द्वारा उप-पट्टे पर दी गई भूमि के प्लाट के सम्बन्ध में उप-पट्टा सहकारी आवासन सोसाइटी के सदस्यों में से प्रत्येक सदस्य के पक्ष में निष्पादित किया गया है। उप-पट्टे के खण्डों में से एक खण्ड में, जिसका मानक प्रारूप 1982 के अन्तरित मामला संख्या 25 में उप-पट्टे के दस्तावेज के खण्ड 6 में देखा जा सकता है, अन्य बातों के साथ-साथ यह उपबंधित है—

"6. (क) उप पट्टेदार किसी भी व्यक्ति को, जो पट्टेदार का सदस्य नहीं है, किसी भी प्रकार से या रीति से, बेनामी या अन्यथा,

निवासी प्लाट का सम्पूर्णतः या भागतः विक्रय, अन्तरण या समनुदेशन नहीं करेगा या अन्यथा उसका कब्जा नहीं छोड़ेगा।

(ख) उप पट्टेदार पट्टेदार की लिखित पूर्व सम्मति के सिवाय, जिसे वह अपने पूर्ण विवेकाधिकार से इंकार करने के लिए हकदार होगा, पट्टेदार के किसी अन्य सदस्य को निवासी प्लाट का संपूर्णतः या भागतः विक्रय, अन्तरण या समनुदेशन नहीं करेगा या अन्यथा उसका कब्जा नहीं छोड़ेगा :

परन्तु सम्मति दिए जाने की दशा में पट्टाकर्त्ता ऐसे निबन्धन और शर्तें अधिरोपित कर सकेगा जो वह उचित समझे और पट्टाकर्त्ता ऐसे विक्रय अंतरण, समनुदेशन या कब्जा छोड़ते समय निवासी प्लाट के मूल्य में अनोपार्जित वृद्धि का एक भाग (अर्थात् संदत्त प्रीमियम और बाजार मूल्य के बीच अन्तर) वसूल करने के लिए हकदार होगा और वसूल की जाने वाली रकम अनोपार्जित वृद्धि का पचास प्रतिशत होगी तथा बाजार मूल्य के सम्बन्ध में पट्टेदार का विनिश्चय अन्तिम और आबद्धकर होगा :

परन्तु यह और कि पट्टाकर्त्ता को यथापूर्वोक्त अनोपार्जित वृद्धि का पचास प्रतिशत कटौती करने के पश्चात् सम्पति को खरीदने का अग्र क्रय अधिकार होगा।"

14. यह बात स्पष्ट है कि उप-पट्टे के इस खण्ड के कारण मकान-मालिक, जिसने उसे उप-पट्टे पर दी गई भूमि के प्लाट में परिसर बनाये हैं, सहकारी आवासन सोसाइटी के सदस्य के सिवाय किसी भी व्यक्ति को भूमि के प्लाट में अपना पट्टाधृत हित विक्रय, अंतरण या समनुदेशित नहीं कर सकता और इस पर भी जहां तक सहकारी गृह निर्माण समिति के सदस्य को विक्रय, अंतरण या समनुदेशन का सम्बन्ध है वह सरकार की लिखित सम्मति के सिवाय नहीं किया जा सकता। सरकार अपने पूर्ण विवेकाधिकार से सम्मति दे सकती है या इंकार कर सकती है और यदि सरकार अपनी सम्मति देती है तो सरकार ऐसे विक्रय अंतरण या समनुदेशन के सम्बन्ध में भूमि के मूल्य में अनोपार्जित वृद्धि का 50 प्रतिशत दावा करने के लिए हकदार होगी और इसके अतिरिक्त यदि सरकार इस प्रकार चाहती है तो उसे भूमि के प्लाट के मूल्य में अनोपार्जित वृद्धि का 50 प्रतिशत कटौती करने के पश्चात् भूमि का प्लाट क्रय करने का पूर्वाधिकार होगा। उप-पट्टे में यह प्रसंविदा स्पष्ट रूप से भूमि के साथ चलने वाले प्रसंविदा है और जहां सरकार की लिखित पूर्व सम्मति से भूमि के प्लाट का विक्रय, अन्तरण या समनुदेशन किया गया है वहां यह

प्रसंविदा क्रेता, अन्तरिती या समनुदेशिती को आबद्धकर बनाए रखेगी। (देखिए धनकर आयुक्त बनाम पी० एन० सिकन्द का मामला[1])

15. उप-पट्टे के इस खण्ड का अवलम्ब लेते हुए दिल्ली नगर निगम ने यह दलील दी है कि चूंकि भूमि का प्लाट जिस पर परिसर खड़ा है, सरकार की पूर्व सम्मति के बिना अंतरित नहीं किया जा सकता इसलिए उसका कोई बाजार मूल्य नहीं होता और उसका बाजार मूल्य अभिनिश्चित नहीं किया जा सकता। इसलिए परिसरों का मानक किराया धारा 6 की उपधारा (1) (क)-(2) (ख) या (1) (ख) (2) (ख) में उल्लिखित सिद्धांतों के आधार पर अवधारित नहीं किया जा सकता और इसके परिणामस्वरूप धारा 9 की उपधारा (4) में अवशिष्टीय उपबंध लागू होगा तथा मानक किराया उस उपबंध में अधिकथित सिद्धांतों के अनुसार तय करना होगा। वास्तव में यह आधार था जिस पर निर्धारण प्राधिकारी ने यह दलील देते हुए परिसरों के कई मालिकों द्वारा फाइल की गई यह आपत्ति नामंजूर कर दी थी कि उनके परिसरों का मानक किराया धारा 6 की उपधारा (1) (क) (2) (ख) या (1) (ख) (2) (ख) में उल्लिखित सिद्धांतों पर अवधारित किया जाना चाहिए। 1982 के टी० सी० सं० 75 में पिटीशनर सं० 2 के मामले में निर्धारण प्राधिकारी द्वारा किये गए आदेशों में से केवल एक आदेश को उद्धृत करना होगा। उस पिटीशनर की आपत्तियों को नामंजूर करने वाले आदेश में यह कहा गया था—

> "सम्पत्ति एक पट्टाधृत प्लाट पर बनी हुई है। ऐसा होने से निर्माण के प्रारम्भ के समय भूमि का बाजार मूल्य अवधारित करना संभव नहीं है क्योंकि प्रसंविदा विलेख के निबंधनों और शर्तों के अधीन भूमि खुले बाजार में विक्रय के लिए उपलभ्य नहीं है। इसलिए मैं मानक किराया तय करने के लिए दिल्ली किराया नियंत्रण अधिनियम की धारा 6 को लागू करने की स्थिति में नहीं हूं। इसलिए मुझे मानक किराया तय करने के लिए दिल्ली किराया नियन्त्रण अधिनियम की धारा 9 का अवलम्ब लेना पड़ा है।"

16. यह तर्क, जो धारा 6 की उपधारा (1) (क) (2) (ख) या (1) (ख) (2) (ख) के लागू करने को नामंजूर करने में और धारा 9 की उपधारा (4) के उपबन्धों का अवलम्ब लेने में निर्धारण प्राधिकारी द्वारा दिया गया प्रतीत होता है, पूर्णतः बिना आधार के है। केवल इसलिए कि भूमि का प्लाट, जिस पर परिसर बनाये गए हैं, आवासन सोसाइटी के सदस्य के सिवाय और सरकार की पूर्व सम्मति के बिना बेचा, अंतरित या समनुदेशित नहीं

[1] [1978] 2 उम० नि० प० 1219=1977 (2) एस० सी० सी० 798.

किया जा सकता । इसलिए इससे अनिवार्य रूप से यह अभिप्रेत नहीं है कि भूमि के प्लाट के लिए कोई बाजार मूल्य नहीं हो सकता । यह बात ऐसी नहीं है कि भूमि के प्लाट के विक्रय, अंतरण या समनुदेशन पर पूर्ण प्रतिबन्ध है ताकि किन्हीं भी स्वीकार्य परिस्थितियों में वह बेचा, अन्तरित या समनुदेशित किया जा सके । भूमि का प्लाट व्यक्तियों के सम्बन्धित वर्ग अर्थात् जो सहकारी आवासन सोसाइटी के सदस्य हैं, में से किसी एक को ही केवल विक्रय, अंतरित या समनुदेशित किया जा सकता है और नियमों तथा विनियमों के अध्यधीन कोई भी पात्र व्यक्ति सहकारी आवासन सोसाइटी के सदस्य के लिए प्रविष्ट किया जा सकता है । इसके अतिरिक्त एक यह भी निबंधन है अर्थात् विक्रय, अन्तरण या समनुदेशन केवल सरकार की पूर्व सम्मति से ही हो सकता है किन्तु इन निबंधनों के अध्यधीन विक्रय, अन्तरण या समनुदेशन हो सकता है इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि भूमि के प्लाट का बाजार मूल्य अभिनिश्चित नहीं किया जा सकता । हमें इस बात का अवधारण करना है कि परिसरों के निर्माण के प्रारम्भ की तारीख **को** भूमि के प्लाट का बाजार मूल्य क्या होगा । हमें इस कल्पना पर कार्यवाही करनी होगी कि यदि सरकार पूर्व सम्मति दे दे तो भूमि का प्लाट विक्रय, अन्तरण या समनुदेशन के लिए उपलभ्य है और इस आधार पर यह बात अभिनिश्चत करनी होगी कि उससे ऐसे विक्रय, अन्तरण या समनुदेशन पर क्या कीमत प्राप्त होगी । यद्यपि जब फायदाप्रद क्रेताओं, अन्तरितियों या समनुदेशितियों का वर्ग निबंधित किया जाता है तब बाजार मूल्य निश्चित रूप से कम होगा । इस पर भी वह अभिनिश्चित किया जा सकता है और यह कहना सही नहीं होगा कि वह अवधार्य नहीं है । एक अन्य तथ्य भी है जो बाजार मूल्य कम करेगा और जो उप-पट्टे के इस खण्ड से प्रतीत होता है जिसमें यह उपबंध है कि भूमि के प्लाट के विक्रय, अन्तरण या समनुदेशन पर, सरकार भूमि के प्लाट के मूल्य में अनोपार्जित वृद्धि के 50 प्रतिशत का दावा करने के लिए हकदार होगी और सरकार बाजार में प्राप्त किए जाने योग्य कीमतों में से अनोपार्जित वृद्धि की 50 प्रतिशत कटौती करने के पश्चात् उस कीमत पर भूमि के प्लाट को क्रय करने के लिए हकदार होगी । चूंकि भूमि के प्लाट में उप-पट्टाधृत हित इस भार को निबंधन द्वारा कम कर दिया गया है इसलिए भूमि के प्लाट का बाजार मूल्य अवधारित नहीं किया जा सकता मानो पट्टाधृत हित इस भार या निबंधन से मुक्त होते हैं । पट्टाधृत हित से संलग्न इस भार या सीमा पर भूमि के प्लाट का बाजार मूल्य निकालने के लिए अवश्य विचार किया जाना चाहिए क्योंकि सहकारी आवासन सोसाइटी का कोई भी सदस्य, जो विक्रय, अन्तरण या समनुदेशन के रूप में भूमि का प्लाट लेता है इस भार या निबंधन

द्वारा आबद्ध होगा जो भूमि के साथ चलता है और उसका उस बाजार मूल्य को कम करने के लिए निश्चित रूप से प्रभाव होगा जो वह भूमि के प्लाट के लिए संदाय करने हेतु तत्पर होगा। इसलिए हमें भूमि के प्लाट के बाजार मूल्य का उचित अवधारण करने के लिए इस भार या निर्बंधन का अवश्य ही मूल्यांकन करना चाहिए तथा एक मात्र तर्क जिसमें यह कहा जा सकता है कि उस भूमि के प्लाट के बाजार मूल्य को इस प्रकार मानना होगा मानो कि वह इस भार या निर्बंधन से अप्रभावित है तथा काल्पनिक विक्रय के आधार पर भूमि के प्लाट के मूल्य में अनोपार्जित वृद्धि के 50 प्रतिशत की उससे कटौती करने पर उसे ऐसें भार या निर्बंधन के मूल्य को दर्शाने वाला मानना होगा। बाजार मूल्य के अवधारण के इस ढंग को पी० एन० सिकंद[1] वाले मामले में इस न्यायालय के विनिश्चय का समर्थन है। इसलिए हमारा यह विचार नहीं है कि निर्धारण प्राधिकारी यह मत अपनाने के लिए सही थे कि चूंकि भूमि के प्लाट का सहकारी आवासन सोसाइटी के सदस्य के सिवाय और सरकार की पूर्व सम्मति के बिना विक्रय, अन्तरण या समनुदेशन नहीं किया जा सकता इसलिए उसका बाजार मूल्य अभिनिश्चित नहीं किया जा सकता और इसीलिए परिसरों का मानक किराया धारा 6 की उपधारा (1) (क) (2) (ख) या (1) (ख) (2) (ख) के अधीन अवधारित नहीं किया जा सकता और इसीलिए उसने केवल धारा 9 की उपधारा (4) के अधीन निर्धारित किया था। प्रथमतः हमारा यह मत है कि परिसरों के निर्माण के प्रारम्भ की तारीख को भूमि के प्लाट का बाजार मूल्य उप-पट्टे में अन्तर्विष्ट अन्तरण के निर्बंधन के होते हुए भी उस सूत्र के आधार पर जो हमने उपदर्शित किया है, अवधारणीय था और भूमि के प्लाट पर निर्मित परिसरों का मानक किराया धारा 6 की उपधारा (1) (क) (2) (ख) या (1) (ख) (2) (ख) के उपबंधों के अधीन अवधारणीय था। दिल्ली नगर निगम का यह तर्क नामंजूर करना होगा कि ऐसे सब मामलों में परिसरों का मानक किराया अवधारित करने के लिए धारा 9 की उपधारा (4) के उपबंध लागू करने पड़ेगें।

17. इस सम्बन्ध में हम गृह राज्यमन्त्री द्वारा 8 अप्रैल, 1981 को लोक सभा में दिए गए एक वक्तव्य का भी उल्लेख करना चाहेंगे। उसमें मंत्री ने कहा था कि—

> "दिल्ली नगर निगम ने सूचित किया है कि उच्चतम न्यायालय के निर्णय के अनुसार, निगम ने अपनी सम्पत्तियों का कर निर्धारण पुनरीक्षित करने के लिए निर्धारितयों द्वारा फाइल किए गए वर्ष 1980-81 के 494 साधारण आक्षेपों पर विचार किया है।

[1] [1978] 2 उम० नि० प० 1219=1977 (2) एस० सी० सी० 798.

किराया नियन्त्रण अधिनियम, 1958 की धारा 6 के अधीन मानक किराए के आधार पर पुर्ननिर्धारण के अनुरोधों पर विचार किया गया और निगम ने उसे स्वीकार्य नहीं पाया क्योंकि निर्धारिती दिल्ली किराया नियंत्रण अधिनियम, 1958 की धारा 6(2) (ख) में यथा-उपबंधित निर्माण की युक्तियुक्त लागत और निर्माण के प्रारम्भ की तारीख को परिसर में समाविष्ट भूमि के बाजार मूल्य की सकल रकम के सम्बन्ध में कोई दस्तावेजी साक्ष्य पेश नहीं कर सके। तदनुसार, कर-निर्धारण दिल्ली किराया नियंत्रण अधिनियम, 1958 की धारा 9 के उपबंधानुसार किए गए। सम्पत्तियों के ब्यौरे परिक्षेत्रवार संलग्न विवरण में दिए गए हैं।"

वस्तुत: बड़ी विचित्र बात है कि निर्धारण प्राधिकारियों ने धारा 6 की उपधारा (1) (क) (2) (ख) या (1) (ख) (2) (ख) में दिए गए सिद्धान्तों के अनुसार अवधारणीय मानक किराए के आधार पर दक्षिण दिल्ली में 494 सम्पत्तियों का रेट-मूल्य निर्धारित करने से केवल इस आधार पर इंकार कर दिया कि निर्धारिण प्राधिकारियों की राय में "निर्धारिती निर्माण की युक्तियुक्त लागत और निर्माण के प्रारम्भ की तारीख को उस परिसर में समाविष्ट भूमि के बाजार मूल्य की सकल रकम के सम्बन्ध में दस्तावेजी साक्ष्य पेश करने में असफल रहे हैं। यदि निर्धारिती परिसर के निर्माण की युक्तियुक्त लागत या परिसर में समाविष्ट भूमि के बाजार मूल्य को सिद्ध करने के लिए दस्तावेजी साक्ष्य पेश नहीं कर सके तो निर्धारण प्राधिकारी धारा 6 की उपधारा (1) (क) (2) (ख) या (1) (ख) (2) (ख) में वर्णित सिद्धांतों का प्रयोग करके इन दो संघटक मदों का अपना प्राक्कलन निकाल सकते थे किन्तु इस आधार पर निर्धारण प्राधिकारी धारा 9 की उपधारा (4) का सहारा लेना न्यायोचित नहीं ठहरा सकते। जहां किसी कारण धारा 6 में वर्णित सिद्धांतों पर किसी परिसर का मानक किराया अवधारित करना संभव नहीं है केवल वहीं मानक किराया धारा 9 की उपधारा (4) के अनुसार नियत किया जा सकता है और मात्र इसलिए कि मकान-मालिक यह दर्शित करने के लिए कोई समाधानप्रद साक्ष्य पेश नहीं करता है कि परिसर के निर्माण की युक्तियुक्त लागत या निर्माण के प्रारम्भ की तारीख को भूमि का बाजार मूल्य कितना था, यह नहीं कहा जा सकता कि धारा 6 की उपधारा (1) (क) (2) (ख) या (1) (ख) (2) (ख) में वर्णित सिद्धांतों पर मानक किराया अवधारित करना संभव नहीं है। उदाहरण के लिए, एक ऐसा मामला लें, जिसमें मकान-मालिक कोई ऐसा साक्ष्य पेश करे जो गलत पाया जाए या समाधानप्रद प्रतीत न हो। क्या ऐसे मामले में निर्धारण प्राधिकारियों को धारा 9 की उपधारा (4) का

सहारा लेकर यह कहना चाहिए कि धारा 6 की उपधारा (1) (क) (2) (ख) या (1) (ख) (2) (ख) में वर्णित सिद्धांतों पर मानक किराया अवधारित करना संभव नहीं है। निर्धारण प्राधिकारियों को प्रकटत: स्वयं अपने द्वारा प्राय: ऐसी सामग्री के आधार पर, निर्माण की युक्तियुक्त लागत और भूमि के बाजार मूल्य पर अपने आप अनुमान लगाना होगा तथा मानक किराया अवधारित करना होगा। यह एक ऐसी क्रिया है जिसे निर्धारण प्राधिकारी अच्छी तरह जानते हैं। यह उनके लिए कोई असामान्य बात या उनकी क्षमता और योग्यता से बाहर की बात नहीं है। उल्लेखनीय है कि धारा 9 की उपधारा (4) के अधीन मानक किराया तय करते समय निर्धारण प्राधिकारियों को ऐसी सामग्री पर निर्भर करना होगा जो उनके पास उपलब्ध हो और प्राक्कलन की प्रक्रिया द्वारा ऐसी सामग्री के आधार पर मानक किराया अवधारित करना होगा।

18. परिसरों का विचारणीय चौथा प्रवर्ग वह प्रवर्ग है, जिसमें परिसर प्रक्रमों में बनाए जाते हैं। इस निर्णय के पूर्वगामी पैरे में किया गया विवेचन इस प्रश्न का उत्तर है कि इस प्रवर्ग के परिसरों का रेट-मूल्य उस समय किस प्रकार अवधारित किया जाएगा जब निर्माण के पहले प्रक्रम पर परिसरों का रेट-मूल्य के लिए आकलन किया जाना है। सबसे पहले निर्धारण प्राधिकारियों को धारा 6 की उपधारा (2) (क) या (2) (ख) या (1) (क) (2) (ख) या (1) (ख) (2) (ख) जो भी लागू हो, के अधीन परिसर का मानक किराया अवधारित करना होगा तथा मानक किराए द्वारा नियत अधिकतम सीमा को मस्तिष्क में रखते हुए और उल्लिखित विभिन्न बातों को ध्यान में रखते हुए निर्धारण प्राधिकारियों को वह किराया अवधारित करना होगा, जिसकी परिसरों का मालिक परिसरों को काल्पनिक किराएदार को किराये पर उठाए जाने पर पाने की युक्तियुक्त रूप से प्रत्याशा कर सकता है और ऐसे किराये से परिसर का रेट-मूल्य दर्शित होगा। जब उसके प्रक्रम में परिसर में कोई अभिवृद्धि की जाए तो तीन विभिन्न स्थितियां उत्पन्न हो सकती हैं। पहली, हो सकता है अभिवृद्धि अधिभोग की सुभिन्न और पृथक् इकाई न हो, किन्तु अपने अधिभोगाधीन वर्तमान परिसर में केवल विस्तार किया गया हो। ऐसी स्थिति में, अतिरिक्त संरचना सहित मूल परिसरों को निर्धारण के प्रयोजन के लिए एक इकाई के रूप में मानना होगा और उसका रेट-मूल्य उस किराए के आधार पर अवधारित करना होगा, जिसकी सम्पूर्ण परिसर किराए पर उठाए जाने पर मकान-मालिक युक्तियुक्त रूप से प्रत्याशा कर सकता है। किन्तु वह धारा 6 की उपधारा (1) (क) (2) (ख) के उपबंधों के अनुसार अवधारणीय मानक किराए की अधिकतम सीमा के अधीन होगा। दूसरी, हो सकता है, अभिवृद्धि से पूर्व वर्तमान परिसर किराए पर उठा दिया गया हो और अभिवृद्धि किराए

पर उठाए गए परिसर में की गई हो जिससे कि अतिरिक्त संरचना भी उसी किराएदारी का भाग बन गई हो। जहां ऐसी स्थिति होती है, वहां मानक किराया धारा 6 के अधीन बढ़ जाएगा और ऐसा बढ़ा हुआ किराया उस सम्पूर्ण परिसर का मानक किराया होगा तथा ऐसे मानक किराए द्वारा नियत अधिकतम सीमा के अन्तर्गत निर्धारण प्राधिकारियों को वह किराया अवधारित करना होगा जिसकी सम्पूर्ण परिसर को एक इकाई के रूप में काल्पनिक किराएदार को किराए पर उठाए जाने पर मकान-मालिक युक्तियुक्त रूप से प्रत्याशा कर सकता है और ऐसी स्थिति में वास्तविक किराया उस किराए का सही माप होगा जिसकी मकान-मालिक ऐसे काल्पनिक किराएदार से युक्तियुक्त रूप से प्रत्याशा कर सकता है जब तक कि वह अतिरिक्त वाणिज्यिक बातों से प्रभावित न हो। अन्त में, हो सकता है वह अभिवृद्धि अधिभोग की सुभिन्न और पृथक् इकाई के रूप में अभिवृद्धि हो और ऐसी स्थिति में परिसर का मानक किराया रेट-मूल्य निर्धारित करने के लिए हमारे द्वारा अधिकथित सूत्र के आधार पर अवधारित किया जाएगा जबकि वे परिसर भागतः अपने अधिभोग में हैं और भागतः किराए पर उठाए गए हैं। वर्तमान परिसरों में बाद में की गई अभिवृद्धि की दशा में प्रकटतः रेट-मूल्य अवधारित करने का यही सिद्धान्त लागू होगा। इन सभी स्थितियों में यह मूलभूत बात दृष्टव्य है और यह वही है, जिस पर हम पहले ही जोर दे चुके हैं कि धारा 6 की उपधारा (1) (क) (2) (ख) और (i) (ख) (2) (ख) में वर्णित सूत्र अभिवृद्धि का मानक किराया अवधारित करने के लिए इस रूप में लागू नहीं किया जा सकता, मानो वह अभिवृद्धि उस भूमि पर खड़ी एकमात्र संरचना हो। निर्धारण प्राधिकारी अतिरिक्त संरचना के निर्माण की युक्तियुक्त लागत लेकर और बाद में भूमि का बाजार मूल्य जोड़कर तथा सकल रकम का कानूनी साढ़े सात प्रतिशत लागू करके अतिरिक्त संरचना का मानक किराया अवधारित नहीं कर सकते। भूमि का बाजार मूल्य दो बार नहीं जोड़ा जा सकता, एक बार उस समय मूल्य संरचना का मानक किराया अवधारित करते समय और दो बार अतिरिक्त संरचना का मानक किराया अवधारित करते समय। जब एक बार अभिवृद्धि कर दी जाए तो धारा 6 की उपधारा (1) (क) (2) (ख) और (1) (ख) (2) (ख) में वर्णित सूत्र सम्पूर्ण परिसर के सम्बन्ध में ही लागू किया जा सकता है और जहां अतिरिक्त संरचना अधिभोग की सुभिन्न और पृथक् इकाई के रूप में है, वहां मानक किराया उस रीति से प्रभाजित किया जाएगा जिसका हमने इस निर्णय के पूर्ववर्ती भाग में संकेत किया है।

19. दिल्ली नगर निगम अधिनियम, 1957 के अधीन सम्पत्तियों के विभिन्न प्रवर्गों का रेट-मूल्य इन्हीं सिद्धान्तों पर निर्धारित किया जाना चाहिए।

यही सिद्धान्त, सुतराम, पंजाब म्युनिसिपल ऐक्ट, 1911 के अधीन रेट-मूल्य निर्धारित करने के सम्बन्ध में भी प्रयुक्त होंगे। चूंकि हमारे समक्ष अनेक रिट पिटीशन और अपीलें हैं और उनमें भिन्न-भिन्न तथ्य और स्थितियां हैं, इसलिए हम नहीं समझते कि एक निर्णय द्वारा उनका अन्तिम रूप से निपटार करना सुविधाजनक होगा। अतः हम यह निदेश देते हैं कि ये रिट पिटीशना और अपीलें किसी सुविधाजनक तारीख को बोर्ड पर रखी जाएं जिससे कि उनका निपटारा इस निर्णय में अधिकथित सिद्धान्तों के प्रकाश में किया जा सके।

रिट पिटीशनों का निपटारा
तदनुसार किया गया।

जैन/क्रु०

एस०.एम० महेन्द्रू एण्ड कंपनी, (मैसर्स) और अन्य

बनाम

तमिलनाडु राज्य और अन्य

(12 दिसम्बर, 1984)

(न्यायाधिपति वी० डी० तुलजापुरकर, आर० एस० पाठक और सब्यसाची मुखर्जी)

तमिलनाडु बिल्डिंग्स (लीज एण्ड रेण्ट कंट्रोल) ऐक्ट, 1960 (1960 का 18)—धारा 29—[सपठित उसके अधीन निकाली गई अधिसूचना सं० 11 (2) एच० ओ० 6060/76 और संविधान का अनुच्छेद 14]—विधिमान्यता—राज्य द्वारा अधिसूचना निकाल कर सहकारी सोसाइटियों के सभी भवनों को अधिनियम के सभी उपबंधों के प्रवर्तन से छूट दी जानी—किराएदारों द्वारा प्रश्नगत अधिसूचना को विभेदकारी होने के आधार पर चुनौती दी जानी—उक्त अधिसूचना द्वारा सभी सहकारी सोसाइटियों को अधिनियम के उपबंधों के लागू होने से दी गई छूट उसकी उद्देशिका और उसके उपबंधों द्वारा किए गए मार्गदर्शन के अनुरूप है—अतः राज्य द्वारा ऐसी छूट का दिया जाना उक्त धारा के अधीन उसको प्रदत्त शक्ति का विधिसम्मत प्रयोग है ।

संविधान, 1950—अनुच्छेद 14—[सपठित तमिलनाड बिल्डिंग्स (लीज एण्ड रेंट कन्ट्रोल) ऐक्ट, 1960 की धारा 29 और उसके अधीन निकाली गई अधिसूचना]—युक्तियुक्त वर्गीकरण—राज्य द्वारा धारा 29 के अधीन अधिसूचना निकाल कर सहकारी सोसाइटियों के सभी भवनों को अधिनियम के सभी उपबंधों के प्रवर्तन से छूट दी जानी—किराएदारों द्वारा यह आक्षेप किया जाना कि राज्य के अन्य मकानमालिकों को अधिनियम के उपबंधों का लागू किया जाना और सहकारी सोसाइटियों को उनके प्रवर्तन से छूट दी जानी विभेदकारी है और उससे संविधान के अनुच्छेद 14 का अतिक्रमण होता है—वस्तुतः जिस अंतर के आधार पर राज्य सरकार द्वारा वर्गीकरण किया गया है, उसका उस उद्देश्य से युक्तियुक्त

संबंध है, जिससे सहकारी सोसाइटियों को अधिनियम के उपबंधों के प्रवर्त्तन से छूट दी गई है—अतः अधिसूचना विभेदकारी नहीं है और उससे अनुच्छेद 14 का अतिक्रमण नहीं होता ।

पिटीशनर (किराएदार), द्वितीय प्रत्यर्थी के जो तमिलनाडु कोआपरेटिव सोसाइटी ऐक्ट, 1961 के अधीन रजिस्ट्रीकृत ऐपेक्स सोसाइटी है, भवन की भू-तल मंजिल के विभिन्न भागों में किराएदार हैं। यह सम्पत्ति द्वितीय प्रत्यर्थी ने इसके पूर्व स्वामी से क्रय की थी और इसके तुरन्त पश्चात् अधिनियम की धारा 29 के अधीन द्वितीय प्रत्यर्थी ने राज्य सरकार को आवेदन किया और अधिनियम के उपबंधों से छूट की ईप्सा की। किन्तु पिटीशनर द्वारा तथा अन्य किराएदारों द्वारा उठाए गए आक्षेपों की सुनवाई किए जाने के पश्चात् वह आवेदन अस्वीकार कर दिया गया। इसके पश्चात् प्रत्यर्थी सं० 2 ने पिटीशनरों को बेदखल करने का प्रयत्न किया किन्तु प्रत्यर्थी सं० 2 कब्जा प्राप्त करने में असफल रहा। इस मुकदमे के लम्बित रहते हुए राज्य सरकार द्वारा अधिनियम की धारा 29 के अधीन एक अधिसूचना जारी की गई जिसके द्वारा तमिलनाडु राज्य की सभी सहकारी सोसाइटियों के भवनों को अधिनियम के सभी उपबंधों से छूट प्रदान की गई। इस अधिसूचना के जारी किए जाने पर प्रत्यर्थी सं० 2 द्वारा बेदखली सम्बन्धी पिटीशन वापस ले लिया गया जो गिरा देने और नया निर्माण करने के लिए फाइल किए गए थे और संपत्ति अंतरण अधिनियम की धारा 106 के अधीन उनकी किराएदारी समाप्त करते हुए पिटीशनरों पर नोटिस की तामील की गई और परिसर का रिक्त कब्जा दिलाने के लिए मद्रास के नगर सिविल न्यायालय में उनके विरुद्ध वाद फाइल किया गया। पिटीशनरों ने लिखित कथन फाइल किए। उसी वाद का विचारण किया जाना है। चूंकि पिटीशनर को उपलब्ध संरक्षण वापस ले लिया गया, इसलिए पिटीशनरों को बेदखली की डिक्री किए जाने की आसन्न संभावना है। पिटीशनरों ने प्रश्नगत अधिसूचना की सांविधानिक विधिमान्यता को इस आधार पर चुनौती देते हुए कि इससे संविधान के अनुच्छेद 14 का अतिक्रमण होता है, उच्चतम न्यायालय में रिट पिटीशन फाइल किए। रिट पिटीशन खारिज करते हुए,

अभिनिर्धारित—तमिलनाडु कोआपरेटिव सोसाइटीज ऐक्ट की धारा 4 के अधीन, इसके अधीन रजिस्ट्रीकृत सभी सहकारी सोसाइटियों का उद्देश्य इसके सदस्यों के आर्थिक हितों में अभिवृद्धि करना है और अधिनियम की धारा 62 में उसके सदस्यों के "अंशों पर लाभांश के संदाय के लिए और उसके सदस्यों को तथा वेतनभोगी कर्मचारियों को बोनस के

संदाय के लिए भी उपबंध किया गया है। किन्तु सहकारी सोसाइटी के उन पहलुओं का अर्थ यह नहीं है कि इसकी तुलना ऐसे किसी अन्य निकाय से की जा सकती है जो वाणिज्यिक आधार पर वैसा ही कार्यकलाप कर रहा है और ऐसा करना उस आधार को ही खो देने के समान होगा जिस पर सहकारी आन्दोलन चलाया गया था और उसका प्रचार किया गया था और पिछली कई दशाब्दियों से देश में प्रगति कर रहा है। यह निर्विवाद है कि ऐसी सहकारी सोसाइटियां जो अनेक क्षेत्रों में अपने कार्यकलाप करती हैं, मध्यम वर्ग और ग्रामीण वर्ग के लोगों के बहुत बड़े भाग का सामाजिक और आर्थिक कल्याण करने के प्रयोजन के लिए मितव्ययिता, स्वावलम्बन, उनके बीच पारस्परिक सहायता को प्रोत्साहित करके, विशेष रूप से बिचौलियों को समाप्त करके, कर रही हैं। किन्तु सदस्यों के आर्थिक हितों में अभिवृद्धि करने का उद्देश्य सहकारिता के सिद्धांतों का अनुसरण करके ही प्राप्त किया जा सकता है, जहां लाभ का हेतु युक्तियुक्त स्तर तक निर्बन्धित किया जाएगा और जो ऐसे अन्य वाणिज्यिक निकायों से भिन्न होगा जिनकी, जहां तक लाभ अर्जित करने की उनकी इच्छा का सम्बन्ध है, सीमा अनन्त है। तमिलनाडु कोआपरेटिव सोसाइटीज ऐक्ट की धारा 4 और 62 और उस अधिनियम के अधीन बनाए गए नियमों के नियम 46 में विषय के उस पहलू की बाबत प्रभावपूर्ण रीति से प्रस्तुत किया गया है। स्वतः धारा 4 में यह उल्लेख किया गया है कि सोसाइटी जिसका उद्देश्य सहकारिता के सिद्धांतों के अनुसार अपने सदस्यों के आर्थिक हितों में अभिवृद्धि करना है, अधिनियम के उपबंधों के अधीन रहते हुए उसके अधीन रजिस्ट्रीकृत की जा सकती है। अन्य शब्दों में, सदस्यों के आर्थिक हितों में अभिवृद्धि सहकारिता के सिद्धांतों के अनुसार ही करना होगा और इसकी प्राप्ति अधिनियम के उपबंधों के अधीन बनाई गई है। यह स्पष्ट है कि सदस्यों को लाभांश के संदाय और सदस्यों तथा वेतनभोगी कर्मचारियों को बोनस के संदाय के रूप में लाभांश के वितरण के विषय में विधि द्वारा निर्बन्धन अधिरोपित किए गए है और उसे युक्तियुक्त स्तर तक बनाए रखा गया है तथा शुद्ध लाभों का पर्याप्त प्रभाग प्रभाजित किया गया है तथा सहकारी विकास निधि, सहकारी शिक्षा निधि, आरक्षिति निधि आदि जैसे विभिन्न प्रकार की निधियों में जमा किया जाना अपेक्षित है। वस्तुतः यह लाभांशों और बोनस का ऐसा कानूनी विनियोजन है और उनके संदाय पर ऐसा कानूनी निर्बन्धन है जो सहकारी सोसाइटियों का ऐसे अन्य निकायों से प्रभेद करता है जो वाणिज्यिक आधारों पर ऐसे ही क्रिया-

कलाप कर रहे हैं और इसलिए ऐसी सहकारी सोसाइटियों के भवन प्राइवेट मकानमालिकों के स्वामित्वाधीन भवनों से सारतः भिन्न हैं। इसके अतिरिक्त इस बात को समझना पड़ेगा कि ये कानूनी उपबंध नियम 11 में विनिर्दिष्ट सभी प्रकार की सहकारी सोसाइटियों को लागू होते हैं, चाहे उनकी प्रकृति और कृत्य कुछ भी हों। चूंकि लाभ का तत्व सब प्रकार की सहकारी सोसाइटियों में विधि के उपबंधों द्वारा युक्तियुक्त स्तर पर बनाए रखा गया है, इसलिए इस धारण के लिए पर्याप्त औचित्य है कि कोई भी सहकारी सोसाइटी अत्यधिक किराए पर उठाने या अयुक्तियुक्त बेदखली करने में लिप्त नहीं होगी। इस बात को इस प्रकार देखते हुए, यदि राज्य सरकार इस निष्कर्ष पर पहुंची कि सहकारी सोसाइटियों की दशा में चूंकि इस बात की कोई आशंका नहीं है कि वे इन दो बुराइयों में से किसी में लिप्त होंगी, इसलिए तमिलनाडु बिल्डिंग्स (लीज एण्ड रेंट कंट्रोल) ऐक्ट, 1960 के उपबंधों (के प्रवर्तन) से ऐसी सहकारी सोसाइटियों के भवनों के पक्ष में छूट दी जानी चाहिए, तो इसे अधिनियम की धारा 29 के अधीन उसे प्रदत्त शक्ति का विधिसम्मत प्रयोग समझना होगा, क्योंकि वह उस निमित्त अधिनियम की उद्देशिका और उसके उपबंधों में बताए गए मार्गदर्शन के अनुरूप है। (पैरा 7)

वस्तुतः सहकारिता के वे सिद्धांत जो इन सहकारी सोसाइटियों के कार्यकरण की बाबत लागू होते हैं, उनके लाभ अर्जित करने के हेतु पर रोक लगाते हैं और जैसा कि बताया गया हैं, ऐसे कानूनी उपबंध हैं जो उनके लाभ के तत्व को युक्तियुक्त स्तर पर बनाये रखते हैं, जो इस उपधारणा को न्यायोचित ठहराते हैं कि सहकारी सोसाइटियां अत्यधिक किराए पर उठाने या अयुक्तियुक्त बेदखली करने में लिप्त नहीं होंगी और इस स्थिति को देखते हुए तथा उनके मामले में विद्यमान सभी सुसंगत तथ्यों का सावधानी के साथ अध्ययन कर लेने के पश्चात्, राज्य सरकार का यह समाधान हो गया था कि संपूर्ण राज्य में कार्य करने वाली सभी सहकारी सोसाइटियों के भवनों के पक्ष में पूर्ण छूट प्रदान करना आवश्यक था। (पैरा 10)

राज्य सरकार ने इस तथ्य की ओर सम्यक् रूप से ध्यान दिया है कि मद्रास नगर में तथा राज्य-भर में अनेक केन्द्रों में एक वर्ग के रूप में कार्य करने वाली सब प्रकार की सहकारी सोसाइटियां लाखों लोगों को रोजगार देकर सामाजिक कल्याण, ग्रामीण विकास और आर्थिक कल्याण में अभिवृद्धि करते हुए विभिन्न प्रकार के क्रियाकलापों में लगी हुई थीं और संविधान के अनुच्छेद 43 में समाविष्ट राज्य की नीति के निदेशक तत्वों में से एक को लागू करते हुए उनमें कार्य कर रही थीं; यह कि इन सहकारी सोसाइटियों से अनेक

शिकायतें मिली थीं, यह कि वे 1960 के तमिलनाडु अधिनियम 18 के शाब्दिक रूप से लागू किए जाने के परिणामस्वरूप उद्भूत होने वाली समस्याओं का, विशेष रूप से अपने क्रियाकलाप करने के लिए स्वयं अपने भवनों में आवास-सुविधा प्राप्त करने के विषय में, सामना कर रही हैं और यह कि ये सोसाइटियां इस निमित्त लम्बे अर्से से चली आ रही मुकदमेबाजी में अन्तर्ग्रस्त हो गईं और वे अधिनियम के उपबंधों से छूट प्राप्त करने के लिए निवेदन कर रही है जिससे कि वे उन कष्टों से छुटकारा पा सकें जिनसे वे परेशान हैं, सरकार ने इस बात की ओर भी ध्यान दिया है कि यह उन भवनों को किराए पर उठाने के और उनसे आय अर्जित करने के प्रयोजन के लिए उनका क्रय करना, किसी सहकारी आवास सोसाइटी सहित, किसी भी सहकारी सोसाइटी का कारबार संबंधी क्रियाकलाप नहीं था और इस प्रकार उनकी ओर से अत्यधिक किराए पर उठाने में लिप्त होने की कोई आशंका नहीं थी और यह कि सभी सुसंगत बातों पर विचार करने पर सरकार का यह समाधान हो गया था कि यदि ऐसे भवनों के किराएदारों को दिया गया संरक्षण वापस ले लिया जाता है, तो उसका परिणाम अत्यधिक किराए पर उठाना या अयुक्तियुक्त वेदखली करना नहीं होगा और यह कि उन्हें छूट प्रदान करना, उन्हें उनके बहुत बड़े कष्ट से छुटकारा दिलाने के लिए आवश्यक था। राज्य सरकार द्वारा प्रस्तुत किए गए तथ्यों और परिस्थितियों से स्पष्टतः यह दर्शित होता है कि इस अन्तर का जिसके आधार पर वर्गीकरण किया गया था, इस उद्देश्य से स्पष्ट संबंध है जिससे छूट प्रदान करने की शक्ति राज्य सरकार को प्रदत्त की गई है और इसलिए आक्षेपित अधिसूचना को विधिमान्य मानना होगा। (पैरा 8)

प्रभेदित निर्णय

	पैरा
[1954] [1954] एस० सी० आर० 572: बाबू राव शांता राम मोरे बनाम बाम्बे हाउसिंग बोर्ड और एक अन्य	6

आरम्भिक अधिकारिता : 1979 का रिट पिटीशन सं० 893 और 967 तथा 1980 का रिट पिटीशन सं० 295

(संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन रिट पिटीशन)

पिटीशनरों की ओर से (1979 की रिट पिटीशन सं० 893 और 967 में)	डा० वाई० एस० चित्तले और श्री विनीत कुमार
पिटीशनर की ओर से (1980 की रिट पिटीशन सं० 295 में)	सर्वश्री ए० टी० एम० सम्पत और पी० एन० रामलिंगम
प्रत्यर्थियों की ओर से (1979 की रिट पिटीशन सं० 893 और 967 तथा 1980 के रिट पिटीशन सं० 295 में)	सर्वश्री अनिल दीवान, के० एस० राममूर्ति, वी० एम० तारकुन्डे, एम० के० डी० नम्बूदरी और एस० बालकृष्ण

न्यायालय का निर्णय न्यायाधिपति वी० डी० तुलजापुरकर ने दिया।

न्यायाधिपति तुलजापुरकर—

संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन फाइल किये गये इन तीनों रिट पिटीशनों द्वारा, पिटीशनरों ने, जो प्रत्यर्थी सं० 2 सोसायटी के भवन में किरायेदार हैं, तमिलनाडु राज्य में सभी सहकारी सोसाइटियों के स्वामित्वाधीन सभी भवनों को तमिलनाडु अधिनियम (1960 का 18) के सभी उपबंधों से उसकी धारा 29 के अधीन अनुदत्त छूट की विधिमान्यता को चुनौती दी है।

2. पूर्वोक्त चुनौती से उद्‌भूत होने वाले तथ्य संक्षेप में इस प्रकार हैं। पिटीशनर, द्वितीय प्रत्यर्थी के जो तमिलनाडु कोआपरेटिव सोसाइटीज ऐक्ट, 1961 के अधीन रजिस्ट्रीकृत ऐपेक्स सोसाइटीज है, भवन (दरवाजा सं० 188 माउन्ट रोड, मद्रास) की भू-तल मंजिल पर के विभिन्न प्रभागों में किरायेदार हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि द्वितीय प्रत्यर्थी ने वह संपत्ति 1961 में इसके पूर्ववर्ती स्वामी मैं० मोहम्मद इब्राहिम एण्ड कं० से क्रय की थी और इसके तुरन्त पश्चात् द्वितीय प्रत्यर्थी ने अधिनियम की धारा 29 के अधीन राज्य सरकार को आवेदन किया और उसके लिए अधिनियम के सभी उपबंधों से छूट प्राप्त करने की ईप्सा की। किंतु पिटीशनरों द्वारा तथा अन्य किरायेदारों द्वारा किये गये आक्षेपों की सुनवाई किए जाने के पश्चात्, वह आवेदन अस्वीकार कर दिया गया। इसके उपरांत, प्रत्यर्थी सं० 2 ने पिटीशनरों को उनके परिसर से बेदखल करने का प्रयत्न किया। प्रथम प्रयत्न इस आधार पर किया गया

था कि परिसर उसके अपने ही अधिभोग के लिए अपेक्षित है, किंतु अत्यधिक लम्बी मुकदमेबाजी के अंत में प्रत्यर्थी सं० 2 कब्जा अभिप्राप्त करने में असफल रहा; द्वितीय प्रयत्न कि परिसर ढा देने और नया निर्माण करने की उसकी अपेक्षा के आधार पर किया गया था तथा इस मुकदमें के लम्बित रहने के दौरान राज्य सरकार ने अधिनियम की धारा 29 के अधीन तारीख 21 नवम्बर, 1976 वाली अपनी अधिसूचना सं० II (2) एच० सी० 6060/76 जारी की जिसके द्वारा राज्य सरकार ने तमिलनाडु राज्य में की सभी सहकारी सोसाइटियों के भवनों को अधिनियम के सभी उपबंधों से छूट दे दी। इस अधिसूचना के जारी किये जाने पर, प्रत्यर्थी सं० 2 ने ढा देने और नया निर्माण करने के आधार फाइल किये गये बेदखली सम्बन्धी अपने पिटीशनरों को वापस ले लिया और सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम की धारा 106 के अधीन उनकी किरायेदारी समाप्त करते हुए पिटीशनरों पर नोटिस तामील की और उनके अधिभोगाधीन परिसर का रिक्ति कब्जा दिलावाने के लिए मद्रास के नगर सिविल न्यायालय में उनके विरुद्ध सिविल वाद फाइल किये। पिटीशनरों ने अपने लिखित कथन फाइल किए और उन वादों का विचारण किया जाना है। किन्तु चूंकि उनको उपलब्ध संरक्षण वापस ले लिया गया है, इसलिए पिटीशनर अपने विरुद्ध बेदखली की डिक्री किए जाने की आसन्न संभावना का सामना कर रहे हैं और इसलिए वे प्रश्नगत अधिसूचना की सांविधानिक विधिमान्यता को इस आधार पर चुनौती देते हुए इन रिट पिटीशनों के माध्यम से इस न्यायालय में पहुंचे हैं कि इससे संविधान के अनुच्छेद 14 का अतिक्रमण होता है और इन वादों में और आगे कार्यवाही किए जाने की बाबत रोक (आदेश) प्राप्त कर लिया है।

3. तारीख 21 नवम्बर, 1976 वाली आक्षेपित अधिसूचना इस प्रकार है—

*"सं० II (2) एच० ओ० 6060/76—तमिलनाडु बिल्डिंग्स (लीज एण्ड रैंट कंट्रोल) ऐक्ट, 1960 (1960 का तमिलनाडु अधिनियम 18) की धारा 29 द्वारा प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग करते हुए, तमिलनाडु सरकार (भारतीय) कम्पनी अधिनियम, 1956

---

*अंग्रेजी में यह इस प्रकार है—

"No. II (2) H. O. 6060/76—In exercise of the powers conferred by Sec. 19 of the Tamil Nadu Buildings (Lease and Rent Contral Act, 1960 (Tamil Nadu Act 18 of 1960), the Government of Tamil Nadu hereby exempts

(1956 का केन्द्रीय अधिनियम, 1) के अधीन रजिस्ट्रीकृत सरकारी कम्पनियों सहित, सभी सरकारी उपक्रमों के और सभी सहकारी सोसाइटियों के स्वामित्वाधीन भवनों को इसके द्वारा उक्त अधिनियम के सभी उपबंधों से छूट प्रदान करती है ।"

4. जैसा कि लोक धार्मिक न्यासों और लोक पूर्त (पब्लिक रिलीजस ट्रस्ट्स एण्ड पब्लिक चैरीटीज) के सभी भवनों के पक्ष में अनुदत्त कुल छूट पर विचार करते हुए पूर्ववर्ती मामले में किया गया था, यहां भी पिटीशनरों के विद्वान काउन्सेल ने उचित रूप से ही यह कथन किया कि अधिनियम की धारा 29 के अधीन शक्तियों का प्रयोग करते हुए, तमिलनाडु राज्य में की सभी सहकारी सोसाइटियों के स्वामित्वाधीन भवनों को, एक ही समूह में आने वाले भवनों के रूप में, मानने की बाबत बोधगम्य अंतर पर आधारित युक्तिसंगत वर्गीकरण के रूप में समझी जाएगी, क्योंकि सरकारी सोसाइटियां मितव्ययिता (थ्रिफ्ट), स्वावलंबन तथा लोगों के बीच परस्पर सहायता को प्रोत्साहित करके तथा बिचौलियों को समाप्त करके विभिन्न क्षेत्रों में अपने क्रियाकलाप करते हुए मध्यम और ग्रामीण वर्ग के बहुत से लोगों का सामाजिक और आर्थिक कल्याण करने का बड़ा लोक प्रयोजन पूरा करती हैं और इस प्रकार एक ऐसा भिन्न समूह विरचित करती हैं जो उन अन्य निकायों से भिन्न होता है जो वाणिज्यिक आधारों पर वैसे ही क्रिया-कलाप करते हैं और इस प्रकार सहकारी सोसाइटियों के स्वामित्वाधीन ऐसे भवनों के सम्बन्ध में दस्तावेजों के रजिस्ट्रीकरण, स्टाम्प शुल्क के संदाय, उनके द्वारा देय रकमों इत्यादि की वसूली जो कि सरकार द्वारा की जाती है, जैसे कतिपय विषयों में विशेष या अधिमानी व्यवहार करने की आवश्यकता हो सकती है, किन्तु विद्वान् काउन्सेल के अनुसार उस अंतर का जिस पर यह वर्गीकरण आधारित है, उस उद्देश्य से कोई भी संबंध नहीं है जिससे अधिनियम की धारा 29 के अधीन छूट प्रदान करने की शक्ति राज्य सरकार को प्रदत्त की गई है और चूंकि आक्षेपित अधिसूचना संबंध की कसौटी पर खरी नहीं उतरती, इसलिए ऐसे सभी भवनों को प्रदान की गई छूट कायम नहीं रखी जा सकती और उसकी बाबत यह मानना होगा कि विभेदकारी है और उससे अनुच्छेद 14 का अतिक्रमण होता है ।

---

the buildings owned by all Government Undertakings including Government Companies registered under the IndianCompanies Act, 1956 (Central Act I of 1956) and by all the Co-operative Societies from all the provisions of the said Act."

5. उपर्युक्त दलील को सविस्तार प्रतिपादित करते हुए पिटीशनर के विद्वान् काउन्सेल ने इस बात का जोरदार समर्थन किया कि इस अधिनियम को अत्यधिक किराए पर उठाने और अयुक्तयुक्ति वेदखली करने की दोनों बुराइयों को नियंत्रित करने के प्रयोजन के लिए अधिनियमित किया गया था और यह कि राज्य सरकार छूट प्रदान करने की शक्ति का प्रयोग अधिनियम की स्कीम और उसके उपबंधों द्वारा किए गए मार्गदर्शन के अनुसार उन मामलों में, जिनमें अधिनियम द्वारा दूर करने के लिए ईप्सित रिष्टि न तो प्रचलित है, न ही आशंकित है, या उन मामलों में जिनमें विधि को दृढ़ता से लागू किए जाने के परिणामस्वरूप अनुचित कठिनाई होने की संभाव्यता है या उन मामलों में जिनमें अधिनियम के फायदाप्रद उपबंध का उन व्यक्तियों द्वारा दुरुपयोग किए जाने की संभावना है या दुरुपयोग किया जा रहा है, जिनके लिए वह आशयित है, कर सकती है और विद्वान् काउन्सेल के अनुसार तमिलनाडु राज्य में की सभी सहकारी सोसाइटियों के भवनों के पक्ष में दी गई छूट ऐसे मार्गदर्शन के अनुरूप नहीं है। विद्वान् काउन्सेल ने यह बताया है कि तमिलनाडु कोआपरेटिव सोसाइटीज ऐक्ट, 1961 के अधीन बनाये गये नियमों के 11 में सहकारी सोसाइटियों के ऐसे लगभग 13 विभिन्न वर्ग विनिर्दिष्ट किए गए हैं, जैसे कि कृषिकर्म सोसाइटी, उधार सोसाइटी, आवासन सोसाइटी, विपणन सोसाइटी इत्यादि और आक्षेपित अधिसूचना द्वारा अविवेकपूर्ण रूप से और किसी शर्त के बिना सभी प्रकार की सहकारी सोसाइटियों के सभी भवनों को, उनकी प्रकृति या कृत्यों को ध्यान में लाए बिना छूट प्रदान की गई है। इसके अतिरिक्त तमिलनाडु कोआपरेटिव सोसाइटीज ऐक्ट की धारा 4 के अनुसार, प्रत्येक सहकारी सोसाइटी का उद्देश्य अपने सदस्यों के हितों में अभिवृद्धि करना है और उसकी धारा 62 में सदस्यों को न केवल अंशों पर लाभांश के संदाय के लिए ही उपबंध किया गया है, बल्कि सोसाइटी के सदस्यों तथा कर्मचारियों के लिए बोनस के संदाय के लिए भी उपबंध किया गया है। इसलिए यह उपधारणा करना अवास्तविक है कि सहकारी सोसाइटियां अत्यधिक किराए पर उठाने या अयुक्तियुक्त बेदखली करने में लिप्त नहीं हैं या न होंगी या ऐसी आदर्श मकान-मालिक होंगी जिनके किराएदारों को किसी कानूनी संरक्षण की आवश्यकता नहीं होगी। अन्य शब्दों में, काउन्सेल ने इस बात पर जोर दिया कि ऐसी उपधारणा के लिए कोई औचित्य नहीं था और न ही है कि मकान-मालिकों के रूप में सहकारी सोसाइटियां अत्यधिक किराए पर उठाने में लिप्त नहीं होंगी या किराएदारों को अयुक्तियुक्त रूप से बेदखल नहीं करेंगी; वस्तुतः ये सोसाइटियां अन्य प्राइवेट मकान-मालिकों से वहां तक भिन्न नहीं होंगी जहां तक उन दो बुराइयों का संबंध है, जिन्हें अधिनियम द्वारा दूर करना ईप्सित है

और इसलिए विद्वान् काउन्सेल ने इस बात पर जोर दिया कि दी गई छूट की बाबत यह नहीं कहा जा सकता कि वह स्कीम द्वारा और अधिनियम के उपबन्धों द्वारा किए गए मार्गदर्शन के अनुरूप है।

6. उपर्युक्त दलील के समर्थन में विद्वान् काउन्सेल ने **बाबू राव शांता राम मोरे** बनाम **बाम्बे हाउसिंग बोर्ड और एक अन्य**[1] वाले मामले में इस न्यायालय के विनिश्चय का अवलम्ब लिया, जिसमें बाम्बे हाउसिंग बोर्ड ऐक्ट, 1951 की धारा 3-क की विधिमान्यता को इस आधार पर चुनौती दी गई थी कि उससे अनुच्छेद 14 का अतिलंघन होता है। उस मामले में इस बात पर जोर दिया गया कि धारा 3-क ने बाम्बे हाउसिंग बोर्ड की भूमियों और भवनों को बाम्बे रेंट ऐक्ट, 1947 के प्रवर्तन से छूट दी है, जबकि ऐसी अनेक सहकारी आवासन सोसाइटियों की भूमियों और भवनों को जो समान रूप से स्थित थीं और जिनका उद्देश्य भी आवास संबंधी समस्याओं का समाधान करना था, रेंट ऐक्ट के प्रवर्तन से कोई छूट नहीं दी गई थी और इसका परिणाम यह हुआ कि जब कि सरकारी आवासन सोसाइटियों के किरायेदारों को अयुक्तियुक्त बेदखली और किराए में वृद्धि के विरुद्ध पूर्णतः संरक्षण प्राप्त था, आवासन बोर्ड के किराएदारों को ऐसे संरक्षण से वंचित रखा गया था और इसलिए धारा 3-क अनुच्छेद 14 का अतिक्रमण होता था। यह दलील इस आधार पर अस्वीकार कर दी गई कि कोआपरेटिव सोसाइटी ऐक्ट के अधीन निगमित आवासन बोर्ड और सरकारी आवासन सोसाइटियां समान रूप से स्थित नहीं थीं और इस निमित्त न्यायालय ने निम्नलिखित मत व्यक्त किया—

> "इसके अतिरिक्त, यद्यपि ये सरकारी सोसाइटियां, निस्संदेह निगमित निकाय हैं, तथापि वे ऐसे लाभ अर्जित कर सकती हैं जो उनके सदस्यों के बीच वितरित किए जा सकते हैं। दूसरी ओर बोर्ड ऐसा निगमित निकाय है जो मुम्बई में आवास की अत्यधिक कमी की समस्या हल करने के लिए आवासन स्कीम विरचित करने के प्रयोजन के लिए अस्तित्व में लाया गया था। ऐसे कोई अंशधारी नहीं हैं जो किन्हीं लाभों के वितरित करने में हितबद्ध हों। यह सरकार के नियंत्रणाधीन होता है तथा सरकार के आदेशों के अधीन कार्य करता है। वस्तुतः यह सरकार द्वारा ऐसा प्रायोजित निकाय है जिसका हेतु लाभ प्राप्त करना नहीं है। हमारे समक्ष ऐसी कोई सामग्री प्रस्तुत नहीं की गई है जिसकी बाबत यह माना जा सके कि उससे दूर का

---

1. [1954] एस. सी. आर. 572.

भी यह सुझाव प्राप्त होता है, उससे यह साबित होने का तो प्रश्न ही नहीं है, कि सरकारी आवासन सोसाइटियां या उनके सदस्य, बोर्ड और उसके किराएदारों की तुलना में समान रूप से स्थित हैं।"

उपर्युक्त मत का अवलंब लेते हुए पिटीशनर की ओर से विद्वान् काउन्सेल ने यह निवेदन किया कि इस न्यायालय ने इस स्थिति को मान्यता दी थी कि सहकारी सोसाइटियां अनेक क्रियाकलाप करते हैं जिनका हेतु लाभ अर्जित करना होता है और इस प्रकार उन दो बुराइयों के संदर्भ में जिन्हें अधिनियम द्वारा दूर करने की ईप्सा की गई है, उन्हें अन्य प्राइवेट मकान-मालिकों से भिन्न रूप में मानने का कोई औचित्य नहीं था या और नहीं है और इस अर्थ में दी गई छूट संबंध की कसौटी पर खरी नहीं उतरती और इसलिए उससे अनुच्छेद 14 का अतिलंघन होता है।

7. यद्यपि इस प्रकार दी गई उपर्युक्त दलील ऊपर से तर्कसंगत प्रतीत होती है, तथापि गहराई से इसकी संवीक्षा करने पर वह सारहीन प्रतीत होती है और हम अभी-अभी ऐसा कहने के अपने कारण बताएंगे। यह सही है कि तमिलनाडु कोआपरेटिव सोसाइटीज ऐक्ट की धारा 4 के अधीन, इसके अधीन रजिस्ट्रीकृत सभी सहकारी सोसाइटियों का उद्देश्य इसके सदस्यों के आर्थिक हितों में अभिवृद्धि करना है और अधिनियम की धारा 62 में उसके सदस्यों के अंशों पर लाभांश के संदाय के लिए और उसके सदस्यों को तथा वेतन-भोगी कर्मचारियों को बोनस के संदाय के लिए भी उपबंध किया गया है। किन्तु सहकारी सोसाइटी के उन पहलुओं का अर्थ यह नहीं है कि इसकी तुलना ऐसे किसी अन्य निकाय से की जा सकती है जो वाणिज्यक आधार पर वैसा ही कार्यकलाप कर रहा है और ऐसा करना उस आधार को ही खो देने के समान होगा जिस पर सहकारी आन्दोलन चलाया गया था और उसका प्रचार किया गया था और पिछली कई दशाब्दियों से देश में प्रगति कर रहा है। यह निर्विवाद है, कि ऐसी सहकारी सोसाइटियां जो अनेक क्षेत्रों में अपने कार्यकलाप करती हैं, मध्यम वर्ग और ग्रामीण वर्ग के लोगों के बहुत बड़े भाग का सामाजिक और आर्थिक कल्याण करने के प्रयोजन के लिए मितव्ययिता, स्वावलम्बन, उनके बीच पारस्परिक सहायता को प्रोत्साहित करके, विशेष रूप से बिचौलियों को समाप्त करके कर रही हैं। किन्तु सदस्यों के आर्थिक हितों में अभिवृद्धि करने का उद्देश्य सहकारिता के सिद्धांतों का अनुसरण करके ही प्राप्त किया जा सकता है, जहां लाभ का हेतु युक्तियुक्त स्तर तक निर्बन्धित किया जाएगा और जो ऐसे अन्य वाणिज्यिक निकायों से भिन्न होगा जिनकी, जहां तक लाभ अर्जित करने की उनकी इच्छा का संबंध है, सीमा अनन्त है।

तमिलनाडु कोआपरेटिव सोसाइटीज ऐक्ट की धारा 4 और 62 और उस अधिनियम अधीन बनाए गए नियमों के नियम 46 में विषय के उस पहलू की बाबत प्रभावपूर्ण रीति से प्रस्तुत किया गया है। स्वत: धारा 4 में यह उल्लेख किया गया है कि सोसाइटी जिसका उद्देश्य सहकारिता के सिद्धांतों के अनुसार अपने सदस्यों के आर्थिक हितों में अभिवृद्धि करना है, अधिनियम के उपबंधों के अधीन रहते हुए उसके अधीन रजिस्ट्रीकृत की जा सकती है। अन्य शब्दों में, सदस्यों के आर्थिक हितों में अभिवृद्धि करना सहकारिता के सिद्धांतों के अनुसार ही करना होगा और इसकी प्राप्ति अधिनियम के उपबंधों के अधीन बनाई गई है। धारा 62, जो शुद्ध लाभ के व्ययन के बारे में है, ऐसे लाभों के संवितरण पर निर्बन्धन अधिरोपित करती है और यह निम्नलिखित रूप में है—

*"62. शुद्ध लाभों का व्ययन :

(1) (क) रजिस्ट्रीकृत सोसाइटी, इस अधिनियम के प्रयोजनों के लिए किसी सहकारी वर्ष के बारे में रजिस्ट्रार द्वारा यथा घोषित सोसाइटी के शुद्ध लाभों में से उतनी रकम अभिदाय करेगी जो—

(i) सहकारी विकास निधि के शुद्ध लाभों के 5 प्रतिशत,

और

(ii) सहकारी शिक्षा निधि के शुद्ध लाभों के 2 प्रतिशत से अधिक नहीं होगी, जैसा कि इन नियमों में विनिर्दिष्ट किया जाए।

(ख) ऐसा अभिदाय ऐसे समय में और ऐसी रीति से किया जाएगा जो कि विहित किया जाए।

---

*अंग्रेजी में यह इस प्रकार है—

"62. Disposal of net profits :

(1) (a) A registered society shall out of its net profits as declared by the Registrar for the purpose of this Act in respect of any co-operative year contribute such amount not exceeding :

(i) five percent of the net profits to the co-operative development fund, and

(ii) two percent of the net profits to the co-operative education fund,

(b) Such contribution shall be made within such time and in such manner as may be prescribed.

(2) ऐसे घोषित शुद्ध लाभों का अतिशेष निम्नलिखित के लिए विनियोजित किया जाएगा—

प्रथमत:, आरक्षित निधि में जमा करने के लिए और इस प्रकार जमा की गई रकम शुद्ध लाभों के बीस प्रतिशत से कम किन्तु तीस प्रतिशत से अधिक नहीं होगी;

दूसरे, ऐसी अन्य निधि में और ऐसी दरों से जो कि नियमों में विनिर्दिष्ट की जायं, अभिदाय करने के लिए;

तीसरे, सदस्यों के अंशों पर ऐसी दर से जो कि नियमों में विनिर्दिष्ट की जाएं, लाभांश के संदाय के लिए;

चौथे, रजिस्ट्रीकृत सोसाइटी के सदस्यों और वेतनभोगी कर्मचारियों को ऐसी दर से और उन शर्तों के अधीन रहते हुए जो कि नियमों में विनिर्दिष्ट की जाएं, बोनस के संदाय के लिए;

पांचवें, ऐसी अन्य निधि में और ऐसी दरों से जो कि उपविधियों में विनिर्दिष्ट की जाएं, अभिदाय करने के लिए;

छठे, सामूहिक हित निधि में जो शुद्ध लाभों के दस प्रतिशत से अनधिक ऐसी दर से जैसी कि नियमों में विनिर्दिष्ट की जाए, अभिदाय के लिए; और

---

(2) The balance of the net profits so declared shall be appropriated :—

firstly, for being credited to a reserve fund, the amount so credited being not less than twenty per cent, but not exceeding thirty per cent, of the net profits;

Secondly, towards contribution to such other funds and at such rates as may be specified in the Rules;

thirdly, towards payment of dividends on shares to members at such rate as may be specified in the Rules;

fourthly, towards payment of bonus to members and paid employees of the registered society at such rate and subject to such conditions as may be specified in the Rules;

fifthly, towards contribution to such other funds and such rates as may be specified in the by-laws;

sixthly, towards contribution to the common good fund at such rate not exceeding ten per cent of the net profits as may be specified in the Rules; and

सातवें, शुद्ध लाभों का शेष, यदि कोई हो, जो आरक्षिति निधि में जमा किया जाएगा ।"

नियम 46 में सोसाइटी के सदस्यों के अंशों पर लाभांश के संदाय पर तथा उसके सदस्यों और वेतन-भोगी कर्मचारियों को बोनस के संदाय पर भी सीमाएं विहित की गई हैं। नियम 46 के उप-नियम (3) में यह बताया गया है कि किसी सोसाइटी द्वारा सदस्यों के अंशों पर लाभांश का संदाय, प्रत्येक अंश के समादत्त मूल्य पर 6 प्रतिशत प्रति वर्ष से अधिक नहीं होगा, परन्तु यह कि सरकार विशेष या साधारण आदेश द्वारा किसी सोसाइटी या सोसाइटियों के किसी वर्ग को 6 प्रतिशत से अधिक दर से लाभांश का संदाय करने की अनुज्ञा दे सकेगी। उसी प्रकार उप-नियम (4) और (5) के अधीन सदस्यों को और वेतन-भोगी कर्मचारियों को बोनस के संदाय पर निर्बन्धन अधिरोपित किए गए हैं। इन उपबंधों को देखते हुए यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि सदस्यों को लाभांश के संदाय और सदस्यों तथा वेतन-भोगी कर्मचारियों को बोनस के संदाय के रूप में लाभांश के वितरण के विषय में विधि द्वारा निर्बन्धन अधिरोपित किए गए हैं और उसे युक्तियुक्त स्तर तक बनाए रखा गया है तथा शुद्ध लाभों का पर्याप्त प्रभाग प्रभाजित किया गया है तथा सहकारी विकास निधि, सहकारी शिक्षा निधि, आरक्षिति निधि आदि जैसे विभिन्न प्रकार की निधियों में जमा किया जाना अपेक्षित है। वस्तुतः यह लाभांशों और बोनस का ऐसा कानूनी विनियोजन है और उनके संदाय पर ऐसा कानूनी निर्बन्धन है जो सहकारी सोसाइटियों का ऐसे अन्य निकायों से प्रभेद करता है जो वाणिज्यिक आधारों पर ऐसे ही क्रियाकलाप कर रहे हैं और इसलिए ऐसी सहकारी सोसाइटियों के भवन प्राइवेट मकान-मालिकों के स्वामित्वाधीन भवनों से सारतः भिन्न हैं। इसके अतिरिक्त इस बात को समझना पड़ेगा कि ये कानूनी उपबंध नियम 11 में विनिर्दिष्ट सभी प्रकार की सहकारी सोसाइटियों को लागू होते हैं, चाहे उनकी प्रकृति और कृत्य कुछ भी हों। चूंकि लाभ का तत्व सब प्रकार की सहकारी सोसाइटियों में विधि के उपबंधों द्वारा युक्तियुक्त स्तर पर बनाए रखा गया है, इसलिए इस धारणा के लिए पर्याप्त औचित्य है कि कोई भी सरकारी सोसाइटी अत्यधिक किराए पर उठाने या अयुक्तियुक्त बेदखली करने में लिप्त नहीं होगी। इस बात को इस प्रकार देखते हुए, यदि राज्य सरकार इस निष्कर्ष पर पहुंची कि सहकारी सोसाइटियों की दशा में चूंकि इस बात की कोई आशंका नहीं है कि वे इन दो बुराइयों में से किसी में लिप्त होंगी,

---

seventhly, the remainder, if any, of the net profits being credited to the reserve fund."

इसलिए 1960 के तमिलनाडु अधिनियम सं० 18 के उपबंधों (के प्रवर्तन) से ऐसी सहकारी सोसाइटियों के भवनों के पक्ष में छूट दी जानी चाहिए, तो इसे अधिनियम की धारा 29 के अधीन उसे प्रदत्त शक्ति का विधिसम्मत प्रयोग समझना होगा, क्योंकि वह उस निमित्त अधिनियम की उद्देशिका और उसके उपबंधों में बताए गए मार्गदर्शन के अनुरूप है।

8. इसके अतिरिक्त विवाद्यक के तथ्यात्मक पहलू के सम्बन्ध में राज्य सरकार की ओर से फाइल किए गए प्रतिशपथपत्रों में विनिर्दिष्ट रूप से यह प्रकथन किया गया कि उसने इस तथ्य की ओर सम्यक् रूप से ध्यान दिया है कि मद्रास नगर में तथा राज्य-भर में अनेक केन्द्रों में एक वर्ग के रूप में कार्य करने वाली सब प्रकार की सहकारी सोसाइटियां लाखों लोगों को रोजगार देकर सामाजिक कल्याण, ग्रामीण विकास और आर्थिक कल्याण में अभिवृद्धि करते हुए विभिन्न प्रकार के क्रियाकलापों में लगी हुई थीं और संविधान के अनुच्छेद 43 में समाविष्ट राज्य की नीति के निदेशक तत्वों में से एक को लागू करते हुए उनमें कार्य कर रही थीं; यह कि इन सहकारी सोसाइटियों से अनेक शिकायतें मिली थीं; यह कि वे 1960 के तमिलनाडु अधिनियम 18 के शाब्दिक रूप से लागू किए जाने के परिणामस्वरूप उद्भूत होने वाली समस्यायों का, विशेष रूप से अपने क्रियाकलाप करने के लिए स्वयं अपने भवनों में आवास-सुविधा प्राप्त करने के विषय में, सामना कर रही हैं और यह कि ये सोसाइटियां इस निमित्त लम्बे अर्से से चली आ रही मुकदमेबाजी में अन्तर्ग्रस्त हो गईं और वे अधिनियम के उपबंधों से छूट प्राप्त करने के लिए निवेदन कर रही हैं जिससे कि वे उन कष्टों से छुटकारा पा सकें जिन से वे परेशान हैं; यह भी प्रकथन किया गया है कि सरकार ने इस बात की ओर भी ध्यान दिया है कि यह उन भवनों को किराए पर उठाने के और उनसे आय अर्जित करने के प्रयोजन के लिए उनका क्रय करना, किसी सहकारी आवासन सोसाइटी सहित, किसी भी सहकारी सोसाइटी का कारबार संबंधी क्रियाकलाप नहीं था और इस प्रकार उनकी ओर से अत्यधिक किराए पर उठाने में लिप्त होने की कोई आशंका नहीं थी और यह कि सभी सुसंगत बातों पर विचार करने पर सरकार का यह समाधान हो गया था कि यदि ऐसे भवनों के किराएदारों को दिया गया संरक्षण वापस ले लिया जाता है, तो उसका परिणाम अत्यधिक किराए पर उठाना या अयुक्तियुक्त बेदखली करना नहीं होगा और यह कि उन्हें छूट प्रदान करना उन्हें उनके बहुत बड़े कष्ट से छुटकारा दिलाने के लिए आवश्यक था। यह उल्लेख किया जा सकता है कि इन सभी प्रकथनों को चुनौती नहीं दी गई है और हमारे मतानुसार, राज्य सरकार द्वारा प्रस्तुत किए गए तथ्यों और परिस्थितियों से स्पष्टतः यह

दर्शित होता है कि इस अंतर का जिसके आधार पर वर्गीकरण किया गया था, उस उद्देश्य से स्पष्ट संबंध है जिससे छूट प्रदान करने की शक्ति राज्य सरकार को प्रदत्त की गई है और इसलिए आक्षेपित अधिसूचना को विधिमान्य मानना होगा।

9. प्रत्यर्थी सं० 2 के सम्बन्ध में, जो इस मामले में ऐपेक्स सोसाइटी है, विचार में ली गई ऐसी अतिरिक्त बातें थीं कि 13.78 करोड़ रुपए तक की कुल अंश पूंजी में से राज्य सरकार को अभिदाय 12 81 करोड़ रुपए तक का था; यह कि सरकार ने उसके द्वारा अपनी कामकाज पूंजी के लिए उधार ली गयी रकम की प्रतिभूति दी थीं; यह कि चूंकि वह ऐपेक्स निकाय था, इसलिए उसकी प्राथमिक सोसाइटियों (हथकरघा बुनकर सहकारी सोसाइटियों) की सदस्यता लगभग 1,488 थी और यह कि मद्रास में उसकी 34 शाखाएं थीं और दो गोदाम थे और उससे किराए पर लिए गए अपने परिसर के लिए 2.50 रुपए प्रतिवर्ग फुट की दर से संदाय करना अपेक्षित था, जबकि स्वयं उसके भवन के किरायेदार 20 पैसे प्रतिवर्ग फुट की दर से किराये संदत्त कर रहे थे; प्रत्यर्थी सं० 2 सोसाइटी, तमिलनाडु ऐक्ट (1960 का 18) के उपबंधों के अधीन लम्बे अरसे से चली आ रही मुकदमेंबाजी में भी अन्तर्ग्रस्त थी। अन्य शब्दों में प्रत्यर्थी सं० 2 सोसाइटी असम्यक् कष्ट का ऐसा सुस्पष्ट उदाहरण थी जिसे अधिनियम के शाब्दिक रूप से लागू किए जाने के परिणामस्वरूप सहकारी सोसाइटी सहन कर रही थी। हम इस बारे में निश्चित हैं कि इसी प्रकार के अनेक उदाहरण राज्य सरकार के सामने आये होंगे जिनके कारण उसे आक्षेपित अधिसूचना निकालनी पड़ी जिसे, जैसाकि हमने ऊपर बताया है, अधिनियम की धारा 29 के अधीन राज्य सरकार को प्रदत्त शक्ति का विधिसम्मत प्रयोग मानना होगा।

10. वस्तुतः विद्वान् काउन्सेल ने ऊपर निर्दिष्ट बाबू राम शांता राम[1] वाले मामले में न्यायालय द्वारा व्यक्त मताभिव्यक्ति का दृढ़ता से अवलम्ब लिया है, जो उसकी दलील के समर्थन में ऊपर उद्धृत किए गए हैं, किंतु हमारी दृष्टि में पिटीशनरों के लिए न तो विनिश्चयाधार और न ही मताभिव्यक्ति ही लाभप्रद है। अभी-अभी यह स्पष्ट हो गया कि प्रश्नगत विनिश्चय इस प्रतिपादन के लिए कोई नजीर नहीं है कि किराया नियंत्रण से सम्बन्धित किसी भी अधिनियमिति के उपबंधों से सहकारी सोसाइटियों के स्वामित्वाधीन भवनों के पक्ष में छूट नहीं दी जा सकती। यह मामला बाम्बे हाउसिंग बोर्ड ऐक्ट, 1951 की धारा 3-क की संवैधानिक विधिमान्यता से

---

[1] [1954] एस० सी० आर० 572.

सम्बन्धित था जिसके अधीन बाम्बे रेंट ऐक्ट, 1947 के प्रवर्तन से बाम्बे हाउसिंग बोर्ड की भूमियों और भवनों को छूट दी गई थी और इस न्यायालय ने इसकी अविधिमान्यता को कायम रखा था। इस न्यायालय के समक्ष जिन दलीलों पर जोर दिया गया था, उनमें से एक यह थी कि मुम्बई में सहकारी आवासन सोसाइटियों के भवन, वैसी ही स्थिति में थे जिसमें कि आवासन बोर्ड के भवन थे, क्योंकि सहकारी आवासन सोसाइटियों और आवासन बोर्ड द्वारा पूरा किया जाने वाला उद्देश्य एक ही था, अर्थात् मुम्बई नगर की आवासन सम्बन्धी समस्याओं का समाधान करना था और ऐसा होने पर भी, यद्यपि सहकारी आवासन सोसाइटियों के किरायेदारों को अयुक्तियुक्त बेदखली के और किराए में वृद्धि करने के विरुद्ध पूर्ण संरक्षण प्राप्त था, तथापि आवासन बोर्ड के किरायेदारों को ऐसे संरक्षण से वंचित किया गया था और इसलिए धारा 3-क विभेदकारी है और इस न्यायालय ने यह दलील यह मत व्यक्त करते हुए अस्वीकृत कर दी थी कि सहकारी आवासन सोसाइटियों और उनके सदस्य बोर्ड की और उसके किरायेदारों की तुलना में वैसी ही स्थिति में नहीं थे और यह अंतर बताते हुए, न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया कि जबकि सहकारी आवासन सोसाइटियां अपने सदस्यों के बीच वितरित किये जाने वाले लाभ अर्जित कर सकती हैं, आवासन बोर्ड के लिए कोइ भी लाभ अर्जित करने का कोई प्रश्न ही नहीं था। न्यायालय का इस प्रश्न से कोई सम्बन्ध नहीं था कि यदि सहकारी सोसाइटियों के भवनों को वैसी ही छूट दी जाती है, तो क्या वह विधिमान्य होगी ? इस न्यायालय ने जो अन्तर बताया है, वह विशिष्ट विधान (बाम्बे हाउसिंग बोर्ड ऐक्ट, 1951 की धारा 3-क) के विरुद्ध लगाये गये विभेद के आरोप का खण्डन करने के लिए पर्याप्त था, किंतु अन्य अधिनियमिति के अधीन सहकारी सोसाइटियों के भवनों के पक्ष में प्रदान की गयी छूट को अभिखण्डित करने के प्रयोजन के लिए इस अन्तर का अवलम्ब लेना तब मिथ्या होगा, यदि ऐसी छूट ऐसे भवनों के सम्बन्ध में विद्यमान तथ्यों और परिस्थितियों के आधार पर अन्यथा न्यायोचित है। वस्तुतः जैसा कि इसके पूर्व स्पष्ट किया गया है, सहकारिता के वे सिद्धांत जो इन सहकारी सोसाइटियों के कार्यकरण की बाबत लागू होते हैं, उनके लाभ अर्जित करने के हेतु पर रोक लगाते हैं और जैसाकि बताया गया है, ऐसे कानूनी उपबन्ध हैं जो उनके लाभ के तत्व को युक्तियुक्त स्तर पर बनाये रखते हैं, जो इस उपधारणा को न्यायोचित ठहराते हैं कि सहकारी सोसाइटियां अत्यधिक किराए पर उठाने या युक्तियुक्त बेदखली करने में लिप्त नहीं होगी और इस स्थिति को देखते हुए तथा उनके मामले में विद्यमान सभी सुसंगत तथ्यों का सावधानी के साथ अध्ययन कर लेने के पश्चात्, राज्य सरकार का यह समाधान हो गया था कि सम्पूर्ण राज्य में

कार्य करने वाली सभी सहकारी सोसाइटियों के भवनों के पक्ष में पूर्ण छूट प्रदान करना आवश्यक था। अतः जिन मताभिव्यक्तियों का अवलम्ब लिया गया है, उन पिटीशनरों की दलील को समर्थन प्राप्त नहीं हो सकता।

11. परिणामतः रिट पिटीशन खारिज किए जाते हैं। अन्तरिम आदेश, यदि कोई है, रद्द किया जाता है। खर्चे के बारे में कोई आदेश नहीं किया जाता।

रिट पिटीशन खारिज किए गए।

प्र०/श्री०

————

कर्मकार, हिन्दुस्तान स्टील लिमिटेड और एक अन्य

बनाम

हिन्दुस्तान स्टील लिमिटेड और अन्य

(12 दिसम्बर, 1984)

(न्यायाधिपति डी० ए० देसाई और वी० खालिद)

नैसर्गिक न्याय का सिद्धांत—[सपठित हिन्दुस्तान स्टील लिमिटेड के स्थायी आदेश सं० 32 और संविधान का अनुच्छेद 311 (2) और (3)]—पदच्युत किये जाने के मामले में जांच का औचित्य—नियोजक द्वारा कर्मकार के सम्बन्ध में अवचार का अभिकथन किया जाना—स्थाई आदेश सं० 32 के अधीन जांच किए बिना ही कर्मकार को पदच्युत किया जाना—ऐसा स्थायी आदेश, जो नियुक्ति प्राधिकारी को इस बात के लिए सशक्त करता है कि वह, प्रसामान्य प्रक्रिया का अनुसरण किए बिना, किसी कर्मकार को उस दशा में पदच्युत कर सकेगा, यदि उसका यह समाधान हो जाता है कि उसे नियोजित रखना असमीचीन है, मनमाना और अनियंत्रित होने के कारण, नैसर्गिक न्याय के मूलभूत सिद्धांत के विरुद्ध है।

इस मामले में अपीलार्थी हिन्दुस्तान स्टील लिमिटेड का कर्मकार है जिसे अवचार के अभिकथन की जांच कराए बिना पदच्युत कर दिया गया। उसका मामला औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947 की धारा 10 के अधीन औद्योगिक अधिकरण को निर्दिष्ट किया गया। अधिकरण ने यह अभिनिर्धारित किया कि चूंकि नियोजक ने स्थायी आदेश सं० 32 द्वारा प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग करते हुए अनुशासनिक जांच को अभिमुक्त कर दिया था, इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि सेवा से पदच्युति न्यायोचित नहीं थी। अधिकरण ने यह मत व्यक्त किया कि यद्यपि अवचार का अभिकथन किया गया था, फिर भी नियोजक स्थायी आदेश सं० 32 में अन्तर्विष्ट उपबंध को देखते हुए जांच कराए बिना कर्मकार को सेवा से हटाने का आदेश पारित करने के लिए सक्षम था। अधिकरण ने यह निष्कर्ष निकाला कि नियोजक ने कर्मकार के सम्बन्ध में अवचार का अभिकथन किया था और अभिकथित अवचार की बाबत कोई जांच किए बिना उसे सेवा से हटाने का आदेश पारित किया। अधिकरण के मतानुसार

इसे शक्ति का आभासी प्रयोग नहीं कहा जा सकता और कर्मकार किसी अनुतोष का हकदार नहीं है। तदनुसार अधिकरण ने किए गए निर्देश को खारिज कर दिया। अधिकरण के उसी आदेश के विरुद्ध उच्चतम न्यायालय में विशेष इजाजत लेकर अपील की गयी। अपील मंजूर करते हुए,

अभिनिर्धारित—हिन्दुस्तान स्टील लिमिटेड के स्थायी आदेश सं० 32 की भाषा महाप्रबंधक पर यह कर्तव्य व्यादिष्ट करती है कि वह अपने समाधान के लिए यह कारण लेखबद्ध करे कि कर्मकार को नियोजन में बनाए रखना क्यों असमीचीन था या राज्य की सुरक्षा के हित के विरुद्ध क्यों था। जांच से अभिमुक्ति के कारण और कर्मकार को नियोजन में न बनाए रखने के कारण एक दूसरे से पूर्णत: अलग-अलग हैं। ऐसे किसी स्थायी आदेश से जो केवल यह कथन करते हुए कि कर्मकार को नियोजन में बनाए रखना असमीचीन है या सुरक्षा के हित के प्रतिकूल है, किसी कर्मचारी को पदच्युत करने की मनमानी, अनियंत्रित और कठोर शक्ति प्रदत्त करता है, नैसर्गिक न्याय की आधारिक अपेक्षा का अतिक्रमण होता है, क्योंकि महाप्रबंधक इतनी कठोर प्रकृति की शास्ति अधिरोपित कर सकता है जिससे कर्मकार की जीविका प्रभावित होती है और यह कारण लेखबद्ध किए बिना कि अनुशासनिक जांच से अभिमुक्ति क्यों दी गई है तथा कर्मचारी के विरुद्ध किस अवचार का अभिकथन किया गया था, कर्मकार के चरित्र पर लांछन लगता है। किसी पब्लिक सेक्टर के उपक्रम के लिए यही समय है कि वह स्थायी आदेश सं० 32 को पुन: बिरचित करे और उसे संविधान के दर्शन के अनुरूप बना ले, क्योंकि ऐसा करने में असफल रहने पर, चूंकि वह एक अन्य प्राधिकारी है और इसी कारण समुचित कार्यवाही में अनुच्छेद 12 के अधीन राज्य है, इसलिए स्थायी आदेश सं० 32 की शक्तिमत्ता की परीक्षा करनी होगी। इस मामले में ऐसा करना आवश्यक नहीं है, क्योंकि स्थाई आदेश सं० 32 के उपबंधों के आधार पर भी महाप्रबंधक द्वारा किया गया आदेश कायम रखे जाने लायक नहीं है। (पैरा 5)

जहां शास्ति अधिरोपित करने के लिए सशक्त प्राधिकारी का उन कारणों से जो उसके द्वारा लेखबद्ध किए जाएंगे, यह समाधान हो जाता है कि जांच से अभिमुक्ति दी जानी चाहिए, वहां इस प्रकार लेखबद्ध किए गए कारणों से प्रकटत: यह दर्शित होना चाहिए कि अनुशासनिक जांच करना युक्ति-युक्त रूप से साध्य नहीं है। इस वस्तुओं में ही जांच को अभिमुक्त करने की स्थिति वैवेकिक शक्ति के विस्तार का मूल्यांकन करना पड़ता है। नियुक्ति प्राधिकारी में जांच को अभिमुक्त करने की शक्ति विनिहित की जाती है और वर्ग IV की सेवाओं के व्यक्तियों की दशा में नियुक्ति प्राधिकारी प्रशासनिक सोपान

के निचले स्तर में कोई भी हो सकता है और ऐसे अधिकारी में बहुत कठोर शक्तियां विनिहित की जाती हैं। जहां ऐसी शक्ति किसी ऐसे प्राधिकारी को प्रदत्त की जाती है, जो पदच्युति या पद से हटाए जाने अथवा पंक्ति में अवनत किए जाने की शास्ति अधिरोपित करने का हकदार है, वहां जांच से अवमुक्ति देने से पूर्व, उन कारणों से जो लेखबद्ध किए जाएंगे, उसका समाधान अवश्य ही होना चाहिए कि ऐसी जांच करना युक्तियुक्त रूप से साध्य नहीं है। जांच से अवमुक्ति देने की शक्ति किसी प्रयोजन के लिए प्रदत्त की गई है और उस प्रयोजन को प्रभावी करने के लिए उस शक्ति का प्रयोग किया जा सकता है। किन्तु इस शक्ति के ऊपर यह शर्त अधिरोपित कर दी गई है कि उसे उन कारणों को लेखबद्ध करना होगा कि उस शक्ति का प्रयोग क्यों किया गया है। इसलिए स्पष्ट है कि जिन कारणों से उसे इस शक्ति का प्रयोग करना अनुज्ञात है, वे ऐसे होने चाहिएं जो स्पष्टतः यह प्रकट करते हों कि यदि जांच की जाएगी, तो उसके प्रतिकूल परिणाम होंगे। यह अभिनिर्धारित करने के लिए कि जांच युक्तियुक्त रूप से साध्य नहीं थी, समाधान होने के कारण विनिर्दिष्ट करने के कर्तव्य से अभिमुक्ति नहीं दी जा सकती। कारण विवाद्यक से सुसंगत होने चाहिएं और वे सीमित न्यायिक पुनर्विलोकन के अधीन होने चाहिएं। निस्संदेह, अनुच्छेद 311 के उप-अनुच्छेद (3) में यह उपबन्ध किया गया है कि इस निमित्त प्राधिकारी का निश्चय अंतिम है। इसका मात्र यह अभिप्राय है कि न्यायालय कारणों के उपयुक्त होने या पर्याप्त होने की बाबत जांच नहीं कर सकता। किन्तु यदि कारण प्रकटतः विवाद्यक अर्थात् जांच की अभिमुक्ति से सुसंगत नहीं हैं, तो न्यायालय उत्प्रेषण की रिट के लिए प्रस्तुत पिटीशन में प्रकट कारणों की परीक्षा सदैव कर सकता है और यदि वे विवाद्यक से सुसंगत नहीं हैं, तब वह यह निष्कर्ष अभिलिखित करेगा कि चूंकि शक्ति के प्रयोग के लिए पूर्वापेक्षा पूरी नहीं की गई है, इसलिए शक्ति का प्रयोग अवैध है या अधिकारिता के बाहर है। यदि न्यायालय का समाधान हो जाता है कि वे कारण जिनके आधार पर संबद्ध प्राधिकारी यह निष्कर्ष अभिलिखित करने के लिए प्रेरित हुआ था कि जांच करना युक्तियुक्त रूप से साध्य नहीं है, स्पष्टतः समाधान का होना जांच से अभिमुक्ति के लिए मुलम्मा मात्र होगा और न्यायालय उसको अस्वीकार कर सकेगा। जो बात बाध्यकारी है, वह प्राधिकारी के इस समाधान के लिए कारण विनिर्दिष्ट करना है कि ऐसी जांच युक्तियुक्त रूप से साध्य नहीं थी। यदि कारण विनिर्दिष्ट कर दिये जाते हैं और वे निश्चित रूप से सीमित न्यायिक पुनर्विलोकन के अधीन वैसे ही हो जाते है जैसे कि उत्प्रेषण की रिट में, तब न्यायालय यह परीक्षा करेगा कि क्या वे कारण विवाद्यक से सुसंगत थे अथवा क्या

वह केवल जांच से अवमुक्ति पाने और शास्ति अधिरोपित करने के लिए आवरण, युक्ति या बहाना मात्र था। यह बात नहीं भूलनी चाहिए कि जहां कोई आदेश लाछंन लगाने वाला हो या जीविका को प्रभावित करने वाला हो, वहां ऐसे आदेश जारी करने से पूर्व, नैसर्गिक न्याय के सिद्धांतों का पूर्ण अनुपालन होना चाहिए अर्थात अपना मामला प्रस्तुत करने का और अपने प्रतिकूल साक्ष्य का प्रतिवाद करने का युक्तियुक्त अवसर दिया जाना चाहिए। इस प्रकार जहां संविधान द्वारा जांच से अभिमुक्ति देना अनुज्ञात है, वहां भी इस बात का रक्षोपाय किया गया है कि संबद्ध प्राधिकारी को अपने इस विनिश्चय के लिये कारण अवश्य ही विनिर्दिष्ट करना चाहिए कि जांच करना युक्तियुक्त रूप से साध्य क्यों नहीं था। (पैरा 4)

वास्तव में यह अभिनिर्धारित करना कठिन है कि आदेश में किये गए परिवर्णन किन्हीं वस्तुपरक कारणों को प्रकट करते हैं और वे कारण जांच को अभिमुक्य करने के प्रश्न से सुसंगत थे। यदि स्पष्ट रूप से कहा जाए, तो इस मामले में न्यायालय का यह समाधान नहीं हो सका कि जांए, विधिमान्य, वस्तुपरक और सुसंगत कारणों सी, अभिमुक्त की गयी थी। (पैरा 7)

अतः उच्चतम न्यायालय ने यह आदेश दिया कि प्रत्यर्थी 24 अगस्त, 1970 वाले उस आदेश को जिसके द्वारा अपीलार्थी को सेवा से हटाया गया था वापस लेगा और रद्द कर देगा तथा उसे पद पर पुनः स्थापित कर देगा और उसी दिन अपीलार्थी त्यागपत्र दे देगा जिसे प्रत्यर्थी स्वीकार कर लेगा। प्रत्यर्थी आज की तारीख से 2 मास के भीतर अपीलार्थी को पिछली और भविष्य में मिलने वाली मजदूरी के रूप में और तौर पर 1,50,000.00 रु० का संदाय करेगा, जो उसे सेवा से हटाए जाने की तारीख से वर्षानुवर्ष तक के लिए होगी। (पैरा 13)

अनुसरित निर्णय

		पैरा
[1975]	[1975] 2 उम० नि० प० 1393=[1975] 3 एस० सी० आर० 489 : **एल० माईकेल और एक अन्य बनाम मैसर्स जांस्टन पम्पस इंडिया लिमिटेड**	6

सिविल अपीली अधिकारिता : 1981 की सिविल अपील सं० 1137 (एन० एल०).

औद्योगिक मामला सं० x-7/74 [जी० ओ० सं० 8231 आई० आर० आई० आर० आई० ओ० एल०-3 (के०)/73 में नौवें औद्योगिक अधिकरण पश्चिमी बंगाल के तारीख 22 दिसम्बर, 1978 के अधिनिर्णय के विरुद्ध की गई अपील]।

अपीलार्थियों की ओर से — सर्वश्री आर० के० गर्ग, पी० के० चक्रवर्ती और ए० के० गांगुली

प्रत्यर्थियों की ओर से — सर्वश्री जी० बी० पई, एस० चटर्जी, अलताफ अहमद और ए० के० पण्डा

न्यायालय का निर्णय न्यायाधिपति डी० ए० देसाई ने दिया।

न्यायाधिपति देसाई —

पश्चिमी बंगाल राज्य ने, समुचित सरकार की हैसियत, से औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947 की धारा 10 के अधीन प्रदत्त शक्तिओं का प्रयोग करते हुए निम्नलिखित विवाद पश्चिमी बंगाल के नौवें औद्योगिक अधिकरण को न्यायनिर्णय के लिए निर्देशति किया। निर्देश इस प्रकार था—

> "क्या मानस कुमार मुखर्जी की सेवाओं का समाप्त किया जाना न्यायोचित है ? वह कौन-सा अनुतोष यदि कोई है, प्राप्त करने का हकदार है ?"

2. हिन्दुस्तान स्टील लि० (संक्षेप में नियोजक) ने कोई जांच किए बिना और मानस कुमार मुखर्जी (संक्षेप में कर्मकार) के विरुद्ध लगाए गए अवचार के अभिकथन को प्रश्नगत करने या उसमें सुधार लाने का उसे कोई अवसर दिये बिना तथा नैसर्गिक न्याय के सिद्धांतों का अतिक्रमण करते हुए उसको पदच्युत कर दिया। नियोजक ने हिन्दुस्तान स्टील लि० के प्रमाणित स्थायी आदेशों के आदेश 32 के अधीन वाली अपनी शक्तियों का अवलंब लेते हुए अपनी कार्यवाई को कायम रखने की कोशिश की। स्थायी आदेश 32 निम्नलिखित रूप में हैं—

> *"32. **कतिपय मामलों में विशेष प्रक्रिया** : जहां कोई कर्मकार किसी दाण्डिक अपराध के लिए किसी न्यायालय में दोषसिद्ध किया

---

*अंग्रेजी में यह इह प्रकार है—

> "32. **Special Procedure in certain cases : Where a workman has been** convicted for a criminal offence in

गया है या जहां महाप्रबंधक का, उन कारणों से जो लेखबद्ध किए जाएंगे, यह समाधान हो जाता है कि उस कर्मकार को नियोजित रखना असमीचीन है या सुरक्षा के हितों के विरुद्ध है, वहां ऐसे कर्मकार को स्थायी आदेश सं० 31 में अधिकथित प्रक्रिया का अनुसरण किए बिना सेवा से हटाया या पदच्युत किया जा सकेगा।"

स्थायी आदेश सं० 31 में अवचार के मामलों में कार्रवाई करने के सम्बन्ध में विस्तृत प्रक्रिया विहित की गई है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि स्थायी आदेश सं० 31 में गुरू शास्ति अधिरोपित करने के लिए विहित प्रक्रिया यह है कि नियोजक को एक आरोप पत्र तैयार करना पड़ता है और अपचारी कर्मकार को सात दिनों के भीतर अपना अभ्यावेदन करने का अवसर देना पड़ता है। यदि अभिकथनों का प्रतिवाद किया जाता है, तो प्रबंध-मंडल द्वारा नाम-निर्देशित किसी अधिकारी द्वारा जांच करवानी पड़ती है और ऐसी जांच में अभिकथित अवचार के सम्बन्ध में स्पष्टीकरण करने और उसके विरुद्ध प्रतिरक्षा करने का युक्तियुक्त अवसर उस कर्मकार को अवश्य दिया जाना चाहिए। अपचारी कर्मकार को सहकर्मी कर्मचारी की सहायता भी दी जा सकेगी। प्रक्रिया में जांच होने तक अपचारी कर्मकार को निलंबित करने की भी अनुज्ञा दी गई है। जांच के अंत में यदि आरोपों की बाबत यह अभिनिर्धारित किया जाए कि वे साबित हो गए हैं और अनंतिम रूप से गुरू शास्ति अधिरोपित करने का विनिश्चय किया जाए, तो अपचारी कर्मकार को यह अभ्यावेदन करने का कि उस पर शास्ति क्यों न अधिरोपित की जाए, एक और युक्तियुक्त अवसर दिया जाना चाहिए। नियोजक के अनुसार, वह ऐसी जांच को स्थायी आदेश सं० 32 द्वारा प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग करते हुए अभिमुक्त कर सकता है। स्थाई आदेश सं० 32 की परिधि और क्षेत्र की अब परीक्षा की जाएगी।

3. अधिकरण ने यह अभिनिर्धारित किया कि चूंकि नियोजक ने स्थायी आदेश सं० 32 द्वारा प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग करते हुए अनुशासनिक जांच को अभिमुक्त कर दिया था, इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि सेवा

---

a Court of Law or where the General Manager is satisfied for reasons to be recorded in writing, that it is inexpedient or against the interests of security to continue to employ the workman, the workman may be removed or dismissed from service without following the procedure laid down in Standing Order 31."

से पदच्युति न्यायोचित नहीं थी। अधिकरण ने यह मत व्यक्त किया कि यदि अवचार के अभिकथन किए गए हो होते, तो भी नियोजक स्थायी आदेश सं० 32 में अन्तर्विष्ट उपबंध को देखते हुए कोई जांच कराए बिना सेवा से हटाने का आदेश पारित करने के लिए सक्षम था। अधिकरण ने यह निष्कर्ष निकाला कि नियोजक ने कर्मकार पर अवचार करने का अभियोग लगाया और अवचार के अभिकथनों की कोई जांच किए बिना सेवा से हटाने का आदेश पारित करने की कार्यवाही की; इसे शक्ति का आभासी प्रयोग नहीं कहा जा सकता और कर्मकार कोई भी अनुतोष प्राप्त करने का हकदार नहीं होगा। तदनुसार अधिकरण ने किए गए निर्देश को नामंजूर कर दिया। इसलिए यह अपील विशेष इजाजत लेकर की गई है।

4. जिस एकमात्र प्रश्न पर हमें अवश्य ही ध्यान देना चाहिए, वह यह है कि स्थायी आदेश सं० 32 की परिधि और क्षेत्र क्या है। इसे पहले ही उद्धृत किया जा चुका है। इसका सही अर्थान्वयन करने पर, स्थायी आदेश में यह उपबंध नहीं है कि उन कारणों से जो लेखबद्ध किए जाएंगे, अवचार सम्बन्धी कोई जांच अभिमुक्त की जा सकेगी। स्थायी आदेश सं० 32 महा-प्रबंधक को स्पष्टत: यह शक्ति प्रदत्त करता है कि उसका यह समाधान हो जाने पर कि कर्मकार को नियोजन में बनाए रखना असमीचीन है या सुरक्षा के हितों के विरुद्ध है, वह उन कारणों से जो लेखबद्ध किए जाएंगे, कर्मकार को स्थायी आदेश सं० 31 में अधिकथित प्रक्रिया का अनुसरण किए बिना, सेवा से हटाया या पदच्युत किया जा सकेगा। पब्लिक सेक्टर के किसी उपक्रम ने पूर्णत: न चलने योग्य एक आदेश को कायम रखने के लिए और नैसर्गिक न्याय के सिद्धांतों का अतिक्रमण करते हुए की गई ऐसी कार्रवाई को न्यायोचित ठहराने के लिए जो कि ऐसी कार्रवाई है जिसका जीविका से वंचित करने और लांछन लगाने वाला प्रभाव है, इस घिसे-पिटे स्थायी आदेश का जो सामंतवादी युग का अवशेष है, आश्रय लिया है। कोई भी इस बात को समझ सकता है कि इस विशिष्ट स्थिति में, अवचार की जांच कराने का प्रतिकूल परिणाम हो सकता है। स्वयं संविधान में ऐसी स्थिति के बारे में अनुध्यात है जिसमें वे स्थितियां प्रगणित की गई हैं जिनमें पदच्युति, पद से हटाये जाने या पंक्ति में अवनत किए जाने का दण्ड, अनुशासनिक जांच किए बिना अधिरोपित किया जा सकता है। इसे उद्धृत किया जा रहा है—

"311. संघ या राज्य के अधीन सिविल हैसियत में नियोजित व्यक्तियों का पदच्युत किया जाना, पद से हटाया जाना या पंक्ति में अवनत किया जाना—

(1)..

(2) यथापूर्वोक्त किसी व्यक्ति को, ऐसी जांच के पश्चात् ही, जिसमें उसे उसके विरुद्ध आरोपों की सूचना दे दी गई है और उन आरोपों के संबंध में सुनवाई का युक्तियुक्त अवसर दे दिया गया है, पदच्युत किया जाएगा या पद से हटाया जाएगा या पंक्ति में अवनत किया जाएगा अन्यथा नहीं :

परन्तु यह और कि यह खंड वहां लागू नहीं होगा ...

(क) जहां किसी व्यक्ति को ऐसे आचरण के आधार पर पदच्युत किया जाता है या पद से हटाया जाता है या पंक्ति में अवनत किया जाता है जिसके लिए आपराधिक आरोपों पर उसे दोषसिद्ध किया गया है; या

(ख) जहां किसी व्यक्ति को पदच्युत करने या पद से हटाने या पंक्ति में अवनत करने के लिए सशक्त प्राधिकारी का यह समाधान हो जाता है कि किसी कारण से जो उस प्राधिकारी द्वारा लेखबद्ध किया जाएगा, यह युक्तियुक्त रूप से साध्य नहीं है कि ऐसी जांच की जाए; या

(ग) जहां, यथास्थिति, राष्ट्रपति या राज्यपाल का यह समाधान हो जाता है कि राज्य की सुरक्षा के हित में यह समीचीन नहीं है कि ऐसी जांच की जाए ।"

उन परिस्थितियों और आकस्मिकताओं का परिशीलन करने से जिनमें प्रगणित शास्ति अधिरोपित करने से पूर्व सुनवाई का युक्तियुक्त अवसर देते हुए अनुशासनिक जांच से अभिमुक्ति दी जा सकती है, यह स्पष्टत: यह दर्शित होगा कि अपचारी कर्मकार को पदच्युत करने, सेवा से हटाने या पंक्ति में अवनत करने की शक्ति नहीं दी गई है, बल्कि पूर्वोल्लिखित उपबंध द्वारा प्रदत्त शक्ति गुरू शास्ति अधिरोपित करने से पूर्व जांच से अभिमुक्ति देने के लिए है। अनुच्छेद 311 के उप-अनुच्छेद (3) में यह उपबंध किया गया है कि "यदि पूर्वोक्त किसी व्यक्ति के संबंध में यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि खण्ड (2) में निर्दिष्ट जांच करना युक्तियुक्त रूप से साध्य है या नहीं, तो उस व्यक्ति को पदच्युत करने या पद से हटाने या पंक्ति में अवनत करने के लिए सशक्त प्राधिकारी का उस पर विनिश्चय अन्तिम होगा।" उपबंध में अनुध्यात तीन परिस्थितियां ऐसी हैं कि जांच कराए जाने का प्रतिकूल परिणाम होगा।

जहां ऐसे आचरण के आधार पर जिसके कारण किसी आपराधिक आरोप के आधार पर उसकी दोषसिद्धि हुई है, पदच्युति, पद से हटाए जाने या पंक्ति में अवनत किए जाने की शास्ति अधिरोपित की गई है, वहां स्पष्टतः जांच व्यर्थ या पुनरावृत्ति होगी, क्योंकि न्यायिक अधिकरण ने अभिनिर्धारित किया है कि आरोप साबित हो गए हैं। किन्तु जहां शास्ति अधिरोपित करने के लिए सशक्त प्राधिकारी का उन कारणों से जो उसके द्वारा लेखबद्ध किए जाएंगे, यह समाधान हो जाता है कि जांच से अभिमुक्ति दी जानी चाहिए, वहां इस प्रकार लेखबद्ध किए गए कारणों से प्रकटतः यह दर्शित होना चाहिए कि अनुशासनिक जांच करना युक्तियुक्त रूप से साध्य नहीं है। इसी प्रकार जहां राज्य की सुरक्षा के हित में, यथास्थिति, राष्ट्रपति या राज्यपाल का यह समाधान हो जाता है कि ऐसी जांच कराना समीचीन नहीं है, वहां उसे अभिमुक्ति दी जा सकती है। अन्तिम उल्लिखित स्थिति में यदि देश की सर्वोच्च कार्यपालक अर्थात् राष्ट्रपति और राज्य का सर्वोच्च कार्यपालक अर्थात् राज्यपाल का समाधान हो जाता है कि राज्य की सुरक्षा के हित में जांच करानी समीचीन नहीं है, तो केवल वह उसे अभिमुक्त करने का हकदार है। प्रथम और तृतीय स्थिति में जांच को अभिमुक्त करने में कोई कठिनाई नहीं उत्पन्न होती, क्योंकि पहली स्थिति में दण्ड न्यायालय द्वारा दोषसिद्ध की गई होती है और तृतीय स्थिति में केन्द्र और राज्य में सर्वोच्च कार्यपालक को जांच को अभिमुक्त करने के लिए सशक्त किया गया है। द्वितीय वस्तुस्थिति में ही जांच को अभिमुक्त करने की वैवेकिक शक्ति के विस्तार का मूल्यांकन करना पड़ता है। नियुक्ति प्राधिकारी में जांच को अभिमुक्त करने की शक्ति विनिहित की जाती है और वर्ग IV की सेवाओं के व्यक्तियों की दशा में नियुक्ति प्राधिकारी प्रशासनिक सोपान के निचले स्तर मे कोई भी हो सकता है और ऐसे अधिकारी में बहुत कठोर शक्तियां विनिहित की जाती हैं। जहां ऐसी शक्ति किसी ऐसे प्राधिकारी को प्रदत्त की जाती है, जो पदच्युति या पद से हटाए जाने अथवा पंक्ति में अवनत किए जाने की शास्ति अधिरोपित करने का हकदार है, वहां जांच से अभिमुक्ति देने से पूर्व, उन कारणों से जो लेखबद्ध किए जाएंगे, उसका समाधान अवश्य ही होना चाहिए कि ऐसी जांच करना युक्तियुक्त रूप से साध्य नहीं है। जांच से अभिमुक्ति देने की शक्ति किसी प्रयोजन के लिए प्रदत्त की गई है और उस प्रयोजन को प्रभावी करने के लिए उस शक्ति का प्रयोग किया जा सकता है। किन्तु इस शक्ति के ऊपर यह शर्त अधिरोपित कर दी गई है कि उसे उन कारणों को लेखबद्ध करना होगा कि उस शक्ति का प्रयोग क्यों किया गया है। इसलिए स्पष्ट है कि जिन कारणों से उसे इस शक्ति का प्रयोग करना अनुज्ञात है, वे ऐसे होने चाहिएं जो स्पष्टतः यह प्रकट करते हों

कि यदि जांच की जाएगी तो उसके प्रतिकूल परिणाम होंगे। यह अभि-निर्धारित करने के लिए कि जांच युक्तियुक्त रूप से साध्य नहीं थी, समाधान होने के कारण विनिर्दिष्ट करने के कर्तव्य से अभिमुक्ति नहीं दी जा सकती। कारण विवाद्यक से सुसंगत होने चाहिएं और वे सीमित न्यायिक पुनर्विलोकन के अधीन होने चाहिएं। निस्संदेह, अनुच्छेद 311 के उप-अनुच्छेद (3) में यह उपबंध किया गया है कि इस निमित्त प्राधिकारी का विनिश्चय अन्तिम है। इसका मात्र यह अभिप्राय है कि न्यायालय कारणों के उपयुक्त होने या पर्याप्त होने की बाबत जांच नहीं कर सकता। किन्तु यदि कारण प्रकटतः विवाद्यक अर्थात् जांच की अभिमुक्ति से सुसंगत नहीं हैं, तो न्यायालय उत्प्रेषण की रिट के लिए प्रस्तुत पिटीशन में प्रकट कारणों की परीक्षा सदैव कर सकता है और यदि वे विवाद्यक से सुसंगत नहीं हैं, तब वह यह निष्कर्ष अभिलिखित करेगा कि चूंकि शक्ति के प्रयोग के लिए पूर्वापेक्षा पूरी नहीं की गई है, इसलिए शक्ति का प्रयोग अवैध है या अधिकारिता के बाहर है। यदि न्यायालय का समाधान हो जाता है कि वे कारण जिनके आधार पर संबद्ध प्राधिकारी यह निष्कर्ष अभिलिखित करने के लिए प्रेरित हुआ था कि जांच करना युक्तियुक्त रूप से साध्य नहीं है, स्पष्टतः समाधान का होना जांच से अभिमुक्ति के लिए मुलम्मा मात्र होगा और न्यायालय उसको अस्वीकार कर सकेगा। जो बात बाध्यकारी है, वह प्राधिकारी के इस समाधान के लिए कारण विनिर्दिष्ट करना है कि ऐसी जांच युक्तियुक्त रूप से साध्य नहीं थी। यदि कारण विनिर्दिष्ट कर दिए जाते हैं और वे निश्चित रूप से सीमित न्यायिक पुनर्विलोकन के अधीन वैसे ही हो जाते हैं जैसे कि उत्प्रेषण की रिट में, तब न्यायालय यह परीक्षा करेगा कि क्या वे कारण विवाद्यक से सुसंगत थे अथवा क्या वह केवल जांच से अवमुक्ति पाने और शास्ति अधिरोपित करने के लिए आवरण, युक्ति या बहाना मात्र था। विनिश्चयों की श्रृंखला में अधिकथित यह बात नहीं भूलनी चाहिए कि जहां कोई आदेश लांछन लगाने वाला हो या जीविका को प्रभावित करने वाला हो, वहां ऐसे आदेश जारी करने से पूर्व, नैसर्गिक न्याय के सिद्धांतों का पूर्ण अनुपालन होना चाहिए अर्थात् अपना मामला प्रस्तुत करने का और अपने प्रतिकूल साक्ष्य का प्रतिवाद करने का युक्तियुक्त अवसर दिया जाना चाहिए। इस प्रकार जहां संविधान द्वारा जांच से अभिमुक्ति देना अनुज्ञात है, वहां भी इस बात का रक्षोपाय किया गया है कि संबद्ध प्राधिकारी को अपने इस विनिश्चय के लिए कारण अवश्य ही विनिर्दिष्ट करना चाहिए कि जांच करना युक्तियुक्त रूप से साध्य क्यों नहीं था।

5. अब स्थायी आदेश सं० 32 पर विचार किया जाए। इसके अधीन महाप्रबन्धक कहीं भी इस बात के लिए बाध्य नहीं है कि वह स्थायी आदेश सं० 31 द्वारा यथाविहित जांच से अभिमुक्ति देने के लिए कारण लेखबद्ध करे। इसके विपरीत हिन्दुस्तान स्टील लिमिटेड के स्थायी आदेश सं० 32 की भाषा महाप्रबन्धक पर यह कर्तव्य व्यादिष्ट करती है कि वह अपने समाधान के लिए यह कारण लेखबद्ध करे कि कर्मकार को नियोजन में बनाए रखना क्यों असमीचीन था या राज्य की सुरक्षा के हित के विरुद्ध क्यों था। जांच से अभिमुक्ति के कारण और कर्मकार को नियोजन में न बनाए रखने के कारण एक दूसरे से पूर्णतः अलग-अलग हैं। ऐसे किसी स्थायी आदेश से जो केवल यह कथन करते हुए कि कर्मकार को नियोजन में बनाए रखना असमीचीन है या सुरक्षा के हित के प्रतिकूल है, किसी कर्मचारी को पदच्युत करने की मनमानी, अनियंत्रित और कठोर शक्ति प्रदत्त करता है, नैसर्गिक न्याय की आधारिक अपेक्षा का अतिक्रमण होता है, क्योंकि महाप्रबन्धक इतनी कठोर प्रकृति की शास्ति अधिरोपित कर सकता है जिससे कर्मकार की जीविका प्रभावित होती है और यह कारण लेखबद्ध किए बिना कि अनुशासनिक जांच से अभिमुक्ति क्यों दी गयी है तथा कर्मचारी के विरुद्ध किस अवचार का अभिकथन किया गया था, कर्मकार के चरित्र पर लांछन लगता है। हिन्दुस्तान स्टील लि० जैसे पब्लिक सेक्टर के उपक्रम के लिए यही समय है कि वह स्थायी आदेश सं० 32 को पुनः विरचित करे और उसे संविधान के दर्शन के अनुरूप बना ले, क्योंकि ऐसा करने में असफल रहने पर, चूंकि वह एक अन्य प्राधिकारी है और इसी कारण समुचित कार्यवाही में अनुच्छेद 12 के अधीन राज्य है, इसलिए स्थायी आदेश सं० 32 की शक्तिमत्ता की परीक्षा करनी होगी। इस मामले में ऐसा करना आवश्यक नहीं है, क्योंकि स्थाई आदेश सं० 32 के उपबन्धों के आधार पर भी महाप्रबन्धक द्वारा किया गया आदेश कायम रखे जाने लायक नहीं है।

6 जो मत हम अपना रहे हैं, उसे इस न्यायालय के एक विनिश्चय से कुछ समर्थन मिलता है। इस न्यायालय ने **एल० माईकेल और एक अन्य बनाम मैसर्स जांस्टन पम्पस इंडिया लि०**[1] वाले मामले में कुछ भिन्न स्थिति में यह मत व्यक्त किया था कि जब विश्वास समाप्त हो जाने के सीधे-साधे आधार पर सेवोन्मुक्ति को इस आधार पर न्यायालय में प्रश्नगत किया गया कि वह शक्ति का आभासी प्रयोग है या वह असद्भाविक कार्रवाई है, तो नियोजक को यह अवश्य ही प्रकट करना चाहिए कि उसने सद्भावपूर्वक और अच्छे

---

[1] [1975] 2 उम० नि० प० 1393=[1975] 3 एस० सी० आर० 489.

तथा वस्तुपरक कारणों से कार्य किया है। ऐसी स्थिति में नियोजक का कथन मात्र कोई महत्व नहीं रखता। जहां अनुशासनिक जांच को ऊपर से युक्तियुक्त इस अभिवाक के आधार पर ही अभिमुक्त कर दिया जाता है कि जांच करना युक्तियुक्त रूप से साध्य नहीं था और पदच्युति या सेवा से हटाए जाने की शास्ति अधिरोपित की जाती है, वहां यदि उसे इस आधार पर चुनौती दी जाती है कि वह शक्ति का आभारी प्रयोग था या असद्भाविक कार्रवाई थी, तो वही स्थिति उत्पन्न हो जाएगी और नियोजक को अवचार का सबूत और जांच से अभिमुक्ति के लिए विधिमान्य और वस्तुपरक कारण दोनों दर्शित करते हुए, न्यायालय का अच्छे और वस्तुपरक कारणों के बारे में समाधान करना होगा। हमारी राय में, जब जांच से अभिमुक्ति करने विषयक नियोजक के विनिश्चय को प्रश्नगत किया जाता है, तब नियोजक को न्यायालय का यह समाधान करने की स्थिति में होना चाहिए कि जांच करने से या तो प्रतिकूल परिणाम निकलेगा या उससे ऐसा अपूरणीय या अनिवार्य नुकसान होगा जिसका होना मामले के तथ्यों के आधार पर और उसकी परिस्थितियों में उठाने की आवश्यकता नहीं है। विस्तृत वैवेकिक शक्ति को नियंत्रित करने, और कर्मचारी को अभिकथन का प्रतिवाद करने का तनिक भी अवसर दिए बिना और उसे इसके बारे में जानकारी दिए बिना कि उसका अवचार क्या है, उसकी जीविका से वंचित करने और उस पर लांछन लगाने जैसा इतना भारी दंड अधिरोपित करने की कठोर शक्ति के विरुद्ध रक्षोपाय करने के लिए न्यूनतम अपेक्षा को अभिमुक्त नहीं किया जा सकता और न ही किया जाना चाहिए।

7. अब इस मामले के तथ्यों पर विचार किया जाए; आक्षेपित आदेश का परिशीलन करने मात्र से पता चलता है कि वह अनुदेशात्मक भी है और उसमें इस बारे में पर्याप्त सामग्री मौजूद है कि शक्ति का प्रयोग करने के लिए पूरी की जाने वाली पूर्वापेक्षा को ध्यान में रखे बिना कठोर शक्ति का मनमाना प्रयोग किस प्रकार किया जा सकता है। आदेश निम्नलिखित रूप में है—

"हिन्दुस्तान स्टील लिमिटेड

दुर्गापुर स्टील प्लांट

निर्देश सं० आदेश 6/पी० एफ/एम एन/1215

24 अगस्त, 1970

आदेश

मामले पर पूर्णतः विचार करने के पश्चात्, मेरा यह समाधान हो गया है कि दुर्गापुर स्टील प्लांट, आदेश विभाग के सहायक, श्री मानस मुखर्जी का अब और आगे नियोजित रखना समीचीन नहीं है।

अतः यह आदेश किया जाता है कि श्री मानस मुखर्जी को 24-8-1970 से कम्पनी की सेवा से हटा दिया जाए।

उसे तीन मास का वेतन लेने के लिए अनुज्ञात किया जाता है जो वह 26-8-1970 तक वित्त विभाग के रोकड़ अनुभाग से ले सकता है।

हस्ताक्षरित

ह० मेजर जनरल

भारसाधक निदेशक"

जैसा कि आदेश में प्रयोग किया है, "अब और आगे···समीचीन नहीं है" पद से स्पष्टतः यह तथ्य प्रकट है कि कोई जांच आरम्भ की गयी थी, जिस कारण से महाप्रबन्धक ने जांच बन्द कर दी, उस आदेश से उसका पता नहीं लगाया जा सकता। किन्तु हमारा ध्यान उपाबन्ध आर० 2 की ओर आकर्षित किया गया जिसमें प्रत्यर्थियों के अनुसार जांच अभिमुक्त करने के लिए लेखबद्ध कारण विनिर्दिष्ट किए गए थे। संक्षेप में उपाबन्ध आर० 2 में यह उल्लेख किया गया है कि सम्बद्ध प्राधिकारी ने आदेश विभाग के योजना और प्रगति अधिकारी, श्री पी० एस० राव नायडू, द्वारा उसे भेजी गयी गोपनीय रिपोर्ट और उस पर डी० जी० एम० की टिप्पणी देखी थी। उसने यह भी उल्लेख किया था कि मैंने सीनियर आर० ए० ओ० (इ) से प्राप्त रिपोर्ट का और श्रीमती गीता मजूमदार जो संयंत्र के किसी कर्मचारी की पत्नी है, द्वारा पुलिस को किए गए परिवाद की प्रति देखी है। जांच को अभिमुक्त करने के लिए इन परिवर्णनों को पर्याप्त समझा गया था। यदि श्रीमती गीता मजूमदार ने अपीलार्थी के विरुद्ध अभियोग लगाते हुए पुलिस में कोई रिपोर्ट दर्ज करायी थी, तो दांडिक मामले में उसकी परीक्षा करनी होगी। जांच अधिकारी के समक्ष और भी सुविधाजनक रूप से उसे बुलाया जा सकता था और गोपनीय रिपोर्ट, गोपनीय ही बनी रह जाती। जांच को अभिमुक्त करने वाले कारणों से यह प्रकट नहीं होता कि उस अवचार की प्रकृति क्या थी जिसकी बाबत यह अभिकथन किया है कि अपीलार्थी ने किया था, और किस बात ने

महाप्रबन्धक को जांच अभिमुक्त करने के लिए प्रेरित किया। वास्तव में यह अभिनिर्धारित करना कठिन है कि आदेश में किए गए परिवर्णन किन्हीं वस्तुपरक कारणों को प्रकट करते हैं और वे कारण जांच को अभिमुक्त करने के प्रश्न से सुसंगत थे। यदि स्पष्ट रूप से कहा जाए, तो इस मामले में हमारा यह समाधान नहीं हुआ है कि जांच, विधिमान्य, वस्तुपरक और सुसंगत कारणों से, अभिमुक्त की गयी थी।

8. इस बात पर जोर देने का भी प्रयास किया गया कि प्रतिशपथ पत्र में लगे कुछ उपाबन्धों से अपीलार्थी के विरुद्ध प्राप्त कतिपय परिवादों का पता चलता है। हम उनकी परीक्षा करने के इसलिए अनिच्छुक हैं, क्योंकि अपीलार्थी को जांच के दौरान उनका उत्तर देने या स्पष्टीकरण करने के लिए वे उपलब्ध नहीं कराए गए थे। इस प्रक्रम में हम उन्हें असंगत समझते हैं।

9. एक बार जब हम यह निर्धारित कर देते हैं कि जांच अभिमुक्त करने के लिए कोई भी न्यायौचित्य नहीं था, तो स्थायी आदेश सं० 31 द्वारा यथा-अनुध्यात अनुशासनिक जांच किए बिना पदच्युति की शास्ति का अधिरोपण अवैध और अविधिमान्य होगा।

10. इसके बाद हमारे समक्ष दो विकल्प रह जाते हैं। एक तो यह होगा कि यदि महाप्रबन्धक अनुशासनिक जांच करना चाहता है और अपना निष्कर्ष निकालना चाहता है, तो उसे उसकी अनुज्ञा दे दी जाए, और दूसरा यह होगा कि मामले को इस दृष्टि से श्रम न्यायालय को वापस भेज दिया जाए कि यदि प्रत्यर्थी नियोजक को विधि के अधीन यह हक प्राप्त है, तो वह अधिकरण के समक्ष अवचार के आरोप को साबित करे।

11. अपीलार्थी को सेवा से हटाये जाने का आदेश 27 अगस्त, 1970 को बहुत पहले किया गया था। तब से अब तक 14 वर्ष से अधिक बीत चुके हैं। ऐसी स्थिति में, सारी बातों को नए सिरे से आरम्भ करने से न तो अपीलार्थी को सहायता मिलेगी, न ही वह संयंत्र में अनुशासन बनाए रखने में सहायक होगा। निस्संदेह जब किसी कर्मकार को एक बार सेवा से हटा दिया जाता है, तो उस पर लांछन लग जाता है और यदि आदेश के बारे में यह अभिनिर्धारित किया जाता है कि वह किसी भी स्थिति में सुसंगत आदेशों के उपबन्धों के अनुरूप नहीं है, तो लांछन को हटाना पड़ेगा।

12. इस विषय पर गम्भीरता से विचार करने के पश्चात्, हम अपील का निपटान निम्नलिखित रूप में करते हैं।

13. अत: उच्चतम न्यायालय ने यह आदेश दिया कि प्रत्यर्थी 24 अगस्त, 1970 वाले उस आदेश को जिसके द्वारा अपीलार्थी को सेवा से हटाया गया था, वापस लेगा और रद्द कर देगा तथा उसे पद पर पुन:स्थापित कर देगा और उसी दिन अपीलार्थी त्यागपत्र दे देगा जिसे प्रत्यर्थी स्वीकार कर लेगा। प्रत्यर्थी आज की तारीख से 2 मास के भीतर अपीलार्थी को पिछली और भविष्य में मिलने वाली मजदूरी के रूप में और तौर पर 1,50,000 रु० का संदाय करेगा, जो उसे सेवा से हटाए जाने की तारीख से वर्षानुवर्ष तक के लिए होगी। हम प्रत्यर्थी को एक और अवसर देते हैं कि वह दो सप्ताह की अवधि के भीतर अपने स्थायी आदेश सं० 32 को दुबारा विरचित करे जिससे कि वह अनुच्छेद 311 के उप-अनुच्छेद (2) के द्वितीय परन्तुक के अनुरूप लाया जा सके, और ऐसा करने में असफल रहने पर यह न्यायालय उसकी विधिमान्यता की पुनर्परीक्षा करेगा।

14. 1,50,000 रु० की उस रकम के अंतर्गत जिसकी बाबत यह निदेश दिया गया है कि प्रत्यर्थीअ पीलार्थी को संदत्त करे, वर्ष 1970 से वर्ष 1984 के अन्त तक वर्षानुवर्ष उसे अनुज्ञेय पिछली मजदूरी और अन्य सब भत्ते हैं। यह रकम वर्षानुवर्ष के लिए होगी। यदि जैसा कि इस मामले में निदेश दिया गया है, एकमुश्त राशि के संदाय के कारण प्रत्यर्थी से आयकर अधिनियम, 1961 की धारा 192 के अधीन यथा-व्यादिष्ट आयकर की कटौती करना अपेक्षित है, तो अपीलार्थी आयकर अधिनियम, 1961 की धारा 89 के अधीन अनुतोष प्राप्त करने का हकदार होगा। इस प्रयोजन के लिए, अपीलार्थी, नियम 21(क) के साथ पठित धारा 89 द्वारा यथापेक्षित समुचित प्राधिकारी को आवेदन करेगा जो आयकर अधिनियम की धारा 89 के अधीन अपीलार्थी को अनुतोष अनुदत्त करने पर विचार करेगा। इस निमित्त की जाने वाली कार्यवाही का निपटारा छह मास के भीतर कर दिया जाएगा। अपील का निपटारा उसी प्रकार किया जाता है और खर्चों की बाबत कोई आदेश नहीं किया जाता है।

अपील मंजूर की गई।

द्वि०/श्री०

———

जगन्नाथ

बनाम

राम किशन दास और एक अन्य

(12 दिसम्बर, 1984)

(मुख्य न्यायाधिपति वाई०वी० चन्द्रचूड़ और न्यायाधिपति आर०एस० पाठक)

दिल्ली किराया नियंत्रण अधिनियम, 1958 —धारा 14(2) सपठित धारा 15(1)— धारा 14(2) के उपबंध का कब्जे के प्रत्युद्धरण के बारे में फायदा—बेदखली आदेश—किराए की बकाया और परिसर की निजी आवश्यकता के आधार पर मकान-मालिक द्वारा किराएदार की बेदखली के लिए आवेदन किया जाना—किराया जमा करने के आदेश का किराएदार द्वारा पालन किया जाना—मकान-मालिक द्वारा आवेदन वापस लिया जाना और फिर खाली करने की सूचना देकर कब्जे के लिए एक नया आवेदन किया जाना—कब्जे के लिए एक अन्य वर्तमान आवेदन किया गया--चूंकि मकान-मालिक ने पूर्वतर कार्यवाही नियंत्रक की इजाजत से वापस ले ली थी, इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि किराएदार ने अपने विरुद्ध कब्जे का आदेश इस आधार पर पारित न किए जाने का धारा 14(2) के अधीन फायदा उठा लिया है कि उसने धारा 15 के अधीन पारित आदेश का पालन कर दिया था—अत: धारा 14(2) का परन्तुक लागू नहीं हो सकता।

प्रत्यर्थियों ने अपीलार्थी के विरुद्ध दो आधारों पर दिए गए कमरे का कब्जा लेने के लिए एक आवेदन फाइल किया था। दिल्ली किराया नियंत्रण अधिनियम, 1958 की धारा 15(1) के साथ पठित धारा 14(2) के अधीन वाली कार्यवाही में किराया नियंत्रक ने एक आदेश पारित करके अपीलार्थी से कहा कि बकाया किराया एक मास के भीतर संदत्त या जमा किया जाए। अपीलार्थी ने उस आदेश का पालन कर दिया। इसके बाद प्रत्यर्थियों ने वह बेदखली आवेदन नया आवेदन फाइल करने की स्वतंत्रता के साथ वापस ले लिया। प्रार्यथियों ने आवेदन वापस लेने के लिए यह कारण बताया कि उन्होंने अपीलार्थी को सम्पत्ति अंतरण अधिनियम की धारा 106 के अधीन मकान

खाली करने की सूचना नहीं दी है, अतः आवेदन औपचारिक दोष के कारण असफल हो सकता है। इसके तुरन्त बाद प्रत्यर्थियों ने अपीलार्थी की किराए-दारी समाप्त करते हुए उसे बेदखली की सूचमा दी। इसके कुछ ही समय पश्चात् प्रत्यर्थियों ने अपीलार्थी के विरुद्ध कब्जे के लिए एक नया आवेदन फाइल किया, जो खारिज कर दिया गया। इसके बाद प्रत्यर्थियों ने कब्जे के लिए अपीलार्थी के विरुद्ध वर्तमान आवेदन इस आधार पर फाइल किया कि अपीलार्थी पर किराया बाकी है। किराया नियंत्रक ने दिल्ली किराया नियंत्रण अधिनियम, 1958 की धारा 15(1) के अधीन आदेश पारित न करने से इस आधार पर इंकार कर दिया कि ऐसा फायदा अपीलार्थी को प्रथम बेदखली आवेदन में दिया जा चुका है और यह कि अधिनियम की धारा 14 की उपधारा (2) के परन्तुक के फलस्वरूप अपीलार्थी पुनः इस फायदे की मांग नहीं कर सकता। अतः किराया नियंत्रक ने अपीलार्थी के विरुद्ध बेदखली आदेश पारित कर दिया। इसके विरुद्ध फाइल की गई अपील अधिकरण द्वारा मंजूर कर ली गई। दूसरी अपील में दिल्ली उच्च न्यायालय ने अधिकरण का निर्णय अपास्त कर दिया। दिल्ली उच्च न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध इस अपील द्वारा किराएदार ने चुनौती दी है कि उच्च न्यायालय का निर्णय सही नहीं है। अपील मंजूर करते हुए,

अभिनिर्धारित—दिल्ली किराया नियंत्रण अधिनियम, 1958 की धारा 15 की उपधारा (6) में उपबंधित है कि यदि किराएदार उपधारा (1) की अपेक्षानुसार संदाय या निक्षेप कर देता है तो उसके द्वारा किराए के संदाय में व्यतिक्रम के आधार पर उसके विरुद्ध कब्जे के प्रत्युद्धरण के लिए कोई आदेश नहीं किया जाएगा। इसके विपरीत, यदि किराएदार धारा 15 (1) की अपेक्षानुसार संदाय या निक्षेप करने में असफल रहता है तो नियंत्रक उपधारा (7) के अधीन किराएदार की प्रतिरक्षा को काटने का आदेश दे सकेगा और बेदखली आवेदन की सुनवाई के लिए अग्रसर हो सकेगा। (पैरा 7)

दिल्ली किराया नियंत्रण अधिनियम, 1958 की धारा 14(2) में उपबंधित है कि यदि किराएदार धारा 15 के उपबंधों के अनुसार किराया संदत्त या निक्षिप्त कर देता है तो किसी परिसर के कब्जे के प्रत्युद्धरण के लिए कोई आदेश इस आधार पर नहीं किया जा सकता कि किराएदार ने किराया देने में व्यतिक्रम किया है। धारा 14(2) के अधीन किराएदार को उपलभ्य फायदा कब्जे की डिक्री से बचाव है : यद्यपि उसने किराए के संदाय में व्यति-क्रम किया है, फिर भी उसके विरुद्ध कोई कब्जा की डिक्री पारित नहीं की जा सकती। किराएदार को यह फायदा इस तथ्य के कारण मिलता है कि

उसने अधिनियम की धारा 15 के अधीन नियंत्रक द्वारा पारित आदेश का अनुपालन कर दिया है। धारा 15 के अधीन आदेश पारित करना कोई फायदा नहीं है, जो धारा 14(2) के अधीन किराएदार को मिलता है, बल्कि धारा 14(1) (क) में विनिर्दिष्ट आधार पर अर्थात् इस आधार पर कि किराएदार ने किराए के संदाय में व्यतिक्रम किया है, कब्जे के प्रत्युद्धरण की प्रत्येक कार्यवाही में नियंत्रक धारा 15(1) के अधीन आदेश पारित करने के लिए बाध्य है। यह एक सुविधा है जिसे किराएदार को देने के लिए धारा 15 के अधीन नियंत्रक बाध्य है। इसी सुविधा के माध्यम से किराएदार धारा 14 (2) के अधीन लाभ प्राप्त करता है। इस फायदे में किराए के संदाय में व्यतिक्रम के आधार पर कब्जे का आदेश पारित करने से विमुक्ति प्राप्त करना शामिल है। अभिप्राय यह है कि यदि धारा 14 (2) में अंतर्विष्ट उपबंध के कारण किराएदार के विरुद्ध कब्जे का कोई आदेश नहीं दिया गया है, तभी यह कहा जा सकता है कि उसने इस धारा के अधीन फायदा उठा लिया है। धारा 14 की उपधारा (2) के परन्तुक के आधार शब्द ये हैं: "कोई भी किराएदार इस उपधारा के अधीन इस फायदे के लिए हकदार नहीं होगा"। (पैरा 10)

उपरोक्त विवेचन से पता चलता है कि पूर्वतर कार्यवाही में, जिसमें किराएदार ने धारा 15 के अधीन नियंत्रक द्वारा पारित आदेश का अनुपालन किया था, पारित किए गए आदेशों की प्रकृति क्या है। यदि पूर्वतर कार्यवाही मकान-मालिक द्वारा वापस ले ली गई थी, तो यह नहीं कहा जा सकता कि किराएदार ने अपने विरुद्ध कब्जे का आदेश पारित न किए जाने का फायदा उठा लिया है। यह स्वयं सिद्ध है कि यदि कोई कार्यवाही इस आदेश के साथ समाप्त हो जाती है और उसे वापस लेने की इजाजत दे दी गई है तो संभवतः यह नहीं कहा जा सकता कि कब्जे के प्रत्युद्धरण के लिए कोई भी आदेश इस कारण पारित नहीं किया गया कि किराएदार ने धारा 15 की अपेक्षानुसार संदाय या निक्षेप कर दिया था। धारा 14(2) का यही सार है। इस आशय का आदेश पारित करने के लिए यह प्रक्रम या अवसर कि कब्जे का कोई आदेश इस तथ्य के कारण पारित नहीं किया जा सकता कि किराएदार ने धारा 15 के अधीन पारित आदेश का अनुपालन कर दिया है, ऐसे मामले में उत्पन्न ही नहीं होता, जिसमें मकान-मालिक को किराएदार की बेदखली का आवेदन वापस लेने की इजाजत दे दी जाए। (पैरा 11)

प्रभेदित निर्णय

पैरा

[1982] (1982) 2 रैंट कंट्रोल जर्नल 29 :
अशोक कुमार बनाम राम गोपाल 14

निर्दिष्ट निर्णय

[1977] ए० आई० आर० 1977 दिल्ली 247 :
फाहन चन्द माकन बनाम बी० एस० भाम्बरी 13

[1972] 1972 ऑल इण्डिया रैंट कंट्रोल जर्नल 712 :
राम गुप्ता बनाम राय सिंह कैन 13

सिविल अपीली अधिकारिता : 1979 की सिविल अपील सं० 653.

1973 के विशेष अपीली आदेश सं० 166 में दिल्ली उच्च न्यायालय के तारीख 14 अगस्त, 1978 वाले निर्णय और आदेश के विरुद्ध विशेष इजाजत लेकर की गई अपील।

अपीलार्थी की ओर से सर्वश्री यू० आर० ललित और बी० पी० महेश्वरी

प्रत्यर्थी की ओर से श्री ए० के० गोयल

न्यायालय का निर्णय मुख्य न्यायाधिपति वाई० वी० चन्द्रचूड़ ने दिया।

मुख्य न्यायाधिपति चन्द्रचूड़—

अपीलार्थी कमला नगर, नई दिल्ली के एक मकान के एक कमरे में प्रत्यर्थी का किराएदार है। कमरे का किराया दस 10 रुपए प्रतिमास है। 19 मार्च, 1967 को प्रत्यर्थियों ने दो आधारों पर कमरे का कब्जा लेने के लिए एक आवेदन फाइल किया था : एक, अपीलार्थी पर किराया बाकी है और दो, उन्हें अपने उपयोग और अधिभोग के लिए सद्भाविक रूप से कमरे की आवश्यकता है। दिल्ली किराया नियंत्रण अधिनियम, 1958 (जिसे इसमें इसके पश्चात् 'अधिनियम' कहा गया है) की धारा 15 (1) के साथ पठित धारा 14 (2) के अधीन वाली कार्यवाही में किराया नियंत्रक ने एक आदेश पारित करके अपीलार्थी से कहा कि बकाया किराया एक मास के भीतर संदत्त या जमा किया जाए। अपीलार्थी ने उस आदेश का पालन कर दिया।

इसके बाद 1 अप्रैल, 1968 को प्रत्यर्थियों ने वह बेदखली आवेदन, नया आवेदन फाइल करने की स्वतंत्रता के साथ, वापस ले लिया। प्रत्यर्थियों ने आवेदन वापस लेने के लिए यह कारण बताया कि उन्होंने अपीलार्थी को सम्पत्ति अंतरण अधिनियम की धारा 106 के अधीन मकान खाली करने की सूचना नहीं दी है और, इसीलिए, आवेदन औपचारिक दोष के कारण असफल हो सकता है।

2. इसके तुरन्त बाद 7 अप्रैल, 1968 को प्रत्यर्थियों ने 9 मई, 1968 से अपीलार्थी की किराएदारी समाप्त करते हुए उसे बेदखली की सूचना दी। 13 मई, 1968 को प्रत्यर्थियों ने अपीलार्थी के विरुद्ध कब्जे के लिए एक नया आवेदन इस आधार पर फाइल किया कि उन्हें अपने निजी उपयोग के लिए सद्भाविक रूप से कमरे की आवश्यकता है। वह आवेदन 14 फरवरी, 1969 को खारीज कर दिया गया।

3. 9 मार्च, 1971 को प्रत्यर्थियों ने कमरे के कब्जे के लिए अपीलार्थी के विरुद्ध वर्तमान आवेदन इस आधार पर फाइल किया कि अपीलार्थी पर अप्रैल, 1968 से मार्च, 1971 तक का किराया बाकी है। इस कार्यवाही में विद्वान् अपर किराया नियंत्रक, दिल्ली ने अधिनियम की धारा 15 (1) के अधीन आदेश पारित करने से इस आधार पर इंकार कर दिया कि ऐसा फायदा अपीलार्थी को प्रथम बेदखली आवेदन में दिया जा चुका है और यह कि अधिनियम की धारा 14 की उपधारा (2) के परन्तुक के फलस्वरूप अपीलार्थी पुनः इस फायदे की मांग नहीं कर सकता। विषय की इस दृष्टि से, किराया नियंत्रक ने अपीलार्थी के विरुद्ध बेदखली आदेश पारित कर दिया।

4. बेदखली आदेश के विरुद्ध अपीलार्थी द्वारा फाइल की गई अपील किराया नियंत्रण अधिकरण द्वारा मंजूर कर ली गई। अधिकरण का मत था कि अपीलार्थी अधिनियम की धारा 14(2) के उपबंध का फायदा पाने का हकदार है और यह कि इस उपधारा का परन्तुक लागू नहीं होता क्योंकि धारा 14(2) में दिए गए उपबंध का फायदा अपीलार्थी अपनी कार्यवाहियों में पहली बार ले रहा है। अधिकरण के अनुसार अपीलार्थी के विरुद्ध प्रत्यर्थी द्वारा फाइल किया गया प्रथम बेदखली आवेदन इसलिए खारिज किया गया था क्योंकि प्रत्यर्थियों ने नया आवेदन फाइल करने की इजाजत के साथ वह आवेदन इस आधार पर वापस लेने की इजाजत मांगी थी कि उन्होंने अपीलार्थी पर मकान खाली करने की सूचना तामील नहीं की है, न कि इस

आधार पर कि अपीलार्थी ने अधिनियम की धारा 15(1) के अधीन दिए गए आदेश का पालन कर दिया था।

5. दिल्ली उच्च न्यायालय ने दूसरी अपील में किराया नियंत्रण अधिकरण का निर्णय अपास्त कर दिया। उच्च न्यायालय का मत था कि यद्यपि प्रत्यर्थियों ने प्रथम बेदखली आवेदन इस आधार पर वापस ले लिया था कि उन्होंने अपीलार्थी को खाली करने की सूचना नहीं दी थी, फिर भी इससे स्थिति में परिवर्तन नहीं होता कि अपीलार्थी अधिनियम की धारा 14(2) में दिए गए उपबंध का फायदा उठा चुका था। अतः उच्च न्यायालय के अनुसार धारा 14(2) के परन्तुक के फलस्वरूप अपीलार्थी अधिनियम की धारा 15 (1) के उपबंधों का सहारा लेने के लिए हकदार नहीं है। इस अपील द्वारा किराएदार ने चुनौती दी है कि उच्च न्यायालय के निर्णय सही नहीं हैं।

6. अधिनियम की धारा 14 के उपबंध विभिन्न अन्य किराया अधिनियमों के उपबंधों के ही-जैसे हैं। इस धारा की उपधारा (1) में यह प्रतिषेधात्मक उपबंध है कि किसी अन्य विधि या संविदा में अंतर्विष्ट किसी प्रतिकूल बात के होते हुए भी, कोई न्यायालय या नियंत्रक मकान-मालिक के पक्ष में किराएदार के विरुद्ध किसी परिसर के कब्जे के प्रत्युद्धरण का आदेश या डिक्री पारित नहीं करेगा। इस उपधारा का परन्तुक मकान-मालिक को एक या अधिक आधारों पर किराएदार को किराए पर दिए गए परिसर का कब्जा लेने के लिए समर्थ या हकदार बनाता है। वे आधार उपधारा के खंड (क) से (झ) में वर्णित हैं। परन्तुक का खण्ड (क) मकान-मालिक को कब्जा लेने के लिए समर्थ बनाता ए, यदि उस किराएदार ने संपत्ति अंतरण अधिनियम की धारा 106 में विहित रीति से मकान-मालिक द्वारा किराएदार पर किराए की बकाया की मांग की सूचना तामील किए जाने की तारीख से दो मास के भीतर किराए की बकाया संदत्त या निविदत्त नहीं की है। परन्तुक के खण्ड (ङ) के अनुसार मकान-मालिक किराएदार को किराए पर दिए गए निवासीय परिसर का कब्जा मुख्यतः इस आधार पर ले सकता है कि उसे निजी आवश्यकता के लिए परिसर चाहिए। धारा 14 की उपधारा (2) इस प्रकार है—

*"14(2). यदि किराएदार धारा 15 की अपेक्षानुसार संदाय या निक्षेप कर देता है तो किसी परिसर के कब्जे के प्रत्युद्धरण के

---

*अंग्रेजी में यह इस प्रकार है—

"14(2). No order for the recovery of possession of any premises shall be made on the ground specified in

लिए उपधारा (1) के परन्तुक के खण्ड (क) में विनिर्दिष्ट आधार पर कोई आदेश नहीं किया जाएगा :

परन्तु कोई भी किराएदार इस उपधारा के अधीन फ़ायदे के लिए हकदार नहीं होगा, यदि किसी परिसर की बाबत एक बार ऐसा लाभ अभिप्राप्त करने पर वह तीन लगातार मास तक उस परिसर के किराए के संदाय में पुनः व्यतिक्रम करेगा।"

7. अधिनियम की धारा 15(1) इस प्रकार है—

*"धारा 14 की उपधारा (1) के परन्तुक के खण्ड (क) में विनिर्दिष्ट आधार पर किसी परिसर के कब्जे के प्रत्युद्धरण की प्रत्येक कार्यवाही में नियंत्रक पक्षकारों को सुनवाई का अवसर देने के बाद एक आदेश द्वारा किराएदार को निदेश देगा कि वह आदेश की तारीख से एक मास के भीतर किराए की ऐसी दर पर परिकलित रकम, जिस पर वह अंतिम बार संदत्त किया गया था, उस अवधि के लिए, जिसके लिए बकाया किराया किराएदार से विधिक रूप से वसूलनीय था, इसके अन्तर्गत उसके बाद से लेकर एक मास से पूर्व मास के अंत तक

---

clause (a) of the proviso to sub-section (1), if the tenant makes payment or deposit as required by section 15 :

Provided that no tenant shall be entitled to the benefit under this sub-section, if, having obtained such benefit once in respect of any premises, he again makes a default in the payment of rent of those premises for three consecutive months."

*"15(1). In every proceedings for the recovery of possession of any premises on the ground specified in dause (a) of Section 14, the Controller shall, after giving the parties an opportunity of being heard,make an order directing the tenant to payto the landlord or deposit with the Controller within one month of the date of the order an amount calculated at the rate of rent at which it was last paid for the period for which the arrears of the rent were legally recoverable from the tenant including the period subsequent there to up to the end of the month

की अवधि भी शामिल है, जिसमें संदाय या निक्षेप किया गया है, मकान-मालिक को संदत्त करे या नियंत्रक के पास जमा करे और उस दर पर किराए के समान धनराशि हर मास अगले मास की पन्द्रह तारीख तक संदत्त या निक्षिप्त करता रहे।"

धारा 15 की उपधारा (6) में उपबंधित है कि यदि किराएदार उपधारा (1) की अपेक्षानुसार संदाय या निक्षेप कर देता है, तो उसके द्वारा किराए के संदाय में व्यतिक्रम के आधार पर उसके विरुद्ध कब्जे के प्रत्युद्धरण के लिए कोई आदेश नहीं किया जाएगा। इसके विपरीत यदि किराएदार धारा 15 (1) की अपेक्षानुसार संदाय या निक्षेप करने में असफल रहता है, तो नियंत्रक उपधारा (7) के अधीन किराएदार की प्रतिरक्षा को काटने का आदेश दे सकेगा और वेदखली आवेदन की सुनवाई के लिए अग्रसर हो सकेगा।

8. वादगत परिसर का किराया बहुत थोड़ा अर्थात् केवल 10 रुपए प्रतिमास है। निस्संदेह किरायेदार इससे भी छोटा है, जैसा कि वह तथ्य से प्रतीत होगा कि उसने बहुत लम्बे समय तक इस दर पर भी किराया नहीं दिया। किन्तु प्रायः छोटे किराएदारों के छोटे मकान-मालिक होते हैं, जो यह आशा कर सकते हैं कि किराएदार नियमित रूप से किराए की छोटी-सी राशि संदत्त करेंगे और उन्हें न्यायालय में खींच कर नहीं ले जाएंगे, जहां किराए की बकाया रकम से भी अधिक खर्च हो जाएगा। यह मामला प्रत्यक्षतः तो महत्वपूर्ण प्रतीत नहीं होता, किन्तु इसमें एक सार्वजनिक महत्व का प्रश्न उत्पन्न हुआ है, जोकि भागतः इस तथ्य से प्रकट होता है कि दिल्ली उच्च न्यायालय के विद्वान् न्यायाधीशों ने इस प्रश्न पर विरोधी मत अपनाए हैं। प्रत्यर्थियों की ओर से हाजिर होने वाले श्री ए० के० गोयल ने हमारे समक्ष उन मतों की ध्यानपूर्वक व्याख्या की और उन निर्णयों को पढ़ा। हम उन निर्णयों का विश्लेषण करना नहीं चाहेंगे क्योंकि ऐसा करना उपयोगी होने वाला नहीं है। कारण यह है कि उच्च न्यायालय के समक्ष वाले विभिन्न मामलों के तथ्य हर मामलों में भिन्न-भिन्न थे और उच्च न्यायालय के भिन्न-भिन्न विद्वान् न्यायाधीशों द्वारा प्रकट मत-वैभिन्न का एक कारण यह भी रहा

---

previous to that in which payment or deposit is made and to continue to pay or deposit, month by month, the by fifteenth of each succeeding month, a sum equivalent to the rent at that rate."

है। ससम्मान, हम यह कहना चाहेंगे कि हमारे सामने जो मामले उद्धृत किए गए हैं, उनमें इस बात की उपेक्षा कर दी गई है कि पूर्ववर्ती विनिश्चय मामले के अपने विचित्र तथ्यों पर आधारित थे।

9. अपीलार्थी की ओर से श्री ललित ने दलील दी कि धारा 14 की उपधारा (2) का परन्तुक प्रस्तुत मामले में लागू नहीं हो सकता क्योंकि प्रथम बेदखली कार्यवाही में जो प्रत्यर्थियों ने अपीलार्थियों के विरुद्ध फाइल की थी, इस उपधारा के अधीन अपीलार्थी ने कोई लाभ नहीं उठाया था। इसके विपरीत श्री गोयल ने दलील दी कि यदि किराएदार धारा 15 (1) के अधीन पारित आदेश का लाभ उठा लेता है, तो यह मानना चाहिए कि उसने धारा 14 (2) में अंतर्विष्ट. उपबंध का फायदा उठा लिया है। विद्वान् काउन्सेल के अनुसार धारा 14 के परन्तुक का उद्देश्य यह सुनिश्चित करना है कि धारा 15 (1) के अधीन दिया गया आदेश किराएदार के पक्ष में एक बार से अधिक बार पारित न किया जाए। अतः यह दलील दी गई कि उस बेदखली के आवेदन का अंतिम परिणाम, जिसमें धारा 15(1) के अधीन पहली बार आदेश पारित किया गया था, अथवा उस कार्यवाही में पारित अंतिम आदेश का प्ररूप इस प्रश्न से कोई तालमेल नहीं रखता कि क्या किराएदार ने धारा 14(2) में अंतर्विष्ट उपबन्ध का फायदा ले लिया है या नहीं।

10. हमारी राय है कि अपीलार्थी की दलील अधिनियम की धारा 14(2) की और इस धारा के परन्तुक की भाषा को ध्यान में रखते हुए प्रत्यर्थियों की दलील से बेहतर है। इसे संक्षेप में, यूं कह सकते हैं कि इस धारा में यह उपबन्धित है कि किसी परिसर के कब्जे के प्रत्युद्धरण के लिए कोई आदेश इस आधार पर नहीं किया जा सकता कि किराएदार ने किराया देने में व्यतिक्रम किया है। यदि वह धारा 15 के उपबन्धों के अनुसार किराया संदत्त या निक्षिप्त कर देता है। धारा 14(2) के अधीन किराएदार को उपलभ्य फायदा कब्जे की डिक्री से बचाव है: यद्यपि उसने किराए के संदाय में व्यतिक्रम किया है, फिर भी उसके विरुद्ध कोई कब्जे की डिक्री पारित नहीं की जा सकती। किराएदार को यह फायदा इस तथ्य के कारण मिलता है कि उसने अधिनियम की धारा 15 के अधीन नियंत्रक द्वारा पारित आदेश का अनुपालन कर दिया है। धारा 15 के अधीन आदेश पारित करना कोई फायदा नहीं है, जो धारा 14(2) के अधीन किराएदार को मिलता है, बल्कि धारा 14(1)(क) में विनिर्दिष्ट आधार पर अर्थात् इस आधार पर कि किराएदार ने किराए के संदाय में व्यतिक्रम किया है, कब्जे के प्रत्युद्धरण की

प्रत्येक कार्यवाही में नियंत्रक धारा 15(1) के अधीन आदेश पारित करने के लिए बाध्य है। यह एक सुविधा है जिसे किराएदार को देने के लिए धारा 15 के अधीन नियंत्रक बाध्य है। इसी सुविधा के माध्यम से किराएदार धारा 14(2) के अधीन लाभ प्राप्त करता है। इस फायदे में किराए के संदाय में व्यतिक्रम के आधार पर कब्जे का आदेश पारित करने से विमुक्ति प्राप्त करना शामिल है अभिप्राय यह है कि यदि धारा 14(2) में अंतर्विष्ट उपबन्ध के कारण किराएदार के विरुद्ध कब्जे का कोई आदेश नहीं दिया गया है, तभी यह कहा जा सकता है कि उसने इस धारा के अधीन फायदा उठा लिया है। धारा 14 की उपधारा (2) के परन्तुक के आधार शब्द है ये : "कोई भी किराएदार इस उपधारा के अधीन इस फायदे के लिए हकदार नहीं होगा"।

11. उपरोक्त विवेचन से पता चलता है कि पूर्वतर कार्यवाही में, जिसमें किराएदार ने धारा 15 के अधीन नियंत्रक द्वारा पारित आदेश का अनुपालन किया था, पारित किए गए आदेशों की प्रकृति क्या है। यदि पूर्वतर कार्यवाही मकान-मालिक द्वारा वापस ले ली गई थी, तो यह नहीं कहा जा सकता कि किराएदार ने अपने विरुद्ध कब्जे का आदेश पारित न किए जाने का फ़ायदा उठा लिया है। यह स्वयं सिद्ध है कि यदि कोई कार्यवाही इस आदेश के साथ समाप्त हो जाती है और उसे वापस लेने की इजाजत दे दी गई है तो संभवतः यह नहीं कहा जा सकता कि "कब्जे के प्रत्युद्धरण के लिए कोई आदेश इस कारण पारित नहीं किया गया कि किराएदार ने धारा 15 की अपेक्षानुसार संदाय या निक्षेप कर दिया था। धारा 14(2) का यही सार है। इस आशय का आदेश पारित करने के लिए यह प्रक्रम या अवसर कि कब्जे का कोई आदेश इस तथ्य के कारण पारित नहीं किया जा सकता कि किराएदार ने धारा 15 के अधीन पारित आदेश का अनुपालन कर दिया है, ऐसे मामले में उत्पन्न ही नहीं होता, जिसमें मकान-मालिक को किराएदार की बेदखली का आवेदन वापस लेने की इजाजत दे दी जाए।

12. इस मामले में दो परिस्थितियां ध्यान में रखनी होंगी, हालांकि हम यह कहना चाहेंगे कि ऊपरवर्णित विधिक स्थिति में इनसे कोई अन्तर नहीं पड़ता। पहली परिस्थिति है कि प्रत्यर्थियों ने पूर्वतर बेदखली का आवेदन वापस लेने की इजाजत मांगी थी, जिसमें अपीलार्थी ने धारा 15 के अधीन नियंत्रक द्वारा पारित आदेश का सम्यकतः अनुपालन कर दिया था और वह इजाजत इस आधार पर मांगी थी कि आवेदन प्रारूपिक कमी के कारण असफल हो सकता है क्योंकि उन्होंने सम्पत्ति अंतरण अधिनियम की धारा 106

के अधीन अपीलार्थी को खाली करने की सूचना नहीं दी थी। इस प्रकार, पूर्वतर बेदखली आवेदन इस कारण उठा लिया गया था कि प्रत्यर्थी आवेदन की प्रारूपिक कमी को ठीक करना चाहता था न कि इस कारण कि अपीलार्थी के विरुद्ध कब्जे का कोई आदेश इस कारण पारित नहीं किया जा सकता था कि उसने धारा 15 के अधीन पारित आदेश का अनुपालन कर दिया था। दूसरे शब्दों में अंतिम आदेश, जो कि पूर्वतर बेदखली आवेदन पर पारित किया गया था और इस तथ्य के बीच कोई संबंध नहीं है कि अपीलार्थी ने धारा 15 के अधीन आदेश का अनुपालन कर दिया था। दूसरी उल्लेखनीय परिस्थिति यह है कि पूर्वतर बेदखली आवेदन इन दो आधारों पर दिया गया था कि अपीलार्थी ने किराए के संदाय में व्यतिक्रम किया है और यह कि प्रत्यर्थियों को अपने निजी उपयोग के लिए परिसर की आवश्यकता है। यह तथ्य कि इनमें से पहला आधार प्रत्यर्थियों को उपलभ्य नहीं रहा था क्योंकि अपीलार्थी ने धारा 15 के अधीन पारित आदेश का अनुपालन कर दिया था, बेदखली आवेदन खारिज करने के लिए पर्याप्त नहीं हो सकता था क्योंकि दूसरे आधार पर, जिस पर अपीलार्थी की बेदखली प्रत्यर्थियों द्वारा मांगी गई थी, किराया नियंत्रक द्वारा अभी विचार किया जाना था। यह भी एक अतिरिक्त कारण है कि इस मामले के तथ्यों के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि अपीलार्थी ने धारा 14 (2) के अधीन फायदा प्राप्त कर लिया था। भले ही पुनरावृत्ति हो जाए, हम यह स्पष्ट करना चाहेंगे कि इन दो परिस्थितियों से, जिनका हमने अभी उल्लेख किया है, मूलभूत विधिक स्थिति में कोई अंतर नहीं पड़ेगा, जिसकी हमने ऊपर व्याख्या की है कि धारा 14 (2) का परन्तुक तभी लागू हो सकता है जब यह दिखा दिया जाए कि किराएदार ने इस धारा में अंतर्विष्ट उपबंध का फायदा उठा लिया है अन्यथा नहीं।

13. जैसा कि हम पहले ही उल्लेख कर चुके हैं, दिल्ली उच्च न्यायालय के अनेक विरोधी विनिश्चयों को हमारे समक्ष पढ़ा गया। उन पर एक-एक पर विचार करना अनावश्यक और कठिन है। हम केवल यह संकेत करेंगे कि हमारे समक्ष वाले मामले के तथ्यों—जैसे तथ्यों पर **राम गुप्ता बनाम राम सिंह कैन**[1] वाले मामले में न्या० डी० के० कपूर द्वारा अपनाया गया मत सही मत है। उस मामले में विद्वान् न्यायाधीश ने यह अभिनिर्धारित किया था कि चूंकि मकान-मालिक ने पूर्वतर बेदखली आवेदन वापस ले लिया था, इसलिए

---

[1] 1972 ऑल इण्डिया रैंट कंट्रोल जर्नल 712.

यह नहीं कहा जा सकता कि किराएदार ने अधिनियम की धारा 14(2) के अधीन फायदा प्राप्त कर लिया है। **काहन चन्द माकन** बनाम **बी० एस० भाम्बरी**[1] वाले मामले में दिल्ली उच्च न्यायालय के खण्ड न्यायपीठ ने उच्च न्यायालय के विभिन्न न्यायपीठों द्वारा दिए गए विरोधी निर्णयों का अवलोकन किया, जिसमें **राम गुप्ता** बनाम **राय सिंह केन**[2] वाले मामले में न्या० डी०के० कपूर का निर्णय भी शामिल है। निश्चित रूप से यह कहना संभव नहीं है कि न्या० डी० के० कपूर द्वारा अपनाया गया मत अनुमोदित कर दिया गया था या नहीं क्योंकि खण्ड न्यायापीठ उस निर्णय में उच्च न्यायालय के विभिन्न विनिश्चयों का उल्लेख यह बताए बिना किया गया है कि कौन-सा निर्णय सही है और कौन-सा नहीं। फिर भी अपने निर्णय के पैरा 13 में खण्ड न्यायपीठ द्वारा लेखबद्ध निष्कर्ष इतना व्यापक है कि इसे भिन्न स्थितियों में लागू नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त विद्वान् न्यायाधीश ने, आदर-पूर्वक, प्रकटतः, किराएदार द्वारा धारा 15 के अधीन फायदे का लाभ उठाने में भ्रान्ति कर दी है, जो किराएदार को धारा 14(2) के अधीन मिलती है। उनका कहना है कि—

> "अतः हम यह अभिनिर्धारित करते हैं कि जहां किराए की बकाया का निक्षेप किराएदार द्वारा धारा 14(1)(क) के अधीन किराएदारों की बेदखली के लिए आरम्भ की गई कार्यवाही के दौरान अधिनियम की धारा 15(1) के अधीन विनिर्दिष्ट तौर पर पारित आदेश के अनुपालन में कर दिया गया है, वहां उसी आधार पर उसकी बेदखली की पश्चात्वर्ती कार्यवाही में इसका लाभ प्राप्त नहीं किया जा सकता। धारा 14(1)(क) के अन्तर्गत आने वाली पूर्वतर कार्यवाही में ऐसे आदेश की विद्यमानता और सबूत आवश्यक है जिससे कि किराएदार को उस संरक्षण से वंचित किया जा सके, जो उसे धारा 14(2) के अधीन प्राप्त है।"

धारा 14 की उपधारा (2) के परन्तुक में वर्णित फायदा "इस उपधारा के अधीन फायदा है" न कि धारा 15 के अधीन फायदा।

14. दिल्ली उच्च न्यायालय के विद्वान् एकल न्यायाधीश का एक हाल ही का विनिश्चय **अशोक कुमार** बनाम **राम गोपाल**[3] में प्रतिवेदित है। यह एक

---

[1] ए० आई० आर० 1977 दिल्ली 247.

[2] 2 (1972) आल इंडिया रैंट कंट्रोल जर्नल 712.

[3] (1982) 2 रैंट कंट्रोल जर्नल 29

विचित्र मामला था, जिसमें धारा 14(2) का परन्तुक लागू होता था। उस मामले में मकान-मालिक ने किराएदार की बेदखली के लिए 1975 में धारा 14(1)(क) के अधीन किराया न देने के आधार पर आवेदन फाइल किया था। किराया नियंत्रक ने धारा 15(1) के अधीन आदेश पारित किया था, जिसका किराएदार ने सम्यक्तः अनुपालन कर दिया था। इसपर मकान-मालिक का आवेदन नियंत्रक द्वारा खारिज कर दिया गया था। मई, 1979 में मकान-मालिक ने किराएदार के विरुद्ध कब्जे के लिए एक दूसरा आवेदन इस आधार पर फाइल किया था कि उसने किराया देने में व्यतिक्रम किया है। न्या० कृपाल ने यह, और ठीक ही, अभिनिर्धारित किया था कि चूंकि किराएदार ने पूर्वतर बेदखली आवेदन में धारा 14(2) का फायदा उठा लिया है, इसलिए वह एक बार फिर इस धारा का फायदा लेने का हकदार नहीं है।

15. इन कारणों से हम अपील मंजूर करते हैं, उच्च न्यायालय का निर्णय अपास्त करते हैं और किराया नियंत्रण अधिकरण का निर्णय इस उपान्तरण के साथ बहाल करते हैं कि किराए की बकाया जमा करने के लिए एक मास की अवधि इस निर्णय की तारीख गिनी जाएगी। यदि अपीलार्थी 12 जनवरी, 1985 को या से पूर्व 31 दिसम्बर, 1984 तक के किराए की बकाया जमा कर देता है तो प्रत्यर्थी का कब्जे के लिए आवेदन खारिज हो जाएगा। दूसरी ओर, यदि अपीलार्थी उपरोक्त निदेश के अनुसार किराए की बकाया जमा नहीं करता है, तो प्रत्यर्थियों के पक्ष में कब्जे का आदेश दिया जाएगा, जिसके निष्पादन के लिए वे हकदार होंगे। किराए की बकाया रकम अपर किराया नियंत्रक दिल्ली के न्यायालय में जमा की जाएगी, जिसमें अपीलार्थी के विरुद्ध बेदखली आवेदन फाइल किया गया था।

16. आद्योपान्त खर्चे के बारे में कोई आदेश नहीं होगा।

अपील मंजूर की गई।

कृ०

———